आधुनिक भारत

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ASHOK KUMAR SINGH

आधुनिक भारत

आधुनिक भारत

लेखक
बिपिन चन्द्र

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL
RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
अक्तूबर 1976
कार्तिक 1898

पुनर्मुद्रण
मई 1982
बैसाख 1904

P.D. 15T-A.K.S.

मूल्य : रु० 5.70

प्रकाशन विभाग में श्री विनोद कुमार पंडित, सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित तथा सूद लिथो प्रेस, (आफसेट डिवीजन) B1/2 ओखला इन्डस्ट्रीयल एरिया, फेज-II, नई दिल्ली-110020 में मुद्रित।

भूमिका

इस पुस्तक की विषय-वस्तु भारतीय इतिहास का आधुनिक काल है। इस पुस्तक में प्रयास किया गया है कि सैनिक और कूटनीतिक घटनाओं और प्रशासकों तथा राजनीतिक नेताओं की अपेक्षा शक्तियों, आंदोलनों और संस्थानों को अधिक महत्त्व दिया जाए। अठारहवीं सदी के समाज, अर्थव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था पर विस्तार से विचार किया गया है जिससे तत्कालीन सामाजिक स्थिति को इंगित किया जा सके जो विदेशी व्यापारियों की एक कम्पनी द्वारा इस विशाल देश को विजय करने में सहायक बनी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के स्वरूप और चरित्र, भारत के सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक जीवन पर उसके प्रभाव, तथा भारतीय अनुक्रिया की चर्चा भी विस्तार से की गई है। अन्त में, देश में राष्ट्रत्व के विचार के जड़ जमाने और विदेशी शासन के ख़िलाफ़ देशव्यापी संघर्ष (जिससे फलस्वरूप स्वतंत्रता मिली) का अध्ययन किया गया है।

इस पुस्तक को लिखने की ज़िम्मेदारी उठाने के लिए सम्पादक-मंडल डा० बिपिन चन्द्र का आभारी है। सम्पादक-मंडल ने मूल पाठ को बड़ी सावधानीपूर्वक देख लिया है और वह अन्तिम पाठ के लिए पूरी तरह उत्तरदायी है। पुस्तक का मूल अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद श्री गिरीश मिश्र ने किया है।

विषय-सूची

अध्याय 1

मुग़ल साम्राज्य का पतन

महान् मुग़ल साम्राज्य अपने समय के अन्य साम्राज्यों के लिए ईर्ष्या का विषय था। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दौरान मुग़ल साम्राज्य का पतन और विघटन हो गया। मुग़ल बादशाहों ने अपनी सत्ता और महिमा खो दी और उनका साम्राज्य दिल्ली के इर्द-गिर्द ही कुछ वर्ग मील तक सीमित रह गया। अन्त में, 1803 में दिल्ली पर भी ब्रिटिश फ़ौज का क़ब्ज़ा हो गया तथा प्रतापी मुग़ल बादशाह एक विदेशी ताक़त का महज़ पेंशनयाफ़्ता हो गया। इस महान् साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया का अध्ययन काफ़ी शिक्षाप्रद है। इससे भारत के मध्ययुगीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढांचे की कतिपय ख़ामियाँ तथा कमज़ोरियाँ सामने आती हैं जिनके कारण देश आख़िरकार अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा गुलाम बना लिया गया।

साम्राज्य की एकता और स्थिरता औरंगज़ेब के लम्बे और कठोर शासन के दौरान डगमगा गयी। फिर भी, उसकी अनेक नुकसानदेह नीतियों के बावजूद 1707 में उसकी मौत के समय मुग़ल प्रशासन काफ़ी कुशल तथा मुग़ल फ़ौज काफ़ी ताक़तवर थी। इसके अलावा देश में मुग़ल राजवंश की इज़्ज़त क़ायम थी।

औरंगज़ेब की मौत होने पर उसके तीनों बेटों के बीच गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। पैंसठ वर्षीय बहादुर शाह विजयी रहा। वह विद्वान्, आत्मगौरवपूर्ण और योग्य था। उसने समझौते और मेल-मिलाप की नीति अपनायी। इस बात के सबूत मिलते हैं कि औरंगज़ेब द्वारा अपनायी गयी संकीर्णतावादी नीतियों तथा कदमों में से कुछ को बदल दिया। उसने हिन्दू सरदारों और राजाओं के प्रति अधिक सहिष्णुतापूर्ण रुख अपनाया। उसके शासनकाल में मंदिरों को नष्ट नहीं किया गया। आरम्भ में उसने आमेर और मारवाड़ (जोधपुर) के राजपूत राज्यों पर पहले से अधिक नियंत्रण रखने की कोशिश की। इस उद्देश्य से उसने आमेर की गद्दी पर जय सिंह को हटाकर उसके छोटे भाई विजय सिंह को बिठाने और मारवाड़ के राजा अजीत सिंह को मुग़ल सत्ता की अधीनता स्वीकार करने के लिए मजबूर करने की कोशिशें कीं। उसने आमेर और जोधपुर शहरों में फ़ौजी डेरा जमाने की कोशिश भी की। किन्तु इसका कड़ा प्रतिरोध हुआ। शायद इसी वजह से उसे अपनी ग़लत कार्रवाइयों का अहसास हुआ। उसने दोनों राज्यों से तुरन्त ही समझौता कर लिया। वैसे समझौता उदारतापूर्ण नहीं था। राजा जय सिंह और राजा अजीत सिंह को अपने राज्य तो फिर से मिल गए परन्तु उच्च मंसबों तथा मालवा और गुजरात जैसे महत्त्वपूर्ण सूबों के सूबेदारों के ओहदों की उनकी मांग नहीं मानी गयी। मराठा सरदारों के प्रति उनकी नीति ऊपरी तौर पर ही मेल-मिलाप की थी। उसने उन्हें दक्कन की सरदेशमुखी दे दी मगर चौथ का अधिकार नहीं दिया, इसलिए वह उन्हें पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सका। उसने साहू को मराठों का विधिवत् राजा नहीं माना। इस प्रकार उसने मराठा राज्य के ऊपर आधिपत्य के लिए तारा बाई और साहू को आपस में लड़ने को छोड़ दिया। नतीजा

यह हुआ कि साहू और मराठा सरदार असंतुष्ट रहे और दक्कन अव्यवस्था का शिकार बना रहा। जब तक मराठा सरदार आपस में और मुग़ल सत्ता के ख़िलाफ़ लड़ते रहे तब तक शान्ति और व्यवस्था फिर से क़ायम नहीं हो सकी।

बहादुर शाह ने गुरु गोविन्द सिंह के साथ संधि कर और एक बड़ा मंसब देकर विद्रोही सिक्खों के साथ मेल-मिलाप करने की कोशिश की थी। परन्तु जब गुरु गोविंद सिंह की मृत्यु के बाद बंदा बहादुर के नेतृत्व में उन्होंने बग़ावत का झंडा पंजाब में बुलन्द किया तब बादशाह ने कड़ी कार्रवाई करने का फ़ैसला किया और विद्रोहियों के ख़िलाफ़ अभियान का नेतृत्व खुद किया। विद्रोहियों ने जल्द ही सतलज और यमुना के बीच के लगभग सारे क्षेत्र पर नियंत्रण जमा लिया। इस प्रकार वे दिल्ली के बिल्कुल पड़ोस में पहुँच गए। यद्यपि बादशाह लोहगढ़ तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सिक्ख केन्द्रों पर क़ब्ज़ा जमाने में सफल हो गया, फिर भी सिक्खों को दबाया नहीं जा सका और 1712 में उन्होंने लोहगढ़ वापस ले लिया। लोहगढ़ क़िला गुरु गोविन्द सिंह ने अम्बाला के उत्तर-पूर्व में हिमालय की तराई में बनाया था।

बहादुर शाह ने बुंदेला सरदार छत्रसाल से मेल-मिलाप कर लिया। छत्रसाल एक निष्ठावान सामन्त बना रहा। बादशाह ने जाट सरदार चूरामन से भी दोस्ती क: ली। चूरामन ने बन्दा बहादुर के ख़िलाफ़ अभियान में बादशाह का साथ दिया।

बहादुर शाह के शासनकाल के दौरान प्रशासन की हालत और भी बिगड़ी। बादशाह द्वारा अंधाधुंध जागीरें देने तथा पदोन्नति करने के फलस्वरूप राजकीय वित्त की स्थिति पहले से भी ख़राब हो गयी। उसके शासनकाल में शाही ख़ज़ाने में जो कुछ रक़म बची थी वह खत्म हो गयी। शाही ख़ज़ाने में 1707 में क़रीब 17 करोड़ रुपये की रक़म ही रह गयी थी।

साम्राज्य जिन समस्याओं से घिरा था उनका समाधान बहादुर शाह टटोल रहा था। समय मिलता तो शायद वह शाही क़िस्मत को फिर जगा पाता। दुर्भाग्यवश, 1712 में उसकी मौत ने साम्राज्य को एक बार फिर गृह-युद्ध में फँसा दिया।

इस गृह-युद्ध और बाद के उत्तराधिकार सम्बन्धी लड़ाइयों के दौरान मुग़ल राजनीति में एक नया तत्त्व आ गया। पहले सत्ता के लिए संघर्ष सिर्फ़ शाहज़ादों के बीच होते थे तथा सामन्त प्रत्याशियों को गद्दी हथियाने में मदद देते थे। परन्तु अब महत्त्वाकांक्षी सामन्त सत्ता के सीधे दावेदार बन गए और वह गद्दी हथियाने के लिए शाहज़ादों का इस्तेमाल महज़ कठपुतली के रूप में करने लगे। बहादुर शाह की मौत के बाद जो गृह-युद्ध हुआ उसमें उसका एक कम क़ाबिल बेटा जहाँदार शाह विजयी रहा क्योंकि उसे उस समय के सबसे शक्तिशाली सामन्त ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ का समर्थन मिला।

जहाँदार शाह एक कमज़ोर और पतित शाहज़ादा था। उसमें सद्व्यवहार, बड़प्पन और शिष्टाचार की कमी थी।

जहाँदार शाह के शासनकाल में प्रशासन वस्तुतः अत्यन्त योग्य और कर्मठ ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ के हाथों में था। ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ वज़ीर बन गया था। उसका ख़्याल था कि दरबार में अपना स्थिति को मज़बूत बनाने तथा साम्राज्य को बचाने के लिए ज़रूरी है कि राजपूत राजाओं तथा मराठा सरदारों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध क़ायम किए जाएँ और हिन्दू सरदारों के साथ आमतौर से मेल-मिलाप हो। इसलिए उसने तेज़ी से औरंगज़ेब की नीतियाँ बदल दीं। घृणित जज़िया को खत्म कर दिया गया। आमेर के जय सिंह को मिर्ज़ा राजा सवाई की पदवी दी गयी और मालवा का सूबेदार बना दिया गया; मारवाड़ के अजीत सिंह को महाराजा की पदवी दी गयी और गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया गया। ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ ने पहले के उस ग़ैर-सरकारी व्यवस्था की पुष्टि कर दी जो दक्कन में उसके सहायक दाऊद ख़ाँ पन्नी के 1711 में मराठा राजा साहू के साथ में की थी। इस व्यवस्था के अनुसार मराठा शासक को दक्कन का चौथ और वहाँ की सरदेशमुखी इस शर्त पर दे दी गयी कि उनकी वसूली मुग़ल अधिकारी करेंगे और फिर मराठा अधिकारियों को दे देंगे। ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ ने चूड़ामन जाट और छत्रसाल बुंदेला के साथ भी मेल-मिलाप कर लिया। केवल बन्दा और सिक्खों के प्रति उसने दमन की पुरानी नीति जारी रखी।

जागीरों और ओहदों की अंधाधुंध वृद्धि पर रोक लगा कर जुल्फ़िकार ख़ाँ ने साम्राज्य की वित्तीय हालत को सुधारने की कोशिश की। उसने मंसबदारों को अधिकृत संख्या में फ़ौज रखने के लिए मजबूर करने की भी कोशिश की। उसने एक ग़लत प्रवृत्ति इजारा को बढ़ावा दिया। जैसा टोडरमल की भूराजस्व व्यवस्था के अंतर्गत था उसी तरह निश्चित दर पर भूराजस्व वसूल करने के बदले सरकार ने इजारादारों (लगान के ठेकेदारों) और बिचौलियों के साथ यह क़रार करना आरम्भ कर दिया कि वे सरकार को एक निश्चित मुद्राराशि दें। मगर उन्हें किसानों से जितना लगान वसूल कर सकें उतना करने के लिए आज़ाद छोड़ दिया गया। इससे किसानों का उत्पीड़न बढ़ा।

अनेक शाही सामन्तों ने जुल्फ़िक़ार ख़ाँ के विरुद्ध षड्यंत्र किया। इससे भी बुरी बात यह हुई कि बादशाह ने उसे अपना विश्वास और सहयोग पूरी तरह नहीं दिया। बेईमान कृपापात्र लोगों ने जुल्फ़िक़ार ख़ाँ के ख़िलाफ़ बादशाह के कान भरे। उसे कहा गया कि उसका वज़ीर बहुत ही ताक़तवर और महत्त्वकांक्षी होता जा रहा है और वह ख़ुद बादशाह का तख़्ता पलट दे सकता है। कायर बादशाह की हिम्मत नहीं हुई कि ताक़तवर वज़ीर को बर्ख़ास्त कर सके, मगर उसने गुप्त रूप से वज़ीर के ख़िलाफ़ षड्यंत्र करना शुरू कर दिया। स्वस्थ प्रशासन के लिए इससे बढ़कर विध्वंसकारी कार्य और कुछ नहीं हो सकता था।

जहाँदार शाह का पथहीन शासन जल्द ही जनवरी 1713 में आगरा में उसके अपने भतीजे फ़र्रुख़सियर के हाथों हार जाने और समाप्त हो गया।

फ़र्रुख़सियर को अपनी जीत सैयद बंधुओं—अब्दुल्ला ख़ाँ और हुसैन अली ख़ाँ बाराहा—के कारण मिली। इसलिए अब्दुल्ला ख़ाँ को वज़ीर का पद और हुसैन अली ख़ाँ को मीर बख़्शी का ओहदा मिला। जल्द ही राजकाज में दोनों भाइयों का बोलबाला हो गया। फ़र्रुख़सियर में शासन करने की क्षमता नहीं थी। वह कायर, क्रूर, अविश्वसनीय और बेईमान था। इसके अलावा, वह नालायक मुंह लगे लोगों तथा चापलूसों के असर में आ जाता था।

अपनी कमज़ोरियों के बावजूद फ़र्रुख़सियर सैयद बंधुओं को बेरोकटोक काम करने देने के लिए तैयार नहीं था, बल्कि वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता क़ायम करना चाहता था। दूसरी ओर सैयद बंधुओं का पक्का विश्वास था कि केवल उनके हाथों में वास्तविक सत्ता आने तथा बादशाह के नाममात्र के शासक होने पर ही प्रशासन ठीक ढंग से चलाया जा सकता है, साम्राज्य का अपकर्ष रोका जा सकता है और उनकी अपनी स्थिति सुरक्षित रखी जा सकती है। इस तरह बादशाह फ़र्रुख़सियर, और उसके वज़ीर तथा मीरबख़्शी के बीच सत्ता के लिए एक लम्बा संघर्ष आरम्भ हो गया। सालों तक कृतघ्न बादशाह ने दोनों भाइयों को उखाड़ फेंकने के लिए षड्यंत्र किया मगर हर बार असफल रहा। आख़िरकार सैयद बंधुओं ने उसे गद्दी से उतार दिया और उसे मार डाला। उसकी जगह उन्होंने बड़ी जल्दी, बारी-बारी से, दो युवा शाहज़ादों को गद्दी पर बिठाया जो क्षय रोग से मर गए। तब सैयद बंधुओं ने 18-वर्षीय मुहम्मद शाह को हिन्दुस्तान का बादशाह बनाया। फ़र्रुख़सियर के तीनों उत्तराधिकारी सैयद बंधुओं के हाथों की कठपुतली मात्र थे। यहाँ तक कि लोगों से मिलने-जुलने और घूमने, फिरने की उनकी व्यक्तिगत आज़ादी पर भी नियंत्रण था। इस प्रकार 1713 से 1720 में उनके उखाड़ फेंके जाने तक राजकीय प्रशासन में सैयद बंधुओं की चलती रही।

सैयद बंधुओं ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी। उनका विश्वास था कि हिन्दुस्तान का शासन सुव्यवस्थित रूप से, केवल देश के राजकाज में हिन्दू सरदारों और सामन्तों को मुसलमान सामन्तों के साथ सम्बद्ध करने से ही चल सकता है। उन्होंने राजपूतों, मराठों और जाटों के साथ मेल-मिलाप कर उनका इस्तेमाल फ़र्रुख़सियर और प्रतिद्वन्द्वी सामन्तों के ख़िलाफ़ करने की कोशिश की। उन्होंने फ़र्रुख़सियर के गद्दी पर बैठते ही जज़िया को तुरंत ख़त्म कर दिया। इसी प्रकार कई जगहों में तीर्थयात्री कर (pilgrim tax) हटा दिया। उन्होंने मारवाड़ के अजीत सिंह, आमेर के जय सिंह तथा अनेक राजपूत राजकुमारों को प्रशासन में प्रभावशाली ओहदे देकर अपनी ओर मिला लिया। उन्होंने जाट सरदार चूड़ामन के साथ दोस्ती कर ली। अपने प्रशासन के बाद के वर्षों में राजा

साहू को (शिवाजी का) स्वराज्य तथा दक्कन के छः प्रांतों का चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार देकर उसके साथ समझौता कर लिया। बदले में साहू उन्हें 15,000 घुड़सवारों के द्वारा दक्कन में समर्थन देने को तैयार हो गया।

सैयद बंधुओं ने बग़ावतों को दबाने और साम्राज्य को प्रशासनिक बिखराव से बचाने के लिए ज़ोरदार प्रयास किया। वे इन कार्यों में मुख्य रूप से इसलिए विफल रहे कि उन्हें निरन्तर राजनीतिक प्रतिद्विन्द्वता, झगड़ों और दरबारी षड्यंत्रों का सामना करना पड़ा। शासक क्षेत्रों में निरन्तर चलने वाले वैमनस्य ने प्रशासन को सभी स्तरों पर अव्यवस्थित ही नहीं किया बल्कि ठप्प भी कर दिया। राज्य की वित्तीय स्थिति तेज़ी से ख़राब हो गयी क्योंकि ज़मींदारों और बग़ावती तत्वों ने भूराजस्व अदा करने से इन्कार कर दिया, अफ़सरों ने राजकीय आमदनी का ग़बन कर लिया। इजारा व्यवस्था के प्रसार के कारण केन्द्रीय आय कम हो गयी। फलस्वरूप अफ़सरों और सैनिकों को तनख्वाहें नियमित रूप से नहीं दी जा सकीं और सैनिकों में अनुशासनहीनता फैल गयी; यहाँ तक कि वे विद्रोह करने लगे।

यद्यपि सैयद बन्धुओं ने सभी प्रकार के सामन्तों से मेल-मिलाप और दोस्ती करने की ज़ोरदार कोशिश की तथापि निज़ाम-उलमुल्क और उसके बाप के रिश्ते के भाई मुहम्मद अमीन ख़ाँ के नेतृत्व में सामन्तों का एक शक्तिशाली गुट उनके ख़िलाफ़ षड्यंत्र करने लगा। ये सामन्त दोनों भाईयों से उनकी बढ़ती हुई ताक़त के कारण डाह करते थे। फ़र्रुख़सियर के गद्दी से हटाए जाने और मार दिए जाने से अनेक सामन्त भयभीत हो गए थे कि अगर बादशाह को मारा जा सकता है तो मात्र सामन्तों के लिए क्या सुरक्षा है? इसके अतिरिक्त बादशाह की हत्या ने दोनों भाईयों के ख़िलाफ़ जनता में घृणा की एक लहर पैदा कर दी। उन्हें लोग विश्वासघातियों के रूप में देखने लगे। लोग उन्हें नमक हराम कहने लगे। औरंगज़ेब के ज़माने के अनेक सामन्त भी सैयद बंधुओं की राजपूत और मराठा सरदारों के साथ दोस्ती तथा हिन्दुओं के प्रति उदार नीति को नापसंद करते थे। इन सामन्तों ने घोषणा की कि सैयद बंधु मुग़ल विरोधी और इस्लाम विरोधी नीतियाँ अपना रहे हैं। अतः उन्होंने मुसलमान सामन्तों में जो धर्मांध थे उन्हें सैयद बंधुओं के ख़िलाफ़ उभाड़ने की कोशिश की। सैयद बंधु विरोधी सामन्तों को बादशाह मुहम्मद शाह का समर्थन मिला जो दोनों भाईयों के नियंत्रण से अपने को मुक्त करना चाहता था। वे 1720 में छोटे भाई हुसैन अली ख़ाँ को धोखे से मारने में सफल हो गए। अब्दुल्ला ख़ाँ ने मुक़ाबला करने की कोशिश की मगर आगरा के पास उसे हरा दिया गया। इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य पर सैयद बंधुओं का आधिपत्य ख़त्म हो गया जो भारतीय इतिहास में "राजा बनाने वाले" के नाम से जाने जाते हैं।

मुहम्मद शाह का लगभग तीस साल (1719-1748) लम्बा शासन-काल साम्राज्य को बचाने का आख़िरी मौक़ा था। शाही सत्ता में 1702-1720 के काल की तरह कोई फेर-बदल नहीं हुआ। उसके शासन-काल के आरम्भ में, लोगों के बीच मुग़लों की प्रतिष्ठा एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कारक थी। मुग़ल फ़ौज ख़ासकर मुग़ल तोपख़ाने की ताक़त को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता था। उत्तरी भारत में प्रशासन की हालत बिगड़ी हुई थी परन्तु वह अभी तक नष्ट नहीं हुआ था। मराठा सरदार अभी तक दक्षिण भारत तक ही सीमित थे और राजपूत राजा अब भी मुग़ल वंश के प्रति वफ़ादार बने हुए थे। कोई भी ताक़तवर और दूरदर्शी शासक अपने ऊपर आने वाले ख़तरे के प्रति जागरुक सामंतशाही के समर्थन से स्थिति को बिगड़ने से रोक सकता था। मगर मुहम्मद शाह ऐसा कालपुरुष नहीं था। वह दिमाग़ी तौर पर कमज़ोर, ओछा और ऐय्याश था। उसने राजकाज पर कोई ध्यान नहीं दिया। निज़ाम-उल-मुल्क जैसे क़ाबिल वज़ीरों को अपना पूरा समर्थन देने की बजाय वह भ्रष्ट और नालायक चापलूसों के कुप्रभाव का शिकार बन गया तथा अपने ही मंत्रियों के ख़िलाफ़ साज़िशें करने लगा। यहाँ तक कि वह अपने कृपापात्र दरबारियों द्वारा उगाही गयी घूस में हिस्सा लेने लगा।

बादशाह के ढुलमुलपन तथा शक्की मिजाज और दरबार के निरन्तर झगड़ों से ऊब कर उस समय के सबसे शक्तिशाली सामंत निज़ाम-उल-मुल्क ने अपनी महत्वाकांक्षा को प्राप्त करने का फ़ैसला किया। वह 1722 में

वज़ीर बना था और प्रशासन को सुधारने के लिए उसने ज़ोरदार प्रयास किए थे। अब उसने बादशाह और उसके साम्राज्य को उनके भाग्य के सहारे छोड़कर अपनी क़िस्मत आज़माने का फ़ैसला किया। उसने अक्तूबर 1724 में अपना ओहदा छोड़ दिया और दक्कन में हैदराबाद रियासत की नींव डालने के लिए दक्षिण चल पड़ा। "उसका प्रस्थान साम्राज्य से निष्ठा और सद्गुण के पलायन का प्रतीक था।" मुग़ल साम्राज्य का वास्तविक बिखराव शुरु हो गया था।

अब अन्य शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी सामंतों ने भी अर्द्ध-स्वतन्त्र रियासतें क़ायम करने के लिए अपनी-अपनी ताक़त का इस्तेमाल आरम्भ कर दिया। दिल्ली के बादशाह के प्रति नाममात्र की निष्ठा ज़ाहिर करने वाले ख़ानदानी नवाबों का देश के अनेक भागों में उदय हुआ। उदाहरण के तौर पर बंगाल, हैदराबाद, अवध और पंजाब के नवाबों के नाम लिए जा सकते हैं। हर जगह छोटे ज़मींदारों, राजाओं और नवाबों ने बग़ावत और आज़ादी का झंडा बुलन्द किया। मराठा सरदारों ने उत्तर की ओर अपना क़ब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया। उन्होंने मालवा, गुजरात और बुंदेलखण्ड को रौंद डाला। फिर 1738-1739 में नादिर शाह उत्तरी भारत के मैदानों में आ धमका, और साम्राज्य ने घुटने टेक दिए।

नादिर शाह ने अपनी जिंदगी एक गड़ेरिये के रूप में आरम्भ की थी। फ़ारस को अवश्यम्भावी पतन और विघटन से बचा कर वह शाह बन गया। फ़ारस एक शक्तिशाली और काफ़ी दूर तक फैला हुआ साम्राज्य था। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में उसके ऊपर पतनोन्मुख सफवी ख़ानदान का कमज़ोर शासन था। उसे अन्दरूनी बग़ावतों और विदेशी हमलों से ख़तरा पैदा हो गया था। पूरब में अब्दाली क़बीले वालों ने बग़ावत कर दी और हिरात पर क़ब्ज़ा कर लिया। ग़लज़ाई (Ghalzai) क़बीले वालों ने क़ंधार प्रान्त को अलग कर लिया। इसी तरह की बग़ावतें उत्तर और पश्चिम में भी हुईं। शिरवान में कट्टर शिया लोगों द्वारा सुन्नी लोगों पर धार्मिक अत्याचार के कारण बग़ावतें हो गयीं। वहाँ "सुन्नी मुल्लों को मार दिया गया, मस्जिदों की पवित्रता नष्ट की गयी और उन्हें अस्तबल बना दिया गया, तथा धार्मिक कृतियों को नष्ट कर दिया गया।" क़ंधार के ग़लज़ाई सरदार, महमूद ने 1721 में फ़ारस पर हमला किया तथा राजधानी इसफ़ाहान पर क़ब्ज़ा जमा लिया। पीटर महान् के शासनकाल में रूस दक्षिण की ओर अपना प्रसार करने के लिए कृतसंकल्प था। पीटर ने जुलाई 1722 में फ़ारस पर हमला शुरु किया और तुरन्त ही फ़ारस को ऐसा समझौता करने के लिए मजबूर कर दिया जिसके अन्तर्गत उसे बाकू शहर सहित कैस्पियन सागर के अनेक प्रान्तों से हाथ धोना पड़ा। तुर्की ने अपने अधिकांश योरोपीय भूभागों को खो देने के बाद फ़ारस के मत्थे उनकी कमी को पूरा करने की आशा की। उसने 1723 के बसंत में फ़ारस के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया और तेज़ी के साथ जार्जिया होते हुए दक्षिण फ़ारस में घुस गया। जून 1724 में रूस और तुर्की के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार उन्होंने सारे उत्तरी फ़ारस तथा अधिकांश पश्चिमी फ़ारस को अपने बीच बाँट लिया। इसी स्थिति में 1726 में नादिर शाह तहमसाप के एक प्रमुख समर्थक तथा सबसे प्रतिभाशाली सेनापति के रूप में सामने आया। उसने 1729 में अब्दाली लोगों को हरा कर हिरात जीत लिया तथा ग़लज़ाई क़बीले वालों को इसफाहान तथा मध्य और दक्षिणी फ़ारस से मार भगाया। लम्बी और कटु लड़ाई के बाद उसने तुर्की को जीते गए सारे इलाक़े लौटाने को मजबूर कर दिया। उसने 1735 में रूस के साथ एक समझौते पर दस्तख़त कर सारे हथियाए गए इलाक़े वापस ले लिए। अगले साल उसने अन्तिम सफवी शासक को गद्दी से हटा दिया और खुद शाह बन बैठा। बाद के सालों में उसने क़ंधार प्रान्त को दुबारा जीत लिया।

नादिर शाह भारत के प्रति उसके अपार धन के कारण आकर्षित हुआ। भारत अपने अपार वैभव के लिए सदा से प्रसिद्ध था। निरन्तर अभियानों ने फ़ारस को वस्तुतः दिवालिया बना दिया था। अपनी भाड़े की फ़ौज को बनाए रखने के लिए पैसों की उसे सख़्त ज़रूरत थी। भारत से लूटा गया धन इस समस्या का एक हल हो सकता था। साथ ही, मुग़ल साम्राज्य की प्रत्यक्ष कमज़ोरी ने इस प्रकार की लूट-खसोट को संभव बना दिया। वह 1738 के अन्तिम दिनों में बिना किसी विरोध का सामना किए भारतीय इलाक़े में घुस आया। वर्षों से उत्तर-पश्चिम

सीमा की सुरक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। जब तक दुश्मन ने लाहौर पर क़ब्ज़ा नहीं कर लिया तब तक ख़तरे को पूरी तरह महसूस नहीं किया गया। दिल्ली की सुरक्षा के लिए तब जल्दी-जल्दी तैयारियाँ की गईं, मगर गुटबाजी के शिकार सामंतों ने दुश्मन को दरवाजे पर खड़ा देखकर भी एक सूत्रबद्ध होने से इन्कार कर दिया। वे सुरक्षा की योजना या सुरक्षा फ़ौजों के सेनापति के नाम पर सहमत नहीं हो सके। फूट, अयोग्य नेतृत्व, और आपसी द्वेष तथा परस्पर अविश्वास का परिणाम हार के सिवाय और क्या होता? दोनों फ़ौजों के बीच 13 फरवरी 1739 को करनाल में मुक़ाबला हुआ। आक्रमणकारी ने मुग़ल फ़ौज को ज़ोरदार शिकस्त दी। बादशाह मुहम्मद शाह को बन्दी बना लिया गया और नादिर शाह दिल्ली की ओर बढ़ा। नादिर शाह ने शाही राजधानी के नागरिकों के भयंकर क़त्लेआम का हुक्म दिया। ऐसा उसने अपने कुछ सैनिकों की हत्या का बदला लेने के लिए किया। लोभी आक्रमणकारी ने शाही ख़ज़ाने और शाही सम्पत्ति को हथिया लिया। उसने प्रमुख सामंतों से नज़राना वसूल किया तथा दिल्ली के धनी लोगों को लूटा। अनुमान किया गया है कि उसने कुल मिलाकर 70 करोड़ रुपए का माल लूटा। उसने अपने राज्य में तीन सालों तक बिल्कुल कोई कर नहीं लगाया। वह प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा तथा शाहजहाँ का रत्नजटित मय्यूर सिंहासन (तख़्ते ताऊस) भी ले गया। उसने मुहम्मद शाह को सिंधु नदी के पश्चिम के साम्राज्य के इलाक़ों को उसे दे देने के लिए मजबूर किया।

नादिर शाह के आक्रमण ने मुग़ल साम्राज्य को भारी नुक़सान पहुँचाया। मुग़ल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को अपूरणीय क्षति पहुँची तथा साम्राज्य की छिपी हुई कमज़ोरी का पता मराठा सरदारों और विदेशी कम्पनियों को लग गया। कुछ समय के लिए केंद्रीय प्रशासन पूरी तरह लकवाग्रस्त हो गया। आक्रमण ने शाही वित्तव्यवस्था को तहस-नहस कर दिया और देश के आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव डाला। कंगाल सामंतों ने किसानों से मनमाना लगान वसूलना और उन्हें पहले से अधिक उत्पीड़ित करना शुरू कर दिया जिससे वे अपनी खोयी हुई दौलत वापस पा सकें। वे पहले की अपेक्षा अधिक दुःसाहस पूर्वक आपस में अधिक आमदनी वाले जागीरों और ऊँचे ओहदों के लिए लड़ने लगे। काबुल और सिंधु नदी के पश्चिम के इलाक़ों को खोकर साम्राज्य ने एक बार फिर उत्तर-पश्चिम से आक्रमणों का ख़तरा पैदा कर दिया। सुरक्षा की एक महत्त्वपूर्ण पंक्ति लुप्त हो गयी।

वस्तुतः यह बड़े आश्चर्य की बात है कि नादिर शाह के चले जाने के बाद लगा कि साम्राज्य में अपनी कुछ शक्ति फिर वापस आ रही है, हालाँकि उसके कारगर नियंत्रण में पहले से कम क्षेत्र रह गया था। परन्तु यह पुनर्जीवन भ्रामक और सतही था। मुहम्मद शाह के 1748 में मरने के बाद बेईमान और सत्ता के भूखे सामंतों के बीच कटु संघर्ष हुए, यहाँ तक कि गृह-युद्ध छिड़ गया। इतना ही नहीं, उत्तर-पश्चिम में सुरक्षा की व्यवस्था कमज़ोर हो जाने के कारण साम्राज्य अहमद शाह अब्दाली के बार-बार आक्रमणों से तहस-नहस होता रहा। अहमद शाह अब्दाली नादिर शाह के सबसे क़ाबिल सेनापतियों में से एक था। उसने अपने स्वामी के मरने के बाद अफ़ग़ानिस्तान पर अपनी सत्ता क़ायम करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अब्दाली ने 1748 और 1767 के बीच उत्तरी भारत, ख़ासकर दिल्ली और मथुरा पर बार-बार आक्रमण और लूटखसोट किया। उसने 1761 में मराठों को पानीपत की तीसरी लड़ाई में हराया और इस तरह मराठों की इस महत्त्वाकांक्षा को बड़ा धक्का लगा कि वे मुग़ल बादशाह पर नियंत्रण रखेंगे तथा देश पर आधिपत्य क़ायम करेंगे। मगर उसने भारत में कोई नया अफ़ग़ान राज क़ायम नहीं किया। वह और उसके उत्तराधिकारी पंजाब को भी अपने अधिकार में नहीं रख सके। पंजाब जल्द ही सिक्ख सरदारों के हाथों में चला गया।

नादिर शाह और अब्दाली के आक्रमणों तथा मुग़ल सामन्त शाही के आपसी घातक झगड़ों के कारण 1761 तक मुग़ल साम्राज्य का अस्तित्व वस्तुतः एक अखिल भारतीय साम्राज्य के रूप में समाप्त हो गया। वह केवल दिल्ली का राज्य मात्र रह गया। ख़ुद दिल्ली में 'रोज दंगे और हंगामें नजर आने लगे'। महान् मुग़लों के वंशज अब भारतीय साम्राज्य के लिए संघर्ष में सक्रिय हिस्सा नहीं लेते थे। सत्ता के विभिन्न दावेदारों ने पाया कि उनके नाम पर संघर्ष चलाना राजनीतिक दृष्टि से फ़ायदेमंद है। इससे मुग़लवंश दिल्ली के नाममात्र के सिंहासन पर बहुत दिनों तक बना रहा।

शाह आलम जो 1759 में गद्दी पर बैठा, आरम्भ के सालों में अपनी राजधानी से दूर एक जगह से दूसरी जगह घूमता रहा क्योंकि उसे अपने ही वज़ीर से जान का ख़तरा था। वह क़ाबिल और भरपूर हिम्मत वाला था। मगर साम्राज्य की हालत इतनी बिगड़ गयी थी कि उसका उद्धार संभव नहीं था। उसने 1764 में बंगाल के मीर क़ासिम और अवध के शुजाउद्दौला के साथ मिलकर अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी के ख़िलाफ़ लड़ाई की घोषणा कर दी। बक्सर की लड़ाई में अंग्रेज़ों से हार जाने के बाद वह कई वर्षों तक इलाहाबाद में ईस्ट इंडिया कम्पनी का पेंशनयाफ़्ता बन कर रहा। वह 1772 में मराठों के संरक्षण में ब्रिटिश आश्रय छोड़कर दिल्ली लौटा। अंग्रेज़ों ने 1803 में दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया। तब से लेकर 1857 तक जब मुग़ल वंश अन्तिम रूप से ख़त्म हो गया, मुग़ल बादशाह अंग्रेज़ों के लिए केवल राजनीतिक मोहरा बने रहे। मुग़ल राजतंत्र 1759 के बाद फ़ौजी ताक़त नहीं रहा तो भी वह इसलिए बना रहा कि भारत की जनता के दिमाग़ पर देश की राजनीतिक एकता के प्रतीक के रूप में उसका बड़ा प्रभाव था।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के कारण

महान् मुग़लों के शक्तिशाली साम्राज्य का पतन अनेक कारकों और शक्तियों के सक्रिय होने के कारण हुआ। मुग़ल साम्राज्य के पतन की शुरूआत औरंगज़ेब के कठोर शासन के दौरान हुई। औरंगज़ेब को विरासत में एक बड़ा साम्राज्य मिला तो भी उसने दक्षिण में उसे सुदूरतम भौगोलिक सीमाओं से आगे बढ़ाने की कोशिश की जिसमें भारी धन-जन ख़र्च हुआ। वस्तुतः संचार के तत्कालीन साधनों और देश के आर्थिक राजनीतिक ढाँचे को देखते हुए देश के सभी भागों में एक स्थिर केन्द्रीय प्रशासन क़ायम करना मुश्किल था। इस प्रकार सारे देश को एक केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता के अधीन एक सूत्र बद्ध करना सैद्धान्तिक तौर पर उचित होते हुए भी व्यवहार में आसान नहीं था। औरंगज़ेब की एक बुनियादी विफ़लता राजनेता के रूप में हुई। वह इस तथ्य को पूरी तरह समझ नहीं पाया कि शिवाजी और मराठा सरदार ज़िन ताकतों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं उन्हें आसानी से दबाया नहीं जा सकता। इसी कारण वह क्षेत्रीय स्वायत्तता की मराठों की माँग को पूरी तरह नहीं मान सका। समान परिस्थितियों में अकबर ने राजपूत राजाओं और सरदारों से संधि कर ली थी। औरंगज़ेब को भी मराठा सरदारों को अपनी ओर मिला लेना चाहिए था। मगर उसने इसके बदले मराठों का दमन करने की नीति अपनायी। मराठों के विरुद्ध उसका निष्फल, परन्तु कठिन, अभियान कई वर्षों तक चला। इस अभियान ने उसके साम्राज्य के संसाधनों को बर्बाद किया और दक्कन के उद्योग व्यापार को तहस-नहस कर दिया। उत्तर-भारत से औरंगज़ेब की 25 से अधिक सालों की ग़ैरहाज़िरी और मराठों को दबा पाने में विफलता के कारण प्रशासन की हालत ख़राब हो गयी। इससे साम्राज्य और उसकी फ़ौज की इज़्ज़त गिरी, महत्त्वपूर्ण उत्तर-पश्चिम सीमा पर ध्यान नहीं दिया जा सका, और प्रान्तीय तथा स्थानीय अफ़सरों को केन्द्रीय सत्ता की अवहेलना करने और स्वतन्त्रता का सपना देखने के लिए प्रोत्साहन मिला। बाद में अठारहवीं शताब्दी के दौरान उत्तर में मराठा प्रभाव बढ़ने से केन्द्रीय सत्ता और भी कमज़ोर हो गयी।

कतिपय राजपूत रजवाड़ों के साथ औरंगज़ेब के झगड़ों के भी गम्भीर परिणाम हुए। भूतकाल में राजपूत राजाओं के साथ मैत्री और उसके फलस्वरूप उनसे प्राप्त सैनिक समर्थन मुग़ल ताक़त का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ था। स्वयं औरंगज़ेब ने आरम्भ में राजपूतों के साथ मैत्री की नीति का अनुसरण किया था और मारवाड़ के जसवंत सिंह तथा आमेर के जय सिंह को सबसे ऊँचे ओहदे दिए थे मगर बाद में राजपूत राजाओं की ताक़त को कम करने तथा उनके इलाक़ों पर शाही आधिपत्य क़ायम करने के अदूरदर्शी प्रयत्नों के कारण वे मुग़ल साम्राज्य के प्रति निष्ठावान नहीं रहे। राजपूत राजाओं के साथ लड़ाइयों ने साम्राज्य को और भी कमज़ोर कर दिया और अलगाव की भावना को प्रोत्साहित किया। विशेषकर इन लड़ाइयों के कारण हिन्दू और मुस्लिम उच्च वर्गों के बीच एक दीवार खड़ी होने लगी।

औरंगज़ेब के प्रशासन की ताक़त को उसके मुख्य केंद्र दिल्ली के इर्द-गिर्द सतनामी जाट और सिक्ख बग़ावतों ने चुनौती दी। यद्यपि इन बग़ावतों में शामिल लोगों की संख्या अधिक नहीं थी, तथापि वे महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि वे

जनप्रिय थे। इन बग़ावतों की रीढ़ या मुख्य समर्थक किसान थे। काफ़ी हद तक ये बग़ावतें किसानों पर मुग़ल राजस्व अधिकारियों के ज़ुल्म का परिणाम थीं। उन्होंने दिखला दिया कि किसान ज़मींदारों, सामंतों और राज्य के सामंती ज़ुल्म के कारण काफ़ी असंतुष्ट हैं।

औरंगज़ेब के धार्मिक कठमुल्लापन और हिन्दू शासकों के प्रति नीति ने मुग़ल साम्राज्य की स्थिरता को गहरा नुकसान पहुँचाया। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के ज़माने में मुग़ल राज्य मूलतः एक धर्म निरपेक्ष राज्य था। उसकी स्थिरता लोगों के धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप न करने, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ावा देने तथा राज्य के सबसे बड़े ओहदों पर जाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों और धर्मों के लोगों को समान अवसर देने की नीति पर ही मुख्य रूप से आधारित थी। राजपूत राजाओं के साथ मुग़ल मैत्री इस नीति की एक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति थी। औरंगज़ेब ने जज़िया लगाकर, उत्तर भारत में अनेक हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर और हिन्दुओं पर कुछ प्रतिबंध लगाकर इस नीति को विपरीत दिशा में मोड़ने की कोशिश की। इस तरह वह हिन्दुओं को अपने से अलग-थलग करने, मुग़ल समाज को विभाजित करने, विशेषकर हिन्दू और मुस्लिम उच्च वर्गों के बीच की खाई चौड़ी करने की ओर प्रवृत्त हुआ। किन्तु मुग़ल सत्ता के पतन के कारण के रूप में औरंगज़ेब की धार्मिक नीति पर बहुत ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है। इस नीति का अनुसरण उसके शासनकाल के अन्तिम हिस्से में ही हुआ। उसके उत्तराधिकारियों ने इसे बड़ी जल्दी छोड़ दिया। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जज़िया को उसके मरने के बाद कुछ ही वर्षों के अंदर हटा दिया गया। राजपूत और अन्य हिन्दू सामंतों और सरदारों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध फिर क़ायम कर लिए गए। उनमें से अजीत सिंह राठौर और जय सिंह सिवाई जैसे कुछ सामंत बाद के मुग़ल बादशाहों के शासनकाल में ऊँचे ओहदों पर पहुँच गए। राजा साहू और मराठा सरदारों के साथ भी, धार्मिक की अपेक्षा राजनीतिक आधार पर संबंध विकसित किए गए। इस बात को भी दृष्टि में रखने की ज़रूरत है कि अठारहवीं शताब्दी के राजपूत, जाट, मराठा और सिक्ख सरदारों ने भी हिन्दुओं के हिमायती के रूप में आचरण नहीं किया। धार्मिक एक-जुटता की अपेक्षा सत्ता और लूट-खसोट का महत्व उनके दिमाग़ में अधिक था। वे बहुधा हिन्दुओं से लड़ने और उन्हें लूटने में उतने ही निर्दयी होते थे जितना मुसलमानों के प्रति। वस्तुतः उस समय न तो हिन्दू समान समुदाय के रूप में थे, न मुसलमान ही। दोनों धार्मिक समूहों के उच्च वर्ग ही शासक वर्ग में शामिल थे। किसान और दस्तकार, वे हिंदू हों या मुसलमान, समाज के विशेषाधिकारहीन बहुसंख्यक लोगों में आते थे। कभी-कभी हिन्दू और मुसलमान सामंत और सरदार अपने राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए धर्म के प्रचार को हथियार या साधन बनाते थे। मगर इससे भी अधिक बार वे सहधर्मियों के खिलाफ़ सत्ता, इलाके या धन प्राप्त करने के लिए परस्पर गठजोड़ करते थे। इसके अतिरिक्त, हिन्दू और मुसलमान सामंत, ज़मींदार और सरदार आम जनता पर बिना धर्म का कोई ख्याल किए निर्मम ज़ुल्म ढाहते और उनका शोषण करते थे। महाराष्ट्र या राजपूताना के हिन्दू किसानों को भू-राजस्व की उतनी ही ऊँची रक़म देनी पड़ती थी जितनी आगरा, बंगाल या अवध के हिन्दू या मुसलमान किसानों को। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुस्लिम उच्च वर्गों के बीच सौहार्दपूर्ण सांस्कृतिक और सामाजिक संबंध थे।

औरंगज़ेब ने साम्राज्य को जब छोड़ा उस समय ऐसी अनेक समस्याएँ थीं जिनका समाधान नहीं हुआ था। उसके मरने के बाद उत्तराधिकार के लिए हुई विध्वंसकारी लड़ाइयों ने स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। उत्तराधिकार सम्बन्धी निश्चित नियमों के अभाव में बादशाह के मरने के बाद मुग़लवंश हमेशा शाहज़ादों के बीच गृह-युद्ध का शिकार हो जाता था। अठारहवीं शताब्दी के दौरान ये युद्ध अत्यन्त उग्र और विध्वंसकारी हो गए। इनके कारण धन-जन की बड़ी क्षति हुई। हज़ारों प्रशिक्षित सैनिक और सैकड़ों योग्य सेनापति तथा कुशल एवं सिद्ध-हस्त अफ़सर मारे गए। इतना ही नहीं, इन गृह-युद्धों ने साम्राज्य के प्रशासनिक ढाँचे को कमज़ोर बना दिया। साम्राज्य की रीढ़ की हड्डी, सामंतशाही परस्पर लड़ने वाले गुटों में बँट गयी। अनेक स्थानीय सरदारों और अफ़सरों ने केन्द्र में व्याप्त अस्थिरता और राजनीतिक अव्यवस्था की स्थितियों का इस्तेमाल अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने अपेक्षाकृत अधिक स्वायत्तता प्राप्त करने तथा

अपने ओहदों को वंशगत बनाने के लिए किया।

औरंगज़ेब के शासन की कमजोरियाँ तथा उत्तराधिकार की लड़ाइयों के कुपरिणामों पर क़ाबू पाया जा सकता था अगर गद्दी पर योग्य, दूरदर्शी और कर्मठ शासक बैठे होते। दुर्भाग्यवश बहादुर शाह के संक्षिप्त शासनकाल के बाद बड़े लम्बे समय तक अत्यन्त नालायक़ कमज़ोर चरित्रबल वाले और ऐय्याश बादशाहों का शासन रहा। अन्ततः निरंकुश राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था में शासक का चरित्र और व्यक्तित्व की निर्णायक भूमिका होती है। मगर इस एक मात्र कारक को बहुत अधिक महत्त्व देने की ज़रूरत नहीं है। औरंगज़ेब न तो कमज़ोर था और न ही पतित। उसमें काम करने की महान् योग्यता और क्षमता थी। वह उन दुर्गुणों से दूर था जो आमतौर से राजाओं में होते थे। उसका जीवन सादा और आडम्बर हीन था। उसके पूर्वजों का महान् साम्राज्य इसलिए कमज़ोर नहीं हुआ कि उसमें चरित्र या योग्यता का अभाव था, बल्कि इसलिए कि उसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अन्तर्दृष्टि का अभाव था। उसका व्यक्तित्व नहीं बल्कि उसकी नीतियाँ अव्यवस्थित थीं यानी स्थितियों के अनुकूल नहीं थीं।

महान् मुग़लों के व्यक्तित्व के अलावा मुग़ल साम्राज्य की शक्ति उसकी सामंतशाही के संगठन और चरित्र में भी निहित थी। बादशाह की कमज़ोरी पर जागरुक कुशल और निष्ठावान सामंतशाही द्वारा सफलतापूर्वक क़ाबू पाया और उसे छिपाया जा सकता था। मगर सामंतशाही का चरित्र भी गिर गया था। अनेक सामंत फ़ज़ूल ख़र्ची से रहते थे। उनका ख़र्च उनकी आमदनी से अधिक होता था। उनमें से अनेक आरामतलब हो गए थे और अत्यधिक विलासिता पसंद करते थे। यहाँ तक कि वे जब लड़ाई में जाते थे तब भी आराम की वस्तुएँ ले जाते थे। आमतौर से वे अपने परिवार भी ले जाते थे। बहुधा वे काफ़ी कम पढ़े-लिखे होते थे। यहाँ तक कि उनमें से अनेक युद्ध-कला भी नहीं जानते थे। पहले निम्न वर्गों के अनेक योग्य लोग सामंत का दर्जा पा लेते थे। इस प्रकार सामंतशाही में नयी ज़िन्दगी आ जाती थी। बाद में तत्कालीन सामंत परिवारों ने सभी ओहदों पर एकाधिकार कर लिया और नए लोगों को उनसे वंचित रखा। किन्तु सारे सामंत कमज़ोर और अकुशल नहीं हो गए थे। अठारहवीं शताब्दी के दौरान बड़ी संख्या में उद्यमी और योग्य अफ़सरों और बहादुर एवं प्रतिभावान सेनापतियों ने प्रसिद्धि पायी मगर उनमें से अनेक साम्राज्य का कोई भला नहीं कर पाए क्योंकि उन्होंने अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल राज्य और समाज की सेवा करने के बदले अपने हितों को साधने तथा एक-दूसरे से लड़ने के लिए किया।

वस्तुतः आम धारणा के विपरीत अठारहवीं शताब्दी में मुग़ल सामंतशाही की मुख्य कमज़ोरी का कारण सामंतों की औसत योग्यता में गिरावट या उनका नैतिक पतन नहीं बल्कि उनके स्वार्थीपन और राज्य के प्रति उनमें निष्ठा का अभाव था जिसके परिणामस्वरूप प्रशासन में भ्रष्टाचार तथा पारस्परिक कलह ने जन्म लिया। अपनी शक्ति, इज़्ज़त और आमदनी बढ़ाने के लिए सामंतों ने एक-दूसरे के विरुद्ध और यहाँ तक कि बादशाह के ख़िलाफ़ भी समूह और गुट बनाए। सत्ता के लिए संघर्ष में उन्होंने ताक़त, जालफ़रेब और धोखेबाज़ी का सहारा लिया। उनके पारस्परिक झगड़ों ने साम्राज्य को शक्तिहीन बना दिया, उसकी एकता पर बुरा प्रभाव डाला, उसको टुकड़े-टुकड़े कर दिया और अन्ततोगत्वा विदेशी विजेताओं का आसान शिकार बना दिया। इस सिलसिले में सब से अधिक दोषी वे सामंत थे जो कर्मठ और योग्य थे। उन्हों ने ही अपने निजी रजवाड़े बनाकर साम्राज्य की एकता को छिन्न भिन्न कर दिया। इस प्रकार बाद की मुग़ल सामंतशाही का अपकर्ष व्यक्तिगत दुर्गुण के कारण उतना नहीं हुआ था जितना सार्वजनिक सद्गुण तथा राजनीतिक दूरदर्शिता के अभाव और सत्ता के लिए अदूरदर्शितापूर्ण भाग-दौड़ के कारण हुआ था। मगर ये विशेषताएँ केवल केन्द्र स्थित मुग़ल सामंतशाही की ही नहीं थीं। वे समान मात्रा में उदीयमान मराठा सरदारों, राजपूत राजाओं, जाट, सिक्ख तथा बुंदेल सरदारों, स्वायत्त प्रान्तों के नए शासकों और उन अन्य अनगिनत दुःसाहसियों में भी थी जिन्होंने अठारहवीं शताब्दी के अशांत काल के दौरान शोहरत और सत्ता प्राप्त की।

सामंतों की बढ़ती हुई स्वार्थपरता और गुटबाज़ी का एक प्रमुख कारण था जागीरों का अभाव तथा तत्कालीन

जागीरों की घटी हुई आमदनी, जबकि सामन्तों की संख्या और उनके खर्च में वृद्धि हो रही थी। इसलिए उनके बीच तत्कालीन जागीरों पर अधिकार जमाने के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गयी। मूल बात यह थी कि शायद कोई भी ऐसी व्यवस्था सम्भव नहीं थी जिससे सारे सामंत संतुष्ट होते क्योंकि सबके लिए पर्याप्त ओहदे और जागीर नहीं थे। जागीरों के अभाव के कुछ अन्य परिणाम हुए। सामंतों ने अपनी जागीरों से अधिकतम आय प्राप्त करने की कोशिश की जिससे किसानों पर बोझ बढ़ा। उन्होंने तत्कालीन जागीरों और ओहदों को वंशगत बनाने की कोशिश की। अपने बजटों को संतुलित करने के लिए उन्होंने खालसा जमीन को हथिया लिया। इससे केंद्रीय सरकार का वित्तीय संकट गहरा हो गया। उन्होंने आम-तौर से अपना खर्च घटाने के लिए अपने पास निर्धारित संख्या से कम सैनिक रखने शुरू कर दिए और इस प्रकार साम्राज्य की सैनिक शक्ति कमज़ोर हो गयी।

मुग़ल साम्राज्य के पतन का एक बुनियादी कारण अपनी जनसंख्या की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने में उसकी असमर्थता थी। सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान भारतीय किसान की हालत धीरे-धीरे बिगड़ गयी। वैसे उसकी किस्मत शायद कभी अच्छी नहीं थी किन्तु अठारहवीं शताब्दी में उसका जीवन "दरिद्र, घिनौना, दयनीय और अनिश्चित" था। भूराजस्व का बोझ अकबर के जमाने से ही बढ़ता जा रहा था। इसके अलावा अपनी जागीरों से सामंतों के लगातार तबादले ने एक बड़ी बुराई को जन्म दिया। वे थोड़े समय की अपनी जागीरदारी के दौरान यथासंभव आमदनी प्राप्त करने की कोशिश करने लगे। उन्होंने किसानों से भारी रक़मों की माँग की और सरकारी नियमों की अवहेलना कर उन पर अत्याचार किए। औरंगज़ेब की मौत के बाद इजारा की प्रथा जागीर और ख़ालसा दोनों प्रकार की भूमि के सिलसिले में प्रच-लित हो गयी। इजारा प्रथा के अन्तर्गत सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को भूराजस्व का ठेका दे दिया जाता था साथ ही उसे किसानों से मनमाने ढंग से लगान वसूल करने की इजाज़त दे दी जाती थी। फलस्वरूप भूराजस्व के ठेकेदारों और ताल्लुकेदारों के एक नए वर्ग का जन्म हुआ। बहुधा किसानों से उनकी लूट-खसोट की कोई सीमा नहीं होती थी।

इन सब कारणों से कृषि की हालत खराब हुई और किसानों की दरिद्रता बढ़ी। किसानों में असंतोष बढ़ा और उभर कर सामने आया। ऐसे कुछ उदाहरण हैं कि करों की अदायगी से बचने लिए किसानों ने जमीन छोड़ दी। किसानों का असंतोष अनेक बग़ावतों (सतनामियों, जाटों, सिक्खों आदि की बग़ावतों) में भी प्रकट हुआ। इन बग़ावतों ने साम्राज्य की स्थिरता और शक्ति को घटा दिया। अनेक बर्बाद हुए किसानों ने डाकुओं और दुःसाहसियों के जत्थे बनाकर फिरना शुरू कर दिया। बहुधा इनके नेता जमींदार होते थे। इस तरह इन्होंने मुग़ल प्रशासन के कानून और व्यवस्था की जड़ें खोद दीं।

असल में, कृषि में अब इतनी मात्रा में अधिशेष उत्पादन नहीं हो रहा था कि साम्राज्य निरंतर युद्ध और शासक वर्गों के बढ़ते हुए विलास की आवश्यकता को पूरा कर सके। साम्राज्य के ज़िन्दा रहने और अपनी शक्ति को फिर से प्राप्त करने तथा लोगों को तरक्की के रास्ते पर बढ़ने के लिए सिर्फ़ उद्योग और व्यापार से ही अति-रिक्त आर्थिक संसाधन मिल सकते थे। मगर ख़ासकर व्यापार और उद्योग में ही जड़ता अधिक स्पष्ट थी। निसं-देह बड़े साम्राज्य की स्थापना ने व्यापार और उद्योग को कई तरह से बढ़ावा दिया था और हिन्दुस्तान के औद्योगिक उद्योग में काफ़ी वृद्धि हुई थी। अपने उत्पादन के गुण और मात्रा की दृष्टि से समसामयिक विश्व के मानदण्डों के अनुसार भारतीय उद्योग काफ़ी उन्नत था मगर तत्का-लीन योरोपीय उद्योग के विपरीत भारतीय उद्योग ने विज्ञान और टेक्नोलोजी के क्षेत्र में कोई नयी प्रगति नहीं की। व्यापार के विकास के मार्ग में ख़राब संचार व्यवस्था और ग्रामीण अर्थव्यवस्था की स्वावलम्बी प्रकृति बाधा बन रही थी। इसके अलावा संपदा और राजस्व के स्रोत के रूप में भूमि को अधिक महत्त्व देने के कारण विदेश व्यापार और नौसेना की उपेक्षा हुई। शायद सबसे अच्छे बादशाह और सामंत भी इस स्थिति को नहीं बदल सकते हैं। वैज्ञानिक और टेक्नोलोजिकल तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रान्ति के अभाव में भारत यूरोप से आर्थिक और राजनीतिक तौर पर पिछड़ गया और उसके दबाव का शिकार हो गया।

मुग़ल साम्राज्य के पतन का एक महत्त्वपूर्ण सामा-जिक-राजनीतिक कारण जनता में राजनीतिक राष्ट्रीयता

की भावना का अभाव था। यह इसलिए था कि उस समय भारत में आधुनिक राष्ट्र का निर्माण करने वाले तत्त्वों की कमी थी। भारत के लोग यह महसूस नहीं करते थे कि वे सब भारतीय हैं, न ही वे इस बात के प्रति जागरूक थे कि उनके हित समान हैं यद्यपि सांस्कृतिक एकता के तत्त्व देश में शताब्दियों से वर्तमान थे। इसलिए अपने राष्ट्र के लिए जीने-मरने का आदर्श नहीं था। इसकी जगह लोग व्यक्तियों, क़बीलों, जातियों और धार्मिक संप्रदायों के प्रति वफ़ादार थे।

वस्तुत: देश में कोई भी समूह या वर्ग ऐसा नहीं था जो देश या साम्राज्य की एकता को बरक़रार रखने में गहरी दिलचस्पी रखता हो। देश में जो भी एकता थी वह ऊपर से ताक़तवर शासकों द्वारा क़ायम की गयी थी। किसानों की निष्ठा उनके गाँव और जाति तक ही सीमित थी। इसके अलावा उन्होंने साम्राज्य की राजनीति में नाम-मात्र की दिलचस्पी ली और उसके हितों के साथ अपने हितों का तादात्म्य नहीं किया। उन्होंने महसूस किया कि साम्राज्य के रहने या न रहने से उन पर कोई असर पड़ने वाला नहीं है और बाहरी आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा करना उनकी ज़िम्मेदारी नहीं है। ज़मींदार ऐसी किसी भी केंद्रीय सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावत करने को तैयार रहते थे, जिसमें कमज़ोरी के चिन्ह दीखते थे। वे ऐसे मज़बूत केंद्रीकृत राज्य के विरोधी थे जो उनकी सत्ता और स्वायत्तता को नियंत्रित करे।

पहले सामंत शाही वंश के प्रति निष्ठा की उदात्त भावना से ओतप्रोत होते थे। मगर यह मुख्यत: बदले में प्राप्त ऊँचे ओहदों और विशेषाधिकारों पर आधारित होती थी। मुग़ल वंश के पतन के बाद सामंतों ने अपने स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षा को राज्य के प्रति निष्ठा से अधिक महत्त्व दिया। स्वायत्त रजवाड़े बनाकर उन्होंने साम्राज्य की मूल एकता पर ही चोट की। यहाँ तक कि वे लोग भी (उदाहरण के तौर पर मराठे, जाट और राजपूत) जिन्होंने साम्राज्य के ख़िलाफ़ बग़ावत की, अपनी क्षेत्रीय, क़बीलाई या व्यक्तिक सत्ता को मज़बूत करने में दिलचस्पी रखते थे। उनमें भारत राष्ट्र या उसकी एकता के लिए लड़ने का कोई विचार नहीं था। वास्तविकता यह थी कि भारतीय अर्थव्यवस्था सामाजिक संबंधों, जाति के ढाँचे और राजनीतिक संस्थानों के चरित्र को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के एकीकरण या एक राष्ट्र के रूप में भारत के उदय के लिए समय परिपक्व नहीं हुआ था। ऊपर जिन कारकों की चर्चा की गयी है उनके परिणामस्वरूप अगर मुग़ल साम्राज्य की सैन्य शक्ति नहीं टूटी होती तो वह काफ़ी लम्बे समय तक टिक सकता था। अठारहवीं शताब्दी के दौरान साम्राज्य की प्रशासनिक कार्यकुशलता में तेज़ी से गिरावट आयी। प्रशासन की उपेक्षा की गयी और क़ानून तथा व्यवस्था देश के अनेक भागों में बिगड़ गयी। उच्छृंखल ज़मींदारों ने केंद्रीय सत्ता की खुलेआम अवहेलना की। यहाँ तक कि शाही ख़ेमे और एक जगह से दूसरी जगह जाती हुई मुग़ल फ़ौजों को बहुधा विरोधी तत्त्वों ने लूट लिया। भ्रष्टाचार और घूसखोरी, अनुशासनहीनता और अकुशलता, अवज्ञा और निष्ठाहीनता सभी स्तरों पर अफ़सरों में बड़े पैमाने पर व्याप्त थी। केंद्रीय सरकार बहुधा दिवालियापन के निकट होती थी। पुरानी संचित सम्पदा ख़त्म हो चुकी थी जब कि आय के तत्कालीन स्रोत संकुचित हो गए थे। अनेक प्रान्त केंद्र को प्रान्तीय राजस्व नहीं भेज पाते थे। ख़ालसा भूमि का क्षेत्रफल धीरे-धीरे घटा दिया गया क्योंकि बादशाहों ने मित्र सामंतों को संतुष्ट करने के लिए इस भूमि से जागीरें दीं। विद्रोही ज़मींदार नियमित रूप से राजस्व रोके रखते थे। किसानों को सताकर आमदनी बढ़ाने की कोशिशों के कारण लोगों में प्रतिक्रिया हुई।

अन्ततोगत्वा साम्राज्य की फ़ौजी ताक़त पर बुरा प्रभाव पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के दौरान मुग़ल सेना में अनुशासन और लड़ने के लिए हौसले की कमी थी। धन की कमी के कारण बड़ी फ़ौज रखना कठिन था। उसके सैनिकों और अफ़सरों को महीनों तक वेतन नहीं दिया जाता था, और चूँकि वे केवल भाड़े के सैनिक होते थे इसलिए वे हमेशा असंतुष्ट रहते थे और बग़ावत के लिए उतारू रहते थे। फिर, ऐसे सामंत जो सेनापति भी होते थे अपनी वित्तीय कठिनाइयों के कारण निर्दिष्ट संख्या में सैनिक दस्ते नहीं रखते थे। इसके अलावा गृह-युद्धों में अनेक तेज़-तर्रार सेनापतियों और बहादुर एवं अनुभवी सैनिकों की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार फ़ौज जो हर साम्राज्य का अन्तिम समर्थन होती है और महान् मुग़लों का गौरव थी, इतनी कमज़ोर हो गयी थी कि वह न तो

महत्त्वाकांक्षी सरदारों और सामंतों को नियंत्रित कर सकती थी और न ही साम्राज्य को विदेशी आक्रमणों से बचा सकती थी।

मुग़ल साम्राज्य पर अन्तिम आघात लगातार हुए विदेशी आक्रमणों ने किया। नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली द्वारा आक्रमणों ने, जो साम्राज्य की कमज़ोरी के परिणाम थे, साम्राज्य को धनहीन बना दिया, उत्तर भारत में व्यापार और उद्योग को बर्बाद कर दिया तथा साम्राज्य की सैनिक शक्ति नष्ट कर दी। अन्त में, ब्रिटिश चुनौती ने सामने आकर संकट ग्रस्त साम्राज्य के फिर जीवित होने की आख़िरी आशा को भी खत्म कर दिया। इसी अन्तिम तथ्य में मुग़ल साम्राज्य के पतन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम निहित है। कोई भी भारतीय शक्तियाँ महान् मुग़लों की विरासत का दावा करने के लिए सामने नहीं आयीं। वे साम्राज्य को नष्ट करने के लिए पर्याप्त रूप से ताक़तवर थीं मगर उसे एकसूत्र-बद्ध करने या उसकी जगह पर कोई नयी चीज लाने में समर्थ नहीं थीं। वे ऐसी कोई नयी समाज व्यवस्था नहीं बना सकीं जो पश्चिम से आने वाले नए दुश्मन के सामने टिक सके। उनमें से सब उसी ठूँठ समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती थीं जिसके नेता मुग़ल थे। वह सब उन्हीं कमजोरियों का शिकार थीं जिन्होंने शक्तिशाली मुग़ल साम्राज्य को नष्ट कर दिया था। दूसरी ओर भारत का दरवाजा खटखटा रहे यूरोपवासी ऐसे समाज से आए थे जिसने एक बेहतर आर्थिक व्यवस्था का विकास किया था और जो विज्ञान तथा टेक्नोलोजी में काफ़ी उन्नत था। मुग़ल साम्राज्य के पतन की सबसे दुःखद बात यह हुई कि उसकी जगह पर एक विदेशी शक्ति आयी जिसने अपने हितों का ख्याल कर देश के शताब्दियों पुराने सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को हटाकर उस की जगह एक औपनिवेशिक ढाँचे को रखा। भारतीय समाज जड़ता को तोड़ दिया गया और परिवर्तन की नई शक्तियों ने जन्म लिया। इस प्रक्रिया ने औपनिवेशिक सम्पर्क के कारण जन्म लिया इसलिए वह अपने साथ आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन को कौन कहे, अवश्यम्भावी रूप से घोर दरिद्रता और राष्ट्रीय अपकर्ष लेकर आयी। मगर परिवर्तन की ठीक इन्हीं शक्तियों ने आधुनिक भारत की गतिशीलता को जन्म दिया।

अभ्यास

1. किस तरह मुग़ल साम्राज्य सिमट कर दिल्ली के इर्द-गिर्द रह गया? साम्राज्य को बचाने के लिए शासकों और उच्च अधिकारियों ने कौन-से क़दम उठाए?
2. मुग़ल साम्राज्य के पतन के लिए औरंगजेब की जिम्मेदारी का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
3. मुग़ल साम्राज्य के पतन के लिए सामंतशाही किस हद तक जिम्मेदार थी
4. कृषि और उद्योग की जड़ता ने मुग़ल साम्राज्य को कमजोर करने में क्या भूमिका अदा की?
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें:
   (क) बहादुर शाह; (ख) जुल्फ़िक़ार ख़ाँ; (ग) सैयद बंधु; (घ) नादिर शाह और भारत पर उसका आक्रमण; (च) जागीरदारी प्रथा का संकट।

अध्याय 2

अठारहवीं सदी में भारतीय राज्य और समाज

मुग़ल साम्राज्य और उसकी राजनीतिक व्यवस्था के मलबे पर बड़ी संख्या में स्वतंत्र और अर्ध-स्वतंत्र शक्तियाँ उठ खड़ी हुईं। उनमें बंगाल, अवध, हैदराबाद और मराठा रजवाड़े थे। उन्हीं शक्तियों ने अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत पर आधिपत्य क़ायम करने की अंग्रेज़ों की कोशिश को चुनौती दी। इनमें से कुछ का उदय मुग़ल प्रान्तों के सूबेदारों द्वारा स्वायत्तता का दावा करने के कारण हुआ, अन्य शक्तियाँ मुग़ल सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावत का परिणाम थीं।

इन राज्यों के शासकों ने क़ानून और व्यवस्था की स्थापना की तथा आर्थिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से चलने लायक़ राज्य क़ायम किए। उन्होंने कमोबेश सफलता के साथ उन छोटे स्थानीय अधिकारियों और छोटे सरदारों और ज़मींदारों को नियंत्रित किया जो किसानों के अधिशेष उत्पाद पर अधिकार के लिए उच्च अधिकारियों से निरंतर लड़ते रहते थे और कभी-कभी सत्ता और संरक्षण के स्थानीय केंद्र बनाने में सफल हो जाते थे। इन राज्यों की राजनीति निरपवाद रूप से ग़ैर साम्प्रदायिक या धर्म निरपेक्ष थी। इनके शासकों के प्रयोजन आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से एक समान थे। इन शासकों ने सार्वजनिक नियुक्तियों में (वे नागरिक सेवाओं के क्षेत्र में हों या सैनिक सेवा के क्षेत्र में) धार्मिक आधार पर भेद तक नहीं किया। न ही उनकी सत्ता के खिलाफ़ बग़ावत करने वालों ने उनके धर्म का कोई ज्यादा ख़याल किया।

किन्तु इनमें से कोई भी राज्य आर्थिक संकट पर क़ाबू पाने में सफल नहीं हो सका। ज़मींदार और जागीरदार जिनकी संख्या निरन्तर बढ़ रही थी, कृषि से प्राप्त घटती हुई आय को लेकर आपस में लड़ते रहे जबकि किसानों की दशा लगातार ख़राब होती जा रही थी। यद्यपि इन राज्यों ने आन्तरिक व्यापार को किसी भी प्रकार ठप्प नहीं होने दिया और विदेश व्यापार को भी बढ़ावा दिया तथापि अपने यहाँ बुनियादी औद्योगिक और व्यापारिक ढाँचे को आधुनिक बनाने के लिए कुछ नहीं किया।

हैदराबाद और कर्नाटक

हैदराबाद राज्य की स्थापना निज़ाम-उल-मुल्क आसफ़ जाह ने 1724 में की। वह औरंगज़ेब के बाद के ज़माने का एक प्रमुख सामंत था। उसने सैयद बंधुओं को उखाड़ फेंकने में प्रमुख भूमिका अदा की और उसे इनाम के तौर पर दक्कन की नवाबी मिली। उसने अपनी नवाबी के प्रति होने वाले सारे विरोधों को कुचल दिया तथा प्रशासन को कुशल बनाने के लिए पुनर्गठित किया। इस तरह उसने 1720 से 1722 तक दक्कन पर क़ब्ज़ा मज़बूत कर लिया। वह 1722 से 1724 तक साम्राज्य का वज़ीर रहा। मगर वह जल्द ही वज़ीर के काम से तंग आ गया क्योंकि बादशाह मुहम्मद शाह ने प्रशासन में सुधार लाने की उसकी सब कोशिशों को नाकाम कर दिया। इसलिए उसने दक्कन वापस जाने का फ़ैसला किया जहाँ वह सही-सलामत अपना आधिपत्य बनाए रख सकता था। यहाँ उसने हैदराबाद राज्य की नींव रखी जिस पर उसने कठोरतापूर्वक शासन किया। उसने केन्द्रीय सरकार से अपनी स्वतंत्रता की खुले आम घोषणा कभी नहीं की मगर उसने व्यवहार में स्वतंत्र
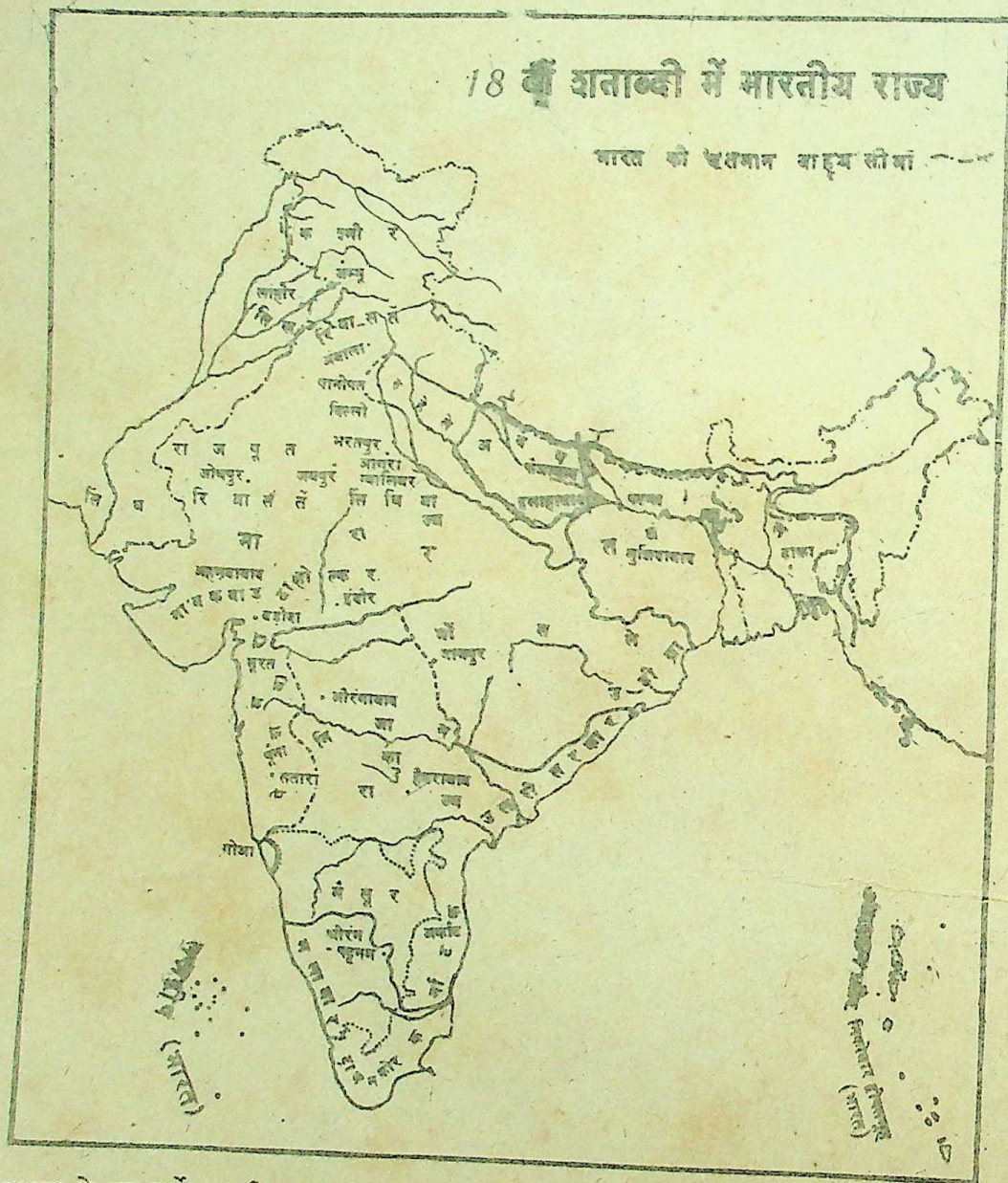
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

शासक के रूप में काम किया। उसने दिल्ली की केन्द्रीय सरकार से बिना पूछे लड़ाइयाँ कीं, सुलह किए, खिताब बाँटे और जागीरें तथा ओहदे दिए। उसने हिन्दुओं के प्रति सहनशीलता की नीति अपनायी। उदाहरण के लिए, एक हिन्दू, पूरन चंद, उसका दीवान था। उसने दक्कन में सुव्यवस्थित प्रशासन स्थापित कर अपनी सत्ता को मजबूत बनाया। उसने बड़े उपद्रवी जमींदारों को अपनी सत्ता मानने के लिए मजबूर किया और शक्तिशाली मराठों को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा। उसने राजस्व व्यवस्था को भ्रष्टाचार से मुक्त करने के लिए भी कोशिश की। मगर 1748 में उसके मरने के बाद हैदराबाद उन्हीं विघटनकारी शक्तियों का शिकार हो गया जो दिल्ली में सक्रिय थीं।

कर्नाटक, मुग़ल दक्कन का एक सूबा था और इस तरह वह हैदराबाद के निज़ाम के अधिकार के अंतर्गत आता था। मगर व्यवहार में जिस प्रकार निज़ाम दिल्ली की सरकार से स्वतंत्र हो गया था उसी प्रकार कर्नाटक का नायब सूबेदार, जिसे कर्नाटक का नवाब कहा जाता था अपने को दक्कन के नवाब के नियंत्रण से मुक्त कर अपने ओहदे को वंशगत बना चुका था। अतः कर्नाटक के नवाब सआदतउल्ला खाँ ने अपने भतीजे दोस्त अली को निज़ाम की मंजूरी के बिना ही अपना उत्तराधिकारी बना दिया था। आगे चलकर 1740 के बाद कर्नाटक की स्थिति नवाबी के लिए बारम्बार संघर्षों के कारण बिगड़ी और इससे योरोपीय व्यापारिक कम्पनियों को भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का मौक़ा मिल गया।

बंगाल

केंद्रीय सत्ता की बढ़ती हुई कमज़ोरी का फ़ायदा उठा कर असाधारण योग्यता वाले दो व्यक्तियों, मुर्शिद कुली ख़ाँ और अलीवर्दी ख़ाँ, ने बंगाल को वस्तुतः स्वतंत्र बना दिया। मुर्शिद कुली ख़ाँ को 1717 में जाकर बंगाल का सूबेदार बनाया गया मगर वह उसका वास्तविक शासक 1700 से ही था जब उसे दीवान बनाया गया था। उसने अपने को तुरन्त ही केंद्रीय नियंत्रण से मुक्त कर लिया यद्यपि वह बादशाह को नियमित रूप से नजराना भेजता रहा। उसने अन्दरूनी और बाहरी ख़तरे से बंगाल को मुक्त कर वहाँ शान्ति क़ायम की। अब बंगाल जमींदारों की बग़ावतों से भी कमोबेश मुक्त हो गया। उसके शासन के दौरान केवल तीन विद्रोह हुए। पहला विद्रोह सीताराम राय, उदय नारायण और गुलाम मुहम्मद ने किया। उसके बाद शुजात खाँ ने बग़ावत की। अन्तिम विद्रोह नजात ख़ाँ का था। उनको हराने के बाद मुर्शिद क़ुली ख़ाँ ने उनकी जमींदारियाँ अपने कृपापात्र रामजीवन को दे दीं। मुर्शिद क़ुली ख़ाँ 1727 में मर गया। उसके बाद उसके दामाद शुजा-उद्-दीन ने बंगाल पर 1739 तक शासन किया। उसकी जगह पर उसका बेटा सरफ़राज खाँ आया जि उसी साल गद्दी से हटाकर अली वर्दी ख़ाँ नवाब बन गया।

इन तीनों नवाबों ने बंगाल को शान्ति और सुव्यवस्थित प्रशासन दिया। उन्होंने व्यापार और उद्योग को बढ़ावा दिया। मुर्शिद क़ुली ख़ाँ ने प्रशासन में मितव्ययिता बरती। उसने बंगाल के वित्तीय मामलों का प्रबंध नए सिरे से किया। इसके लिए उसने नए भूराजस्व बन्दोबस्त के जरिए जागीर भूमि के एक बड़े भाग को ख़ालसा भूमि बना दिया और इजारा व्यवस्था (ठेके पर भूराजस्व वसूल करने की व्यवस्था) आरम्भ की। उसने ग़रीब खेतिहरों का कष्ट दूर करने तथा उन्हें समय पर भूराजस्व देने में समर्थ बनाने के लिए तक़ावी ऋण भी दिए। इस प्रकार वह बंगाल सरकार के संसाधनों को बढ़ा सका। मगर इजारा व्यवस्था ने किसानों पर आर्थिक बोझ बढ़ा दिया। इसके अलावा, यद्यपि उसने केवल असल जमा की माँग की और ग़ैरक़ानूनी टैक्स हटा दिए, तथापि उसने जमींदारों और किसानों से लगान की वसूली बड़ी निर्दयता के साथ की। उसके सुधारों का एक परिणाम यह हुआ कि अनेक पुराने जमींदारों को निकाल बाहर किया गया और उनकी जगह पर अभी-अभी पनपे इजारेदार आ गए।

मुर्शिद क़ुली ख़ाँ और उसके बाद के नवाबों ने हिंदुओं और मुसलमानों को रोजगार के समान अवसर दिए। उन्होंने सबसे ऊँचे नागरिक ओहदों और कई फ़ौजी ओहदों पर बंगालियों को रखा जिनमें अधिकतर हिन्दू थे। इजारेदारों को चुनते समय मुर्शिद क़ुली ख़ाँ ने स्थानीय जमींदारों और महाजनों को प्राथमिकता दी जिनमें अनेक हिंदू थे। इस प्रकार उसने बंगाल में एक नए भूअभिजात वर्ग को जन्म दिया।

तीनों नवाबों ने माना कि व्यापार का प्रसार जनता और सरकार के लिए फ़ायदेमंद है इसलिए उन्होंने सभी व्यापारियों, भारतीय और विदेशी, को बढ़ावा दिया। नियमित थानों और चौकियों की व्यवस्था कर सड़को और नदियों की सुरक्षा का इन्तज़ाम किया। उन्होंने अफ़सरों के निजी व्यापार को रोक दिया। उन्होंने सीमाशुल्क के प्रशासन में गोलमाल बन्द कर दिया। साथ ही उन्होंने इस बात का भी ख़याल रखा कि विदेशी व्यापारिक कम्पनियों तथा उनके नौकरों पर कड़ा नियंत्रण रखा जाए तथा उन्हें अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग नहीं करने दिया जाए। उन्होंने अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी के नौकरों को देश के क़ानूनों का पालन करने तथा अन्य व्यापारियों के बराबर सीमाशुल्क देने के लिए मजबूर किया। अलीवर्दी ख़ाँ ने अंग्रेजों और फ़ांसीसियों को कलकत्ता और चंद्र नगर के अपने कारख़ानों की क़िलेबंदी करने की इजाज़त नहीं दी। मगर बंगाल के नवाब एक दृष्टि से बड़े नासमझ और लापरवाह, साबित हुए। अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी की प्रवृत्ति 1707 के बाद अपनी माँगों को मनवाने के लिए सैनिक शक्ति का इस्तेमाल करने या उसके इस्तेमाल की धमकी देने की होने लगी थी। नवाबों ने इस प्रवृत्ति को मजबूती से नहीं दबाया। वे कम्पनी की धमकियों का जवाब देने की ताक़त रखते थे, मगर उनका निरंतर यह विश्वास रहा कि कोई भी मात्र व्यापारिक कम्पनी उनकी सत्ता के लिए कोई ख़तरा पैदा नहीं कर सकती। वे इस बात को नहीं महसूस कर सके कि अंग्रेजी कम्पनी व्यापारियों की कम्पनी मात्र नहीं थी बल्कि उस समय के अत्यन्त आक्रामक और विस्तारवादी उपनिवेशक का प्रतिनिधि थी। शेष दुनिया के बारे में उनका अज्ञान और उस से सम्पर्क का अभाव राज्य के लिए बड़ा महंगा पड़ा अन्यथा अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया, लैटिन अमरीका में पश्चिमी व्यापारिक कम्पनियों के विध्वंसकारी कामों के संबंध में वे जानते होते।

बंगाल के नवाबों ने शक्तिशाली फ़ौज बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया और इसके लिये उन्हें भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। उदाहरण के लिए, मुर्शिद क़ुली ख़ाँ की फ़ौज में केवल दो हजार घुड़सवार और चार हजार पैदल सैनिक थे। अलीवर्दी ख़ाँ को मराठों के बारंबार हमलों से तंग होना पड़ा और अन्ततोगत्वा उसे उड़ीसा का एक बड़ा हिस्सा उन्हे दे देना पड़ा। जब 1756-1757 में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अलीवर्दी के उत्तराधिकारी सिराज-उद्-दौला के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान किया तब शक्तिशाली फ़ौज के अभाव ने भी विदेशी कम्पनी की जीत में काफ़ी योगदान दिया। बंगाल के नवाब अफ़सरों के बीच बढ़ते हुए भ्रष्टाचार को रोकने में भी असफल रहे। यहाँ तक कि न्यायिक अधिकारी—क़ाज़ी और मुफ्ती घूस लेने में नहीं हिचकिचाते थे। विदेशी कम्पनियों ने इस कमजोरी का पूरा फ़ायदा उठा कर सरकारी क़ानून क़ायदों और नीतियों की जड़ें खोदीं।

अवध

अवध के स्वायत्त राज्य का संस्थापक सआदत ख़ाँ बुरहान-उल-मुल्क था। उसे 1722 में अवध का सूबेदार बनाया गया था। वह अत्यन्त निडर, कर्मठ, दृढ़ प्रतिज्ञ, और तेज आदमी था। उसकी नियुक्ति के समय बग़ावती जमींदारों ने प्रान्त में हर जगह सिर उठाया। उन्होंने मालगुजारी देने से इन्कार कर दिया, अपनी निजी सेनाएँ गठित कीं, क़िले बनाए और शाही सरकार की अवज्ञा की। वर्षों तक सआदत ख़ाँ को उनसे लड़ना पड़ा। उसने अंधेरगर्दी को ख़त्म किया और बड़े जमींदारों को अनुशासित किया। इस प्रकार उसने अपनी सरकार के वित्तीय संसाधनों को बढ़ाया। किन्तु अधिकतर पराजित जमींदारों को नहीं हटाया गया। आधीनता स्वीकार करने और देय रक़म (भूराजस्व) नियमित रूप से अदा करने पर सहमत होने के बाद उन्हें आमतौर पर अपनी जगह पर पक्का कर दिया गया। किन्तु उनका प्रतिरोध बना रहा। जब भी नवाब का सैनिक प्रभाव कमजोर हो जाता या वह किसी अन्य दिशा में लगा रहता तो वे बग़ावत कर देते। इस प्रकार ये नवाब की सत्ता को कमजोर कर देते। जैसा कि सआदत ख़ाँ के उत्तराधिकारी सफ़दर जंग ने बाद में लिखा: "अवध के सरदार पलक मारते ही उपद्रव खड़ा कर सकते थे और दक्कन के मराठों से अधिक ख़तरनाक थे।"

सआदत ख़ाँ ने भी 1723 में नया राजस्व-बन्दोबस्त (रेवेन्यू सेट्लमेंट) किया। कहा जाता है कि उचित भू-लगान लगाकर तथा बड़े जमींदारों के जुल्मों से बचाकर उसने किसानों की हालत को बेहतर बनाया।

बंगाल के नवाबों की तरह ही उसने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कोई भेदभाव नहीं किया। उसके अनेक सेनापति और उच्च अधिकारी हिन्दू थे। उसने हठीले जमींदारों, सरदारों और सामंतों को उनके धर्म का बिना कोई ख़याल किए दबा दिया। उसके सैनिकों को अच्छे वेतन मिलते थे। वे हथियारों से सुसज्जित और सुप्रशिक्षित थे। उसका प्रशासन कार्यकुशल था। 1739 में अपने मरने के पहले वह वस्तुतः स्वतन्त्र बन गया था और उसने प्रांत को अपनी वंशगत जायदाद बना लिया था। उसकी जगह उसके भतीजे सफ़दर जंग ने ली। वह, साथ ही, 1748 में साम्राज्य का वजीर भी बना दिया गया। इसके अलावा उसे इलाहाबाद का प्रान्त भी दिया गया।

सफ़दर जंग ने 1754 में अपने मरने तक अवध और इलाहाबाद की जनता को किसी अशांति का सामना करने नहीं दिया। उसने बगावती जमींदारों को दबा दिया। उसने मराठा सरदारों से मित्रता कर ली जिससे उसके अधिकार क्षेत्र में उनकी घुसपैठ न हो सके। उसने रुहेलों और बँगश पठानों के ख़िलाफ़ लड़ाइयाँ छेड़ीं। बंगश नवाबों के ख़िलाफ़ 1750-51 की लड़ाई में उसने मराठों की सैनिक सहायता तथा जाटों का समर्थन प्राप्त किया। इसके लिए उसे मराठों को प्रतिदिन 25,000 रु० और जाटों को रोज 15,000 रु० देने पड़े। बाद में उसने पेशवा के साथ एक क़रार किया जिसके अनुसार पेशवा ने मुग़ल साम्राज्य को अहमद शाह अब्दाली के ख़िलाफ़ मदद देने और उसे भारतीय पठानों तथा राजपूत राजाओं जैसे अन्दरूनी विद्रोहियों से बचाने का वचन दिया। बदले में पेशवा को 50 लाख रु० तथा पंजाब, सिंध और उत्तर भारत के कई जिलों का चौथ दिया जाने वाला था। इस के अलावा पेशवा को अजमेर और आगरा का सूबेदार बनाया जाना था। मगर पेशवा दिल्ली में सफ़दर जंग के दुश्मनों से जा मिला जिन्होंने उसे अवध और इलाहाबाद का सूबेदार बनाने का वचन दिया। इसलिए क़रार टूट गया।

सफ़दर जंग ने न्याय की उचित व्यवस्था की। उसने भी नौकरियाँ देने में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच निष्पक्षता की नीति अपनायी। उसकी सरकार के सबसे बड़े ओहदे पर एक हिन्दू, महाराजा नवाब राय, था।

नवाबों की सरकार के तहत लम्बे समय तक लगातार शांति और सामन्तों की आर्थिक समृद्धि के परिणामस्वरूप अवध दरबार के इर्द-गिर्द एक विशिष्ट लखनवी संस्कृति कालक्रम से विकसित हुई। लखनऊ बहुत जमाने से अवध का एक महत्त्वपूर्ण शहर था। 1775 के बाद वह अवध के नवाबों का निवास स्थान बन गया। वह तुरन्त ही कला और साहित्य को संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से दिल्ली का प्रतिद्वन्द्वी हो गया। वह हस्तशिल्प के एक महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में भी विकसित हुआ।

सफ़दर जंग ने बहुत ऊँची वैयक्तिक नैतिकता बनाए रखी। वह जिन्दगी भर अपनी एकमात्र पत्नी के प्रति वफ़ादार रहा। असल में हैदराबाद, बंगाल और अवध के तीनों स्वायत्त रजवाड़ों के संस्थापक क्रमशः निज़ाम-उल-मुल्क, मुर्शिद क़ुली ख़ाँ और अलीवर्दी ख़ाँ ऊँची वैयक्तिक नैतिकता वाले लोग थे। उनमें से लगभग सबों ने संयमपूर्ण और सादा जीवन बिताया। यह इस धारणा को झूठा साबित करती है कि अठारहवीं सदी के प्रमुख सामंतों ने फ़िजूलख़र्ची और विलासिता की ज़िन्दगी बितायी। केवल अपने सार्वजनिक और राजनीतिक कारोबार में ही उन्होंने धोखाधड़ी, षड्यंत्र और विश्वासघात का सहारा लिया।

मैसूर

हैदराबाद के बाद दक्षिण भारत में दूसरी महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में मैसूर का ही उदय हुआ। उसका नेतृत्व हैदर अली ने किया। मैसूर राज्य ने विजय नगर साम्राज्य अन्त होने के बाद से ही अपनी अस्थिर स्वतन्त्रता बनाए रखी थी। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही दो मंत्रियों नंजाराज (सर्वाधिकारी) और देवराज (दुलवाई)—ने मैसूर में सत्ता को हथिया लिया था और राजा चिक्का कृष्ण राज उनके हाथों की कठपुतली मात्र हो गया था। हैदर अली का जन्म 1721 में एक अज्ञात परिवार में हुआ था। उसने अपनी जिन्दगी मैसूर की फ़ौज के एक छोटे अफ़सर के रूप में आरम्भ की। अशिक्षित होते हुए भी वह तीव्र बुद्धि का था। वह अत्यन्त उद्यमी, निर्भीक और दृढ़ संकल्प था। वह एक प्रतिभाशाली सेनापति और चालाक कूटनीतिज्ञ था।

हैदर अली को तुरन्त ही उन लड़ाइयों में भाग लेने के अवसर मिले जिनमें मैसूर बीस सालों से अधिक तक फंसा रहा। उन अवसरों का चालाकी से इस्तेमाल कर वह

धीरे-धीरे मैसूर की फ़ौज में ऊपर उठ गया। उसने जल्द ही पश्चिमी फ़ौजी ट्रेनिंग के फ़ायदों को पहचाना और अपने अधीन जो सैनिक थे उन्हें उस तरह का प्रशिक्षण दिया। उसने फ्रांसीसी विशेषज्ञों की सहायता से डिंडिगुल में 1755 में एक आधुनिक शस्त्रागार स्थापित किया। उसने 1761 में नंजाराज का तख्ता पलट दिया और मैसूर राज्य पर अपना अधिकार क़ायम किया। उसने विद्रोही पोलिगारों (ज़मींदारों) पर पूरा नियंत्रण क़ायम किया और बिदनूर, सुंडा, सेरा, कनारा और मालाबार के इलाकों को जीत लिया। निरक्षर होते हुए भी वह एक कुशल प्रशासक था। उसने मैसूर पर अपना क़ब्ज़ा तब जमाया जब वह कमज़ोर और विभाजित राज्य था और उसे जल्द ही एक प्रमुख भारतीय शक्ति बना दिया। वह धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर चला। उसका पहला दीवान और अन्य अनेक अधिकारी हिन्दू थे।

अपनी सत्ता के लगभग आरम्भ से ही वह मराठा सरदारों, निज़ाम और अंग्रेज़ों के साथ लड़ाई में लगा रहा। उसने 1769 में अंग्रेज़ी फ़ौजों को बार-बार हराया और वह मद्रास के पास तक पहुँच गया। वह द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के दौरान 1782 में मर गया। उसके स्थान पर उसका बेटा टीपू गद्दी पर बैठा।

टीपू सुलतान
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

टीपू सुलतान ने अंग्रेज़ों के हाथों 1799 में मारे जाने तक मैसूर पर शासन किया। वह जटिल चरित्र वाला व्यक्ति था। वह नए विचारों को ढूंढ निकालने वाला व्यक्ति था। समय के साथ अपने को बदलने की उसकी इच्छा के प्रतीक एक नए कैलेंडर को लागू करना, सिक्का-ढलाई की नयी प्रणाली काम में लाना तथा माप-तौल के नए पैमानों को अपनाना थे। इसके अपने पुस्तकालय में धर्म, इतिहास, सैन्य विज्ञान, औषधि विज्ञान और गणित जैसे विविध विषयों की पुस्तकें थीं। उसने फ्रांसीसी क्रांति में गहरी दिलचस्पी ली। उसने श्रीरंगपट्टन में 'स्वतंत्रता-वृक्ष' को लगाया और वह एक जैकोबिन क्लब का सदस्य बन गया। उसकी संगठनिक क्षमता का प्रमाण यह है कि उन दिनों में जब भारतीय फ़ौजों के बीच अनुशासनहीनता आम थी, उसके सैनिक अंत तक अनुशासित और उसके प्रति वफ़ादार रहे। उसने जागीर देने की प्रथा को खत्म करके राजकीय आय बढ़ाने की कोशिश की। उसने पोलिगारों की पैतृक संपत्ति को कम करने की भी कोशिश की। मगर उसका भूराजस्व उतना ही ऊँचा था जितना अन्य समसामयिक शासकों का। वह पैदावार का एक तिहाई हिस्सा तक भूराजस्व के रूप में लेता था। मगर उसने अब्वाबों की वसूली पर रोक लगा दी। वह भूराजस्व में छूट देने में उदार था।

उसकी पैदल सेना योरोपीय ढर्रे पर चलती थी। इसी लिए वह बन्दूकों और संगीनों से सुसज्जित थी। इनका निर्माण मैसूर में ही होता था। उसने 1796 के बाद एक आधुनिक नौसेना बनाने की भी कोशिश की। इस उद्देश्य से उसने दो गोदीबाड़े क़ायम किए। जहाज़ों के प्रतिरूप (मॉडल) सुलतान ने खुद दिए। व्यक्तिगत जीवन में वह दुर्गुणों से मुक्त था और अपने को विलास से दूर रखता था। वह दुःसाहसी और सेनापति के रूप में प्रतिभाशाली था। मगर वह बहुत जल्दबाज़ी में कार्रवाई करता था। उसका स्वभाव बुलबुल था।

टीपू सुलतान की सेना का वर्दी में एक सैनिक
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

एक राजनेता के रूप में उसने अठारहवीं सदी के किसी भी अन्य भारतीय शासक से अधिक अच्छी तरह उस ख़तरे को पहचाना जो अंग्रेजों ने दक्षिणी भारत और अन्य भारतीय शक्तियों के लिए पैदा कर दिया था। वह उदीयमान अंग्रेजी सत्ता के अटल दुश्मन के रूप में डटा रहा। अंग्रेज भी भारत में उसे अत्यंत खतरनाक दुश्मन के रूप में देखते थे।

यद्यपि मैसूर समसामयिक आर्थिक पिछड़ेपन से मुक्त नहीं था तथापि हैदर अली और टीपू के नेतृत्व में उसने आर्थिक रूप से तरक्की की। यह बात उसके पहले की स्थिति या देश के अन्य हिस्सों की तत्कालीन अवस्था से उसकी तुलना करने पर स्पष्ट हो जाएगी। जब टीपू को 1799 में हरा कर और मार कर अंग्रेजों ने मैसूर पर अधिकार कर लिया तब उन्हें यह देख कर बड़ा अचरज हुआ कि मैसूर का किसान मद्रास के उनके अपने अधिकार क्षेत्र के किसान की तुलना में अधिक समृद्ध था। सर जान शोर ने, जो 1793 से 1798 तक गवर्नर-जनरल रहा, बाद में लिखा कि "उसके अधिकार क्षेत्र के किसान पूरी तरह सुरक्षित हैं और उनके श्रम को प्रोत्साहित किया जाता है तथा उन्हें पारिश्रमिक दिया जाता है।" लगता है कि टीपू ने आधुनिक व्यापार और उद्योग के महत्व को पूरी तरह समझा था। वास्तव में भारतीय शासकों में वही एक अकेला था जिसने सैन्य शक्ति के आधार के रूप में आर्थिक शक्ति का महत्व समझा था। विदेशी कर्मिकों को विशेषज्ञ के रूप में लाकर तथा अनेक उद्योगों को राजकीय सहायता देकर उसने आधुनिक उद्योग लगाने के लिए कुछ कोशिशें कीं। उसने व्यापार बढ़ाने के लिए फ्रांस, तुर्की, ईरान और पेगू में राजदूत भेजे। उसने चीन के साथ भी व्यापार किया। यहाँ तक कि उसने योरोपीय कम्पनियों के ढर्रे पर एक व्यापारिक क़म्पनी बनाने की कोशिश की।

कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने टीपू को धर्मांध बतलाया है। मगर तथ्य इसका समर्थन नहीं करते। यद्यपि वह अपने धार्मिक विचारों में रूढ़िवादी था तथापि अन्य धर्मों के प्रति अपने रुख में सहिष्णु और प्रबुद्ध था। श्रृंगेरी मंदिर को मराठा घुड़सवारों ने 1791 में लूट लिया। टीपू ने इस मंदिर की देवी शारदा की मूर्ति को बनाने के लिए धन दिया। उसने इसको और अन्य कई मंदिरों को नियमित रूप से उपहार दिए। श्रीरंगनाथ का मशहूर मंदिर उसके महल से केवल 100 गज की दूरी पर था।

केरल

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में केरल कई सामंती सरदारों और राजाओं के बीच बंटा हुआ था। चार अत्यन्त महत्वपूर्ण राज्य थे, जमोरिन के अधीन कालीकट, चिराक्कल, कोचीन और त्रावणकोर (तिरुवितामकुर)। त्रावणकोर राज्य को 1729 के बाद अठारहवीं सदी के एक अग्रणी राजनेता राजा मार्तण्ड वर्मा के नेतृत्व में प्रमुखता मिली। उसमें विलक्षण दूरदर्शिता तथा दृढ़ संकल्प एवं साहस और निर्भीकता का सामंजस्य था। उसने सामंतों को शान्त कर दिया, क्विलोन और इलायादाम को जीत लिया और डच लोगों को हराकर केरल में उनकी राजनीतिक सत्ता खत्म कर दी। उसने योरोपीय अफ़सरों की मदद से पश्चिमी मानक के आधार पर एक शक्तिशाली फ़ौज का संगठन किया और उसे आधुनिक हथियारों से सुसज्जित किया। उसने एक आधुनिक शस्त्रागार भी बनाया। मार्तण्ड वर्मा ने अपनी नयी फ़ौज का इस्तेमाल अपना

राज्य उत्तर की ओर बढ़ाने के लिए किया । त्रावणकोर की सीमाएँ जल्द ही कन्या कुमारी से कोचीन तक फैल गयीं । उसने सिंचाई की अनेक व्यवस्थाएँ कीं, संचार के लिए सड़कें और नहरें बनायीं, तथा विदेश व्यापार को सक्रिय प्रोत्साहन दिया ।

केरल के तीन बड़े राज्यों कोचीन, त्रावणकोर और कालीकट ने 1763 तक सभी छोटे रजवाड़ों को विलीन या अधीन कर लिया । हैदर अली ने केरल पर अपना आक्रमण 1766 में शुरू किया और अन्त में कालीकट के ज़मोरिन के इलाक़ों सहित कोचीन तक उत्तरी केरल को हड़प लिया ।

अठारहवीं शताब्दी में मलयाली साहित्य में एक असाधारण पुनर्जीवन देखा गया । यह अंशतः केरल के राजाओं और सरदारों के कारण हुआ जो साहित्य के महान् संरक्षक थे । अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में त्रावणकोर की राजधानी त्रिवेंद्रम, संस्कृत विद्वता का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन गया । मार्तण्ड वर्मा का उत्तराधिकारी राम वर्मा स्वयं एक कवि, विद्वान्, संगीतज्ञ, प्रसिद्ध अभिनेता और सुसंस्कृत व्यक्ति था । वह अंग्रेजी में धारा प्रवाह बातचीत करता था । उसने यूरोप के मामलों में गहरी दिलचस्पी ली । वह लंदन, कलकत्ता और मद्रास से निकलने वाले अखबारों और पत्रिकाओं को नियमित रूप में पढ़ता था ।

दिल्ली के इर्द-गिर्द के इलाके

राजपूत राज्य : प्रमुख राजपूत राज्यों ने मुग़ल सत्ता की बढ़ती हुई कमज़ोरी का फ़ायदा उठाकर अपने को केन्द्रीय नियंत्रण से वस्तुतः स्वतन्त्र कर लिया । साथ ही उन्होंने साम्राज्य के शेष भागों में अपना प्रभाव बढ़ाया । फ़र्रुख़सियर और मुहम्मद शाह के शासन काल में आमेर और मारवाड़ के शासकों को आगरा, गुजरात और मालवा जैसे महत्त्वपूर्ण मुग़ल प्रान्तों का सूबेदार बनाया गया ।

राजपुताना के राज्य पहले की तरह विभाजित रहे । उनमें जो बड़े थे उन्होंने अपने कमजोर पड़ोसियों—राजपूत और ग़ैर-राजपूत—दोनों के इलाकों को हथियाकर अपना विस्तार किया । अधिकतर बड़े राजपूत राज्य निरन्तर छोटे झगड़ों और गृह-युद्धों में फँसे रहे । इन राज्यों की अन्दरूनी राजनीति में उसी प्रकार के भ्रष्टाचार, षड्यंत्र और विश्वासघात का बोलबाला रहा जैसा मुग़ल दरबार में था । मारवाड़ के अजीत सिंह को उसके बेटे ने ही मार दिया ।

अठारहवीं शताब्दी का सबसे श्रेष्ठ राजपूत शासक आमेर का सवाई जय सिंह (1681-1743) था । वह एक विख्यात राजनेता, कानून-निर्माता और सुधारक था । परन्तु सबसे अधिक, वह विज्ञान-प्रेमी के रूप में चमका । ध्यान रहे कि जिस युग में वह था उसमें अधिकांश भारतीयों को वैज्ञानिक प्रगति के बारे में कुछ भी पता नहीं था । उसने जाटों से लिए गए इलाके में जयपुर शहर की स्थापना की और उसे विज्ञान और कला का एक महान् केन्द्र बना दिया । जयपुर का निर्माण बिल्कुल वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर और एक नियमित योजना के अनुसार हुआ । उसकी चौड़ी सड़कें एक दूसरे को समकोण बनाती हुई काटती हैं ।

जय सिंह की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह एक महान् खगोलशास्त्री था । उसने दिल्ली, जयपुर, उज्जैन और मथुरा में बिल्कुल सही और आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित पर्यवेक्षणशालाएँ बनायीं । कुछ उपकरण खुद जय सिंह के बनाए हुए थे । उसके खगोलशास्त्र सम्बन्धी पर्यवेक्षण आश्चर्यजनक रूप से सही होते थे । उसने सारणियों का एक सेट तैयार किया जिससे लोगों को खगोलशास्त्र सम्बन्धी पर्यवेक्षण करने में सहायता मिले । इसका नाम जिज मुहम्मदशाही था । उसने युक्लिड की 'रेखागणित के तत्व' का अनुवाद संस्कृत में कराया । उसने त्रिकोणमिति की बहुत सारी कृतियों और लघुगणकों को बनाने और उनके इस्तेमाल सम्बन्धी नेपियर की रचना का अनुवाद संस्कृत में कराया ।

जय सिंह समाज-सुधारक भी था । उसने एक क़ानून लागू करने की कोशिश की जिससे लड़की की शादी में किसी राजपूत को अत्यधिक खर्च करने के लिए मजबूर न होना पड़े । लड़की की शादी में भारी खर्च के कारण ही लड़कियों को जन्म लेते ही मार दिया जाता था । इस असाधारण राजा ने जयपुर पर 1699 से 1743 तक 44 वर्षों तक शासन किया ।

जाट : खेतीहरों की एक जाति जाट है । जाट दिल्ली, आगरा और मथुरा के इर्द-गिर्द के इलाक़े में रहते थे । मुग़ल अफ़सरों के अत्याचार से मजबूर होकर मथुरा के आसपास के जाट किसानों ने बग़ावत कर दी । उन्होंने 1669 और फिर 1688 में अपने जाट ज़मींदारों के नेतृत्व में विद्रोह किए । विद्रोहों को कुचल दिया गया मगर

इलाक़ा अशांत ही रहा। औरंगज़ेब की मौत के बाद उन्होंने दिल्ली के चारों ओर अशांति पैदा कर दी। जाट-विद्रोह ज़मींदारों के नेतृत्व में मूलतः कृषक-विद्रोह था मगर जल्द ही वह लूटमार तक सीमित हो गया। उन्होंने सबको ग़रीब हो या धनी, जागीरदार हो या किसान, हिन्दू हो या मुसलमान—लूटा। उन्होंने दिल्ली के दरबारी षड्यंत्रों में सक्रिय हिस्सा लिया। बहुधा अपने फ़ायदे को देखते हुए वे पक्ष बदल देते थे। भरतपुर के जाट राज्य की स्थापना चूड़ामन और बदन सिंह ने की। जाट सत्ता सूरज मल के नेतृत्व में अपनी उच्चतम गरिमा पर पहुँच गयी। सूरज मल ने 1756 से 1763 तक शासन किया और वह एक अत्यन्त योग्य प्रशासक तथा सैनिक और बड़ा बुद्धिमान राजनेता था। उसने अपना अधिकार एक बड़े क्षेत्र पर क़ायम किया जो पूरब में गंगा से लेकर दक्षिण में चम्बल तथा पश्चिम में आगरे के सूबे से लेकर उत्तर में दिल्ली के सूबे तक फैला था। उसके राज्य में अन्य ज़िलों के अलावा आगरा, मथुरा, मेरठ और अलीगढ़ ज़िले शामिल थे। एक समसामयिक इतिहासकार ने उसके बारे में निम्नलिखित शब्दों में लिखा है :

> "यद्यपि वह किसान की पोशाक पहनता था और सिर्फ़ अपनी ब्रज बोली बोल सकता था, तथापि वह जाट जाति का अफ़लातून (प्लेटो) था। समझदारी और चतुराई, तथा राजस्व और नागरिक मामलों का प्रबन्ध करने की योग्यता में उसकी बराबरी करने वाला आसफ़ जाह बहादुर को छोड़कर, हिन्दुस्तान के बड़े सामंतों में कोई नहीं था।"

वह 1763 में मर गया। उसके बाद जाट राज्य की अवनति हो गयी। वह छोटे ज़मींदारों के बीच बंट गया जिनमें से अधिकतर लूटमार पर ज़िन्दा रहने लगे।

बंगश पठान और रुहेले

एक अफ़ग़ान दुःसाहसी, मुहम्मद ख़ाँ बंगश ने फ़र्रुख़ाबाद के इर्द-गिर्द के इलाक़े (अलीगढ़ और कानपुर के बीच के इलाक़े) पर फ़र्रुख़सियर और मुहम्मद शाह के शासन काल में अपना अधिकार क़ायम कर लिया। इसी प्रकार नादिर शाह के आक्रमण के बाद प्रशासन के ठप्प हो जाने पर अली मुहम्मद ख़ाँ ने रुहेलखण्ड नामक एक राज्य क़ायम किया। यह राज्य हिमालय की तराई में दक्षिण में गंगा और उत्तर में कुमायूँ की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी पहले बरेली में आंवला में थी और बाद में रामपुर चली गयी। रुहेलों का अवध, दिल्ली और जाटों से लगातार टकराव होता रहा।

सिक्ख

सिक्ख धर्म को गुरु नानक ने पन्द्रहवीं शताब्दी में चलाया। वह पंजाब के जाट किसानों तथा अन्य छोटी जातियों के बीच फैल गया। एक लड़ाकू समुदाय के रूप में सिक्खों को बदलने का काम गुरु हरगोबिन्द (1606-1645) ने आरम्भ किया। मगर अपने दसवें और आख़िरी गुरु गोविन्द सिंह (1664-1708) के नेतृत्व में सिक्ख एक राजनीतिक और फ़ौजी ताक़त बने। औरंगज़ेब की फ़ौजी और पहाड़ी राजाओं के ख़िलाफ़ 1699 से लेकर गुरु गोविन्द सिंह ने लगातार लड़ाइयाँ कीं। औरंगज़ेब के मरने के बाद गुरु गोविन्द सिंह ने बहादुर शाह का साथ दिया। उनका ओहदा 5,000 ज़ात और 5,000 सवार वाले सामंत का था। वे बहादुर शाह के साथ दक्कन गए जहाँ उन्हें एक पठान नौकर ने विश्वासघात कर मार डाला।

गुरु गोविन्द सिंह की मृत्यु के बाद गुरु की परम्परा ख़त्म हो गयी और सिक्खों का नेतृत्व उनके विश्वासपात्र शिष्य बंदा सिंह के हाथों में चला गया, जो बंदा बहादुर के नाम से चारों ओर विख्यात है। बंदा ने पंजाब के सिक्ख किसानों को एकजुट किया और मुग़ल फ़ौज के ख़िलाफ़ आठ साल तक जोश-ख़रोश के साथ ग़ैरबराबरी की लड़ाई चलायी। उसे 1715 में पकड़ लिया गया और क़त्ल कर दिया गया। उसकी मौत से सिक्खों को अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा को धक्का लगा और उनकी सत्ता का पतन हो गया।

नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों और उनके कारण पंजाब के प्रशासन में हुई गड़बड़ी ने सिक्खों को फिर से उठ खड़ा होने का मौक़ा दिया। आक्रमणकारियों की फ़ौजों के आगे बढ़ने पर सिक्खों ने बिना कोई भेदभाव किए सबको लूटा और धन तथा सैनिक शक्ति इकट्ठी की। अब्दाली के पंजाब से वापस जाने के बाद उन्होंने राजनीतिक रिक्तता को भरना आरम्भ किया। उन्होंने 1765 और 1800 के बीच पंजाब और जम्मू को अपने अधिकार में कर लिया। सिक्ख 12 मिसलों या संघों में संगठित थे जो सूबे के विभिन्न भागों में काम करते थे। ये मिसल एक दूसरे के साथ पूरी तरह सहयोग करते थे। मूलतः ये समानता के सिद्धान्त पर आधारित थे

किसी मिसल के मामलों पर विचार करने और उसके प्रधान तथा अन्य अधिकारियों को चुनने में सभी सदस्य समान रूप से हिस्सा लेते थे। धीरे-धीरे मिसलों का जनतांत्रिक चरित्र लुप्त हो गया और शक्तिशाली प्रधानों ने उन पर अपना दबदबा क़ायम कर लिया। भाईचारे की भावना और खालसा की एकता भी लुप्त हो गयी क्योंकि प्रधान निरन्तर आपस में झगड़ते रहते थे और उन्होंने अपनें को स्वतंत्र सरदार घोषित कर दिया था।

रणजीत सिंह के अधीन पंजाब : अठारहवीं शताब्दी के अन्त में सुकेरचकिया मिसल के प्रधान रणजीत सिंह ने प्रमुखता प्राप्त कर ली। वह एक ताक़तवर और साहसी सैनिक, कुशल प्रशासक तथा चतुर कूटनीतिज्ञ था। वह जन्मजात नेता था। उसने 1799 में लाहौर और 1802 में अमृतसर पर क़ब्ज़ा कर लिया। उसने सतलज के पश्चिम के सभी सिक्ख प्रधानों को अपने अधीन कर लिया और पंजाब में अपना राज्य क़ायम किया। बाद में उसने कश्मीर, पेशावर और मुलतान को भी जीत लिया। पुराने सिक्ख प्रधान बड़े जमींदार और जागीरदार बना दिए गए। उसने मुग़लों द्वारा लागू की गयी भूराजस्व की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किए। भूराजस्व का हिसाब 50 प्रतिशत सकल उत्पादन के आधार पर लगाया गया।

रणजीत सिंह ने योरोपीय प्रशिक्षकों की सहायता से योरोपीय ढर्रे पर एक शक्तिशाली, अनुशासित और सुसज्जित फ़ौज तैयार की। उसकी नयी फ़ौज केवल सिक्खों तक ही सीमित नहीं थी। उसने गोरखों, बिहारियों, उड़ियों, पठानों, डोगरों तथा पंजाबी मुसलमानों को भी अपनी फ़ौज में भर्ती किया। उसने लाहौर में तोप बनाने के आधुनिक कारखाने खोले तथा उनमें मुसलमान तोपचियों को काम पर लगाया। कहा जाता है उसकी फ़ौज एशिया की दूसरी सबसे अच्छी फ़ौज थी। पहला स्थान अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी की फ़ौज का था।

रणजीत सिंह बख़ूबी अपने मंत्रियों और अफ़सरों का चुनाव करता था। उसका दरबार श्रेष्ठ व्यक्तियों से भरा हुआ था। धर्म के मामले में वह सहनशील तथा उदारवादी था। धर्म परायण सिक्ख होते हुए भी यह कहा जाता है कि "अपने सिंहासन से उतरकर मुसलमान फ़क़ीरों के पैरों की धूल अपनी लम्बी सफ़ेद दाढ़ी से झाड़ता था।" उसके अनेक महत्त्वपूर्ण मंत्री और सेनापति मुसलमान और हिन्दू थे। उसका सबसे प्रबुद्ध और विश्वासी मंत्री फ़क़ीर अज़ीज़उद्दीन था। उसका वित्त मंत्री दीवान दीनानाथ था। वस्तुतः किसी भी दृष्टि से रणजीत सिंह द्वारा शासित पंजाब एक सिक्ख राज्य नहीं था। राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल केवल सिक्खों के फ़ायदे के लिए नहीं होता था। सिक्ख किसान उतना ही उत्पीड़ित था जितना हिन्दू या मुसलमान किसान था। वस्तुतः रणजीत सिंह के अधीन एक राज्य के रूप में पंजाब का ढांचा अठारहवीं शताब्दी के अन्य भारतीय राज्यों की तरह ही था।

जब 1809 में अंग्रेज़ों ने रणजीत सिंह को सतलज पार करने से मना कर दिया और नदी के पूरब के सिक्ख राज्यों को अपने संरक्षण में ले लिया तब उसने चुप्पी साध ली क्योंकि उसने महसूस किया कि उसके पास अंग्रेज़ों का मुक़ाबला करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार उसने अपने राजनैतिक यथार्थवाद और सैनिक शक्ति के ज़रिए अपने राज्य को अंग्रेज़ों के अतिक्रमण से बचा लिया। मगर वह विदेशी ख़तरे को हटा नहीं सका, उसने उसे केवल अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ दिया। इसलिए उसकी मृत्यु के बाद जब उसका राज्य सत्ता के लिए तीव्र आन्तरिक संघर्ष का शिकार हो गया तब अंग्रेज़ आए और उन्होंने उसे जीत लिया।

मराठा शक्ति का उत्थान और पतन

पतनोन्मुख मुग़ल सत्ता को सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौती मराठा राज्य से मिली जो उत्तराधिकारी राज्यों में सबसे शक्तिशाली था। असल में, मुग़ल साम्राज्य के विघटन से उत्पन्न राजनीतिक रिक्तता को भरने की शक्ति केवल उसी में थी। यही नहीं उसने इस कार्य के लिए ज़रूरी कई प्रतिभाशाली सेनापतियों और राजनेताओं को पैदा किया था। मगर मराठा सरदारों में एकता नहीं थी, और उनमें एक अखिल भारतीय साम्राज्य बनाने के लिए आवश्यक दृष्टिकोण और कार्यक्रम नहीं था। इसलिए वे मुग़लों की जगह लेने में असफल रहे। मगर जब तक उन्होंने मुग़ल साम्राज्य को ख़त्म नहीं किया तब तक वे उसके ख़िलाफ़ लगातार लड़ाई करते रहे।

शिवाजी के पोते साहू को औरंगज़ेब ने 1689 से क़ैद कर रखा था। औरंगज़ेब उसके तथा उसकी मां के साथ

उनके धर्म, जाति तथा अन्य चीजों का पूरी तरह ख्याल कर बड़ी शिष्टता, इज्जत तथा लिहाज के साथ पेश आया। उसको उम्मीद थी कि शायद साहू के साथ कोई राजनीतिक समझौता हो जाए। साहू को 1707 में औरंगजेब की मौत के बाद रिहा कर दिया गया फिर जल्द ही साहू और कोल्हापुर में रहने वाली उसकी चाची तारा बाई के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। तारा बाई ने अपने पति राजा राम के मरने के बाद अपने बेटे शिवाजी द्वितीय के नाम में मुग़ल विरोधी संघर्ष 1700 से चला रखा था। मराठा सरदारों ने सत्ता के लिए संघर्ष करने वालों में से किसी न किसी का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। हर मराठा सरदार के पीछे सिपाही थे जो केवल उसी के प्रति निष्ठा रखते थे। उन्होंने इस अवसर का इस्तेमाल सत्ता के लिए संघर्ष करने वाले दोनों पक्षों से मोलभाव करके अपनी शक्ति और प्रभाव को बढ़ाने के लिए किया। उनमें से अनेक ने दक्कन के मुग़ल नवाबों के साथ मिलकर साजिशें भी कीं। साहू और कोल्हापुर स्थित उसके प्रतिद्वन्द्वी के बीच झगड़े के फलस्वरूप मराठा सरकार की एक नयी व्यवस्था ने जन्म लिया जिसका नेता राजा साहू का पेशवा बालाजी विश्वनाथ था। इस परिवर्तन के साथ दूसरा काल मराठा इतिहास में पेशवा अधिपत्य का काल आरम्भ हुआ जिसमें मराठा राज्य एक साम्राज्य के रूप में बदल गया।

बालाजी विश्वनाथ ब्राह्मण था। उसने अपना जीवन एक छोटे राजस्व अधिकारी के रूप में प्रारम्भ किया था और धीरे-धीरे बढ़कर एक बड़ा अधिकारी हो गया था। साहू को अपने दुश्मनों को कुचलने के काम में उसने अपनी निष्ठापूर्ण और ज़रूरी सेवा दी। वह कूटनीति में बेजोड़ था और उसने अनेक बड़े मराठा सरदारों को साहू की ओर कर लिया। साहू ने 1713 में उसे पेशवा या मुख्य-प्रधान बनाया। बालाजी विश्वनाथ ने धीरे-धीरे साहू का और अपना आधिपत्य मराठा सरदारों और अधिकांश महाराष्ट्र पर क़ायम किया। केवल कोल्हापुर के दक्षिण के इलाक़े पर राजा राम के वंशजों का शासन रहा। पेशवा ने अपने हाथों में शक्ति का संकेंद्रण कर लिया और अन्य मंत्री तथा सरदार उसके सामने प्रभावहीन हो गए। वस्तुतः वह और उसका बेटा बाजी राव प्रथम ने पेशवा को मराठा साम्राज्य का कार्यकारी प्रधान बना दिया।

बालाजी विश्वनाथ ने मराठा शक्ति को बढ़ाने के लिए मुग़ल अधिकारियों के आपसी झगड़ों का पूरा फ़ायदा उठाया। उसने दक्कन का चौथ और सरदेशमुखी देने के लिए ज़ुल्फ़िक़ार खाँ को राज़ी कर लिया। अन्त में, उसने सैयद बंधुओं के साथ एक समझौते पर दस्तख़त किए। वे सारे इलाक़े जो पहले शिवाजी के राज्य के हिस्से थे साहू को वापस कर दिए गए। उसे दक्कन के छः सूबों का चौथ और सरदेशमुखी भी दे दिया गया। बदले में साहू बादशाह की सेवा में 15,000 घुड़सवार सैनिकों को देने, दक्कन में बग़ावत और लूटमार रोकने तथा 10 लाख रुपयों का सालाना नज़राना पेश करने पर राज़ी हो गया। नाममात्र के लिए ही सही मगर वह पहले ही मुग़ल अधिराजत्व स्वीकार कर चुका था। अपने नेतृत्व में एक मराठा फ़ौज लेकर बालाजी विश्वनाथ 1719 में सैयद हुसैन अली खाँ के साथ दिल्ली गया और सैयद बंधुओं की फ़र्रुख़सियर का तख़्ता पलटने में मदद की। दिल्ली में उसने और अन्य मराठा सरदारों ने साम्राज्य की कमज़ोरी को स्वयं देखा और उनमें अपना प्रभाव-क्षेत्र उत्तर की ओर बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा ने घर कर लिया।

दक्कन में चौथ और सरदेशमुखी की कुशल वसूली के लिए बालाजी विश्वनाथ ने मराठा सरदारों को अलग-अलग इलाक़े सौंपे। मराठा सरदार वसूल की गयी रक़म का अधिकांश अपने ख़र्च के लिए रख लेते थे। चौथ और सरदेशमुखी सौंपने की प्रथा ने भी पेशवा को संरक्षण के ज़रिए अपनी व्यक्तिगत शक्ति बढ़ाने में सहायता दी। बड़ी संख्या में महत्त्वाकांक्षी सरदारों ने उसके इर्द-गिर्द जमा होना आरम्भ कर दिया। आगे चलकर यही मराठा साम्राज्य की कमज़ोरी का मुख्य स्रोत सिद्ध हुआ। उस समय तक वतनों और सरंजामों (जागीरों) की प्रणाली ने मराठा सरदारों को शक्तिशाली स्वायत्त और केंद्रीय सत्ता के प्रति डाही बना दिया था। उन्होंने अब मुग़ल साम्राज्य के सुदूर इलाक़ों में अपना अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। वहाँ वे धीरे-धीरे कमोबेश स्वायत्त सरदारों के रूप में बस गए। इस तरह अपने मूल राज्य के बाहर मराठों की जीतें मराठा राजा या पेशवा के सीधे अधीन केंद्रीय फ़ौज द्वारा हासिल नहीं की गयीं बल्कि उन्हें सरदारों की अपनी निजी सेनाओं द्वारा प्राप्त किया गया। जीत के दौरान वे सरदार बहुधा आपस में टकराते

थे। अगर केंद्रीय सरकार उन्हें सख्ती से नियंत्रित करने की कोशिश करती तो वे दुश्मनों से मिल जाने में नहीं हिचकते थे। दुश्मनों में निजाम, मुग़ल या अंग्रेज कोई भी हो सकते थे।

बालाजी विश्वनाथ 1720 में मर गया। उसकी जगह पर उसका 20 वर्ष का बेटा बाजी राव प्रथम पेशवा बना। युवा होने के बावजूद बाजी राव एक निर्भीक और प्रतिभावान् सेनापति तथा महत्त्वाकांक्षी और चालाक राजनेता था। उसे "शिवाजी के बाद गुरिल्ला युद्ध का सबसे बड़ा प्रतिपादक" कहा गया है। बाजी राव के नेतृत्व में मराठों ने मुग़लों के ख़िलाफ़ अनगिनत अभियान चलाए। पहले उन्होंने मुग़ल अधिकारियों को विशाल इलाक़ों से चौथ वसूल करने का अधिकार देने और फिर वे इलाक़े मराठा राज्य को सौंप देने के लिए मजबूर किया। जब 1740 में बाजी राव मरा तब तक मराठों ने मालवा, गुजरात और बुंदेलखण्ड के हिस्सों पर अधिकार कर लिया था। इसी काल में मराठों के गायकवाड़, होल्कर, सिंधिया और भोंसले परिवारों ने प्रमुखता प्राप्त की।

जीवन भर बाजी राव ने दक्कन में निज़ाम-उल-मुल्क की शक्ति को नियंत्रित करने की कोशिश की। निज़ाम-उल-मुल्क ने भी पेशवा की सत्ता को कमजोर करने के लिए कोल्हापुर के राजा, मराठा सरदारों और मुग़ल अधिकारियों से मिलकर लगातार साजिशें कीं। दो बार दोनों लड़ाई के मैदान में मिले और दोनों बार निज़ाम को मुँह की खानी पड़ी और उसे दक्कन प्रांतों का चौथ और सरदेशमुखी मराठों को देने के लिए मजबूर होना पड़ा।

बाजी राव ने 1733 में जंजीरा के सिदियों के ख़िलाफ़ एक लम्बा शक्तिशाली अभियान आरम्भ किया और अन्ततोगत्वा उन्हें मुख्य भूमि से निकाल बाहर कर दिया गया। साथ ही पुर्तगालियों के ख़िलाफ़ भी एक अभियान आरम्भ किया गया। अन्त में सिलसिट और बसई (बस्सीन) पर क़ब्जा कर लिया गया मगर पश्चिमी तट पर पुर्तगालियों का अपने इलाक़ों पर क़ब्जा बना रहा।

बाजी राव अप्रैल 1740 में मर गया। बीस सालों की छोटी अवधि में ही उसने मराठा राज्य का चरित्र बदल दिया। वह महाराष्ट्र राज्य को एक साम्राज्य के रूप में बदल गया जिसका प्रसार उत्तर में भी हुआ था। मगर वह साम्राज्य के सुदृढ़ आधार नहीं बना सका। नए इलाक़ों को जीत कर उन पर क़ब्जा जमाया गया मगर उनके प्रशासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सफल सरदारों की मुख्य दिलचस्पी राजस्व वसूल करने में ही थी।

बाजी राव का अठारह साल का बेटा बालाजी बाजी राव (जो नाना साहब के नाम से जाना जाता था) पेशवा बना। वह 1740 से 1761 तक पेशवा रहा। वह अपने पिता की तरह ही क़ाबिल था यद्यपि वह कम उद्यमी था। राजा साहू 1749 में मर गया उसने अपनी वसीयत के ज़रिए सारा राजकाज पेशवा के हाथों में छोड़ दिया। पेशवा का ओहदा तब तक वंशगत बन गया था और पेशवा ही राज्य का असली शासक हो गया था। अब वह प्रशासन का अधिकृत प्रधान हो गया। इस तथ्य के प्रतीक के रूप में वह अपनी सरकार को अपने मुख्यालय पुणे (पूना) ले गया।

बालाजी बाजी राव ने अपने पिता का अनुसरण किया और साम्राज्य को विभिन्न दिशाओं में बढ़ाया। उसने मराठा शक्ति को उसके उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। मराठों ने सारे भारत को रौंद दिया। मालवा, गुजरात और बुंदेलखण्ड पर मराठों का अधिकार मजबूत हो गया। बंगाल पर बार-बार हमला हुआ और 1751 में बंगाल के नवाब को मजबूर होकर उड़ीसा मराठों को देना पड़ा। दक्षिण में मैसूर राज्य और अन्य छोटे रजवाड़ों को नजराना देने के लिए विवश होना पड़ा। निज़ाम हैदराबाद को 1760 में उदगिर में हरा दिया गया और उसे 62 लाख रुपयों के वार्षिक राजस्व वाले विशाल क्षेत्र को मराठों को सौंप देना पड़ा। उत्तर में जल्द ही मराठे मुग़ल सत्ता की असल ताक़त बन गए। गंगा के दोआब और राजपूताने से होकर वे दिल्ली पहुँचे जहाँ 1752 में उन्होंने इमाद-उल-मुल्क को वजीर बनने में मदद दी। नया वज़ीर जल्द ही उनके हाथों की कठपुतली बन गया। दिल्ली से वे पंजाब की ओर मुड़े और अहमद शाह अब्दाली के प्रतिनिधि को निकाल बाहर कर उस पर अधिकार कर लिया। इससे उसका टकराव अफ़ग़ानिस्तान के बहादुर योद्धा राजा के साथ हुआ जो फिर एक बार, मराठों से बदला लेने के लिए, भारत पर चढ़ आया।

अब उत्तर भारत पर स्वामित्व के लिए एक बड़ा टकराव शुरू हुआ। अहमद शाह अब्दाली ने रुहेलखण्ड के नजीबउद्दौला और अवध के शुजाउद्दौला से तुरन्त गंठजोड़ कर लिया। ये दोनों मराठा सरदारों के हाथों हार गए थे। आगामी संघर्ष की बड़ी अहमियत को देखकर पेशवा ने अपने नाबालिग़ बेटे के नेतृत्व में एक शक्तिशाली फ़ौज उत्तर की ओर भेजी। उसका बेटा तो केवल नाम का ही सेनापति था, वास्तविक सेनापति उसका चचेरा भाई सदाशिव राव भाऊ था। इस फ़ौज का एक महत्त्वपूर्ण भाग था योरोपीय ढंग से संगठित पैदल और तोपखाने की टुकड़ी जिसका नेतृत्व इब्राहीम ख़ाँ गर्दी कर रहा था। मराठों ने अब उत्तरी शक्तियों में सहायक ढूंढने की कोशिश की। मगर उनके पहले के व्यवहार और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं ने उन सब शक्तियों को नाराज़ कर दिया था। उन्होंने राजपुताना के राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया था और उन पर भारी जुर्माने तथा नज़राने लगाए थे। उन्होंने अवध पर बड़े क्षेत्रीय और मौद्रिक दावे किए थे। पंजाब में उनकी कार्रवाइयों ने सिक्ख प्रधानों को नाराज़ कर दिया था। जाट सरदार जिन पर भारी जुर्माने लगाए गए थे उन पर विश्वास नहीं करते थे। इसलिए उन्हें अपने दुश्मनों से इमाद-उल-मुल्क के कमज़ोर समर्थन के अलावा अकेले लड़ना पड़ा। यही नहीं, बड़े मराठा सेनापति लगातार आपस में झगड़ते रहते थे।

दोनों फ़ौजों का पानीपत में 14 जनवरी 1761 को एक दूसरे से आमना-सामना हुआ। मराठा फ़ौज के पैर पूरी तरह उखड़ गए। पेशवा का बेटा विश्वास राव, सदाशिव राव भाऊ और अन्य अनगिनत मराठा सेनापति क़रीब 28,000 सैनिकों के साथ मारे गए। अफ़ग़ान घुड़सवारों ने भागने वालों का पीछा किया। उन्हें पानीपत क्षेत्र के जाटों, अहीरों और गूजरों ने भी लूटा-खसोटा।

सर्दी की वर्दी में अफगान सैनिक
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

मराठा सेना का एक सैनिक
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

पेशवा जो अपने चचेरे भाई की मदद के लिए उत्तर की ओर बढ़ रहा था इस दु:खद खबर को सुनकर हक्का-बक्का हो गया। वह पहले से ही गम्भीर रूप से बीमार था। उसका अन्त समय जल्द ही आ गया। वह जून 1761 में मर गया।

पानीपत की हार मराठों के लिए महाविपदा के समान थी। उन्हें अपनी फ़ौज के बेहतरीन आदमियों से हाथ धोना पड़ा और उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। सबसे बढ़कर, उनकी हार ने अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल और दक्षिण भारत में अपनी सत्ता मज़बूत करने का मौका दिया। अफ़ग़ानों को भी अपनी जीत से कोई फ़ायदा नहीं हुआ। वे पंजाब को अपने अधिकार में नहीं रख सके। वस्तुत: पानीपत की तीसरी लड़ाई ने यह फ़ैसला नहीं किया कि भारत पर कौन राज करेगा बल्कि
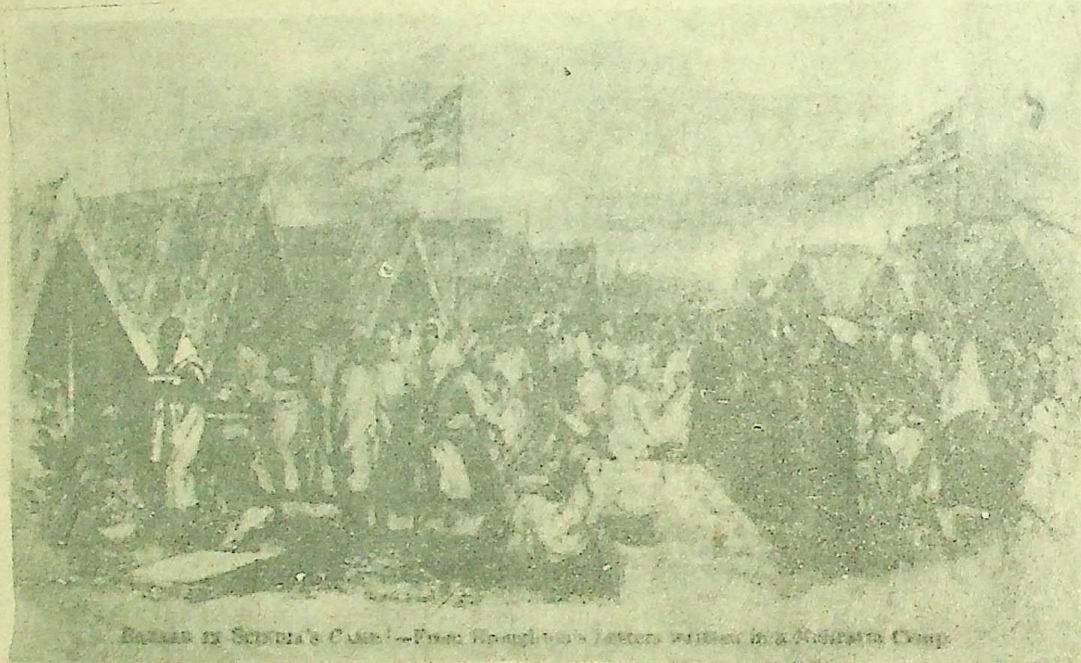
मराठा शिविर में एक सैनिक बाज़ार
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

यह तय कर दिया कि भारत पर कौन शासन नहीं करेगा। अतएव भारत में ब्रिटिश सत्ता के उदय का रास्ता साफ़ हो गया।

सत्तरह वर्षीय माधव राव 1761 में पेशवा बना। वह एक प्रतिभाशाली सैनिक और राजनेता था। ग्यारह सालों की छोटी अवधि में ही उसने मराठा साम्राज्य की खोई हुई क़िस्मत को वापस लौटा लिया। उसने निज़ाम को हराया, मैसूर के हैदर अली को नज़राना देने के लिए मजबूर किया, तथा रुहेलों को हरा कर और राजपूत राज्यों और जाट सरदारों को अधीन लाकर उत्तर भारत पर अपने अधिकार का फिर से दावा किया। मराठे 1771 में बादशाह शाह आलम को दिल्ली वापस ले आए। अब बादशाह उनका पेंशन-भोगी बन गया। इस प्रकार लगा कि उत्तर भारत में मराठों का प्रभुत्व फिर क़ायम हो गया है।

किन्तु मराठों को एक धक्का फिर लगा। माधव राव 1772 में क्षय रोग से मर गया। अब मराठा साम्राज्य अस्तव्यस्तता की स्थिति में पहुँच गया। पुणे में बालाजी बाजी राव के छोटे भाई रघुनाथ राव और माधव राव के छोटे भाई नारायण राव के बीच सत्ता के लिए संघर्ष

हुआ। नारायण राव 1773 में मारा गया। उसकी जगह पर मरणोपरान्त जन्मा उसका पुत्र सवाई माधव राव आया। निराश होकर रघुनाथ राव अंग्रेज़ों के पास चला गया और उनकी मदद से सत्ता हथियाने की कोशिश की फलस्वरूप पहला आंग्ल-मराठा युद्ध हुआ।

पेशवा की सत्ता अब कमज़ोर होने लगी। पुणे में सवाई माधव राव के समर्थकों और रघुनाथ राव के पक्षधरों के बीच लगातार षड्यंत्र चल रहे थे। सवाई माधव राव के समर्थकों का नेता नाना फड़नवीस था। इस बीच बड़े मराठा सरदार अपने लिए उत्तर में अर्ध-स्वतन्त्र राज्य क़ायम करने में लगे थे। वे शायद ही कभी पेशवा के साथ सहयोग करते थे। उनमें सबसे प्रमुख थे बड़ौदा का गायकवाड़, इंदौर का होल्कर, नागपुर का भोंसले और ग्वालियर का सिंधिया। उन्होंने मुग़ल प्रशासन के ढर्रे पर नियमित प्रशासन क़ायम किए थे और उनके पास अपनी अलग फ़ौजें थीं। पेशवा के प्रति उनकी निष्ठा अधिक से अधिक नाम के लिए होती गयी। उन्होंने पुणे में विरोधी गुटों का साथ दिया और मराठा साम्राज्य के दुश्मनों के साथ मिलकर साज़िशें कीं।

उत्तर के मराठा शासकों में सबसे महत्त्वपूर्ण महादजी सिंधिया था। उसने फ्रांसीसी अफ़सरों की सहायता से एक शक्तिशाली फ़ौज बनायी और 1784 में बादशाह शाह आलम को अपने वश में कर लिया। उसके कहने पर बादशाह ने पेशवा को अपना नायब-ए-मुनायब बनवाया। शर्त यह थी कि महादजी पेशवा की ओर से काम करेगा। मगर उसने अपनी शक्ति नाना फड़नवीस के खिलाफ़ साज़िशें करने में लगायी। वह इन्दौर के होल्कर का भी बड़ा कटु शत्रु था। वह 1794 में मर गया। नाना फड़नवीस 1800 में मरा। वह और नाना फड़नवीस उन महान् सैनिकों और राजनेताओं की परम्परा की आख़िरी कड़ी थे जिन्होंने मराठा शक्ति को अठारहवीं सदी में उसके उत्कर्ष पर पहुँचाया था।

सवाई माधव राव 1795 में मर गया। उसकी जगह रघुनाथ राव के अत्यन्त नालायक बेटे बाजी राव द्वितीय ने ली। तब तक अंग्रेज़ों ने भारत में अपने आधिपत्य के प्रति मराठों की चुनौती ख़त्म करने का फ़ैसला कर लिया था। अंग्रेज़ों ने अपनी चतुर कूटनीति के द्वारा आपस में लड़ने वाले मराठा सरदारों को विभाजित कर दिया और दूसरे और तीसरे मराठा युद्ध (क्रमशः 1803-1805 और 1816-1819) में उन्हें हरा दिया। अन्य मराठा राज्यों को बरकरार रहने दिया गया मगर पेशवा वंश को समाप्त कर दिया गया।

इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य को नियंत्रित करने और देश के बड़े हिस्सों में अपना साम्राज्य स्थापित करने का मराठों का सपना साकार नहीं हो सका। इसका मूल कारण यह था कि मराठा साम्राज्य उसी पतनोन्मुख समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था जिसका मुग़ल साम्राज्य प्रतिनिधि था। दोनों एक ही प्रकार की अन्तर्भूत कमज़ोरियों के शिकार थे। मराठा सरदार बहुत कुछ बाद के मुग़ल सामंतों की तरह थे, जैसे सरंजामी व्यवस्था जागीर की मुग़ल प्रणाली के समान थी। जब तक एक केन्द्रीय सत्ता और एक सामूहिक शत्रु मुग़लों के विरुद्ध पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता थी तब तक वे किसी न किसी तरह एक सूत्रबद्ध रहे। किन्तु कोई भी अवसर मिलते ही उन्होंने अपनी स्वायत्तता का दावा करने की कोशिश की। चाहे और जो भी हो वे मुग़ल सामंतों की अपेक्षा कम अनुशासित थे। मराठा सरदारों ने एक नयी अर्थव्यवस्था विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वे विज्ञान और टेक्नोलोजी को बढ़ावा देने में असफल रहे। उन्होंने व्यापार और उद्योग में कोई दिलचस्पी नहीं ली। उनकी राजस्व प्रणाली और प्रशासन मुग़लों जैसे थे। मुग़लों की तरह ही मराठा शासक भी लाचार किसानों से राजस्व वसूल करने में ही मुख्य रूप से दिलचस्पी रखते थे। उदाहरण के लिए, उन्होंने भी आधा कृषि-उत्पादन कर के रूप में लिया। मुग़लों के विपरीत वे महाराष्ट्र से बाहर की जनता को सही प्रशासन देने में भी विफल रहे। वे भारतीय जनता में मुग़लों की तुलना में निष्ठा की भावना अधिक मात्रा में नहीं जगा सके। उनका अधिकार क्षेत्र भी केवल बल पर आधारित था। उदीयमान ब्रिटिश सत्ता का मुक़ाबला मराठे केवल अपने राज्य को एक आधुनिक राज्य में रूपान्तरित करके ही कर सकते थे। वे ऐसा करने में असफल रहे।

जनता की सामाजिक-आर्थिक अवस्था

अठारहवीं सदी का भारत उस रफ़्तार से आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक प्रगति नहीं कर सका जो उसे धराशायी होने से बचा पाती। राज्य की बढ़ती हुई राजस्व माँगे, अफ़सरों के अत्याचार, सामंतों, लगान के ठेकेदारों और ज़मींदारों की धन लिप्सा और लूट-खसोट, प्रतिद्वंद्वी सेनाओं के आक्रमण और प्रत्याक्रमण और अठारहवीं शताब्दी के दौरान देश में फिरने वाले अनगिनत दुःसाहसिकों की लूट-पाट से जन-जीवन बिल्कुल दयनीय हो गया था।

उन दिनों का भारत विषमताओं का भी देश हो गया था। अत्यन्त दरिद्रता, अत्यन्त समृद्धि और धन-सम्पदा साथ-साथ पायी जाती थी। एक तरफ़ भोग-विलास में डूबे धनी और शक्तिशाली सामंत थे तो दूसरी ओर पिछड़े, उत्पीड़ित और दरिद्र किसान थे जो किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर पाते थे और उन्हें सब प्रकार के अत्याचारों और अन्यायों को सहना पड़ता था। इतना होने पर भी भारतीय जनता का जीवन सब मिला-जुलाकर उतना खराब नहीं था जितना उन्नीसवीं सदी के अन्त में सौ वर्षों से अधिक के ब्रिटिश शासन के बाद हुआ।

अठारहवीं सदी के दौरान भारतीय कृषि तकनीकी रूप से पिछड़ी हुई और जड़वत् थी। शताब्दियों से उत्पादन के तकनीक ज्यों के त्यों थे। किसान तकनीकी पिछड़ेपन से उत्पादन में होने वाली कमी को पूरा करने के लिए कठिन परिश्रम करता था। वस्तुतः उसने उत्पादन के क्षेत्र में करिश्मे दिखाए। उसे आमतौर से ज़मीन की कमी का सामना नहीं करना पड़ा। मगर दुर्भाग्यवश, उसे अपने परिश्रम के फल नहीं मिल पाते थे। यद्यपि उसके उत्पादन पर ही शेष समाज निर्भर था, तथापि उसका अपना पारितोषिक अत्यन्त अपर्याप्त था। राज्य, ज़मींदारों जागीरदारों और लगान के ठेकेदारों ने उससे अधिकतम रक़म उगाहने की कोशिश की। यह बात जिस हद तक मुग़ल राज्य के लिए सही थी उतने ही हद तक मराठा या सिक्ख सरदारों या मुग़ल राज्य के अन्य उत्तराधिकारियों के लिए भी थी।

यद्यपि भारतीय गाँव बहुत हद तक स्वावलम्बी थे और बाहर से थोड़ा-सा ही आयात करते थे तथा संचार के साधन पिछड़े हुए थे तथापि देश के अन्दर और एशिया और यूरोप के देशों के साथ मुग़लों के शासनकाल में बड़े पैमाने पर व्यापार होता था। भारत फ़ारस की खाड़ी के इलाक़े से मोती, कच्चा रेशम, ऊन, खजूर, मेवे और गुलाब जल; अरब से क़हवा, सोना, दवाएँ और शहद; चीन से चाय, चीनी, चीनी मिट्टी और रेशम; तिब्बत से सोना, कस्तूरी और ऊनी कपड़ा; सिंगापुर से टीन; इंडोनेशियायी द्वीपों से मसाले, इत्र, शराब और चीनी; अफ्रीका से हाथी दाँत और दवाएँ; और यूरोप से ऊनी कपड़ा, ताम्बा, लोहा और सीसा जैसी धातुएँ और कागज का आयात करता था। भारत के निर्यात की सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु थी सूती वस्त्र। भारतीय सूती कपड़े अपनी उत्कृष्टता के लिए सारी दुनियाँ में मशहूर थे और उनकी हर जगह माँग थी। भारत कच्चा रेशम और रेशमी कपड़े, लोहे का सामान, नील, शोरा, अफ़ीम, चावल, गेहूँ, चीनी, काली मिर्च और अन्य मसाले, रत्न और औषधियाँ भी निर्यात करता था।

चूँकि भारत हस्तशिल्प और कृषि के उत्पादनों में कुल मिलाकर स्वावलम्बी था, इसलिए वह बड़े पैमाने पर विदेशी वस्तुओं का आयात नहीं करता था। दूसरी ओर उसके औद्योगिक और कृषि उत्पादनों के लिए विदेशों में नियमित बाज़ार था। फलस्वरूप उसका निर्यात उसके आयात से अधिक होता था। विदेश व्यापार को चाँदी और सोने के आयात द्वारा संतुलित किया जाता था। असल में, भारत बहुमूल्य धातुओं के कुण्ड के नाम से जाना जाता था।

अठारहवीं सदी के दौरान लगातार लड़ाई और अनेक इलाक़ों में कानून और व्यवस्था भंग हो जाने से देश के आंतरिक व्यापार को हानि पहुँची और कुछ हद तक तथा कुछ दिशाओं में उसके विदेश व्यापार में बाधा पड़ी। अनेक व्यापारिक केन्द्रों को सत्ता के दावेदारों और विदेशी आक्रमणकारियों ने लूट लिया। अनेक व्यापारिक मार्ग डाकुओं के संगठित दलों से भरे हुए थे। व्यापारी और उनके क़ाफ़िले लगातार लूटे जाते रहे। यहाँ तक कि दो शाही शहरों, दिल्ली और आगरा, के बीच की सड़क भी लुटेरों से सुरक्षित नहीं थी। यही नहीं, स्वायत्त प्रान्तीय सरकारों और असंख्य स्थानीय सरदारों के उदय के साथ सीमा शुल्क की
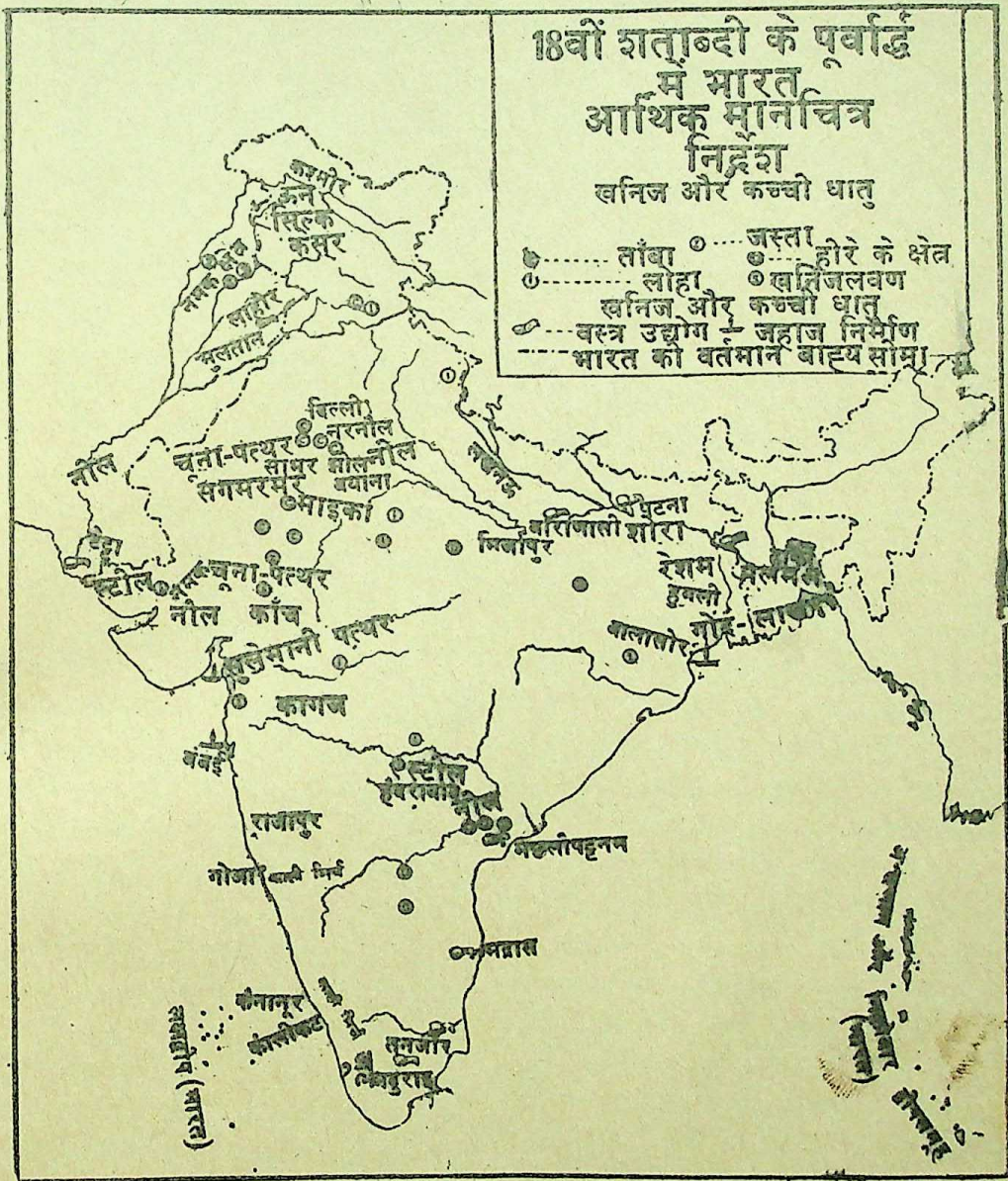
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

चौकियाँ भी दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ गयीं। हर छोटे-बड़े शासक ने अपने इलाक़ों में आने वाली या उनसे गुज़रने वाली वस्तुओं पर भारी सीमा शुल्क लगाकर अपनी आमदनी बढ़ाने की कोशिश की। इन सब कारणों का व्यापार पर नुकसानदेह असर पड़ा। यद्यपि वह, जितनी आम धारणा है, उससे कम था। सामंत ही विलास की वस्तुओं के सबसे बड़े उपभोक्ता थे। विलास की वस्तुओं का ही व्यापार होता था। सामंतों के ग़रीब, होने से आन्तरिक व्यापार को भी धक्का लगा।

जिन राजनीतिक कारकों ने व्यापार को धक्का पहुँचाया उन्होंने शहरी उद्योगों पर भी बुरा प्रभाव डाला। अनेक समृद्ध शहरों, उन्नत उद्योग के केन्द्रों को लूट लिया गया और उन्हें विध्वंस कर दिया गया। दिल्ली को नादिर शाह ने लूटा और लाहौर, दिल्ली और मथुरा को अहमद शाह अब्दाली ने। आगरा को जाटों ने, सूरत और गुजरात के अन्य शहरों तथा दक्कन को मराठों ने और सरहिंद को सिक्खों ने लूटा। यह सिलसिला चलता रहा। इसी प्रकार सामंत वर्ग और दरबार की जरूरतों को पूरा करने वाले दस्तकारों को 'अपने संरक्षकों की धन दौलत में कमी आने के कारण क्षति पहुँची। आन्तरिक और विदेश व्यापार में गिरावट ने भी उन्हें देश के कुछ हिस्सों में धक्का पहुँचाया। इसके बावजूद देश के अन्य भागों में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के क्रियाकलापों के कारण यूरोप के साथ व्यापार बढ़ने के फलस्वरूप कुछ उद्योगों ने उन्नति की।

फिर भी भारत व्यापक विनिर्माण का देश बना रहा। उस समय भी अपनी दक्षता के कारण, भारतीय दस्तकार सारे भारत में प्रसिद्ध थे। तब भी भारत सूती और रेशमी कपड़े, चीनी, जूट, रंग सामग्रियों, खनिज तथा हथियारों, धातु के बर्तनों जैसे धातु के उत्पादनों और शोरा और तेलों का बड़े पैमाने पर उत्पादक था। कपड़ा उद्योग के महत्त्वपूर्ण, केन्द्र थे: बंगाल में ढाका और मुर्शिदाबाद; बिहार में पटना; गुजरात में सूरत, अहमदबाद और भड़ौच; मध्यप्रदेश में चंदेरी; महाराष्ट्र में बुरहानपुर; उत्तर प्रदेश में जौनपुर, बनारस, लखनऊ और आगरा; पंजाब में मुलतान और लाहौर; आंध्र प्रदेश में मच्छलीपत्तम्, औरंगाबाद, चिकाकोल और विशाखापत्तनम्; कर्नाटक में बंगलौर तथा तमिलनाडु में कोयेम्बतूर और मदुराई। कश्मीर ऊनी वस्त्रों का केन्द्र था। महाराष्ट्र, आंध्र और बंगाल में जहाज़-निर्माण उद्योग विकसित हुआ था। इस सम्बन्ध में भारतीयों की महान् दक्षता के बारे में एक अंग्रेज़ पर्यवेक्षक ने लिखा "जहाज़ निर्माण में उन्होंने अंग्रेज़ों से जितना सीखा उससे अधिक उन्हें पढ़ाया"। योरोपीय कम्पनियों ने अपने इस्तेमाल के लिए भारत में बने कई जहाज़ खरीदे।

असल में, अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में भारत विश्व-व्यापार और उद्योग के प्रमुख केन्द्रों में था। रूस के पीटर महान् ने कहा था :

> "याद रखो कि भारत का वाणिज्य विश्व का वाणिज्य है और ·········जो उस पर पूरा अधिकार कर सकेगा वही यूरोप का अधिनायक होगा।"

शिक्षा

अठारहवीं सदी के भारत में शिक्षा की पूरी तरह उपेक्षा नहीं की गयी। मगर कुल मिलाकर वह त्रुटिपूर्ण थी। वह परम्परागत थी और पश्चिमी दुनिया में हुए द्रुत परिवर्तनों से उसका कोई सम्पर्क नहीं था। वह जो ज्ञान देती थी वह साहित्य, क़ानून, धर्म, दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र तक ही सीमित था। उसने भौतिक और प्राकृतिक टेक्नोलोजी और भूगोल के अध्ययन पर कोई ध्यान नहीं दिया। उसने समाज के तथ्यगत और विवेकपूर्ण अध्ययन से कोई वास्ता नहीं रखा। सभी क्षेत्रों में मौलिक चिन्तन को नापसन्द किया गया और प्राचीन विद्या पर ही भरोसा किया गया।

उच्च शिक्षा के केन्द्र सारे देश में फैले हुए थे और आमतौर से उनको चलाने के लिए धन नवाब, राजा और धनी ज़मींदार देते थे। हिन्दुओं में उच्च शिक्षा संस्कृत के माध्यम से होती थी और मुख्यतः ब्राह्मणों तक सीमित थी। फ़ारसी शिक्षा, फ़ारसी के तत्कालीन राजकीय भाषा होने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में समान रूप से लोकप्रिय थी।

प्राथमिक शिक्षा काफ़ी व्यापक थी। हिन्दुओं में प्राथमिक शिक्षा शहर और गाँव की पाठशालाओं के ज़रिए दी जाती थी। मुसलमानों में यह काम मस्जिदों में स्थित मकतबों में मौलवी करते थे। युवा छात्रों को पढ़ने, लिखने, और अंकगणित की शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि प्राथमिक शिक्षा मुख्यतः ब्राह्मण, राजपूत और वैश्य जैसी

उच्च जातियों तक ही सीमित थी तथापि छोटी जातियों के भी कई लोग बहुधा उसे प्राप्त कर लेते थे। दिलचस्प बात यह है कि उस समय औसत साक्षरता ब्रिटिश शासन काल की अपेक्षा कम नहीं थी। यद्यपि प्राथमिक शिक्षा का स्तर आधुनिक मानदण्डों से अपर्याप्त था, तथापि वह उन दिनों के सीमित उद्देश्यों की दृष्टि से पर्याप्त था। तब शिक्षा का एक अत्यन्त आनन्ददायक पहलू यह था कि समाज में शिक्षकों की काफ़ी प्रतिष्ठा थी। एक खराब बात तह थी कि लड़कियों को विरले ही शिक्षा मिलती थी यद्यपि उच्च जातियों की कुछ औरतें पढ़ी-लिखी थीं जिसे एक अपवाद ही कहा जा सकता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन

अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक जीवन और संस्कृति की खास बातें जड़ता और भूतकाल पर निर्भरता थी। निःसंदेह, सारे देश में सांस्कृतिक और सामाजिक ढांचे समरूप नहीं थे। न ही सभी हिन्दू और सभी मुसलमान दो भिन्न समाजों में बंटे हुए थे। लोग धर्म, क्षेत्र, क़बीले, भाषा और जाति के आधार पर विभाजित थे। इतना ही नहीं, उच्च वर्गों (जो कुल जनसंख्या में बहुत ही कम संख्या में थे) की सामाजिक ज़िन्दगी और संस्कृति अनेक दृष्टियों से निम्न जातियों की ज़िन्दगी और संस्कृति से भिन्न थी।

जाति हिन्दुओं के सामाजिक जीवन की मुख्य विशेषता थी। हिन्दू चार वर्णों के अतिरिक्त अनगिनत जातियों में बंटे हुए थे। जातियों का स्वरूप अलग-अलग जगहों में अलग-अलग था। जाति-प्रथा ने लोगों का कठोर विभाजन कर रखा था और सामाजिक क्रम में उनके स्थान स्थायी रूप से निश्चित कर दिए थे। ब्राह्मणों के नेतृत्व में उच्च जातियों ने सब सामाजिक प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार पर अपना एकाधिकार क़ायम कर रखा था। जाति नियम अत्यन्त कठोर थे। अन्तर्जातीय विवाहों की मनाही थी। विभिन्न जातियों के लोगों के साथ खाना खाने पर प्रतिबंध थे। कतिपय स्थितियों में उच्च जाति के लोग छोटी जातियों के लोगों का छुआ खाना नहीं खाते थे। बहुधा जातियाँ ही पेशे को निर्धारित करती थीं, यद्यपि अपवाद भी देखने में आते थे। जाति परिषदें, पंचायतें और जाति के प्रधान जुर्मानों, प्रायश्चित और जाति-निष्कासन के द्वारा जाति के नियमों को सख्ती से लागू करते थे। अठारहवीं सदी के भारत में जाति एक बड़ी विभाजक शक्ति और विघटन का एक बड़ा तत्त्व थी। उसने बहुधा एक ही गाँव या इलाक़े में रहने वाले हिन्दुओं को अनेक अत्यन्त छोटे समूहों में बाँट रखा था। बेशक़, उच्च ओहदे या सत्ता प्राप्त कर किसी भी व्यक्ति के लिए ऊँचा सामाजिक दर्जा हासिल करना सम्भव था। उदाहरण के लिए, आठरहवीं शताब्दी में होलकर परिवार ने ऐसा ही किया। यद्यपि बहुधा नहीं तथापि कभी-कभी कोई पूरी की पूरी जाति अपने को जाति-क्रम में ऊँचा उठाने में सफल हो जाती थी।

मुसलमान भी जाति, नस्ल, क़बीले और दर्जे की दृष्टि से कम विभाजित नहीं थे हालाँकी उनके धर्म ने सामाजिक समानता का निर्देश दिया था। धार्मिक मतभेदों के कारण शिया और सुन्नी सामंत यदाकदा झगड़ते थे। ईरानी, अफ़गान, तुरानी और हिन्दुस्तानी मुसलमान सामंत और अधिकारी बहुधा एक दूसरे से अलग रहते थे। इस्लाम स्वीकार करने वाले अनेक हिन्दू अपनी जाति को नए धर्म में भी ले आए। वे उसकी विशिष्टताओं को व्यवहार में रखते थे यद्यपि वे ऐसा पहले की अपेक्षा कम सख्ती से करते थे। इसके अलावा, शरीफ़ मुसलमान जिनमें सामंत, विद्वान्, मुल्ले और फ़ौजी अफ़सर शामिल थे, अज्लाफ़ मुसलमानों या निम्न वर्ग के मुसलमानों को उसी तरह से नीची निगाह से देखते थे जैसे उच्च जाति के हिन्दू नीची जाति के हिन्दुओं को देखते थे।

आठरहवीं सदी के भारत में परिवार की व्यवस्था पितृसत्तात्मक थी यानी परिवार में वरिष्ट पुरुष सदस्य का बोलबाला होता था और सम्पत्ति में दाय भाग सिर्फ़ पुरुषों को ही मिलता था। परन्तु केरल में परिवार मातृप्रधान था। केरल के बाहर औरतों पर पुरुषों का लगभग पूरा नियंत्रण होता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे माताओं और पत्नियों की ही भूमिका निभाएँ। इन रूपों में उनको काफ़ी आदर-सम्मान दिया जाता था। यहाँ तक कि युद्ध और अराजकता के समय भी औरतों को विरले तंग किया जाता था। उनके साथ आदरपूर्वक व्यवहार किया जाता था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में एक योरोपीय पर्यटक ऐब्ब जे० ए० दुबाये ने टिप्पणी की "एक हिन्दू औरत कहीं भी, यहाँ तक कि अत्यन्त भीड़-भाड़

वाली जगहों में भी, अकेले जा सकती है, और उसे अकर्मण्य आवारा लोगों की ढीठ निगाहों और दिल्लगियों का डर नहीं होता ···· ऐसा मकान जिसमें केवल औरतें रहती हैं एक ऐसा पवित्र स्थान है जिसकी मार्यादा भंग करने का ख्याल कोई अत्यन्त निर्लज्ज लम्पट स्वप्न में भी नहीं ला सकता।" मगर तत्कालीन औरतों का अपना कोई अलग व्यक्तित्व नहीं था। इसका यह मतलब नहीं है कि इसके अपवाद नहीं हुए। अहिल्या बाई ने इन्दौर पर 1766 से 1796 तक बड़ी सफलता के साथ शासन किया। आठरहवीं सदी की राजनीति में कई अन्य हिन्दू और मुसलमान महिलाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा कीं। उच्च वर्गों की महिलाओं को घर से बाहर काम नहीं करना होता था मगर कृषक औरतें आमतौर से खेतों में काम करती थीं और ग़रीब वर्गों की औरतें परिवार की आमदनी को पूरा करने के लिए बहुधा अपने घरों से बाहर जाकर काम करती थीं। पर्दा अधिकार उत्तर भारत के उच्च वर्गों में ही प्रचलित था। दक्षिण भारत में उसका प्रचलन नहीं था।

लड़के लड़कियों को एक दूसरे के साथ मिलने-जुलने नहीं दिया जाता था। सभी शादियाँ परिवार के प्रधान तय करते थे। पुरुषों को एक से अधिक पत्नियाँ रखने की इजाज़त थी मगर समृद्ध लोगों को छोड़ कर पुरुष सामान्यतया एक पत्नी ही रखते थे। दूसरी ओर, एक औरत से आशा रखी जाती थी कि वह अपनी ज़िन्दगी में सिर्फ एक बार ही शादी करेगी। बाल-विवाह प्रथा सारे देश में प्रचलित थी। कभी-कभी बच्चों की शादी केवल तीन या चार वर्षों की उम्र में कर दी जाती थी।

उच्च वर्गों में शादियों पर भारी रक़म खर्च करने और दुलहन को दहेज देने की कुप्रथा थी। दहेज की कुप्रथा खासकर बंगाल और राजपुताना में व्यापक रूप से प्रचलित थी। महाराष्ट्र में उसे कुछ हद तक पेशवा ने ज़ोरदार ढंग से दबा दिया था।

जाति प्रथा के अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी के भारत की दो बड़ी सामाजिक कुरीतियाँ थीं—सती प्रथा और विधवाओं की खराब अवस्था। सती प्रथा के अन्तर्गत एक विधवा अपने मृत पति के शव के साथ जल मरती थी। यह अधिकतर राजपुताना, बंगाल और उत्तरी भारत के अन्य हिस्सों में प्रचलित थी। सती प्रथा दक्षिण भारत में प्रचलित नहीं थी। मराठों ने उसे बढ़ावा नहीं दिया। राजपुताना और बंगाल में भी सती प्रथा का प्रचलन केवल राजाओं, सरदारों, बड़े-ज़मींदारों और उच्च जाति वालों के परिवारों में था। उच्च वर्गों और उच्च जातियों की विधवाएँ फिर से शादी नहीं कर सकती थीं यद्यपि कुछ क्षेत्रों और कुछ जातियों, उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मणों, जाट और उत्तर भारत के पहाड़ी क्षेत्रों के लोगों में विधवा पुनर्विवाह काफ़ी प्रचलित था। हिन्दू विधवा की अवस्था आमतौर से दयनीय होती थी। उसके कपड़े, भोजन, आने-जाने आदि पर सब प्रकार के प्रतिबंध होते थे। आमतौर से आशा की जाती थी कि वह सांसारिक सुखों को त्याग देगी और अपने पति या भाई के परिवार के सदस्यों की निःस्वार्थ सेवा करेगी। वह अपने ससुराल या मैके में ही रह सकती थी। संवेदनशील भारतीय विधवाओं के कठिन और कठोर जीवन को देखकर बहुधा द्रवित हो जाते थे। आमेर के राजा सवाई जयसिंह और मराठा सेनापति परशुराम भाऊ ने विधवा पुनर्विवाह को बढ़ावा देने की कोशिश की मगर वे असफल रहे।

अठारहवीं शताब्दी के दौरान सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में दुर्बलता के लक्षण दिखायी पड़े। बेशक, पिछली शताब्दियों से सांस्कृतिक निरन्तरता क़ायम रखी गयी मगर साथ ही भारतीय संस्कृति पूरी तरह परम्परावादी बनी रही। तत्कालीन सांस्कृतिक क्रियाकलापों का खर्च अधिकतर शाही दरबार, शासक और सामंत तथा सरदार वहन करते थे मगर उनकी आर्थिक हालत ख़राब होने के साथ सांस्कृतिक कार्यों की धीरे-धीरे अवहेलना होने लगी। उन सांस्कृतिक शाखाओं में तेज़ी से गिरावट आयी जो राजाओं, राजकुमारों, और सामंतों के संरक्षण पर निर्भर थीं। यह बात सबसे अधिक मुग़ल वास्तुकला और चित्रकारी के लिए सही थी। मुग़ल शैली के अनेक चित्रकार प्रान्तीय दरबारों में चले गए और हैदराबाद, लखनऊ, कश्मीर, और पटना में चमके। साथ ही चित्रकारी की नयी शैलियों का जन्म हुआ और उन्होंने उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। कांगड़ा और राजपूत शैलियों के चित्रों ने नयी तेजस्विता और रुचि प्रदर्शित की। वास्तुकला के क्षेत्र में लखनऊ का इमामवाड़ा तकनीक की निपुणता, मगर वास्तुकलात्मक रुचि में अपकर्ष, को प्रदर्शित करता है। दूसरी ओर जयपुर शहर और उसकी इमारतें ओजस्विता की

निरन्तरता के उदाहरण हैं। अठारहवीं सदी में संगीत विकसित होता और फलता-फूलता रहा। इस क्षेत्र में मुहम्मद शाह के शासनकाल में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई।

लगभग सभी भाषाओं में कविता का जीवन से संबंध टूट गया और वह आलंकारिक, कृत्रिम, यंत्रवत् और परम्परागत हो गयी। उसकी निराशावादिता ने हताशा और दोषान्वेषण की व्याप्त भावना को प्रदर्शित किया जब कि उसकी विषयवस्तु ने उसके संरक्षकों, सामन्ती अमीरों और राजाओं के आध्यात्मिक जीवन में गिरावट को व्यक्त किया।

अठारहवीं शताब्दी के साहित्यिक जीवन का एक उल्लेखनीय पहलू था उर्दू भाषा का प्रसार और उर्दू कविता का ज़ोरदार विकास। उर्दू धीरे-धीरे उत्तर-भारत के उच्च वर्गों के परस्पर सामाजिक संपर्क का माध्यम बन गयी।

अपने पति की चिता में सती होती हुई एक विधवा
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

यद्यपि उर्दू कविता की भी वे ही कमज़ोरियाँ थीं जो अन्य भारतीय भाषाओं के समसामयिक साहित्य की थीं, उसने मीर, सौदा, नज़ीर और उन्नीसवीं सदी की महान् प्रतिभा मिर्ज़ा ग़ालिब जैसे प्रखर कवियों को पैदा किया।

इसी प्रकार मलयालम साहित्य में भी पुनर्जीवन देखा गया। यह विशेषकर त्रावणकोर शासकों, मार्तण्ड वर्मा और राम वर्मा के संरक्षण में हुआ। केरल का एक महान् कवि, कुंचन नम्बियार, जिसने आम बोल-चाल की भाषा में जनप्रिय कविता लिखी, इसी समय हुआ। अठारहवीं सदी के केरल में कथाकली साहित्य, नाटक और नृत्य का भी पूर्ण विकास हुआ। अनोखी वास्तुकला और भित्ति चित्रों वाला पद्मनाभन राजप्रासाद भी अठारहवीं शताब्दी में बनाया गया।

तायुमानवर (1706-44) तमिल में सित्तर काव्य का

एक उत्कृष्ट प्रवर्तक था। अन्य सित्तर कवियों की तरह उसने मंदिर शासन तथा जाति-प्रथा की कुरीतियों का विरोध किया। असम में साहित्य अहम राजाओं के संरक्षण में विकसित हुआ। गुजरात के एक महान् गीतकार दयाराम ने अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दौरान अपनी रचनाएँ लिखीं। पंजाबी के मशहूर प्रेम महाकाव्य, हीर राँझा की रचना वारिस शाह ने इसी काल में की। सिंधी साहित्य के लिए अठारहवीं शताब्दी विशाल उपलब्धियों की अवधि थी। शाह अब्दुल लतीफ ने अपना प्रसिद्ध कविता संग्रह 'रिसालो' रचा। सचल और सामी इस शताब्दी के अन्य महान् सिंधी कवि थे।

भारतीय संस्कृति की मुख्य कमजोरी विज्ञान के क्षेत्र में थी। सारी अठारहवीं शताब्दी के दौरान भारत पश्चिम देशों से विज्ञान और टेक्नोलोजी के मामले में काफ़ी पिछड़ा रहा। पिछले दो सौ वर्षों से पश्चिमी यूरोप में एक वैज्ञानिक और आर्थिक क्रान्ति चल रही थी जिससे आविष्कारों और अनुसन्धानों की बाढ़-सी आ गयी थी। वैज्ञानिक दृष्टिकोण धीरे-धीरे पाश्चात्य मस्तिष्क पर हावी होता और योरोपीय दार्शनिक, राजनीतिक, और आर्थिक दृष्टिकोण तथा योरोपीय संस्थानों में क्रान्ति लाता जा रहा था। दूसरी तरफ भारतीय जिन्होंने पुराने जमाने में गणित और प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिए थे, कई शताब्दियों से विज्ञान की उपेक्षा करते आ रहे थे। भारतीय मस्तिष्क अब भी परम्परा से बंधा था; सामंत और आम जनता, दोनों, काफ़ी अंधविश्वासी थे। भारतीय क़रीब-क़रीब पूरी तरह पश्चिम में प्राप्त वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक उपलब्धियों से अनभिज्ञ थे। अठारहवीं शताब्दी के भारतीय शासकों ने लड़ाई के हथियारों और सैनिक प्रशिक्षण की तकनीकों को छोड़कर किसी भी पश्चिमी चीज़ में कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी। विज्ञान के क्षेत्र में यह कमज़ोरी उस समय के अत्यन्त विकसित देश द्वारा भारत को पूरी तरह ग़ुलाम बनाए जाने के लिए बहुत दूर तक ज़िम्मेदार थी।

सत्ता और सपदा के लिए संघर्ष, आर्थिक पतन, सामाजिक पिछड़ापन, और सांस्कृतिक जड़ता ने भारतीय जनता के एक बड़े भाग के चरित्रबल पर गहरा और नुक्सानदेह असर डाला। ख़ासकर सामंत अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में बहुत पतित हो गए। निष्ठा, कृतज्ञता और वचनबद्धता के सद्गुण स्वार्थपरता की प्रमुखता होने के कारण खत्म हो गए। अनेक सामंत अमानवोचित दुर्गुणों और अत्यधिक विलास के शिकार हो गए। उनमें से अनेक ने अपने ओहदों का फ़ायदा उठाकर घूस ली। आश्चर्य की बात है कि आम जनता बहुत हद तक भ्रष्ट नहीं हुई थी। जनता में ऊँचे दर्जे की व्यक्तिगत ईमानदारी और नैतिकता थी। उदाहरण के लिए विख्यात ब्रिटिश अधिकारी जॉन मैल्काम ने 1821 में टिप्पणी की थी :

> "मैं किसी अन्य महान् जनसंख्या का उदाहरण नहीं जानता, जिसने समान परिस्थितियों में, उथल-पुथल और निरंकुश शासन के इस तरह के काल में इतने सद्गुणों और खूबियों को संजोए रखा हो, जो यहाँ के अधिकांश देशवासियों में पायी जाती हैं।"

खासकर उसने "चोरी, मदासक्ति और हिंसा जैसे आम दुर्गुणों के अभाव" की प्रशंसा की। इसी प्रकार क्रॉनफ़र्ड नामक एक अन्य योरोपीय लेखक ने लिखा :

> "नैतिकता के उनके नियम अत्यन्त उदार हैं : सत्कार और परोपकार उनमें न केवल ज़ोरदार रूप से भरा पड़ा है बल्कि, मेरा विश्वास है कि उन्हें कहीं भी उतने व्यापक रूप से व्यवहार में नहीं देखा जाता जितना हिन्दुओं में।"

हिन्दुओं और मुसलमानों में मित्रतापूर्ण संबंध अठारहवीं शताब्दी के जीवन की एक बड़ी विशेषता थी। यद्यपि तत्कालीन सामंत और सरदार आपस में अनवरत लड़ते रहे उनकी लड़ाइयाँ और उनके गँठजोड़ विरले ही धर्म के भेदभाव पर आधारित थे। दूसरे शब्दों में उनकी राजनीति मूलतः धर्म-निरपेक्ष थी। असल में देश के अन्दर शायद ही साम्प्रदायिक कटुता या धार्मिक असहिष्णुता थी। छोटे बड़े सभी लोग एक दूसरे के धर्म की इज़्ज़त करते थे और देश में सहिष्णुता, यहाँ तक कि मेल-जोल की भावना, व्याप्त थी। 'हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक संबंध भाईचारे के थे।' यह कथन विशेषकर गाँवों और शहरों की आम जनता के लिए सही था, जो धर्म के भेदभाव का ख्याल किए बिना एक दूसरे के सुख-दुःख में पूरी तरह हिस्सा लेती थी।

हिन्दू और मुसलमान ग़ैर-धार्मिक क्षेत्रों जैसे सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक कार्यों में परस्पर सहयोग करते थे।

एक मिश्रित हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति या समान तौर-तरीक़ों तथा दृष्टिकोणों का विकास बेरोकटोक जारी रहा। हिन्दू लेखकों ने बहुधा फ़ारसी में लिखा और मुसलमान लेखकों ने हिन्दी, बंगला और अन्य देशी भाषाओं में लिखा। मुसलमान लेखकों की विषयवस्तु बहुधा हिन्दू सामाजिक जीवन और धर्म, जैसे राधाकृष्ण, सीताराम, और नल-दमयंती होती थी। उर्दू भाषा और साहित्य के विकास ने हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्पर्क का नया क्षेत्र प्रस्तुत किया।

धार्मिक क्षेत्र में भी, हिन्दुओं के बीच भक्ति आंदोलन तथा मुसलमानों में सूफ़ी मत के प्रसार के फलस्वरूप पिछली कुछ शताब्दियों से जो पारस्परिक प्रभाव और सम्मान की भावना विकसित हो रही थी, वह बढ़ती रही। बड़ी संख्या में हिन्दू मुसलमान सिद्धों की पूजा करते थे और अनेक मुसलमान भी हिन्दू देवताओं और संतों के प्रति समान श्रद्धा रखते थे। मुसलमान शासक सामंत और जनसाधारण ने खुशी से हिन्दू त्योहारों जैसे होली, दिवाली और दुर्गा पूजा में भाग लिया। इसी तरह हिन्दुओं ने मुहर्रम के जुलूसों में हिस्सा लिया। यह उल्लेखनीय बात है कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के सबसे महान् भारतीय राजा राममोहन राय हिन्दू और इस्लामी दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों से समान रूप में प्रभावित थे।

इस बात को भी नोट किया जाना चाहिए कि धार्मिक सम्बद्धता ही सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में अलगाव का मुख्य मुद्दा नहीं थी। हिन्दू और मुस्लिम उच्च वर्गों के जीवन के तौर-तरीक़े जितने समान थे उतने हिन्दू उच्च वर्ग और निम्न तथा मुस्लिम उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के नहीं थे। इसी तरह, क्षेत्र या इलाक़े अलगाव के मुद्दे बनते थे। एक क्षेत्र के लोगों के बीच धर्म भिन्न होने पर भी जितनी सांस्कृतिक एकता थी उतनी अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले एक धर्म के लोगों के बीच नहीं थी। गाँवों में रहने वाले लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का ढर्रा शहरी लोगों से अलग था।

अभ्यास

1. हैदराबाद, बंगाल और अवध राज्यों के शासकों द्वारा अपनायी गयी नीतियों की विवेचना कीजिए।
2. टीपू सुलतान के चरित्र और उपलब्धियों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
3. अठारहवीं सदी में पंजाब में सिक्खों के उदय पर प्रकाश डालिए। पंजाब में रणजीत सिंह के प्रशासन की चर्चा कीजिए।
4. पहले तीन पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा साम्राज्य के उदय पर प्रकाश डालिए। वह ज़िन्दा क्यों नहीं रह सका ?
5. अठारहवीं सदी में भारतीय आर्थिक जीवन की मुख्य विशेषताओं की चर्चा कीजिए। किस हद तक वे समसामयिक राजनीतिक गतिविधियों से संबंधित थे ?
6. अठारहवीं सदी के भारत के सामाजिक जीवन की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं ? छोटी और बडी जातियों और वर्गों के बीच कौन-से मुख्य अन्तर थे ?
7. अठारहवीं सदी के भारत में मुख्य सांस्कृतिक गतिविधियों की चर्चा कीजिए। किस हद तक ये सामंतों, सरदारों और राजाओं से प्रभावित हुईं ?

8. अठारहवीं सदी के दौरान हिन्दू-मुस्लिम संबंधों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। किस हद तक अठारहवीं सदी की राजनीति धार्मिक भावनाओं से प्रेरित थी ?

9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें :
(क) आमेर के राजा जयसिंह; (ख़) पानीपत की तीसरी लड़ाई; (ग) हैदर अली; (घ) अठारहवीं सदी में केरल; (च) भरतपुर का जाट राज्य; (छ) अठारहवीं सदी के भारत में शिक्षा; (ज) अठारहवीं सदी के भारत में विज्ञान; (झ) अठारहवीं सदी में किसानों की आर्थिक स्थिति।

अध्याय 3

योरोपीय बस्तियों का आरम्भ

यूरोप और भारत के बीच व्यापारिक संबंध प्राचीन काल में यूनानियों के साथ आरम्भ हुए। मध्य युगों के दौरान यूरोप और भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच व्यापार कई रास्तो के ज़रिये होता था। एक रास्ता फ़ारस की खाड़ी तक समुद्र के ज़रिए जाता था। वहाँ से फिर इराक़ और तुर्की होकर ज़मीन के रास्ते और आगे समुद्र के ज़रिए वेनिस और जेनोआ तक व्यापार होता था। एक दूसरा रास्ता लाल सागर होकर मिस्र के सिकन्दरिया तक थलमार्ग और वहाँ से समुद्र के ज़रिए वेनिस और जेनोआ पहुँचता था। एक तीसरा मगर कम चालू थलमार्ग भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के दर्रों से होकर मध्य एशिया और रूस तथा बाल्टिक समुद्र को पार करता हुआ जाता था। व्यापार का एशियायी हिस्सा अधिकतर अरब सौदागर और नाविक चलाते थे जबकि मध्यसागर तथा यूरोप में यह व्यापार वस्तुतः इटलीवालों के एकाधिकार में था। एशिया से यूरोप जाने वाली वस्तुएँ अनेक राज्यों और हाथों से होकर गुज़रती थीं। हर राज्य मार्ग-कर और चुंगी वसूल करता था जब कि हर सौदागर पर्याप्त मुनाफ़ा कमाता था। रास्ते में कई अन्य कठिनाइयाँ आती थीं जैसे समुद्री डाकू और प्राकृतिक विपत्तियाँ। तो भी व्यापार काफ़ी लाभप्रद था। ऐसा मुख्य रूप से पूरब के मसालों के लिए यूरोप वालों की तीव्र माँग के कारण था। ये मसाले यूरोप के बाज़ारों में काफ़ी ऊँची क़ीमतों पर बिकते थे। यूरोप वासियों को मसालों की ज़रूरत थी क्योंकि वे जाड़ों में नमक और काली मिर्च डलें गोश्त पर ज़िन्दा रहते थे। जाड़ों में मवेशियों को खिलाने के लिए घास शायद ही होती थी। मसालों का भरपूर इस्तेमाल ही इस गोश्त को रुचिकर बना सकता था। फलस्वरूप, सतरहवीं शताब्दी तक योरोपीय भोजन भी भारतीय भोजन की तरह काफ़ी मसालेदार होता था।

पश्चिम और पूरब के बीच के पुराने व्यापार-मार्ग आटोमन साम्राज्य द्वारा एशिया माइनर को जीतने तथा 1453 में कुस्तुन्तुनिया को हथियाने के बाद तुर्की के नियंत्रण में आ गए। इसके अलावा, वेनिस और जेनोआ के सौदागरों ने यूरोप और एशिया के बीच व्यापार पर एकाधिकार कर लिया और उन्होंने पश्चिमी यूरोप के नए राज्यों, विशेषकर स्पेन और पुर्तगाल, को इन पुराने रास्तों के ज़रिए होने वाले व्यापार में कोई भी हिस्सा देने से इन्कार कर दिया।

मगर पश्चिम यूरोपवासी भारत और इंडोनेशिया के साथ व्यापार को इतना महत्त्व देते थे कि वे उसे सहज ही नहीं छोड़ सकते थे। मसालों के लिए माँग काफ़ी तीव्र थी और उनके व्यापार में होने वाला मुनाफ़ा अत्यन्त आकर्षक था। भारत की अपार संपदा उनके लिए एक अतिरिक्त आकर्षण थी क्योंकि सारे यूरोप में सोने का अत्यन्त अभाव था। व्यापार के निर्बाध विकास के लिए सोना विनिमय का एक आवश्यक माध्यम था। इसीलिए पश्चिम यूरोप के राज्यों और सौदागरों ने भारत और इंडोनेशिया के मसाला द्वीपों (जिन्हें उस समय ईस्ट इंडीज़ कहा जाता था) तक पहुँचने के लिए नए और अपेक्षाकृत निरापद मार्ग ढूँढ़ने आरम्भ कर दिए। उन्होंने अरब और वेनिस व्यापारियों के एकाधिकार को तोड़ना तथा तुर्की के साथ
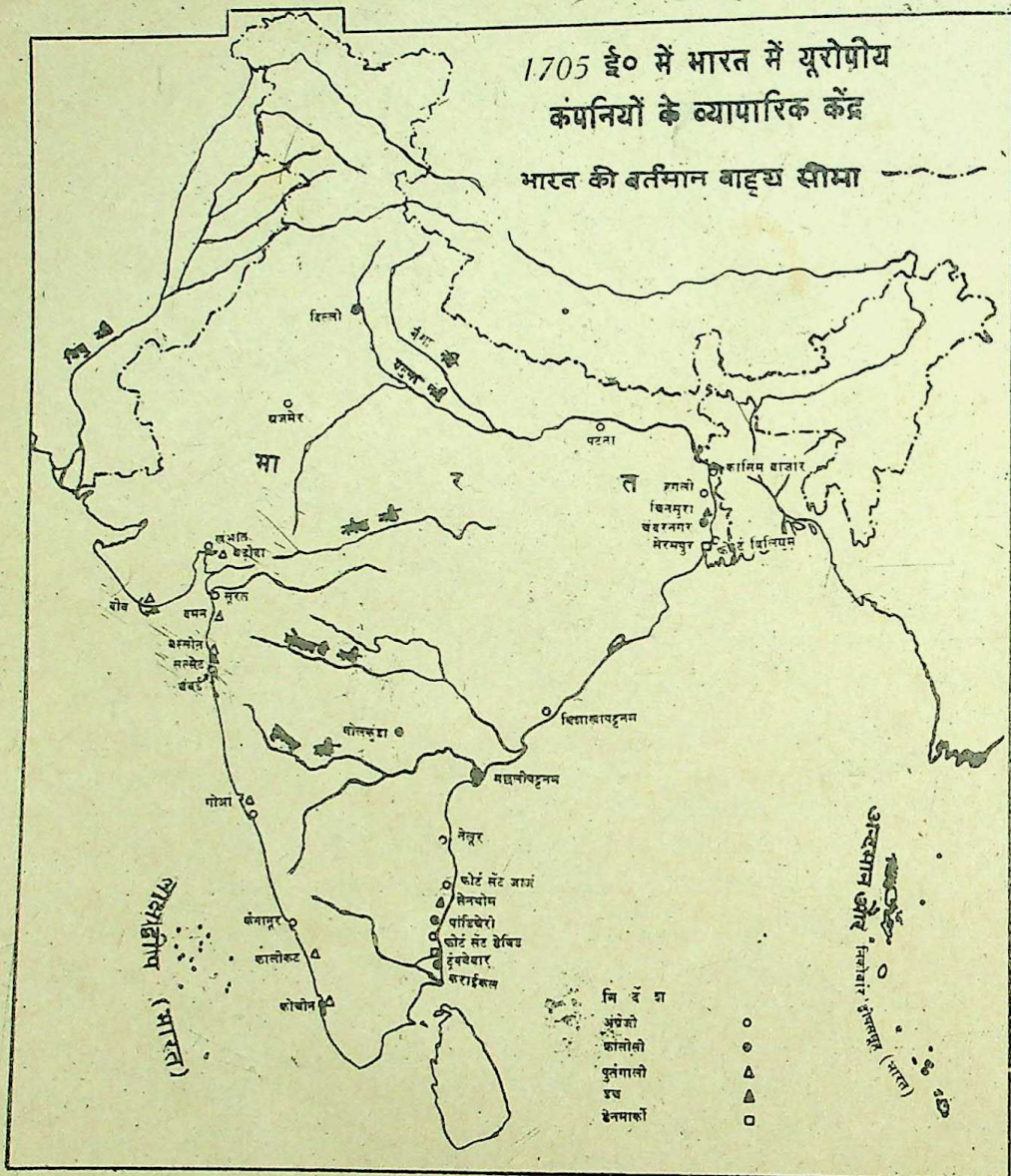
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है

झगड़े से बचकर पूरब के देशों से सीधे व्यापारिक संबंध क़ायम करना चाहा। वे ऐसा करने के लिए पूरी तरह समर्थ थे क्योंकि जहाज़रानी निर्माण और नौपरिवहन विज्ञान में पन्द्रहवीं शताब्दी के दौरान महान् प्रगति हुई थी। इसके अतिरिक्त, पुनर्जागरण ने पश्चिमी यूरोप के लोगों में उद्यम की एक बहुत बड़ी भावना पैदा कर दी थी।

सबसे पहले पुर्तगाल और स्पेन ने इस दिशा में क़दम उठाए। सरकार के खर्च से और उसी की देखरेख में उनके नाविकों ने भौगोलिक अन्वेषणों का एक महान् युग आरम्भ किया। स्पेन का कोलम्बस 1494 में भारत के लिए रवाना हुआ मगर उसने भारत के बदले अमरीका को खोज निकाला। पुर्तगाल के वास्को-डे-गामा ने 1498 में यूरोप से भारत का एक नया और पूरा का पूरा समुद्री रास्ता ढूंढ निकाला। वह अपने जहाज़ में अफ्रीका का चक्कर लगाता हुआ उत्तमाशा अन्तरीप (केप आफ़ गुड होप) होकर कालीकट पहुँचा। वह वापस जो माल लेकर लौटा उसे बेचकर यात्रा पर हुए खर्च से साठ गुनी अधिक रक़म हासिल की गयी। इन और अन्य नौपरिवहन संबंधी खोजों ने विश्व के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ किया। बाद में चलकर ऐडम स्मिथ ने लिखा कि अमरीका, तथा उत्तमाशा अन्तरीप होकर भारत पहुँचने के मार्ग की खोज "मानवजाति के लिखित इतिहास में दो सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं।" सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के दौरान विश्व व्यापार में अपार वृद्धि हुई। अमरीका का विशाल महाद्वीप यूरोप के लिए खोल दिया गया और यूरोप तथा एशिया के आपसी संबंध बिल्कुल बदल गए। नया महाद्वीप बहुमूल्य धातुओं का भंडार था। उसकी सोना-चाँदी यूरोप आयी जहाँ उन्होंने व्यापार को ज़ोरदार ढँग से प्रोत्साहित किया और कुछ पूँजी भी प्रदान की जिससे ब्रिटेन जल्द ही व्यापार, उद्योग और विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त उन्नत हो गया। इसके अतिरिक्त, आगे चलकर अमरीका यूरोप के विनिर्मित माल के लिए एक विशाल बाज़ार बन गया।

योरोपीय देशों के आरम्भिक पूँजी-संचय या समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में अफ्रीक़ा में उनकी घुसपैठ। आरम्भ में अफ्रीका के सोने और हाथी दांत ने विदेशियों को आकर्षित किया। मगर बहुत जल्द अफ्रीक़ा के साथ व्यापार गुलामों का व्यापार बन गया। सोलहवीं शताब्दी में इस व्यापार पर स्पेन और पुर्तगाल का एकाधिकार हो गया। बाद में, इस पर डच, फ्रांसीसी और ब्रिटिश सौदागरों का बोलबाला हुआ। वर्ष प्रतिवर्ष, खासकर 1650 के बाद हज़ारों अफ़्रीक़ियों को वेस्ट इंडीज़ और उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका में गुलामों के रूप में बेचा गया। गुलामों वाले जहाज़ विनिर्मित वस्तुएँ लेकर यूरोप से अफ्रीक़ा जाते थे। अफ्रीक़ा तट पर उनका नीग्रो लोगों के साथ विनिमय करते थे। इन गुलामों को लेकर वे अंध महासागर (एटलांटिक समुद्र) के पार जाकर उन्हें बाग़ानों या खानों के औपनिवेशिक उत्पादन के साथ बदलते थे। अन्त में इस को लेकर वापस यूरोप आते तथा उसे वहाँ बेचते थे। इस उत्पादन त्रिकोणात्मक व्यापार के विशाल मुनाफ़े पर ही आगे चल कर इंग्लैंड और फ्रांस की व्यावसायिक श्रेष्ठता आधारित हुई।

पश्चिमी गोलार्द्ध के चीनी, कपास और तम्बाकू के बाग़ानों तथा खानों में गुलामों के लिए माँग असीम थी क्योंकि काम की कठिन स्थितियों और गुलामों के साथ अमानवीय व्यवहार के कारण मृत्यु-दर ऊँची थी। इसके अतिरिक्त, यूरोप की सीमित जनसंख्या से नयी दुनिया की ज़मीन और खानों को पूरी तरह से इस्तेमाल में लाने के लिए आवश्यक सस्ता श्रम नहीं मिल पाता था। यद्यपि गुलाम के रूप में बेचे गए अफ्रीक़ियों की निश्चित संख्या का कोई सही लेखा नहीं है तथापि इतिहासकारों का अनुमान है कि उनकी संख्या डेढ़ करोड़ से पाँच करोड़ के बीच कुछ भी हो सकती है।

बड़े पैमाने पर अपने लोगों से हाथ धोने के कारण अफ्रीक़ी देश और समाज पंगु हो गए। दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका की अधिकांश समृद्धि गुलामों के व्यापार और दास-श्रम के आधार पर चलने वाले बाग़ानों पर निर्भर थी। यही नहीं, दास-व्यापार और दास-श्रम के आधार पर चलने वाले बाग़ानों ने उस पूंजी का कुछ हिस्सा दिया जिससे अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों की औद्योगिक क्रांति की वित्तीय ज़रूरतों को पूरा किया जा सका। इसी प्रकार की भूमिका बाद में चलकर भारत से ऐंठे गए धन ने निभायी।

बाद में, जब गुलामी की कोई महत्त्वपूर्ण आर्थिक भूमिका न रही तब उसे उन्नीसवीं शताब्दी में समाप्त कर दिया गया। मगर जब तक वह लाभप्रद रही तब तक खुले आम उसका समर्थन किया गया और उसका गुणगान हुआ। राजाओं, मंत्रियों, संसद सदस्यों, चर्च के उच्चाधिकारियों, जनमत के नेताओं, और सौदागरों तथा उद्योगपतियों ने दास-व्यापार का समर्थन किया। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में रानी एलिजाबेथ, जार्ज तृतीय, एडमण्ड बर्क, नेल्सन, ग्लैडस्टोन, डिज़रेली और कार्लाइल गुलामी के पक्षधर और समर्थक थे।

सोलहवीं शताब्दी में योरोपीय सौदागरों और सैनिकों ने एशियायी देशों में पहले घुसने और फिर उसे अधीन करने की लम्बी प्रक्रिया भी आरम्भ कर दी। इस प्रक्रिया में, इटली के शहरों और सौदागरों की समृद्धि नष्ट हो गयी क्योंकि वाणिज्य और फिर राजनीतिक शक्ति धीरे-धीरे पश्चिम की ओर खिसकती हुई एटलांटिक तट की ओर चली गयी।

लगभग एक शताब्दी तक पुर्तगाल का अत्यन्त लाभप्रद पूर्वी व्यापार पर एकाधिकार रहा। भारत में उसने कोचीन, गोआ, दियू और दमन में अपनी व्यापारिक बस्तियाँ बनायीं। आरम्भ से ही पुर्तगालियों ने व्यापार के साथ बल-प्रयोग भी किया। इसमें उन्हें अपने सशस्त्र जहाज़ों की श्रेष्ठता से मदद मिली, जिसने उन्हें समुद्रों पर आधिपत्य रखने में सहायता दी। मुट्ठी भर पुर्तगाली सैनिक और नाविक भारत तथा एशिया की काफ़ी अधिक ताक़तवर थल शक्तियों के मुक़ाबले समुद्र में अपनी स्थिति को बनाये रख सकते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने देखा कि वे भारतीय राजाओं की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताओं से फ़ायदा उठाकर अपनी स्थिति को मज़बूत बना सकते हैं। मालाबार तट पर अपने व्यापारिक केंद्र और क़िले बनाने के लिए उन्होंने कालीकट और कोचीन के शासकों के झगड़ों में हस्तक्षेप किया। यहाँ से उन्होंने अरब जहाज़रानी पर हमला कर उसे नष्ट कर दिया तथा सैकड़ों अरब सौदागरों और मल्लाहों को निर्दयतापूर्वक कत्ल कर दिया। मुग़ल जहाज़रानी को धमका कर मुग़ल बादशाहों से अनेक व्यापारिक रियायतें लेने में सफल हो गए।

जब अल्फांसो अल्बुकर्क जिसने 1510 में गोआ पर क़ब्ज़ा किया, वायसराय था तब पुर्तगालियों ने फ़ारस की खाड़ी में होरमुज से लेकर मलाया में मलक्का और इंडोनेशिया में मसालों के द्वीप तक सारे एशियायी तट पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उन्होंने समुद्र तटीय भारतीय इलाक़ों पर कब्ज़ा कर लिया और अपना व्यापार तथा दबदबा बढ़ाने और अपने-अपने योरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों से व्यापार पर एकाधिकार सुरक्षित रखने के लिए लगातार युद्ध किए। वे समुद्री डाका डालने और लूटपाट करने से नहीं हिचकिचाए। उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार जेम्स मिल के शब्दों में: "पुर्तगालियों ने अपनी सौदागरी को ही अपना मुख्य पेशा बनाया मगर तत्कालीन अंग्रेज़ों और डच लोगों की तरह ही मौक़ा मिलने पर लूटपाट करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई।" पुर्तगाली धार्मिक मामलों में असहिष्णु और दुराग्रही थे। उन्होंने 'जनता के सामने ईसाई धर्म या तलवार को एक दूसरे के विकल्प के रूप में रखकर' ज़बरदस्ती धर्म परिवर्तन कराया। इस सिलसिले में उनका दृष्टिकोण भारत के लोगों के लिए विशेष रूप से घृणास्पद था क्योंकि यहाँ धार्मिक सहिष्णुता एक नियम जैसा हो गयी थी। उन्होंने क्रूरता और अव्यवस्था फैलायी। उनके बर्बर आचरण के बावजूद भारत में उनके अधीनस्थ क्षेत्र एक शताब्दी तक बने रहे क्योंकि महासमुद्र पर उनका नियंत्रण था, उनके सैनिकों और प्रशासकों ने सख्त अनुशासन बनाए रखा, और उन्हें मुग़ल साम्राज्य की ताक़त का मुक़ाबला नहीं करना पड़ा क्योंकि दक्षिण भारत मुग़ल प्रभाव के बाहर था। उनका 1631 में मुग़ल सत्ता के साथ टकराव हुआ और उन्हें हुगली स्थित अपनी बस्ती से बाहर निकाल दिया गया। तब तक अरब सागर पर उनका दबदबा अंग्रेज़ों ने कमज़ोर बना दिया था और गुजरात में उनका प्रभाव उस समय तक नगण्य बन चुका था।

मगर पुर्तगाल लम्बे समय तक अपना व्यापारिक एकाधिकार या पूर्व में अपने उपनिवेशों को बनाए रखने में असमर्थ था। उसकी जनसंख्या 10 लाख से भी कम थी। उसका राज दरबार निरंकुश और पतनोन्मुख था। उसके भूअभिजात वर्ग की तुलना में उसके सौदागरों की शक्ति और इज़्ज़त कम थी। वह जहाज़रानी के विकास में पिछड़ गया था और उसने धार्मिक असहिष्णुता की नीति अपनायी थी। पन्द्रहवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दौरान पुर्तगालियों और स्पेनवासियों ने अंग्रेज़ और

डच लोगों को काफ़ी पीछे छोड़ दिया था। मगर सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैंड और हालैंड, तथा बाद में फ्रांस ने जो विकासमान व्यापारिक और नौसैनिक शक्तियाँ थे, विश्व व्यापार पर स्पेन तथा पुर्तगाल के एकाधिकार के खिलाफ़ एक भयंकर संघर्ष छेड़ दिया। इस संघर्ष में स्पेन तथा पुर्तगाल बर्बाद हो गए। पुर्तगाल 1580 में स्पेन का अधीनस्थ राज्य हो गया था। अंग्रेज़ों ने 1588 में आर्मेडा नामक स्पेनिश जहाज़ी बेड़े को हरा दिया और स्पेनिश नौसैनिक श्रेष्ठता को चकनाचूर कर दिया। इस विजय ने अंग्रेज और डच सौदागरों को भारत आने के लिए उत्तमाशा अन्तरीप के मार्ग का इस्तेमाल करने और पूर्व में साम्राज्य के लिए प्रतियोगिता में भाग लेने में समर्थ बना दिया। अन्त में, डच लोगों ने इंडोनेशिया और अंग्रेज़ों ने भारत, श्री लंका, और मलाया पर अधिकार कर लिया।

डच लोग बहुत लम्बे समय से पूर्वी देशों के उत्पादन का कारोबार करते आ रहे थे। उसे वे पुर्तगाल में खरीदते और सारे उत्तरी यूरोप में बेचते थे। इसके कारण उन्होंने बेहतर जहाज़, नौपरिवहन के लिए वैज्ञानिक तकनीक और कुशल व्यावसायिक तरीके तथा संगठन विकसित किए थे। अपनी मातृभूमि नीदरलैंड पर स्पेनिश आधिपत्य के खिलाफ़ विद्रोह, तथा स्पेन के साथ पुर्तगाल के विलयन ने उन्हें मसालों के वैकल्पिक स्रोत ढूँढ़ने के लिए मजबूर कर दिया। 1595 में चार डच जहाज़ उत्तमाशा अन्तरीप होकर भारत के लिए रवाना हुए। 1602 में डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई और डच स्टेट जेनरल—डच-संसद—ने उसे एक सनद (अधिकार-पत्र) दी जिसके अनुसार वह युद्ध और संधियाँ कर सकती थी, क्षेत्र प्राप्त कर सकती थी तथा क़िले बना सकती थी।

डच लोगों की मुख्य दिलचस्पी भारत में नहीं बल्कि इंडोनेशियायी द्वीपों--जावा, सुमात्रा और मसाला द्वीपों में थी जहाँ मसालों का उत्पादन होता था। उन्होंने तुरन्त ही पुर्तगालियों को मलय जलडमरूमध्य तथा इंडोनेशियायी द्वीपों से मार भगाया तथा 1623 में वहाँ जमने की अंग्रेज़ों की कोशिशों को नाकाम कर दिया। उस समय लगा कि डच लोगों ने एशियायी व्यापार का अत्यन्त लाभप्रद हिस्सा सफलतापूर्वक हथिया लिया है। मगर उन्होंने भारतीय व्यापार पूरी तरह नहीं छोड़ा। उन्होंने पश्चिम भारत में गुजरात के सूरत, भड़ौच, कैम्बे और अहमदाबाद; केरल के कोचीन; तमिलनाडु के नागपत्तम्; आंध्र प्रदेश के मच्छलीपत्तम; बंगाल के चिनसुरा; बिहार के पटना और उत्तर प्रदेश के आगरा में व्यापारिक गोदाम बनाए। उन्होंने 1658 में श्री लंका को पुर्तगालियों से जीत लिया। वे भारत में नील, कच्चा रेशम, सूती कपड़े, शोरा और अफ़ीम निर्यात करते थे। पुर्तगालियों की तरह ही वे भारत के लोगों के साथ क्रूर व्यवहार तथा उनका घोर शोषण करते थे।

अंग्रेज़ सौदागरों ने भी एशियायी व्यापार को लोभी निगाहों से देखा। पुर्तगालियों की सफ़लता, उनके द्वारा ले जाए जाने वाले मसालों, केलिको, रेशम, सोना, मोतियों, औषधियों, चीनी मिट्टी और आबनूस के भंडारों तथा उनको प्राप्त होने वाली मुनाफ़े की ऊँची रक़मों ने इंगलैंड के सौदागरों की कल्पना को उत्तेजित किया और उन्हें इस प्रकार के लाभप्रद वाणिज्य में हिस्सा लेने के लिए अधीर बना दिया। मगर सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक वे पुर्तगाल और स्पेन की नौसैनिक शक्ति को चुनौती देने योग्य नहीं थे। उन्होंने पचास से भी अधिक सालों तक भारत पहुँचने के लिए कोई वैकल्पिक मार्ग ढूँढ निकालने का असफल प्रयास किया। इसी बीच उन्होंने समुद्री शक्ति जुटा ली। 1579 में ड्रेक ने समुद्र के रास्ते दुनियाँ की परिक्रमा की। 1588 में स्पेनिश आर्मेडा की हार के फलस्वरूप पूरब जाने के लिए समुद्री मार्ग खुल गया।

'मर्चेंट एडवेंचर्स' नामक सौदागरों के एक समूह के तत्त्वाधान में 1599 में पूरब के साथ व्यापार करने के लिए एक अंग्रेज़ संस्था या कम्पनी की स्थापना हुई। कम्पनी रानी एलिजाबेथ ने 31 दिसम्बर 1600 को एक शाही सनद तथा पूरब के साथ व्यापार करने का अनन्य विशेषाधिकार दिया। यह ईस्ट इंडिया कम्पनी के नाम से लोगों में प्रसिद्ध हुई। आरम्भ से ही वह राजतंत्र से सम्बद्ध थी। रानी एलिजाबेथ (1558-1603) उसके हिस्सेदारों में थी।

अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पहली समुद्री यात्रा 1601 में की। उस साल उसके जहाज़ इंडोनेशिया के मसाला द्वीप गए। कम्पनी ने 1608 में तय किया कि भारत के पश्चिमी तट पर सूरत में एक कारखाना (fact-

ory) खोला जाए। उस समय व्यापारिक गोदाम को कारखाना कहते थे। शाही कृपादृष्टि प्राप्त करने के लिए कम्पनी ने कैप्टेन हॉकिंस को जहाँगीर के राजदरबार में भेजा। प्रारम्भ में हॉकिंस का मित्र की तरह स्वागत किया गया। उसे 400 का मंसब तथा एक जागीर दी गयी। बाद में, पुर्तगाली साज़िश के परिणामस्वरूप आगरा से निकाल दिया गया। इससे अंग्रेज़ों को विश्वास हो गया कि मुग़ल राजदरबार में पुर्तगाली असर को ख़त्म करने की ज़रूरत है। ऐसा किए बिना उन्हें शाही सरकार से कोई रियायत नहीं मिल सकती थी। सूरत के नज़दीक स्वाल्ली में उन्होंने एक पुर्तगाली नौसैनिक बेड़े को 1612 और फिर 1614 में हरा दिया। इन जीतों के फलस्वरूप मुग़लों को अपनी नौसैनिक कमज़ोरी देखते यह आशा बंधी कि वे अंग्रेज़ों का इस्तेमाल कर पुर्तगालियों का मुकाबला समुद्र में कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सोचा गया कि भारतीय सौदागर विदेशी ख़रीदारों के बीच प्रतिद्वंद्विता के कारण निश्चित रूप से फ़ायदे में रहेंगे। फलस्वरूप एक शाही फ़रमान के ज़रिए अंग्रेज़ी कम्पनी को पश्चिमी तट पर कई स्थानों में कारख़ाने खोलने की इजाज़त दी गयी।

अंग्रेज़ इस रियासत से संतुष्ट नहीं थे। उनका राजदूत सर टामस रो 1615 में मुग़ल राजदरबार में पहुँचा। भारत की नौसैनिक कमज़ोरी का फ़ायदा उठा कर और लाल सागर तथा मक्का जाने वाले भारतीय व्यापारियों और जहाज़रानी को तंग करके उन्होंने मुग़ल अधिकारियों पर दबाव डाला। इस तरह अनुनय-विनय और धमकियों दोनों का इस्तेमाल कर मुग़ल साम्राज्य के सभी हिस्सों में व्यापार करने तथा कारखाने लगाने के लिए रो एक शाही फ़रमान पाने में सफल हो गया। रो की सफलता ने पुर्तगालियों को और भी नाराज़ कर दिया और 1620 में दोनों देशों के बीच एक भयंकर नौसैनिक लड़ाई आरम्भ हुई। अंग्रेज़ इस लड़ाई में जीत गए। दोनों देशों के बीच दुश्मनी 1630 में ख़त्म हो गयी। पुर्तगालियों ने बम्बई टापू इंगलैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय को एक पुर्तगाली राजकुमारी से शादी करने के समय दहेज के रूप में दे दिया। अन्ततोगत्वा, पुर्तगाली भारत में गोआ, दियू और दमन को छोड़कर शेष सभी अधिकार क्षेत्र खो बैठे। इससे डच लोगों, अंग्रेज़ों और मराठों को फ़ायदा हुआ। मराठों ने सिलसिट और बस्सीन पर 1739 में क़ब्ज़ा कर लिया।

अंग्रेज़ी कम्पनी का डच कम्पनी के साथ इंडोनेशियायी द्वीपों के मसाला-व्यापार के बंटवारे को लेकर झगड़ा हो गया। अन्ततोगत्वा, डच लोगों ने अंग्रेज़ों को मसाला द्वीपों के व्यापार से लगभग निकाल बाहर कर दिया और मजबूर होकर अंग्रेज़ों को भारत पर अपना ध्यान केंद्रित करना पड़ा जहाँ स्थिति अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल थी। दोनों शक्तियों के बीच भारत में रुक-रुक कर चलने वाली लड़ाई का जो सिलसिला 1654 में आरम्भ हुआ था वह 1667 में तब ख़त्म हुआ जब अंग्रेज़ों ने इंडोनेशिया के ऊपर सारे दावे छोड़ दिए और डच लोगों ने भारत में केवल अंग्रेज़ी बस्तियों को रहने देना स्वीकार कर लिया। मगर अंग्रेज़ों ने भारतीय व्यापार से डच लोगों को निकाल बाहर करने के प्रयास जारी रखे और 1795 तक उन्होंने डच लोगों को भारत में उनके आखिरी अधिकार-क्षेत्र से भी बेदखल कर दिया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार और प्रभाव में वृद्धि (1600-1744)

भारत में अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी की शुरूआत बड़े मामूली ढंग से हुई। 1687 तक सूरत उसके व्यापार का केन्द्र था। इस पूरे काल में अंग्रेज़ मुग़ल अधिकारियों के सामने अर्ज़ीदार बने रहे। उन्होंने 1623 तक सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद, आगरा और मच्छलीपत्तम् में कारखाने क़ायम कर लिए थे। आरम्भ से ही अंग्रेज़ी व्यापारिक कम्पनी ने व्यापार और कूटनीति को लड़ाई और जहाँ उनके कारखाने थे उन इलाक़ों पर अधिकार के साथ जोड़ने की कोशिश की। वस्तुत: 1619 में ही टामस रो ने इस तरह की सलाह दी थी, जिसके ऊपर भविष्य में भारत के साथ ब्रिटिश सम्बन्धों का ढाँचा तैयार किया। उसने लिखा था "मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इन लोगों के साथ सबसे अच्छा व्यवहार तभी किया जा सकता है जब एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में संवादवाहक की छड़ी (Caducean) हो।" उसने आगे कहा कि अंग्रेज़ों को "उसी धरातल पर अपने को आधारित रखना चाहिए जिससे हमने आरम्भ किया और जिस पर हम टिके हुए हैं यानी भय।"

कम्पनी के सूरत स्थित अधिकारियों ने 1625 में अपने कारखाने की क़िलेबन्दी करने की कोशिश की मगर मुग़ल साम्राज्य के स्थानीय अधिकारियों ने तुरन्त अंग्रेज़ी कारखाने के प्रधानों को जेल में डाल दिया और उन्हें बेड़ियाँ पहना दीं। उस समय मुग़ल साम्राज्य जानदार था। इसी प्रकार जब कम्पनी के प्रतिद्वन्द्वियों ने मुग़ल जहाज़रानी पर डाका डालने की कोशिश की तब मुग़ल अधिकारियों ने बदला लेने की दृष्टि से कम्पनी के सूरत स्थित अध्यक्ष और उसकी परिषद् के सदस्यों को जेल में डाल दिया और उन्हें 18,000 पौंड देने पर ही रिहा किया।

सतरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सूरत शहर का एक दृश्य
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

दक्षिण भारत में स्थितियाँ अंग्रेज़ों के लिए अधिक अनुकूल थीं क्योंकि वहाँ उन्हें किसी शक्तिशाली भारतीय सरकार का सामना नहीं करना पड़ा। महान् विजयनगर राज्य का तख्ता 1565 में पलट दिया गया था और उसकी जगह अनेक छोटे तथा कमज़ोर राज्यों ने ले ली थी। दक्षिणी भारत में अंग्रेज़ों ने अपना पहला कारखाना 1611 में मच्छलीपत्तम् में खोला। उनके लालच से फ़ायदा उठाना या उन्हें सैनिक शक्ति द्वारा भयभीत करना आसान था। मगर जल्द ही वे अपने क्रियाकलाप का केन्द्र मद्रास ले गए ज़िसका पट्टा उन्हें स्थानीय राजा ने 1639 में दिया था। उस समय मद्रास समुद्र तटीय क्षेत्र की छः मील लम्बी और एक मील चौड़ी एक पट्टी मात्र थी। राजा ने उन्हें उस जगह की किलेबन्दी करने, उस पर प्रशासन करने; तथा बन्दरगाह के सीमा शुल्क की आधी रकम देने की शर्त पर सिक्का ढालने की अनुमति दे दी। यहाँ अंग्रेज़ों ने अपने कारखाने के इर्द-गिर्द एक छोटा क़िला बनाया जिसे फोर्ट सेंट जार्ज कहा जाता था।
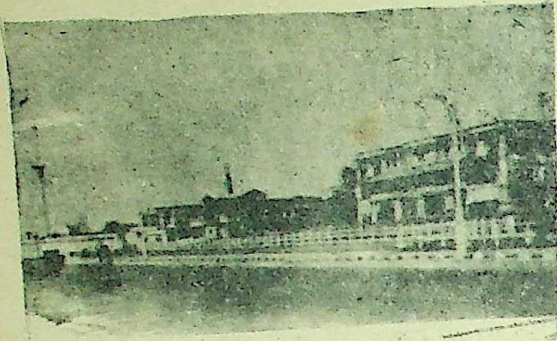
मद्रास का फोर्ट सेंट जार्ज
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

सतरहवीं शताब्दी के अन्त तक अंग्रेज़ी कम्पनी मद्रास पर सार्वभौम अधिकार का दावा करने लगी थी और इस दावे की रक्षा के लिए वह तत्पर थी। यह अत्यन्त दिलचस्प बात है कि बिल्कुल आरम्भ से ही मुनाफ़ा कमाने वाले सौदागरों की कम्पनी दृढ़ प्रतिज्ञ थी कि भारतीयों से उन्हीं का देश जीतने का खर्च वसूल किया जाए। उदाहरण के लिए, मद्रास के अधिकारियों को 1683 में कम्पनी के निदेशक मंडल ने लिखा : "हम चाहेंगे कि आप हमारे क़िले और शहर (मद्रास) की क्रमिक रूप से क़िलेबन्दी करें और मज़बूत बनाएँ, जिससे वह किसी भारतीय राजा और भारत स्थित डच शक्ति के आक्रमण से हिल भी नहीं पाए ... मगर हम चाहते हैं कि आप अपना कारोबार (अत्यन्त शराफत के साथ) जारी रखें जिससे कि निवासी सभी मरम्मतों और क़िलेबंदियों का पूरा खर्च दे सकें ..."

बम्बई द्वीप ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1668 में पुर्तगाल से प्राप्त किया और तुरन्त उसकी किलाबन्दी की। बम्बई में अंग्रेज़ों को एक बड़ी बन्दरगाह मिली जिसकी रक्षा आसानी से की जा सकती थी। इस कारण, और चूँकि उस समय अंग्रेज़ों के व्यापार को उदीयमान मराठा शक्ति से ख़तरा था, पश्चिमी तट पर कम्पनी के मुख्यालय के रूप में बम्बई ने जल्द ही सूरत की जगह ले ली।

पूर्वी भारत में, अंग्रेज़ी कम्पनी ने अपने पहले कारखाने उड़ीसा में 1633 में खोले। 1651 में उसे बंगाल के हुगली नामक स्थान में व्यापार करने की इजाज़त दी गयी। उसने जल्द ही बंगाल और बिहार में पटना, बालासोर, ढाका और अन्य जगहों पर कारखाने खोल दिये। उसने अब चाहा कि बंगाल में भी एक स्वतंत्र बस्ती होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त व्यापार और मद्रास तथा बम्बई में स्वतंत्र और क़िलाबन्द बस्तियाँ क़ायम करने में महज प्रारम्भिक सफलता, तथा मराठा-विरोधी अभियानों के साथ औरंगज़ेब की व्यस्तता ने अंग्रेज़ों को नम्र प्रार्थी की भूमिका को त्याग देने के लिए प्रेरित किया। अब वे भारत में राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का सपना देखने लगे जो मुग़लों को मजबूर करे कि वे अंग्रेज़ों को अपना व्यापार बेरोकटोक चलाने दें। इसके अलावा भारतीयों को सस्ता बेचने तथा महंगा खरीदने के लिए बाध्य किया जा सके। प्रतिद्वन्द्वी योरोपीय व्यापारियों को अलग रखा जा सके, तथा उनका व्यापार भारतीय शक्तियों की नीतियों से स्वतंत्र रहे। राजनीतिक सत्ता यह भी संभव बनाए कि वे भारतीय राजस्व को हथिया सकें तथा इस प्रकार भारत को उसी के संसाधनों के ज़रिए जीत सकें। ऐसी योजनाएँ उस समय स्पष्ट रूप से रखी गयीं। बम्बई के गर्वनर जेराल्ड आन्जियर ने कम्पनी के लंदन स्थित निदेशकों को लिखा : "समय की माँग है कि आप अपने आप वाणिज्य का प्रबंध अपने हाथों में तलवार लेकर करें।" निदेशकों ने मद्रास के गवर्नर को 1687 में सलाह दी कि "आप नागरिक और सैनिक सत्ता की ऐसी नीति क़ायम करें और राजस्व की इतनी बड़ी राशि का सृजन कर उसे प्राप्त करें कि दोनों को सदा के लिए भारत पर एक विशाल सुदृढ़ सुरक्षित आधिपत्य के आधार के रूप में बनाए रखा जा सके।"

उन्होंने 1689 में घोषणा की कि : "अपने राजस्व की वृद्धि हमारी चिन्ता का उतना ही विषय है जितना हमारा व्यापार: जब बीस दुर्घटनाएँ हमारे व्यापार में बाधा डाल सकती हैं तब यही है जो हमारी ताक़त को बनाए रखेगी, यही है जो हमें भारत में एक राष्ट्र बनाएगी ..."

अंग्रेज़ों और मुग़ल बादशाह के बीच झगड़े 1686 में तब आरम्भ हुए जब अंग्रेज़ों ने हुगली को लूटा और बादशाह के खिलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। मगर अंग्रेज़ों ने स्थिति का बड़ा ग़लत अन्दाज़ा लगाया था और मुग़ल शक्ति को काफ़ी कम करके आंका था। औरंगज़ेब के अधीन मुग़ल साम्राज्य तब भी ईस्ट इंडिया कम्पनी की छोटी-छोटी फौजों से मुक़ाबले के लिए ज़रूरत से अधिक

ताक़तवर थी। लड़ाई उनके लिए विध्वंसकारी साबित हुई। उन्हें अपने बंगाल स्थित कारखानों से निकाल बाहर किया गया। उन्हें गंगा के मुहाने पर एक ज्वर-ग्रस्त टापू में शरण लेने के लिए मजबूर कर दिया गया। उनके सूरत, मच्छलीपत्तम् और विशाखापत्तम् स्थित कारखानों पर क़ब्ज़ा कर लिया गया तथा बम्बई के क़िले पर चारों ओर से घेरा डाल दिया गया। यह बात जानकर कि वे मुग़ल सत्ता से लड़ने के लिए पर्याप्त रूप से मज़बूत नहीं हैं, अंग्रेज़ फिर एक बार नम्र प्रार्थी बन गए और उन्होंने निवेदन किया "कि उन्होंने बिना सोचे-समझे जो भी अपराध किए हैं उन्हें उनके लिए क्षमा कर दिया जाए।" उन्होंने भारतीय शासकों के संरक्षण में व्यापार करने की अपनी सहमति ज़ाहिर की। स्पष्टतया उन्होंने एक सबक़ सीखा था। मुग़ल बादशाह से व्यापारिक रियायतें लेने के लिए उन्होंने एक बार फिर चापलूसी तथा नम्र याचनाओं का सहारा लिया।

मुग़ल अधिकारियों ने सहज ही अंग्रेज़ों की ग़लती को माफ़ कर दिया क्योंकि यह जानने का उनके पास कोई साधन नहीं था कि ये निर्दोष दीखने वाले विदेशी व्यापारी ही एक दिन देश के लिए गम्भीर खतरा पैदा करेंगे। अपितु उन्होंने माना कि कम्पनी द्वारा चलाए जाने वाले विदेशी व्यापार से भारतीय दस्तकारों और सौदागरों को फ़ायदा है और इससे राज्य का खज़ाना समृद्ध हो रहा है। इसके अलावा, भूमि पर कमज़ोर होते हुए भी अपनी नौसैनिक श्रेष्ठता के कारण अंग्रेज़ भारतीय व्यापार तथा भारत और ईरान, पश्चिम एशिया, उत्तरी और पूर्वी एशिया के बीच चलने वाले नौपरिवहन को नष्ट करने में सक्षम थे। इसीलिए औरंगज़ेब ने इस शर्त पर फिर से व्यापार करने की अनुमति दे दी कि अंग्रेज़ मुआवज़े के रूप में डेढ़ लाख रुपए दें। 1691 में प्रति वर्ष 3,000 रु० देने की शर्त पर सीमा शुल्क देने से बंगाल में कम्पनी को बरी कर दिया गया। कम्पनी ने 1698 में तीन गाँवों—सुतानटी, कौलिकत्ता और गोबिन्दपुर—की ज़मींदारी हासिल की और वहाँ अपने कारखाने के इर्द-गिर्द फोर्ट विलियम बनाया। ये गाँव तुरन्त ही विकसित हो कर एक शहर बन गए जिसका नाम कलकत्ता हो गया। कम्पनी ने 1717 में बादशाह फर्रुखसियर से एक फ़रमान प्राप्त किया जिससे 1692 में दिए गए विशेषाधिकारों को पुष्ट कर दिया गया तथा उन्हें गुजरात और दक्कन के लिए भी दे दिया गया। मगर अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल पर मुर्शिद क़ुली खाँ और अलीवर्दी खाँ जैसे शक्तिशाली नवाबों का शासन था। वे अंग्रेज़ व्यापारियों पर सख्त नियंत्रण रखते थे और उन्हें अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग करने से रोकते थे। नवाबों ने अंग्रेज़ों को कलकत्ते की क़िलेबन्दी को मज़बूत बनाने या शहर पर स्वतंत्र शासन नहीं करने दिया। यहाँ ईस्ट इंडिया कम्पनी नवाब का एक ज़मींदार मात्र रही।

यद्यपि कम्पनी की राजनीतिक महत्त्वाकाँक्षाएँ पूरी नहीं हो सकीं तथापि उनका कारोबार अभूतपूर्व ढंग से चमका। भारत से इंग्लैंड में कम्पनी का आयात 1708 में 5 लाख पौंड मूल्य का था जो बढ़कर 1740 में 17 लाख 95 हज़ार मूल्य का हो गया। यह वृद्धि इस तथ्य के बावजूद हुई कि इंगलैंड की सरकार ने अंग्रेज़ी कपड़ा उद्योग के संरक्षण और इंगलैंड से भारत को चाँदी का निर्यात रोकने की दृष्टि से भारतीय सूती और रेशमी कपड़ों के इस्तेमाल की मनाही कर दी थी। इस तरह जब अंग्रेज़ भारत में मुक्त व्यापार की वकालत कर रहे थे उस समय वे अपने देश में व्यापार की स्वतन्त्रता को प्रतिबंधित कर रहे थे और भारतीय विनिर्मित वस्तुओं को वहाँ पहुँचने नहीं दे रहे थे।

मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में ब्रिटिश बस्तियाँ समृद्ध शहरों का केन्द्र बन गयीं। बड़ी संख्या में भारतीय सौदागर और बैंकर इन शहरों की ओर आकर्षित हुए। ऐसा अंशतः इन शहरों में उपलब्ध नए व्यावसायिक अवसरों और अंशतः मुग़ल साम्राज्य के विघटन के कारण इन शहरों से बाहर व्याप्त अनिश्चित स्थिति ों और असुरक्षा की वजह से था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक मद्रास की जनसंख्या बढ़कर तीन लाख, कलकत्ता की दो लाख, तथा बम्बई की 70 हजार हो गयी थी। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन तीनों शहरों में क़िलाबन्द अंग्रेज बस्तियाँ थीं, उनकी समुद्र तक बहुत आसान पहुँच थी जहाँ अंग्रेज़ों की नौसैनिक शक्ति भारतीयों से काफ़ी अधिक थी। किसी भी भारतीय अधिकारी से झगड़ा होने पर अंग्रेज सदा इन शहरों से समुद्र की ओर भाग सकते थे। और जब देश की राजनीतिक गड़बड़ियों से फ़ायदा उठाने के लिए उपयुक्त अवसर आया तब इन

शहरों की महत्त्वपूर्ण स्थिति को आधार बना कर उनका इस्तेमाल उन्होंने भारत को जीतने के लिए किया।

कम्पनी का आंतरिक संगठन

ईस्ट इंडिया कम्पनी के 1600 ई० के सनद ने उसे अत्तमाशा अंतरीप के पूरब व्यापार करने का अनन्य विशेषाधिकार 15 वर्षों के लिए दिया था। सनद ने कंपनी के प्रबंध के लिए एक समिति की व्यवस्था की थी जिसमें एक गवर्नर, एक डिपुटी गवर्नर और 24 सदस्य होते थे जिन्हें कम्पनी में शामिल सौदागरों की आम सभा द्वारा चुना जाता था। यही समिति बाद में 'निदेशक मंडल' (Court of Directors) के नाम से जानी गयी और इस के सदस्य 'निदेशक' कहे जाने लगे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी जल्द ही इंगलैंड की सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक कम्पनी हो गयी। 1601 और 1612 के बीच मुनाफ़े की दर क़रीब 20 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गयी। उसे मुनाफ़े व्यापार और समुद्री डकैती से प्राप्त होते थे। उस समय इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं थी। कम्पनी ने 1612 में दो लाख पौंड की पूंजी पर एक लाख पौंड मुनाफ़ा कमाया। पूरी सतरहवीं शताब्दी के दौरान मुनाफ़े की दर काफ़ी ऊँची थी।

कम्पनी एक अत्यन्त सीमित सदस्यों वाला निगम या इजारेदारी थी। किसी भी ग़ैर-सदस्य को पूरब के साथ व्यापार करने या उसके भारी मुनाफ़े में हिस्सा लेने नहीं दिया जाता था। आरम्भ से ही उन अंग्रेज़ बिनिर्माताओं और सौदागरों ने जो इजारेदारी कम्पनियों में प्रवेश नहीं पा सके, ईस्ट इंडिया कम्पनी जैसी शाही इजारेदारियों के खिलाफ़ एक ज़ोरदार अभियान चलाया। मगर राजाओं ने आरम्भ से ही बड़ी कम्पनियों का समर्थन किया जिन्होंने उन्हें और अन्य प्रभावशाली राजनीतिक नेताओं को भारी रक़में घूस के रूप में दीं। कम्पनी ने चार्ल्स द्वितीय को क़र्ज़ के रूप में 1,70,000 पौंड दिये। बदले में चार्ल्स द्वितीय ने उसे सनदों की एक पूरी श्रृंखला दी जिनके द्वारा उनके पुराने विशेषाधिकारों की पुष्टि कर दी गयी, उसे क़िले बनाने, सेनाएँ तैयार करने, पूरब की शक्तियों के साथ युद्ध और शान्ति करने, तथा भारत स्थित अपने कर्मचारियों को अंग्रेज़ी बस्तियों में रहने वाले सभी अंग्रेज़ों तथा अन्य लोगों के लिए न्याय की व्यवस्था करने के अधिकार दे दिए गए। इस प्रकार कम्पनी ने सैनिक और न्यायिक अधिकार प्राप्त कर लिए।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार (इजारेदारी) के बावजूद अनेक अंग्रेज़ सौदागर एशिया के साथ व्यापार करते रहे। वे अपने को "स्वतंत्र सौदागर" कहते थे जब कि कम्पनी उन्हें 'दस्तंदाज' (Interlopers) कहती थी। अन्ततोगत्वा इन दस्तंदाजों को कम्पनी के साथ भागीदारी में शामिल होने के लिए मजबूर होना पड़ा। 1688 में इंग्लैंड में क्रान्ति हुई जिसने स्टुअर्ट राजा जेम्स द्वितीय का तख्ता पलट दिया और विलियम तृतीय और उसकी बीवी मेरी को ब्रिटेन का संयुक्त शासक होने के लिए आमंत्रित किया। जब इस क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैंड में संसद सर्वोच्च हो गयी तब भाग्य ने पलटा खाया। "स्वतंत्र सौदागरों" ने अब जनता और संसद में अपने मामले पर ज़ोर देना आरम्भ किया। कम्पनी ने राजा, उसके मंत्रियों और संसद सदस्यों को भारी घूस देकर अपनी रक्षा की। केवल एक साल में उसने घूस पर 80,000 पौंड खर्च किए। राजा को उसने 10,000 पौंड की रक़म दी। अन्ततोगत्वा 1693 में उन्होंने एक नयी सनद हासिल की।

मगर समय कम्पनी के प्रतिकूल था। उसकी सफलता अस्थायी साबित हुई। हाउस ऑफ़ कामन्स ने 1694 में एक प्रस्ताव पास किया कि "जब तक संसद क़ानून द्वारा मनाही न करे तब तक इंग्लैंड के सभी नागरिकों को ईस्ट इंडीज में व्यापार करने के बराबर अधिकार होंगे।" ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिद्वन्द्वियों ने "न्यू कम्पनी" नाम की एक अन्य कम्पनी बनायी। नयी कम्पनी ने सरकार को उस समय 20,00,000 पौंड का क़र्ज़ दिया जब पुरानी कम्पनी केवल 7,00,000 पौंड देने के लिए ही तैयार थी। फलस्वरूप संसद ने पूरब के साथ व्यापार करने का एकाधिकार न्यू कम्पनी को दे दिया। पुरानी कम्पनी इतनी आसानी से अपना लाभप्रद व्यापार छोड़ने को तैयार नहीं थी। उसने "न्यू कम्पनी" में इतने हिस्से ख़रीदे कि वह उसकी नीतियों को प्रभावित कर सके। साथ ही भारत स्थित उसके कर्मचारियों ने "न्यू कम्पनी" के कर्मचारियों को वहाँ व्यापार नहीं करने दिया। अपने आपसी झगड़ों के कारण दोनों कम्पनियों को बर्बादी का सामना करना

पड़ा। अन्ततोगत्वा 1702 में दोनों ने एक होकर एक संयुक्त कम्पनी बनाने का फैसला किया। "द लिमिटेड कम्पनी ऑफ मर्चेंट्स आफ़ इंग्लैंड ट्रेडिंग टू दी ईस्ट इंडीज़" नाम की नयी कम्पनी का 1708 में जन्म हुआ।

भारत में कम्पनी के कारखानों का संगठन और प्रशासन

चूंकि ईस्ट इंडिया कम्पनी धीरे-धीरे सत्ता में आने लगी और भारत में एक सार्वभौम राज्य का दर्जा प्राप्त करने लगी, इसलिए भारत में उसके कारखानों का संगठन भी उसी के अनुकूल परिवर्तित और विकसित हुआ। कम्पनी का हर कारखाना आमतौर से किलाबन्द क्षेत्र होता था जिसमें गोदाम, दफ़्तर और कम्पनी के कर्मचारियों के रहने के लिए घर होते थे। यह नोट करने की बात है कि इन कारखानों में कोई माल नहीं तैयार होता था।

कम्पनी के कर्मचारी तीन कोटियों में बंटे हुए थे: लिपिक, कारिन्दे और सौदागर। वे सब एक साथ रहते और कम्पनी के खर्च पर खाते थे। लगता था कि वे एक होस्टल में हैं। लिपिक को साल में 10 पौंड (100 रु०), कारिन्दे को 20 से 40 पौंड (200 से 400 रु०), और सौदागर को 40 पौंड (400 रु०) या कुछ अधिक मिलता था। इस प्रकार उन्हें बहुत कम वेतन मिलते थे। मगर तो भी वे भारत में नौकरी करने के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। इसका कारण यह था कि उनकी वास्तविक आय भारत के अन्दर निजी व्यापार से होती थी जिसकी अनुमति कम्पनी उन्हें दे देती थी। मगर भारत और यूरोप के बीच व्यापार कम्पनी के लिए सुरक्षित था।

कारखाने और उसके व्यापार का प्रशासन 'गवर्नर-इन-काउन्सिल' (परिषद् के साथ मिलकर गवर्नर) करता था। गवर्नर काउन्सिल (परिषद्) अध्यक्ष मात्र होता था और उसे काउन्सिल से अलग कोई अधिकार नहीं थे। काउन्सिल सारे निर्णय बहुमत से करती थी। काउन्सिल में कम्पनी के वरिष्ठ सौदागर होते थे।

दक्षिण भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष

अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी की क्षेत्रीय विजय की योजनाएँ सतरहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में औरंगज़ेब ने विफल कर दी थीं। मगर अठारहवीं शताब्दी के पाँचवें दशक के दौरान मुग़ल सत्ता के स्पष्ट पतन के कारण उन योजनाओं को फ़िर जीवित किया गया। नादिर शाह के आक्रमण ने केंद्रीय सत्ता का अपकर्ष ज़ाहिर कर दिया था। मगर पश्चिम भारत में विदेशी घुसपैठ के लिए बहुत गुंजायश नहीं थी क्योंकि वहाँ जीवंत मराठों का आधिपत्य था। यही बात पूर्वी भारत के लिए भी थी जहाँ अलीवर्दी ख़ाँ ने अपना सख्त नियंत्रण क़ायम कर रखा था। परन्तु दक्षिण भारत में स्थितियाँ धीरे-धीरे विदेशी दुःसाहसियों के लिए अनुकूल होती जा रही थीं। औरंगज़ेब की मौत के बाद केंद्रीय सत्ता वहाँ खत्म हो गयी थी, निज़ाम उल-मुल्क आसफ़ जाह का मज़बूत साया भी उसके 1748 में मरने के बाद उठ गया था। इसके अलावा, मराठा सरदार नियमित रूप से हैदराबाद और शेष दक्षिण भारत पर हमला कर चौथ वसूल करने लगे। इन हमलों के कारण राजनीतिक स्थिति अनिश्चित हो गयी और प्रशासनिक अस्तव्यस्तता आ गयी। कर्नाटक उत्तराधिकार की भ्रातृघातक लड़ाइयों में फंस गया।

इन स्थितियों ने विदेशियों को दक्षिण भारतीय राज्यों के मामलों में अपना राजनीतिक असर और अधिकार बढ़ाने का मौका दिया। मगर व्यापारिक और राजनीतिक दावे करने वालों में केवल अंग्रेज़ ही अकेले नहीं थे। यद्यपि सतरहवीं शताब्दी के अन्त तक उन्होंने अपने पुर्तगाली और डच प्रतिद्वन्द्वियों को खत्म कर दिया था तथापि फ्रांस एक नए प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आ गया था। भारत के व्यापार, संपदा और भूभाग के ऊपर अधिकार को लेकर 1744 से 1763 तक लगभग बीस वर्षों तक फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों के बीच कटु लड़ाई हुई।

फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना 1664 में हुई। अठारहवीं शताब्दी के तीसरे दशक में उसका पुनर्संगठन हुआ। इसके बाद उसने तेज़ी से प्रगति की और जल्द ही अंग्रेज़ कम्पनी की बराबरी में आ गयी। उसने कलकत्ता के नज़दीक चंद्रनगर और पूर्वी समुद्र तट पर पांडिचेरी में अपनी जड़ें मज़बूती से जमायीं। पांडिचेरी की उसने पूरी क़िलेबंदी की। फ्रांसीसी कम्पनी के अनेक कारखाने पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट के अनेक बंदरगाहों

पर थे। उसने हिंद महासागर में स्थित मौरिशस और रीयूनियन टापुओं पर भी अधिकार कर लिया था।

फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी फ़्रांसीसी सरकार के ऊपर काफ़ी निर्भर थी। फ्रांसीसी सरकार ने उसे खज़ाने से अनुदान, आर्थिक सहायता और क़र्ज देकर तथा अन्य कई तरीक़ों से उसकी सहायता की। फलस्वरूप, उस पर मुख्यत: सरकार का नियंत्रण था जो 1723 के बाद उसके निदेशकों की नियुक्ति भी करने लगी। इसके अलावा, कम्पनी के अधिकांश हिस्से सामंतों तथा अन्य लगान-जीवियों के थे जो कम्पनी को स्थायी व्यावसायिक सफलता दिलाने के बदले तुरंत लाभांश प्राप्त करने में अधिक दिलचस्पी रखते थे। जब तक सरकारी ऋणों और आर्थिक सहायताओं के आधार पर निदेशक अभ्रांश घोषित करते रहे तब तक उन्होंने व्यावसायिक कार्यों की सफलता या औचित्य के बारे में कुछ विशेष नहीं सोचा। कम्पनी पर राजकीय नियंत्रण एक अन्य दृष्टि से भी नुक्सानदेह साबित हुआ। उस समय फ्रांसीसी राज्य निरंकुश, अर्धसामंती, और बदनाम तथा भ्रष्टाचार, अकुशलता तथा अस्थिरता का शिकार था। प्रगतिशील होने की बजाय यह पतनोन्मुख परम्परा से बंधा तथा आमतौर से समय के प्रतिकूल था। ऐसे राज्य का नियंत्रण कम्पनी के हितों के लिए नुक्सानदेह ही हो सकता था।

यूरोप में फ्रांस और इंग्लैंड के बीच 1742 में लड़ाई छिड़ गई। लड़ाई का एक प्रमुख कारण अमरीका में उपनिवेशों को लेकर प्रतिद्वन्द्वता थी। दूसरा प्रमुख कारण था भारत में व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वता। यह प्रतिद्वन्द्वता यह जानने के कारण तीव्र हो गयी थी कि मुग़ल साम्राज्य का विघटन हो रहा है और व्यापार या भूभाग में पहले की अपेक्षा अधिक हिस्सा मिल सकता है। भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष लगभग 20 वर्षों तक चला और परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई। व्यापार में अपनी श्रेष्ठता के कारण दोनों में ब्रिटिश कम्पनी अधिक समृद्ध थी। वह नौसेना के क्षेत्र में भी आगे थी। इसके अलावा, भारत स्थित उसके इलाके उसके नियंत्रण में अधिक लम्बे समय से थे। उनकी क़िलाबन्दी बेहतर थी और वे अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध थे इसलिए भौतिक दृष्टि से अंग्रेज़ों की स्थिति अच्छी थी।

अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की योरोपीय लड़ाई जल्द ही भारत में फैल गयी जहाँ दोनों ईस्ट इंडिया कम्पनियों का परस्पर टकराव हुआ। 1745 में अंग्रेज़ी नौसेना ने भारत के दक्षिण-पूर्वी समुद्र तट से आगे समुद्र में फ्रांसीसी जहाज़ों पर क़ब्ज़ा कर लिया तथा पांडिचेरी को हथियाने की धमकी दी। उस समय डूप्ले पांडिचेरी में फ्रांसीसी गवर्नर-जनरल था। वह एक प्रतिभावान् और दूरदर्शी राजनेता था। उसके प्रतापी नेतृत्व में फ्रांसीसियों ने जवाबी हमला किया और 1746 में मद्रास पर क़ब्ज़ा कर लिया। इससे लड़ाई में एक नया मोड़ आया। अंग्रेज़ों ने कर्नाटक के नवाब से अपनी बस्ती को फ्रांसीसियों से बचाने की अपील की। मद्रास कर्नाटक के नवाब के क्षेत्र में ही था। नवाब हस्तक्षेप करने के लिए सहमत हो गया क्योंकि वह विदेशी सौदागरों को यह दिखलाना चाहता था कि वह अब भी अपने इलाक़ों का मालिक है। उसने अपनी जमीन पर दो विदेशी व्यापारिक कम्पनियों को लड़ने से रोकने के लिए फ्रांसीसियों के खिलाफ़ एक फ़ौज भेजी और इस तरह नवाब की 10,000 सैनिकों वाली शक्तिशाली फ़ौज का मुक़ाबला छोटी सी फ्रांसीसी सेना से हुआ जिसमें 230 योरोपीय तथा 700 पश्चिमी ढंग से प्रशिक्षित भारतीय सैनिक थे। यह मुक़ाबला अड्यार नदी के किनारे सेंट टाम में हुआ। नवाब को निर्णायक रूप से हरा दिया गया। इस लड़ाई ने भारतीय फ़ौजों के मुक़ाबले पश्चिमी फ़ौजों की अपार श्रेष्ठता दिखला दी। इसका कारण पश्चिमी फ़ौजों का बेहतर-उपकरण और संगठन था। भारतीय बरछा पश्चिमी बन्दूक और किरिच की बराबरी नहीं कर सकता था, और न ही भारतीय घुड़सवार सेना पश्चिमी तोपखाने का मुक़ाबला कर सकती थी। बड़ी मगर अनुशासनहीन और भारी-भरकम भारतीय फ़ौजें छोटी मगर अच्छी तरह अनुशासित पश्चिमी फ़ौजों के सामने नहीं टिक पायीं।

1748 में इंग्लैंड और फ़्रांस के बीच आम लड़ाई ख़त्म हो गयी और शांति समझौते के अनुसार, मद्रास अंग्रेज़ों को वापस दे दिया गया। यद्यपि लड़ाई ख़त्म हो गयी तथापि व्यापार और भारत स्थित अधिकृत इलाक़ों को लेकर प्रतिद्वन्द्वता चलती रही और उसका कोई न कोई फ़ैसला ज़रूरी हो गया। इसके अलावा, लड़ाई ने भारतीय सरकार और फ़ौजों की कमज़ोरी पूरी तरह ज़ाहिर कर

दी थी और इस प्रकार भारत में क्षेत्रीय प्रसार के लिए दोनों कम्पनियों में लोभ पूरी तरह जगा दिया था।

डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब के साथ हाल की लड़ाई में हासिल सबक को इस्तेमाल करने का फ़ैसला किया। उसने भारतीय राजाओं के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप करने के लिए अच्छी तरह की अनुशासित, आधुनिक फ्रांसीसी फ़ौज का इस्तेमाल करने का निर्णय लिया। एक राजा का दूसरे के ख़िलाफ़ समर्थन कर वह विजेता से मौद्रिक, व्यावसायिक और क्षेत्रीय फ़ायदे हासिल करना चाहता था। इस प्रकार वह फ्रांसीसी कम्पनी के हितों को साधने तथा अंग्रेज़ों को भारत से निकाल बाहर करने के लिए स्थानीय राजाओं, नवाबों तथा सरदारों के संसाधनों और फ़ौजों का इस्तेमाल करना चाहता था। इस रणनीति की सफलता में एक ही बाधा हो सकती थी, वह यह कि भारतीय शासक ऐसे विदेशी हस्तक्षेपों की अनुमति नहीं देते। मगर भारतीय शासक देशभक्ति से नहीं बल्कि व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थ की संकीर्ण भावना से प्रेरित थे। उन्हें अपने आन्तरिक प्रतिद्वन्द्वियों से बदला लेने के लिए विदेशियों को सहायता के लिए आने के वास्ते आमंत्रित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं थी।

कर्नाटक और हैदराबाद में 1748 में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिसने डूप्ले की षड्यन्त्रकारी प्रतिभा के लिए पूरा मौक़ा दिया। कर्नाटक में चंदा साहब ने नवाब अनवरउद्दीन के ख़िलाफ़ षड्यंत्र करना आरम्भ कर दिया। हैदराबाद में निज़ाम-उल-मुल्क आसफ़ जाह के मरने के बाद उसके बेटे नासिर जंग और पोते मुज़फ्फर जंग के बीच गृह-युद्ध हुआ। डूप्ले ने इस मौक़े से लाभ उठाया और चंदा साहब तथा मुज़फ्फर जंग के साथ एक गुप्त संधि की जिसके अन्तर्गत उसने अपनी सुप्रशिक्षित फ्रांसीसी और भारतीय सेनाओं की सहायता देने का वचन दिया। 1749 में तीनों मित्रों ने अनवर-उद्-दीन को अम्बूर की लड़ाई में हरा दिया और मार डाला। अनवर-उद्-दीन का लड़का भाग कर त्रिचनापल्ली चला गया। कर्नाटक का शेष भाग चंदा साहब के अधिकार में आ गया जिसने फ्रांसीसियों को पांडिचेरी के निकट 80 गाँवों का अनुदान दिया।

हैदराबाद में भी फ्रांसीसी सफल रहे। नासिर जंग मारा गया और मुज़फ्फर जंग दक्कन का निज़ाम बन गया। नये निज़ाम ने फ्रांसीसी कम्पनी को पुरस्कारस्वरूप पांडिचेरी के आस-पास के इलाक़े और मच्छलीपत्तम का प्रसिद्ध शहर दे दिए। उसने 5,00,000 रु० कम्पनी को तथा 5,00,000 रु० उसके सैनिकों को दिए। डूप्ले को 20,00,000 रु० तथा 1,00,00 रु० सालाना आय की एक जागीर मिली। इसके अलावा उसे पूर्वी तट के कृष्णा नदी और कन्याकुमारी के बीच के मुग़ल इलाक़ों का अवैतनिक गवर्नर बना दिया गया। डूप्ले ने अपने सबसे योग्य अफ़सर बुस्सी को एक फ्रांसीसी सेना सहित हैदराबाद में रख दिया। इस व्यवस्था का दिखावटी उद्देश्य निज़ाम को उसके दुश्मनों से बचाना था, मगर वस्तुतः इसका उद्देश्य उसके दरबार में फ्रांसीसी प्रभाव बनाए रखना था। मुज़फ्फ़र जंग जब अपनी राजधानी की ओर जा रहा था तभी अकस्मात् वह मारा गया। बुस्सी ने तुरन्त निज़ाम-उल-मुल्क के तीसरे बेटे सलामत जंग को गद्दी पर बैठा दिया। बदले में निज़ाम ने फ्रांसीसियों को आंध्र प्रदेश का वह हिस्सा दिया जिसे नार्दर्न सरकार (उत्तरी सरकार) कहा जाता है। इसमें चार ज़िले—मुस्तफानगर, एलोर, राजामंद्री और चिकाकोल—आते हैं।

अब दक्षिण भारत में फ्रांसीसी शक्ति अपने शिखर पर थी। डूप्ले की योजना स्वप्नातीत रूप से सफल हो गयी। फ्रांसीसियों ने अपनी योजना भारतीय राज्यों को दोस्त बनाने से आरम्भ की थी मगर उन्होंने उन्हें अन्ततोगत्वा अपना आश्रित बना दिया।

परन्तु अंग्रेज़ अपने प्रतिद्वंद्वी की सफलताओं के मूक दर्शक नहीं थे। फ्रांसीसी प्रभाव को कम करने तथा अपना असर बढ़ाने के लिए वे नासिर जंग और मुहम्मद अली के साथ मिल कर साज़िशें करते आ रहे थे। 1750 में उन्होंने अपनी सारी ताक़त मुहम्मद अली के समर्थन में लगा देने का निर्णय किया। कम्पनी की नौकरी में राबर्ट क्लाईव नामक एक युवा क्लर्क था। उसने सुझाया कि मुहम्मद अली जिसे त्रिचनापल्ली में फ्रांसीसियों ने घेर रखा था, उसे फ्रांसीसी दबाव से मुक्त कर्नाटक की राजधानी आर्काट पर हमला करके ही किया जा सकता है। प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया और क्लाईव ने केवल 200 अंग्रेज़ और 300 भारतीय सैनिकों की सहायता से आर्काट पर हमला किया और उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। जैसी उम्मीद थी, चंदा साहब और फ्रांसीसियों को त्रिचनापल्ली का घेरा उठा देने

के लिए मजबूर होना पड़ा। फ़ांसीसी सेनाओं की बार-बार हार हुई। चंदा साहब को तुरन्त पकड़ लिया गया और मार दिया गया। अब फ्रांसीसियों का भाग्य उनके प्रतिकूल हो गया क्योंकि उनकी फ़ौज और उसके सेनापति अंग्रेज़ी सेना और सेनापतियों की बराबरी नहीं कर सके।

डूप्ले ने फ़्रांसीसी किस्मत को अनुकूल बनाने के लिए पुरज़ोर कोशिश की। मगर उसे फ़्रांसीसी सरकार या यहाँ तक फ़्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी के बड़े अधिकारियों का भी कोई समर्थन नहीं मिला। इसके अतिरिक्त उच्च फ़्रांसीसी अधिकारी तथा फ़ौजी और नौसैनिक कमांडर एक दूसरे से तथा डूप्ले से झगड़ते रहे। अन्ततोगत्वा, भारत में लड़ाई के भारी खर्च से परेशान होकर तथा अपने अमरीकी उपनिवेशों के हाथों से निकलने के भय से डर कर फ़्रांसीसी सरकार ने शान्ति-वार्ताएँ आरम्भ कीं और 1754 में उसने अंग्रेज़ों की यह माँग मान ली कि डूप्ले को भारत से वापस बुला लिया जाए।

दोनों कम्पनियों के बीच अस्थायी शान्ति 1756 में फिर भंग हो गयी जब इंग्लैंड और फ़्रांस के बीच एक और लड़ाई आरम्भ हो गयी। लड़ाई के आरम्भ में ही अंग्रेज बंगाल पर अधिकार करने में सफल हो गए। इसकी चर्चा अगले अध्याय में की गयी है। इस घटना के बाद भारत में फ्रांसीसियों को कोई आशा नहीं रही। बंगाल के समृद्ध संसाधनों ने अंग्रेज़ों का पलड़ा निर्णायक रूप से भारी बना दिया। फ़्रांसीसी सरकार ने इस बार अंग्रेज़ों को भारत से निकालने के लिए पक्के इरादे के साथ कोशिश की और काउन्ट डी लैली के नेतृत्व में एक शक्तिशाली फ़ौज भेजी, मगर सब कुछ बेकार रहा। फ़्रांसीसी बेड़े को भारतीय समुद्री क्षेत्र से भगा दिया गया और कर्नाटक में फ्रांसीसी सेनाओं को हरा दिया गया। इसके अलावा, अंग्रेज़ फ़्रांसीसियों को हटाकर उनकी जगह निज़ाम के रक्षक बन गए तथा उससे मछलीपत्तम् और नार्दर्न सरकार ले लिए। निर्णायक लड़ाई 22 जनवरी 1760 को वाण्डीबाश में लड़ी गयी जब अंग्रेज़ सेनापति आयर कूट ने लैली को हरा दिया। एक वर्ष के भीतर फ्रांसीसी भारत में अपने अधीन के सारे भभाग खो बैठे। पेरिस संधि पर दस्तखत होते ही लड़ाई 1763 में खत्म हो गयी। फ्रांसीसियों को भारत स्थित उनके सारे कारखाने वापस कर दिए गए मगर उनकी न तो क़िलेबन्दी की जा सकती थी और न ही वहाँ सैनिक डेरा डाल सकते थे। वे सिर्फ व्यापारिक केंद्रों का काम कर सकते थे। इस प्रकार अब फ्रांसीसी भारत में ब्रिटिश रक्षा के अन्तर्गत रहने लगे। भारत में साम्राज्य बनाने का उनका सपना खत्म हो गया। दूसरी ओर अंग्रेज़ों का हिंद महासागर पर शासन था। अपने सभी योरोपीय प्रतिद्वंद्वियों से छुटकारा पाकर अब अंग्रेज भारत को जीतने के काम को आरम्भ कर सकते थे।

फ्रांसीसियों और उनके भारतीय दोस्तों के साथ अपने संघर्ष के दौरान अंग्रेज़ों ने कतिपय महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य सबक़ सीखे। पहला, देश में राष्ट्रीयता के अभाव में वे भारतीय शासकों के आपसी झगड़ों से फ़ायदा उठा कर अपनी राजनीतिक योजनाओं को आगे बढ़ा सकते हैं। दूसरा, आधुनिक हथियारों से लैस पश्चिमी प्रशिक्षण प्राप्त योरोपीय या भारतीय पैदल सेना जिसको तोपखाने का समर्थन हो पुराने ढंग की भारतीय फ़ौजों को घमासान लड़ाई में आसानी से हरा सकती है। तीसरा, यह सिद्ध हो गया कि योरोपीय ढंग से प्रशिक्षित और हथियारों से लैस भारतीय सैनिक, योरोपीय सैनिक के समान ही कुशल हैं। और चूँकि भारतीय सैनिकों में राष्ट्रीयता की भावना की कमी है इसलिए कोई भी अच्छा वेतन देने वाला व्यक्ति उन्हें अपना नौकर बना सकता है। अब अंग्रेज़ों ने एक शक्तिशाली फ़ौज बनाने का काम आरम्भ किया जिसमें भारतीय सैनिक (जिन्हें सिपाही कहा जाता था) हों मगर उनके अफ़सर अंग्रेज़ हों। अपने मुख्य साधन के रूप में इस फ़ौज तथा भारतीय व्यापार और इलाक़ों के अपार संसाधनों का सहारा लेकर अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने लड़ाइयों और क्षेत्रीय प्रसार के युग में प्रवेश किया।

अभ्यास

1. पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दियों तक भारत के साथ योरोपीय व्यापार के विकास की चर्चा कीजिए।
2. 1600 से 1744 के बीच अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार तथा भारत में उसके प्रभाव की वृद्धि पर प्रकाश डालिए।
3. वे कौन-से कारक आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष के लिए ज़िम्मेदार थे ? इससे भारतीय राजनीतिक सत्ता का विध्वंस कैसे हुआ है ?
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (क) भारत पुर्तगाली; (ख) मसालों का व्यापार; (ग) भारत में डच लोग; (घ) औरंगज़ेब और ईस्ट इंडिया कम्पनी; (च) भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के कारखानों का संगठन; (छ) डूप्ले; (ज) फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी।

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक

अध्याय 4

भारत पर अंग्रेज़ों की विजय

1. साम्राज्य का विस्तार, 1756-1818

बंगाल पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा

भारत पर ब्रिटिश राजनीतिक शासन का आरम्भ पलासी की लड़ाई से माना जा सकता है । पलासी की लड़ाई 1757 में हुई । इसमें अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेनाओं ने बंगाल के नवाब सिराजउद्दौला को हरा दिया । लगा कि दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों के साथ ब्रिटिश संघर्ष एक अभ्यास मात्र था । वहाँ जो सबक मिले थे उनको बड़े फ़ायदेमंद ढंग से बंगाल में काम में लाया गया ।

भारत के प्रान्तों में बंगाल अत्यन्त उपजाऊ और सबसे समृद्ध था । उसके उद्योग और वाणिज्य सुविकसित थे । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कर्मचारियों के बंगाल में व्यापारिक स्वार्थ थे जिनकी बदौलत वे काफ़ी मुनाफ़ा कमाते थे । कम्पनी को मुग़ल बादशाह से 1717 में एक शाही फ़रमान मिला । इसके तहत उसे बहुमूल्य विशेषाधिकार मिले । कम्पनी को बिना टैक्स दिए बंगाल में अपने मालों का आयात-निर्यात करने की स्वतंत्रता दे दी गयी । उसे माल को एक जगह से दूसरी जगह लाने ले जाने के लिए दस्तक (पास) जारी करने का अधिकार दे दिया गया । कम्पनी के कर्मचारियों को भी व्यापार करने की इजाज़त थी मगर उपर्युक्त फ़रमान उन पर लागू नहीं होता था । उन्हें भारतीय सौदागरों की तरह ही टैक्स देने पड़ते थे । यह फ़रमान कम्पनी और बंगाल के नवाबों के बीच निरन्तर झगड़े का कारण बना रहा । पहला, फ़रमान के फलस्वरूप बंगाल सरकार का राजस्व कम हो गया । दूसरा, कम्पनी के मालों के लिए दस्तक जारी करने के अधिकार का कम्पनी के कर्मचारियों ने अपने निजी व्यापार पर टैक्स अदायगी से बचने के लिए दुरुपयोग किया । मुर्शिद क़ुली ख़ाँ से लेकर अलीवर्दी ख़ाँ तक बंगाल के सभी नवाबों ने 1717 के फ़रमान की जो व्याख्या अंग्रेज़ कर रहे थे उस पर आपत्ति की । उन्होंने कम्पनी को निश्चित धनराशि देने के लिए मजबूर किया और उन्होंने बड़ी दृढ़ता से दस्तक के दुरुपयोग को दबा दिया । इस मामले में नवाबों ने कम्पनी से अपना अधिकार मनवा लिया था, मगर कम्पनी के कर्मचारियों ने इस अधिकार को मानने से इंकार करने के लिए हर अवसर का इस्तेमाल किया ।

युवा और गुस्सैल सिराजउद्दौला 1756 में अपने नाना अलीवर्दी ख़ाँ की जगह नवाब हुआ । उसके नवाब बनते ही स्थिति अत्यन्त गम्भीर संकट के दौर में पहुँच गयी । उसने अंग्रेज़ों को हुक्म दिया कि वे उसी तरह व्यापार करें जैसा मुर्शिद क़ुली ख़ाँ के जमाने में करते थे । अंग्रेज़ों ने इसे मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि दक्षिणी भारत में

फ्रांसीसियों पर अपनी विजय के बाद वे अपने को शक्तिशाली समझने लगे थे। वे भारतीय राज्यों की राजनीतिक और सैनिक कमज़ोरी को भी जान गए थे। अपने मालों पर नवाब को टैक्स देने की बजाय उन्होंने कलकत्ता में आने वाले भारतीय मालों पर भारी चुंगी लगानी आरम्भ कर दी। उस समय कलकत्ता उन्हीं के अधिकार में था। इन सबसे युवा नवाब का चिढ़ जाना स्वाभाविक था। उसे क्रोध आ गया। उसे यह भी संदेह हुआ कि कम्पनी उससे शत्रुता रखती है तथा बंगाल की गद्दी पर उसके प्रतिद्वन्द्वियों को बिठाना चाहती है। संकट चरम अवस्था में तब पहुँच गया जब कम्पनी ने नवाब की इजाजत लिये बिना कलकत्ता की क़िलाबन्दी आरम्भ कर दी। अंग्रेज़ों ने ऐसा भावी फ़्रांसीसी आक्रमण की सम्भावना को देखते हुए किया। फ़्रांसीसी उस समय चन्द्रनगर में थे। सिराजउद्दौला ने इसे ठीक ही अपनी सार्वभौमिकता पर आक्रमण समझा। कैसे कोई स्वतन्त्र शासक सौदागरों की एक गैरसरकारी कम्पनी को अपनी ज़मीन पर क़िले बनाने या व्यक्तिगत लड़ाइयाँ लड़ने देती? इसके अलावा उसे डर था कि अगर उसने अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों को बंगाल की ज़मीन पर लड़ने दिया तो उसका भी हाल वही होगा जो कर्नाटक के नवाबों का हुआ। दूसरे शब्दों में, सिराजउद्दौला योरोपीय लोगों को मालिक के रूप में नहीं बल्कि सौदागर के रूप में रहने देने को तैयार था। उसने अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों, दोनों को हुक्म दिया कि वे अपनी क्रमशः कलकत्ता और चंद्रनगर की क़िलेबन्दी को तोड़ दें। फ़्रांसीसी कम्पनी ने इस आदेश का पालन किया, मगर अंग्रेज़ी कम्पनी ने ऐसा नहीं किया क्योंकि कर्नाटक में जीतों के बाद उसकी महत्त्वाकांक्षा तीव्र हो गयी थी और उसका आत्मविश्वास बढ़ गया था। उसने बंगाल में नवाब की इच्छाओं के विरुद्ध भी रहने तथा अपनी शर्तों पर व्यापार करने का पक्का निश्चय कर लिया था। उसने अपनी सभी गतिविधियों पर नियंत्रण रखने के सिर्फ़ ब्रिटिश सरकार के अधिकार को माना था; पूरब के साथ व्यापार करने के उसके अधिकार को 1693 में ब्रिटिश संसद ने सनद वापस लेकर खत्म कर दिया था; उसे राजा, संसद और ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों को घूस में भारी रकमें देनी पड़ी थीं (केवल एक साल में उसे घूस में 80,000 पौंड देने पड़े थे)। इसके बावजूद, अंग्रेज़ी कम्पनी ने माँग की कि बंगाल के नवाब के आदेशों का बिना ख्याल किए उसे वहाँ बेरोकटोक व्यापार करने का पूर्ण अधिकार मिले। इसका अर्थ था नवाब की सार्वभौमिकता को प्रत्यक्ष चुनौती। शायद ही कोई शासक इस स्थिति को स्वीकार कर सकता। सिराज-उद्-दौला में इतनी राजनीतिक बुद्धि थी कि वह अंग्रेज़ी मंसूबों के दीर्घकालीन परिणामों को समझ सके। उसने उन्हें देश के क़ानून को मानने के लिए मजबूर करने का फ़ैसला किया।

भारी हौसले मगर अनुचित जल्दबाज़ी और अपर्याप्त तैयारी के साथ सिराज-उद्-दौला ने कासिम बाज़ार के अंग्रेज़ी कारखाने पर कब्ज़ा कर लिया और वह कलकत्ता की ओर बढ़ा, तथा 20 जून 1756 को फोर्ट विलियम को अपने अधिकार में ले लिया। उसके बाद वह अपनी आसान जीत को मनाने के लिए कलकत्ता से चला गया। इस तरह उसने अंग्रेज़ों को अपने जहाज़ों में भाग निकलने दिया। यह ग़लती अपने शत्रु को शक्ति का सही अन्दाज़ा न होने के कारण हुई।

अंग्रेज़ अधिकारियों ने समुद्र के किनारे फुल्टा में आश्रय लिया। वहाँ वे अपनी नौसैनिक श्रेष्ठता के कारण सुरक्षित थे। वहाँ वे मद्रास से सहायता आने की प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच उन्होंने नवाब के दरबार के प्रमुख व्यक्तियों के साथ मिलकर साज़िश और विश्वासघात का जाल बिछाया। इन प्रमुख व्यक्तियों में थे मीर जाफ़र (मीर बख्शी), मानिक चंद (कलकत्ता का प्रभारी अधिकारी), अमीचंद (एक धनी सौदागर), जगत सेठ (बंगाल का सबसे बड़ा बैंकर) और खादिम खाँ जिसके अधीन नवाब की सेना का बहुत बड़ा भाग था। मद्रास से एक शक्तिशाली नौसेना और पैदल फ़ौज एडमिरल वाट्सन तथा कर्नल क्लाईव के आधीन आयी। क्लाईव ने 1757 के आरम्भ में कलकत्ता को फिर से जीत लिया तथा नवाब को अंग्रेज़ों की सारी माँगें मानने के लिए मजबूर कर दिया।

मगर अंग्रेज़ इतने से ही संतुष्ट नहीं थे, उनका लक्ष्य काफ़ी ऊँचा था। उन्होंने सिराज-उद्-दौला की जगह एक कठपुतली बैठाने का फैसला किया था। बंगाल की गद्दी पर मीर जाफर को बिठाने के लिए युवा नवाब के दुश्मनों द्वारा रचे गए षड्यंत्र में शामिल होने के बाद उन्होंने सिराज-उद्-दौला के सामने कई असम्भव माँगें रखीं। दोनों पक्षों

ने महसूस किया कि उनके बीच एक निर्णायक लड़ाई अवश्यम्भावी है। दोनों पक्षों के बीच मुर्शिदाबाद से 20 मील दूर पलासी के मैदान में 23 जून 1757 को मुक़ाबला हुआ। पलासी की निर्णायक लड़ाई केवल नाम की लड़ाई थी। कुल मिलाकर अंग्रेज़ों को 29 आदमियों और नवाबों को करीब 500 आदमियों से हाथ धोने पड़े। नवाब की फ़ौज के एक बड़े भाग ने, जिसका नेतृत्व विश्वासघाती मीर जाफ़र और राय दुर्लभ कर रहे थे, लड़ाई में भाग नहीं लिया। नवाब के थोड़े से सैनिकों ने ही जिनका नेतृत्व मीर मदन और मोहन लाल कर रहे थे, बहादुरी के साथ जमकर दुश्मन का मुक़ाबला किया। नवाब को भागने के लिए मजबूर होना पड़ा। उसे पकड़ लिया गया और मीर जाफ़र के बेटे मीरन ने उसे मौत के घाट उतार दिया।

पलासी की लड़ाई के बाद, बंगाल कवि नवीन चंद्र सेन के शब्दों में "भारत में अनन्त अंधकारमयी रात्रि" आरम्भ हो गयी। अंग्रेज़ों ने मीर जाफ़र को बंगाल का नवाब घोषित कर दिया और अपना इनाम पाने के लिए पहुँच गए। कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मुक्त व्यापार करने का निर्विवाद अधिकार दे दिया गया। उसे कलकत्ते के पास 24 परगना की ज़मींदारी भी मिली। मीर जाफ़र ने कलकत्ता पर आक्रमण के लिए 1,77,00,000 रु० मुआवज़े के रूप में कम्पनी और शहर के व्यापारियों को दिए। यही नहीं, उसने कम्पनी के बड़े अधिकारियों को "भेंट" या घूस के रूप में भारी रकमें दीं। उदाहरण के लिए, क्लाईव को 20 लाख रुपये से अधिक तथा वाट्स को 10 लाख रुपये से अधिक की रक़म मिली। बाद में क्लाईव ने अनुमान लगाया कि कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने 3 करोड़ रुपये से अधिक रक़म ऐंठ ली थी। उसके अतिरिक्त यह भी समझा जाता था कि ब्रिटिश सौदागरों और अधिकारियों से अपने निजी व्यापार पर टैक्स देने के लिए कभी नहीं कहा जायेगा।

पलासी की लड़ाई का अत्यन्त एतिहासिक महत्त्व था। उसने बंगाल और अन्ततोगत्वा सारे भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्त्व का मार्ग प्रशस्त किया। उसने ब्रिटिश प्रतिष्ठा को बढ़ा दिया और एक ही बार में उसे भारतीय साम्राज्य के प्रमुख दावेदार के स्थान पर पहुँचा दिया। बंगाल से प्राप्त भारी राजस्व ने उन्हें एक शक्तिशाली सेना संगठित करने में मदद दी। बंगाल के ऊपर नियंत्रण ने आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष में एक निर्णायक भूमिका अदा की। अन्त में, पलासी की लड़ाई ने कम्पनी और उसके कर्मचारियों को बंगाल के

बंगाल की मुग़ल सरकार का एक सैनिक वर्दी में
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

निरीह लोगों के मत्थे अकथनीय संपदा जमा करने में समर्थ बनाया। ब्रिटिश इतिहासकारों, एडवर्ड थाम्सन और जी० टी० गैरेट ने लिखा है :

> क्रान्ति करना संसार में सबसे फ़ायदेमंद धंधा समझा जाता था। अंग्रेज़ों के दिमाग़ में ऐसा स्वर्ण मोह भर गया था जैसा उस ज़माने के बाद कभी नहीं देखा गया था जब कोर्टेस और पिज़ारो के युग के स्पेन वासी सोने के लिए उन्मादग्रस्त हो गये थे। जब तक बंगाल को पूरी तरह चूस नहीं लिया गया तब तक वहाँ शान्ति नहीं आयी।"

मीर जाफ़र को नवाब का ओहदा कम्पनी की कृपा से मिला था मगर उसने जो सौदा किया था उस पर वह जल्द ही पछताने लगा। कम्पनी के अधिकारियों की भेंट और

घूस की माँगों को पूरा करने में ही खज़ाना जल्द खाली हो गया। इस तरह की माँगों की शुरुआत स्वयं क्लाईव ने की थी। जैसा कि कर्नल मैल्लेसन ने लिखा है, कम्पनी के अधिकारियों का एक ही उद्देश्य था कि "जितना हो सके उतना हड़प लें, मीर जाफ़र को सोने की एक बोरी के रूप में इस्तेमाल करें और जब भी इच्छा हो उसमें अपने हाथ डालें।" खुद कम्पनी पर लालच का भयंकर भूत सवार
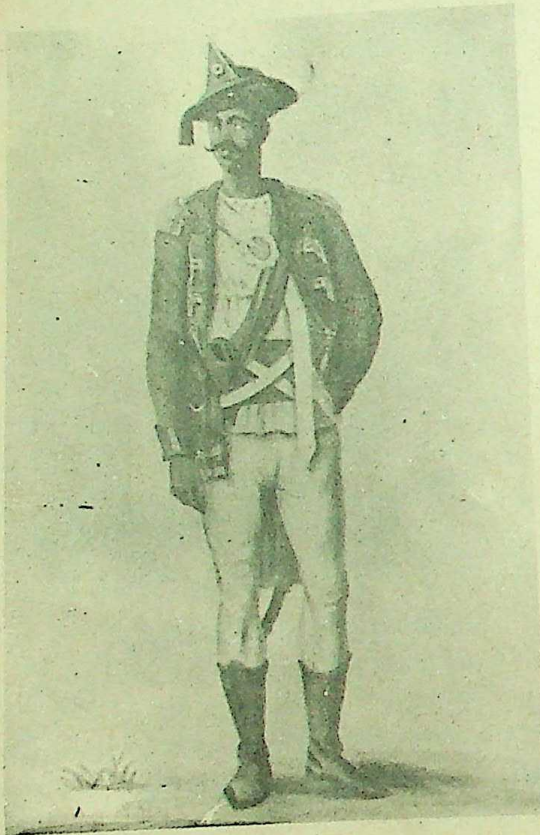
ईस्ट इंडिया कम्पनी की बंगाल सरकार की सेना का एक सिपाही

भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

था। इस धारणा के आधार पर कि कामधेनु मिल गयी है और बंगाल की संपदा अक्षय है कम्पनी के निदेशकों ने आदेश दिया कि बंगाल को बम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसियों का खर्च उठाना चाहिए और उसकी आमदनी से कम्पनी के भारतीय निर्यातित मालों को खरीदना चाहिए। कम्पनी को भारत से केवल व्यापार ही नहीं करना था बल्कि उसे बंगाल के नवाब के ऊपर स्थापित अपने नियंत्रण का इस्तेमाल प्रान्त की सम्पदा को हथिया लेने के लिए करना था।

मीर जाफर ने तुरन्त ही समझ लिया कि कम्पनी और उसके अधिकारियों की सब माँगों को पूरा करना असंभव है। कम्पनी और उसके अधिकारियों ने अपनी उम्मीदों को पूरा करने में असमर्थता के लिए नवाब की आलोचना आरम्भ कर दी थी। इसलिए अक्तूबर 1760 में उन्होंने उसे अपने दामाद मीर क़ासिम के लिए गद्दी छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। मीर क़ासिम ने अपने ऊपर उपकार करने वालों को पुरस्कार दिए। उसने कम्पनी को बर्दवान, मेदिनीपुर (मिदनापुर), और चटगाँव ज़िलों की ज़मींदारी तथा उच्च अंग्रेज़ अधिकारियों को कुल मिलाकर 29 लाख रुपए के शानदार उपहार दिए।

मगर मीर क़ासिम ने अंग्रेज़ों की उम्मीदों पर पानी फेर दिया और वह जल्द ही बंगाल में उनके अस्तित्व तथा योजनाओं के लिए खतरा बन गया। वह एक योग्य, कुशल, और शक्तिशाली शासक था। वह अपने को विदेशी नियंत्रण से मुक्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था। उसका ख्याल था कि चूँकि गद्दी पर बिठाने के लिए कम्पनी और उसके कर्मचारियों को पर्याप्त धन दिया गया है इसलिए उन्हें उसे बंगाल पर शासन करने के लिए अकेला छोड़ देना चाहिए। उसने महसूस किया कि अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए एक भरा पूरा खजाना और एक कुशल सेना आवश्यक है। इसलिए उसने सार्वजनिक अव्यवस्था रोकने की कोशिश की और राजस्व प्रशासन से भ्रष्टाचार हटाकर अपनी आमदनी बढ़ाने का प्रयत्न किया। इसके अलावा उसने योरोपीय ढंग की आधुनिक और अनुशासित फ़ौज तैयार करने की कोशिश की। यह सब अंग्रेज़ों को पसंद नहीं आया। सबसे अधिक उन्हें 1717 के फ़रमान का कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा दुरुपयोग रोकने के नवाब के प्रयत्न बहुत नापसंद थे। कम्पनी के कर्मचारी चाहते थे कि उनके माल, निर्यात किए जाने के लिए हों या आन्तरिक इस्तेमाल के लिए, चुंगियों से मुक्त रहें। इससे भारतीय सौदागरों को हानि पहुँचती थी क्योंकि उन्हें तो ऊँचे टैक्स देने पड़ते थे जबकि विदेशियों को उनसे पूरी छूट थी। इसके अलावा, कम्पनी के कर्मचारियों ने दस्तक (निःशुल्क पास) अपने दोस्त भारतीय व्यापारियों को बेचे जिससे वे सीमा शुल्कों की अदायगी से अपने को बचा सकें। इन

दुरुपयोगों ने ग़लत प्रतिद्वन्द्विता के ज़रिए ईमानदार भारतीय व्यापारियों को वर्बाद कर दिया तथा नवाबों को राजस्व के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत से वंचित होना पड़ा। इसके अलावा, कम्पनी और उसके कर्मचारी 'अपनी नव प्राप्त सत्ता' और 'संपदा की चकाचौंध करने वाली संभावनाओं के नशे में चूर थे और धन प्राप्ति के लिए उन्होंने नवाब के अफ़सरों तथा बंगाल की गरीब जनता पर जुल्म ढाना और उनसे दुर्व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने भारतीय अधिकारियों और ज़मींदारों को भेंट और घूस देने के लिए मजबूर कर दिया। उन्होंने भारतीय दस्तकारों, किसानों और सौदागरों को मजबूर किया कि वे अपने माल उन्हें सस्ता बेचें और उनसे मँहगा ख़रीदें। जिन्होंने ऐसा करने से इन्कार किया उन्हें बहुधा कोड़े लगाए जाते या जेल में डाल दिया जाता। इन वर्षों को हाल के एक ब्रिटिश इतिहासकार पर्सिवल स्पीयर ने "खुली और बेशर्म लूट का काल" बतलाया है। वस्तुतः जिस समृद्धि के लिए बंगाल प्रसिद्ध था उसे धीरे-धीरे नष्ट किया जा रहा था।

मीर क़ासिम को अहसास हुआ कि जब तक ये बुराइयाँ चलती रहेंगी तब तक वह न तो बंगाल को शक्तिशाली बना पाएगा और न ही अपने को कम्पनी के नियंत्रण से मुक्त कर पाएगा। इसलिए उसने आन्तरिक व्यापार के ऊपर से सभी शुल्कों को हटा देने का कठोर कदम उठाया जिससे उसकी प्रजा को भी वही रियायत मिली जो अंग्रेज़ों ने बलपूर्वक हथिया ली थी। मगर विदेशी सौदागर अपने और हिन्दुस्तानी सौदागरों के बीच समानता को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने भारतीय व्यापारियों पर फिर से शुल्क लगाने की माँग की। मुक़ाबला होने ही वाला था। असलियत यह थी कि बंगाल में दो स्वामी नहीं रह सकते थे। मीर क़ासिम का ख्याल था कि वह एक स्वतन्त्र शासक है मगर अंग्रेज़ों ने माँग की कि वह उनके हाथों में कठपुतली मात्र रहे क्योंकि उन्होंने उसे सत्तारूढ़ किया है।

मीर क़ासिम को 1763 में कई लड़ाइयों में हरा दिया गया। वह भाग कर अवध चला गया जहाँ उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला और भगोड़े मुग़ल बादशाह शाह आलम द्वितीय के साथ गठबन्धन किया। बक्सर में 22 अक्तूबर 1764 को तीन दोस्तों का कम्पनी की फ़ौजों से टकराव हुआ। उनकी बड़ी बुरी तरह हार हुई। वह भारतीय इतिहास की अत्यन्त निर्णायक लड़ाइयों में से थी जिसने दो प्रमुख भारतीय शक्तियों की संयुक्त सेना के ऊपर अंग्रेज़ी हथियारों की श्रेष्ठता को स्पष्ट रूप से दिखला दिया। उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के स्वामी के रूप में अंग्रेज़ों को प्रतिष्ठित कर दिया और अवध उनकी दया पर निर्भर हो गया।

क्लाईव 1765 में गवर्नर के रूप में बंगाल वापस आ गया था। उसने तय किया कि बंगाल की सत्ता प्राप्त करने का मौका हथियाना चाहिए तथा धीरे-धीरे नवाब से कम्पनी को सरकार के अधिकार हस्तान्तरित किए जाने चाहिए। अंग्रेज़ों ने 1763 में मीर जाफर को फिर नवाब बना दिया और उससे कम्पनी तथा उसके उच्च अधिकारियों के लिए भारी रकमें वसूल की गयीं। मीर जाफर की मौत के बाद उन्होंने उसके दूसरे बेटे निज़ाम-उद्-दौला को गद्दी पर बिठाया और पुरस्कार स्वरूप उसे 20 फरवरी 1765 को एक नयी संधि पर दस्तखत करने के लिए मजबूर किया। इस संधि के अनुसार नवाब को अपनी अधिकांश सेना विघटित कर देनी थी और बंगाल का शासन एक नायब सूबेदार के ज़रिए करना था जिसे कंपनी नामज़द करती और उसे कम्पनी की मंज़ूरी के बिना बर्खास्त नहीं किया जाता। इस प्रकार कम्पनी ने बंगाल के निज़ामत (प्रशासन) के ऊपर सर्वोच्च नियन्त्रण क़ायम कर लिया। कम्पनी की बंगाल काउन्सिल के सदस्यों ने फिर एक बार नए नवाब से लगभग 15 लाख रुपये ऐंठ लिए।

शाह आलम द्वितीय से, जो उस समय तक मुग़ल साम्राज्य का नाम मात्र प्रधान था, कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी या राजस्व वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इस तरह बंगाल पर उस के अधिकार को कानूनी बना दिया गया और भारत के सबसे समृद्ध प्रान्त के राजस्व उसके हाथों में सौंप दिए गए। बदले में कम्पनी ने बादशाह को 26 लाख रुपये देने का वचन दिया। इसके अलावा उसे कड़ा और इलाहाबाद जिले दिए गए। बादशाह इलाहाबाद के क़िले में छः सालों तक वस्तुतः अंग्रेज़ों के क़ैदी के रूप में रहा।

अवध के नवाब शुजा-उद्-दौला को मजबूर किया गया कि वह कम्पनी को लड़ाई के कारण हुए नुकसान के

लिए हर्जाने के तौर पर 50 लाख रुपए दे। इसके अलावा कम्पनी और नवाब ने एक संधि पर दस्तखत किए जिसके अनुसार कम्पनी ने बाहरी आक्रमण होने पर नवाब को सहायता देने का वचन दिया मगर शर्त यह थी कि नवाब कम्पनी के सैनिकों की सेवाओं के लिए भुगतान करे। इस संधि ने नवाब को कम्पनी का आश्रित बना दिया। नवाब ने संधि का इस ग़लत धारणा के कारण स्वागत किया कि मूलतः व्यापारिक संस्था होने के कारण वह एक अल्पकालिक शक्ति है और मराठे तथा अफ़गान ही उसके असली दुश्मन हैं। अवध और शेष भारत के लिए यह गलती बहुत मंहगी पड़ी। दूसरी ओर, अंग्रेज़ों ने बंगाल में प्राप्त अधिकारों को सुदृढ़ बनाने और इस बीच अवध को अपने इलाकों और मराठों के बीच प्रतिरोधक राज्य के रूप में इस्तेमाल करने का बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिया।

बंगाल में द्वयात्मक शासन प्रणाली

ईस्ट इंडिया कम्पनी 1765 से बंगाल का असली मालिक बन गयी। उसकी फ़ौज का बंगाल की प्रतिरक्षा पर पूर्ण नियंत्रण था तथा सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता उसके हाथों में थी। नवाब अपनी अन्दरुनी और बाहरी सुरक्षा के लिए अंग्रेज़ों पर निर्भर था। दीवान के रूप में कंपनी बंगाल के राजस्व को सीधे वसूल करती थी और नायब सूबेदार को नामज़द करने के अधिकार के ज़रिए उसका निज़ामत या पुलिस और न्यायिक शक्तियों पर नियन्त्रण था। ब्रिटिश नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार की दोनों शाखाओं की वास्तविक एकता को यह तथ्य इंगित करता था कि वही व्यक्ति जो कम्पनी की ओर से नायब दीवान के रूप में काम करता था नवाब की ओर से नायब सूबेदार का काम संभालता था। यह व्यवस्था इतिहास में द्वयात्मक या दोहरी सरकार के नाम से जानी जाती है। इससे अंग्रेज़ों को बड़ा फ़ायदा था : उन्हें जिम्मेदारी के बिना सत्ता प्राप्त थी। प्रान्त के वित्त और फौज पर उन का सीधा तथा प्रशासन पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण था। नवाब और उसके अफ़सरों पर प्रशासन की ज़िम्मेदारी थी मगर उसको पूरा करने के लिए उनके पास ज़रूरी शक्ति नहीं थी। सरकार की कमज़ोरियों के लिए दोष हिन्दुस्तानियों के मत्थे मढ़ा जाता था जबकि उससे फ़ायदे अंग्रेज उठाते थे। बंगाल की जनता के लिए इसके परिणाम विध्वंसकारी हुए। न तो कम्पनी ने और न ही नवाब ने उनकी भलाई की चिन्ता की। किसी भी तरह नवाब के अफ़सरों को इतनी शक्ति नहीं थी कि वे जनता को कम्पनी और उसके कर्मचारियों की लूट-खसोट और लालच से बचा सकें। दूसरी ओर वे खुद ही अपने सरकारी अधिकारियों से फ़ायदा उठाने के लिए जल्दबाज़ी में थे।

उस समय सारा बंगाल कम्पनी के कर्मचारियों के सामने पड़ा था। जनता के ऊपर उनका अत्याचार बहुत बढ़ गया। हम खुद क्लाईव के कथन को उद्धृत कर सकते हैं :

> "मैं केवल यही कहूँगा कि अराजकता, अस्तव्यस्तता, घूसखोरी भ्रष्टाचार और लूट-खसोट का ऐसा दृश्य बंगाल के सिवा किसी अन्य देश में कभी देखा या सुना नहीं गया : न ही इस प्रकार की और इतनी बड़ी धनराशि इतने अन्यायपूर्ण और लूट खसोट के तरीके से कभी प्राप्त की गयी। जब से मीर जाफ़र को फिर से सूबेदारी दी गयी है तब से तीनों प्रान्त—बंगाल, बिहार और उड़ीसा—जिनसे ३० लाख पौंड का निवल राजस्व प्राप्त होता है; कम्पनी के कर्मचारियों के पूर्ण प्रबन्ध में है, और उन्होंने—गैर-सैनिक और सैनिक दोनों प्रकार के कर्मचारियों ने—हर प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, नवाब से लेकर सबसे छोटे जमींदार तक से पैसे ऐंठे हैं।"

कम्पनी के अधिकारियों ने भी ज़ोरदार ढंग से धन जमा करना तथा बंगाल से उस की संपदा को चूस लेना आरम्भ कर दिया। उन्होंने भारतीय माल को खरीदने के लिए ब्रिटेन से मुद्राराशि भेजनी बन्द कर दी। वे इस माल को बंगाल के राजस्व से ख़रीदने तथा बाहर ले जा कर बेचने लगे। इनको कम्पनी का निवेश (इन्वेस्टमेंट) कहा जाता था और वे उसके मुनाफ़े में शामिल किए जाते थे। इन सबके साथ-साथ ब्रिटिश सरकार ने इस जोरदार लूट में अपना हिस्सा माँगा और 1767 में उसने कम्पनी को हुक्म दिया कि वह उसे 4,00,000 पौंड हर साल दे।

केवल 1766, 1767 और 1768 में ही 57 लाख पौंड की रकम बंगाल से ले जायी गयी। द्वयात्मक सरकार की बुराइयों और संपदा के अपक्षय ने उस अभागे प्रान्त को दरिद्र बना दिया। 1770 में बंगाल में अकाल पड़ा। जो अपने परिणामों के लिहाज़ से मानव इतिहास में ज्ञात सबसे भयंकर अकालों में से था। इस अकाल में लाखों आदमी मर गए। बंगाल की लगभग एक तिहाई जनसंख्या

उसके विनाश का शिकार हो गयी। यद्यपि अकाल वारिश न होने के कारण पड़ा तथापि उसके परिणामों को कम्पनी की नीतियों ने भयंकर बना दिया।

वारेन हैस्टिंग (1772-1785) और कार्नवालिस (1786-1793) के अधीन बंगाल

ईस्ट इंडिया कम्पनी 1772 तक एक महत्त्वपूर्ण भारतीय शक्ति बन गयी थी। इंगलैंड स्थित उसके निदेशकों तथा भारत स्थित उसके अधिकारियों ने जीतों का नया सिलसिला शुरू करने के पहले बंगाल के ऊपर अपना

नाना फड़नवीस (जगमोहन मंदिर, मैसूर में रखे एक चित्र से)
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

नियन्त्रण सुदृढ़ करना आरम्भ किया। मगर भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की आदत और भूभाग तथा पैसे के प्रति लोभ ने उन्हें जल्द ही अनेक युद्धों में फँसा दिया।

निज़ाम हैदराबाद ने उत्तरी सरकार अंग्रेज़ों को दे दी जिसके बदले में उन्होंने उससे मैसूर के हैदरअली के खिलाफ आक्रमण में उसका साथ देने के लिए गठबंधन किया। मगर हैदर अली की ताकत कम्पनी की सैन्य शक्ति से अधिक थी। ब्रिटिश हमले का सफलता पूर्वक मुक़ाबला करने के बाद उसने 1769 में मद्रास पर हमला करने की धमकी दी। इस प्रकार उसने कम्पनी को अपनी शर्तों पर शांति-सन्धि करने के लिए मजबूर कर दिया। दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के जीते गए इलाक़ों को वापस कर दिया और तीसरे पक्ष के द्वारा हमला होने की स्थिति में एक दूसरे को सहायता देने का वचन दिया। मगर जब मराठों ने 1771 में हैदर अली पर आक्रमण किया तब अंग्रेज़ों ने अपना वचन पूरा नहीं किया और उसकी सहायता के लिए नहीं आए। इस कारण हैदर अली उन पर अविश्वास करने तथा उन्हें नापसंद करने लगा।

इसके बाद 1775 में अंग्रेज़ मराठों से टकराए। उस समय मराठों के बीच सत्ता के लिए तीव्र संघर्ष चल रहा था। एक ओर शिशु पेशवा माधव राव द्वितीय के समर्थक थे जिनका नेतृत्त्व नाना फड़नवीस कर रहा था और दूसरी ओर रघुनाथ राव के पक्षधर थे। बम्बई स्थित ब्रिटिश अधिकारियों ने इस संघर्ष से फ़ायदा उठाने के लिए रघुनाथ राव की ओर से हस्तक्षेप करने का फ़ैसला किया। इस प्रकार उन्होंने मद्रास और बंगाल में उनके देशवासियों ने जिन कारनामों को दिखाया था उन्हीं को दुहराने तथा परिणामस्वरूप मौद्रिक फ़ायदे प्राप्त करने की आशा की। इससे वे मराठों के साथ एक लम्बी लड़ाई में फँस गए जो 1775 से 1782 तक चली।

आरम्भ में मराठों ने ब्रिटिश फ़ौज को टाले गाँव में हरा दिया तथा उन्हें वाड्गाँव के समझौते पर दस्तखत करने के लिए मजबूर किया जिसके अनुसार अंग्रेज़ों ने सारे जीते गए इलाकों के साथ ही रघुनाथ राव का पक्ष लेना छोड़ दिया। मगर लड़ाई तुरन्त ही फिर आरम्भ हो गयी।

सचमुच भारत में ब्रिटिश सत्ता के लिए यह अंधकारमय घड़ी थी। सारे मराठा सरदार पेशवा और उसके मुख्य मंत्री के नेतृत्त्व में एकजुट थे। दक्षिण भारतीय शक्तियाँ बहुत दिनों से अपने बीच अंग्रेज़ों की उपस्थिति से नाराज़ थीं। हैदर अली और निज़ाम ने इस मौके को

अंग्रेज़ों के खिलाफ़ लड़ाई की घोषणा करने के लिए उपयुक्त माना। इस प्रकार अंग्रेज़ों का मराठों, मैसूर और हैदराबाद के शक्तिशाली मोर्चे से सामना था। इसके अलावा भारत से बाहर अपने अमरीकी उपनिवेशों में वे लड़ाई हार रहे थे, जहाँ 1776 में जनता ने विद्रोह कर दिया था। उन्हें फ्रांसीसियों के पक्के इरादे का भी प्रतिरोध करना था। फ्रांसीसी अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी की कठिनाइयों से लाभ उठाना चाहते थे।

मगर उस समय भारत में अंग्रेज़ों का नेतृत्व उनका प्रतापी, कर्मठ और अनुभवी गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स कर रहा था। दृढ़ निश्चय और पक्के इरादे से कार्रवाई कर उसने लुप्त होती ब्रिटिश सत्ता और प्रतिष्ठा को बचा लिया। गोडार्ड के नेतृत्व में एक ब्रिटिश फ़ौज अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण दाँवपेच के सहारे मध्य भारत के पार गयी और अनेक सफल मुक़ाबलों के बाद अहमदाबाद पहुँची जिस पर उसने 1780 में कब्ज़ा कर लिया। अंग्रेज़ों ने पाया कि मराठे एक दृढ़ निश्चय वाले शत्रु हैं जिनके पास अपार संसाधन हैं। महादजी सिंधिया की शक्ति का प्रमाण मिल गया था जिसको चुनौती देते हुए अंग्रेज़ों को डर लगता था। कोई भी पक्ष जीत हासिल नहीं कर सका और लड़ाई रुक गयी। महादजी की मध्यस्थता से 1782 में सालवाई की संधि द्वारा शान्ति स्थापित की गयी और यथापूर्व स्थिति क़ायम कर दी गयी। इस संधि ने अंग्रेज़ों को भारतीय शक्तियों के संयुक्त विरोध से बचा लिया।

यह लड़ाई इतिहास में प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध के नाम से विदित है। इसमें कोई भी पक्ष नहीं जीत सका। मगर इसने अंग्रेज़ों तथा उनके उस समय के सबसे शक्तिशाली भारतीय शक्ति मराठों के बीच 20 वर्षों तक शांति बनाए रखी। इस अवधि का इस्तेमाल कर अंग्रेज़ों ने बंगाल प्रेसिडेंसी में अपना शासन मज़बूत किया जब कि मराठों ने अपनी शक्ति का घोर पारस्परिक कलह में अपव्यय किया। यही नहीं, अंग्रेज़ों ने सालबाई की संधि का सहारा लेकर मैसूर पर दबाव डाला। क्योंकि मराठों ने उन्हें हैदर अली से अपने इलाके वापस लेने में सहायता देने का वचन दिया था। एक बार फिर भारतीय शक्तियों में फूट डालने में अंग्रेज़ सफल हो गए।

हैदर अली के साथ लड़ाई 1780 में आरम्भ हुई थी। पहले की अपनी उपलब्धियों को दुहराते हुए कर्नाटक में हैदर अली ने ब्रिटिश फ़ौजों को लगातार कई बार हराया और उन्हें बड़ी संख्या में आत्म समर्पण करने के लिए मजबूर किया। उसने जल्द ही लगभग सारे कर्नाटक पर क़ब्ज़ा कर लिया। मगर एक बार फिर ब्रिटिश हथियारों और कूटनीति ने पांसा पलट दिया। वारेन हैस्टिंग्स ने निज़ाम को घूस में गुनटूर ज़िला देकर ब्रिटिश विरोधी गठजोड़ से अलग करवा दिया। उसने 1781-82 में मराठों के साथ शान्ति क़ायम कर ली और इस प्रकार मैसुर के खिलाफ़ इस्तेमाल के लिए अपनी फ़ौज के एक बड़े भाग को मुक्त कर लिया। जुलाई 1781 में आयर कूट के सेनापतित्व में ब्रिटिश फ़ौज ने हैदर अली को पोर्टो नोबो में हरा दिया और मद्रास को बचा लिया। दिसम्बर 1782 में हैदर अली की मृत्यु के बाद उसके बेटे टीपू सुलतान ने लड़ाई जारी रखी। चूँकि कोई भी पक्ष दूसरे को हराने में समर्थ नहीं था इसलिए मार्च 1784 में शान्ति समझौते पर दस्तखत हुए और दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते गए इलाक़े वापस कर दिए। इस प्रकार यद्यपि यह साफ़ हो गया कि मराठों या मैसूर को हराने में अंग्रेज़ असमर्थ हैं तथापि उन्होंने भारत में डटे रहने की अपनी क्षमता को निश्चित रूप से दिखला दिया था। वे न केवल दक्षिण भारत में अपने अस्तित्व को समाप्त होने से बचा सके बल्कि वे ताजा लड़ाइयों में अपने को भारत की तीन महान् शक्तियों में शामिल कर सके।

ब्रिटिश दृष्टिकोण से मैसूर के साथ अंग्रेज़ों का तीसरा मुक़ाबला अधिक लाभदायक रहा। 1788 की सुलह ने टीपू और अंग्रेज़ों के बीच संघर्ष के कारणों को नहीं खत्म किया था, उसने उन्हें केवल स्थगित कर दिया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी टीपू के घोर विरोधी थे। वे उसे दक्षिण भारत में अपना विकट प्रतिद्वन्द्वी समझते थे। उन का ख्याल था कि दक्षिण भारत पर पूर्ण आधिपत्य क़ायम करने में टीपू ही मुख्य रुकावट है। जहाँ तक टीपू का सवाल था, वह अंग्रेज को बिल्कुल नापसंद करता था। वह उन्हें अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रमुख ख़तरा समझता था और उसने उन्हें भारत से निकाल बाहर करने का पक्का इरादा कर लिया था।

दोनों के बीच लड़ाई फिर 1789 में आरम्भ हुई और 1792 में टीपू की हार होने पर खत्म हुई। यद्यपि टीपू

अनुकरणीय वीरता के साथ लड़ा तथापि तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण कूटनीति के ज़रिए मराठों, निज़ाम और त्रावणकोर तथा कुर्ग के शासकों को अपने पक्ष में करने में सफल रहा। इस लड़ाई ने एक बार फिर दिखला दिया कि भारतीय शक्तियाँ इतनी संकुचित दृष्टिकोण वाली हैं कि अस्थायी फ़ायदों के लिए एक भारतीय शक्ति के विरुद्ध विदेशी ताक़त को मदद देती है। श्री रंगपत्तम की संधि के अनुसार टीपू ने अपने आधे इलाक़े अंग्रेज़ों के मित्र राज्यों को दे दिए। साथ ही युद्ध से हुई हानि के लिए मुआवज़े के रूप में 3 करोड़ 30 लाख रुपए दिए। तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध ने दक्षिण भारत में टीपू की प्रमुखता ख़त्म कर दी और ब्रिटिश प्रभुत्व को दृढ़ता पूर्वक क़ायम कर दिया।

वेल्सली के शासनकाल (1798-1805) के दौरान राज्य विस्तार

भारत में ब्रिटिश शासन का बड़े पैमाने पर अगला विस्तार लार्ड वेल्सली के शासनकाल के दौरान हुआ। वह 1798 में गवर्नर-जनरल बन कर भारत आया। उस समय अंग्रेज़ सारी दुनिया में फ्रांस के साथ अपने अस्तित्त्व के लिए संघर्ष में जुटे हुए थे।

उस समय अंग्रेज़ों की नीति भारत में प्राप्त अपनी उपलब्धियों तथा संसाधनों को सुदृढ़ करने की थी। वे भूभाग प्राप्त करने की ओर तभी अग्रसर होते थे जब यह कार्य निरापद हो और प्रमुख भारतीय शक्तियों के नाराज़ होने का ख़तरा न हो। लार्ड वेल्सली इस निर्णय पर पहुँचा कि यथासंभव भारतीय राज्यों को ब्रिटिश नियंत्रण में लाने का उपयुक्त समय आ गया है। 1797 तक दो सबसे शक्तिशाली भारतीय ताक़तों, मैसूर और मराठों की सत्ता कमज़ोर हो गयी थी। तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के कारण मैसूर अपनी महानता की परछाइं मात्र रह गया था और मराठे अपनी शक्ति परस्पर षड्यंत्रों और लड़ाइयों में बर्बाद कर रहे थे। दूसरे शब्दों में, विस्तार की नीति के लिए भारत में अनुकूल राजनीतिक स्थितियाँ थीं: आक्रमण आसान होने के साथ-साथ लाभदायक भी था। इसके अलावा, ब्रिटेन के व्यापारिक और औद्योगिक वर्ग भारत में अधिकार क्षेत्र के विस्तार के पक्ष में थे। अब तक वे, इस धारणा से कि युद्ध व्यापार के लिए नुकसानदेह है, शान्ति के समर्थक थे। मगर अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक वे यह सोचने लगे थे कि जब सारा देश ब्रिटिश नियंत्रण में आ जाएगा केवल तभी ब्रिटिश माल भारत में बड़े पैमाने पर बिकेगा। कम्पनी भी इसी प्रकार की नीति के पक्ष में थी बशर्ते कि उसे सफलतापूर्वक और मुनाफ़ों पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले व्यवहार में लाया जाए। अन्त में, भारत स्थित अंग्रेज़ इस बात पर अटल थे कि फ्रांसीसी प्रभाव को भारत में घुसने नहीं दिया जाए और इसलिए कोई भी भारतीय राज्य जो फ्रांस के साथ संबंध रखने की कोशिश करे उसे दबा और कुचल दिया जाए। भारत में कम्पनी के उपनिवेश की सुरक्षा को काबुल के शासक ज़मान शाह के सम्भावित आक्रमण से ख़तरा उत्पन्न हो गया था। ज़मान शाह उत्तरी भारत के भारतीय सरदारों से समर्थन की आशा कर सकता था। इस देश से अंग्रेज़ों को निकाल बाहर करने के संयुक्त प्रयास में भाग लेने के लिए टीपू ने ज़मान शाह को आमंत्रित किया था।

अपने इन राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वेल्सली ने तीन तरीक़ों का सहारा लिया: सहायक संधियों की व्यवस्था, पूरी तरह लड़ाई, और पहले अधीन लाए गए शासकों के भूभागों को हथियाना यद्यपि किसी भारतीय शासक को भुगतान प्राप्त कर ब्रिटिश फ़ौज की सहायता देने की प्रथा काफ़ी पुरानी थी तथापि वेल्सली ने इसे एक निश्चित रूप दिया उसने इस प्रथा का इस्तेमाल भारतीय राज्यों को कम्पनी की सर्वोच्च सत्ता के अधीन लाने के लिए किया। उसकी सहायक संधि व्यवस्था के अन्तंगत संधि करने वाले भारतीय राज्य के शासक को अपने राज्य में स्थायी तौर पर ब्रिटिश फ़ौज रखने तथा उसके रख-रखाव के लिए परिदान देने के लिए मजबूर किया जाता था। कहने को यह सब कुछ भारतीय शासक की सुरक्षा के लिए था मगर, वस्तुतः यह उससे कम्पनी के लिए नज़राना वसूल करने का एक तरीका था। कभी-कभी शासक वार्षिक परिदान का भुगतान करने के बदले अपना कुछ भूभाग कम्पनी को दे देते थे। आमतौर से सहायक संधि में यह व्यवस्था होती थी कि भारतीय शासक अपने दरबार में ब्रिटिश रेज़िडेंट की नियुक्ति के लिए तैयार हो तथा कम्पनी की स्वीकृति के बिना किसी भी यूरोपवासी को अपनी सेवा में नियुक्त न करे। इसके अलावा गवर्नर-जनरल की सलाह लिए बिना वह किसी अन्य भारतीय शासक से बातचीत न करे। बदले में अंग्रेज़ों ने उस शासक को उसके दुश्मनों

से रक्षा करने का वचन दिया। उन्होंने संधि करने वाले राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया, मगर इसका निर्वाह शायद ही किया गया।

वास्तव में, सहायक संधि पर हस्ताक्षर करने वाले हर भारतीय राज्य ने अपनी स्वतंत्रता को अंग्रेज़ों के पास गिरवी रख दिया। उसने आत्मरक्षा, राजनीतिक संबंध क़ायम करने, विदेशी विशेषज्ञों को अपनी सेवा में नियुक्त करने, तथा अपने पड़ोसियों के साथ अपने झगड़ों को निपटाने के अधिकार खो दिए। वस्तुतः बाहरी मामलों से सहायक सधि करने वाला भारतीय शासक सार्वभौमिकता के सभी अवशेषों को खो बैठा और उत्तरोत्तर ब्रिटिश रेज़िडेंट का आज्ञाकारी बन गया। ब्रिटिश रेजिडेंट राज्य के दिन-प्रति-दिन के प्रशासन में हस्तक्षेप करने लगा। इसके अलावा, सहायक संधि व्यवस्था की प्रवृत्ति संरक्षित राज्य की अवनति करने की थी। अंग्रेज़ों द्वारा दी गयी सहायक फ़ौज का खर्च काफी ऊँचा था और, वास्तव में, राज्य के भुगतान करने की क्षमता से अधिक था। मनमाने ढंग से निर्धारित और कृत्रिम रूप से बढ़ाचढ़ा कर रखी गयी परिदान की रकम ने राज्य अर्थ व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया और उसकी जनता को दरिद्र बना दिया। सहायक संधियों की व्यवस्था के परिणाम स्वरूप संरक्षित राज्यों की सेनाएँ विघटित कर दी गयीं। लाखों सैनिकों और अफ़सरों से जीवनयापन का पैतृक ज़रिया छिन गया और देश में दरिद्रता और अवनति आ गयी। उनमें से अनेक देश में फिर रहे पिंडारियों के दल में शामिल हो गए। पिंडारियों ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों
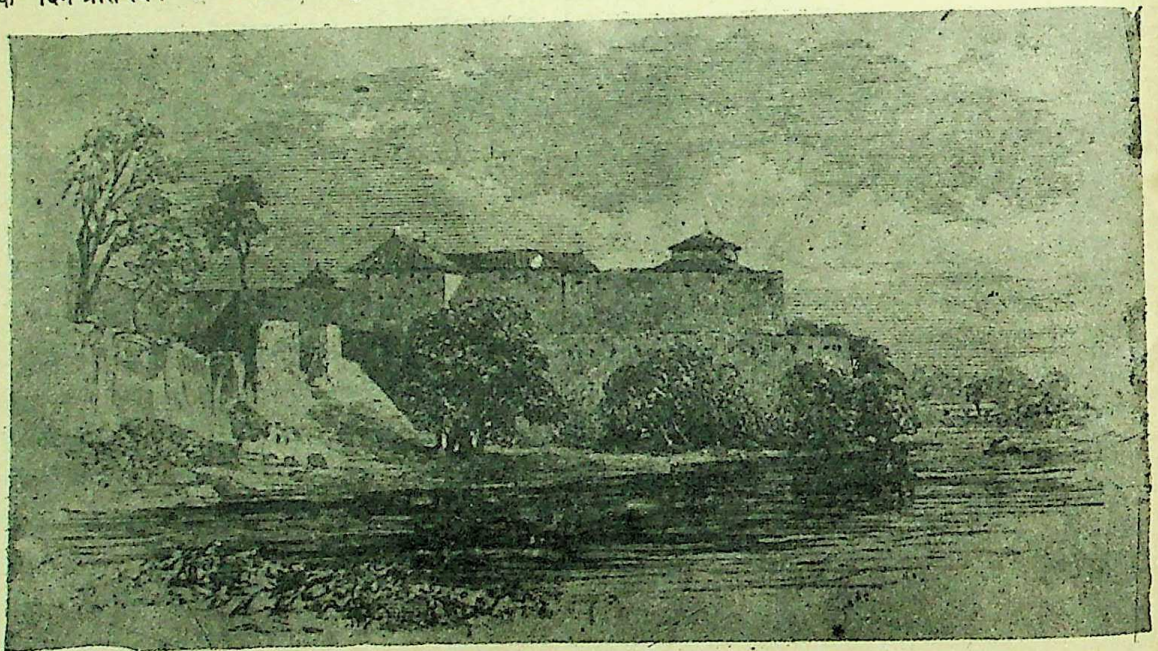
वाराणसी के पड़ोस में पिंडारी किला
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

के दौरान सारे भारत में लूट पाट किया। इसके अलावा, संरक्षित राज्यों के शासकों ने अपनी जनता के हितों की उपेक्षा की और उस पर जुल्म ढाए क्योंकि उन्हें उसका कोई डर नहीं रह गया था। चूंकि अंग्रेज़ घरेलू और बाहरी शत्रुओं से उनकी पूरी तरह रक्षा करते थे इसलिए अच्छे शासक बनने के लिए उन्हें कोई प्रेरणा नहीं थी।

दूसरी ओर, सहायक संधि की व्यवस्था अंग्रेज़ों के लिए अत्यन्त फ़ायदेमंद साबित हुई। अब वे भारतीय राज्यों के खर्च से एक बड़ी फ़ौज रख सकते थे। वे अपने इलाक़ों से बाहर लड़ाइयाँ लड़ने के अधिकारी हो गए थे क्योंकि कोई भी लड़ाई या तो उनके मित्रों या उनके दुश्मनों के इलाक़ों में ही होती। वे अपने संरक्षित मित्र

की रक्षा और विदेशी संबंधों पर नियंत्रण रखते थे और उसके राज्य के अन्दर शक्तिशाली फ़ौज रखते थे, और इसलिए वे जब भी चाहते उसे गद्दी से उतार सकते थे। उसे 'अकुशल' घोषित कर उसके इलाकों को हथिया सकते थे। जहाँ तक अंग्रेज़ों का संबंध था, सहायक संधियों की व्यवस्था एक ब्रिटिश लेखक के शब्दों में, "एक ऐसी व्यवस्था है जिसके ज़रिए हम अपने दोस्तों को उसी तरह मोटा तगड़ा बनाते हैं जैसे बैलों को तब तक बनाते हैं जब तक वे निगल जाने लायक न हो जाएँ।"

लार्ड वेल्सली ने पहली सहायक संधि हैदराबाद के निज़ाम के साथ 1798 में की। संधि के अनुसार निज़ाम को अपनी फ्रांसीसी प्रशिक्षत सैनिकों को बर्खास्त करना था और एक छः बटालियनों वाली सहायक फ़ौज 2,41,710 पौंड प्रति वर्ष की लागत से रखना था। बदले में, अंग्रेज़ों ने उसके राज्य को मराठों के अतिक्रमण से बचाने की गारंटी दी। एक अन्य संधि पर 1800 में दस्तखत हुए जिसके अनुसार सहायक सेना को बढ़ा दिया गया और निज़ाम ने नक़द भुगतान के बदले अपने राज्य का एक भाग कम्पनी को दे दिया।

अवध के नवाब को 1801 में सहायक संधि पर दस्तख़त करने के लिए मजबूर किया गया। अपेक्षाकृत एक बड़ी सहायक सेना के लिए नवाब को रुहेलखंड और गंगा तथा यमुना के बीच के इलाक़े समेत अपना आधा राज्य देने के लिए विवश किया गया। इतना ही नहीं, अवध का जो हिस्सा नवाब के पास रह गया था उसमें भी उसे अब स्वतंत्र नहीं बने रहने दिया। अपने राज्य के आन्तरिक प्रशासन के संबंध में ब्रिटिश अधिकारियों से 'सलाह' या आदेश लेना आवश्यक हो गया था। उसकी पुलिस का पुनर्गठन अंग्रेज अफ़सरों के नियंत्रण और निर्देशन में करना था। उसकी अपनी सेना को वस्तुतः विघटित कर दिया गया और अंग्रेज़ों को अधिकार था कि वह अपने सैनिक राज्य के किसी भी भाग में रखे।

वेल्सली मैसूर, कर्नाटक, तंजोर और सूरत के साथ और भी कड़ाई के साथ पेश आया। बेशक मैसूर का टीपू सहायक संधि करने के लिए कभी तैयार नहीं होता। इसके अतिरिक्त वह 1792 में अपने आधे इलाक़े के अपने हाथों से निकल जाने की बात से कभी संतुष्ट नहीं रहा। अंग्रेज़ों के साथ अवश्यम्भावी संघर्ष को ध्यान में रखकर उसने अपनी सेनाओं को सुदृढ़ करने के लिए अनवरत प्रयास किया। क्रान्तिकारी फ्रांस के साथ मैत्री के लिए बातचीत आरम्भ की। एक ब्रिटिश विरोधी गठजोड़ के लिए उसने अफ़ग़ानिस्तान, अरब और तुर्की में राजदूत भेजे।

मगर वेल्सली भी टीपू का पीछा करने तथा भारत में फ्रांसीसियों के फिर घुसने की किसी भी सम्भावना को रोकने के लिए कोई कम दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं था। ब्रिटिश फ़ौज ने 1799 में आक्रमण किया और एक संक्षिप्त मगर भयंकर लड़ाई में फ्रांसीसी सहायता पहुँचने के पहले ही टीपू को हरा दिया। तब भी टीपू ने अपमानजनक शर्तों पर शान्ति की भीख मांगने से इन्कार कर दिया। उसने गर्व से घोषणा की कि "विश्वासघातियों पर पेंशनयाफ्ता राजाओं और नवाबों की उनकी सूची में शामिल होकर असहाय आश्रित होने की अपेक्षा एक सैनिक की तरह मर जाना बेहतर है।" अपनी राजधानी श्रीरंगपत्तम् की रक्षा करते हुए 4 मई 1799 को वह एक बहादुर की तरह मरा। अन्त तक उसकी फ़ौज उसके प्रति वफ़ादार बनी रही। भावी-ड्यूक आफ वेलिंग्टन, आर्थर वेल्सली ने राजधानी पर क़ब्ज़ा करने की घटना का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया :

श्रीरंगपत्तम् पर धावा
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

> "4 तारीख़ की रात में जो कुछ किया गया उससे बढ़कर कोई भी ज्यादती नहीं हो सकती थी। शहर में शायद ही कोई मकान बिना लुटे हुए रह गया था, और मैं समझता हूँ कि कैम्प में अत्यन्त मूल्यवान जवाहरात, सोने की छड़ें आदि हमारे सैनिकों, सिपाहियों और उनके अनुचरों ने फ़ौज के बाजारों में बेचने के लिए रखे—वे (आमलोग) अपने घरों को लौट रहे हैं और

अपने पेशों को फिर से आरम्भ कर रहे हैं, मगर प्रत्येक का माल और सामान जा चुका है।"

टीपू के करीब आधे राज्य को अंग्रेज़ों और उनके सहायक निज़ाम ने आपस में बांट लिया। मैसूर का बचाखुचा राज्य उन मूल राजाओं के वंशजों को वापस कर दिया गया जिनसे हैदर अली ने सत्ता छीनी थी। नए राजा पर एक विशेष सहायक संधि लाद दी गयी जिसके अनुसार गवर्नर-जनरल को आवश्यकता होने पर राज्य का प्रशासन अपने हाथों में ले लेने का अधिकार दिया गया। वस्तुतः मैसूर को कम्पनी का एक पूर्ण आश्रित राज्य बना दिया गया। चौथे आंग्ल-मैसूर युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के प्रति फ्रांसीसी ख़तरे को पूरी तरह खत्म कर दिया गया।

लार्ड वेल्सली ने 1801 में कर्नाटक के कठपुतली नवाब के गले एक नयी संधि मढ़ दी। इस संधि के अनुसार नवाब ने अपना सारा राज्य कम्पनी को दे दिया और बदले में उसे एक अच्छी खासी पेंशन मिल गयी। जिस रूप में इस समय उसका निर्माण मालाबार सहित मैसूर से जीते गए इलाक़ों के साथ कर्नाटक को मिलाकर किया गया। मद्रास प्रेसिडेंसी का वही रूप 1947 तक रहा। इसी तरह तंजोर और सूरत के शासकों के इलाक़ों को अंग्रेज़ों ने ले लिया और उन्हें पेंशन दे दी।

प्रमुख भारतीय शक्ति के रूप में केवल मराठे ही थे जो अब तक ब्रिटिश नियंत्रण क्षेत्र के बाहर थे। अब वेल्सली ने अपना ध्यान उनकी ओर किया तथा उनके आन्तरिक मामलों में आक्रामक हस्तक्षेप आरम्भ किया।

उस समय मराठा साम्राज्य पाँच बड़े सरदारों, तथा पूना के पेशवा, बड़ौदा के गायकवाड़, ग्वालियर के सिंधिया, इंदौर के होल्कर, और नागपुर के भोंसले, का महासंघ था। पेशवा इस महासंघ का नाममात्र प्रधान था। मराठों का दुर्भाग्य था कि अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों के दौरान वे अपने लगभग सारे बुद्धिमान और अनुभवी नेताओं को खो बैठे थे। सभी—महादजी सिंधिया, तुकोजी होल्कर, अहिल्याबाई होल्कर, पेशवा माधवराव द्वितीय और नाना फड़नवीस जिसने पिछले 30 वर्षों तक मराठा महासंघ की एकता बनाए रखी थी—1800 तक मर चुके थे। इससे भी बुरी बात यह थी कि तेज़ी से आगे बढ़ रहे विदेशी शक्ति से उत्पन्न वास्तविक खतरे को नज़रअंदाज़ कर मराठा सरदार कटु भ्रातृघातक झगड़े में लगे हुए थे। एक ओर यशवंत राव होल्कर और दूसरी ओर दौलत राव सिंधिया तथा पेशवा बाजीराव द्वितीय सांघातिक युद्ध में लगे हुए थे।

वेल्सली ने पेशवा और सिंधिया से सहायक संधि करने की बात कई बार चलायी। मगर दूरदर्शी नाना फड़नवीस ने उसके फंदे में फंसने से इंकार कर दिया। मगर, जब 25 अक्तूबर 1802 को महान् पर्व दिवाली के दिन होल्कर ने पेशवा और सिंधिया की संयुक्त सेना को हरा दिया तब कायर पेशवा बाजीराव द्वितीय भाग कर अंग्रेज़ों के पास जा पहुँचा और 1802 के भाग्य निर्णायक अन्तिम दिन को उसने बसई (बस्सीन) में सहायक संधि पर दस्तखत कर दिए। अन्ततोगत्वा अंग्रेज़ों ने अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरा कर लिया। लार्ड वेल्सली ने 24 दिसम्बर 1802 को लिखा।

"यह संकट मुझे लगा कि हमें किसी भी पक्ष के साथ झगड़े में उलझाने के ख़तरे के बिना, मराठा साम्राज्य में ब्रिटिश सत्ता के हितों को पूरी तरह स्थापित करने के लिए अत्यन्त अनुकूल अवसर दे रहा है।"

विजय काफ़ी आसानी से मिल गयी और वेल्सली की अपनी धारणा ग़लत निकली कि अभिमानी मराठा सरदार संघर्ष के बिना स्वतन्त्रता की अपनी महान् परम्परा को नहीं छोड़ेंगे। मगर अपने संकट की इस घड़ी में भी वे अपने सामुहिक शत्रु के खिलाफ़ एक जुट नहीं हो सके। जब सिंधिया और भोंसले ने अंग्रेज़ों से लड़ाई की तब होल्कर चुपचाप खड़ा तमाशा देखता रहा तथा गायकवाड़ ने अंग्रेज़ों की सहायता की। जब होल्कर ने हथियार उठाए तब भोंसले और सिंधिया ने उसका साथ नहीं दिया। इसके अलावा, मराठा सरदारों ने शत्रु की काफ़ी बढ़ी हुई ताक़त को कम करके आंका और बिना पर्याप्त तैयारी किए वे मुक़ाबला करने मैदान में उतरे।

दक्षिण भारत में आर्थर वेल्सली के नेतृत्व में ब्रिटिश फ़ौजों ने सिंधिया और भोंसले की संयुक्त सेना को सितम्बर 1803 में अस्सायी और नवम्बर में अरगाँव में हरा दिया। उत्तर भारत में लार्ड लेक ने 1 नवम्बर को लस्वारी में सिंधिया की फ़ौज को परास्त कर दिया और अलीगढ़, दिल्ली तथा आगरा पर क़ब्ज़ा कर लिया। एक बार फिर भारत का अंधा बादशाह कम्पनी का पेंशनयाफ़्ता हो

गया। मराठा सहायकों को शान्ति के लिए याचना करनी पड़ी। दोनों ने कम्पनी के साथ सहायक संधि पर दस्तखत कर दिए। उन्होंने अपने इलाक़ों का कुछ हिस्सा अंग्रेज़ों को दे दिया, अपने दरबारों में ब्रिटिश रेज़िडेंटों को रहने की इजाज़त दे दी तथा किसी भी यूरोपवासी को ब्रिटिश स्वीकृति लिए बिना अपनी नौकरी में न रखने का वादा किया। उड़ीसा के समुद्र तट तथा गंगा और यमुना के बीच के क्षेत्र पर अंग्रेज़ों का पूरा अधिकार हो गया। पेशवा उनके हाथों में निरुत्साहित कठपुतली बन गया।

वेलसली ने अब होल्कर की ओर ध्यान दिया मगर यशवंत राव होल्कर का पलड़ा अंग्रेज़ों के मुक़ाबले भारी सिद्ध हुआ। परम्परागत मराठा रणकौशल—गतिशील युद्ध—का प्रयोग कर तथा जाटों के सहयोग से उसने ब्रिटिश फ़ौजों को एक ही जगह निश्चल कर दिया। होल्कर के सहायक, भरतपुर के राजा, ने लेक को भारी नुक़सान पहुँचाया। लेक ने उसके क़िले पर असफल हमला किया। इसके अलावा होल्कर परिवार के प्रति अपनी पुरानी शत्रुता भूलकर सिंधिया ने उसका साथ देने के बारे में सोचना आरम्भ कर दिया। दूसरी ओर, ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सेदारों (शेयर होल्डरों) ने देखा कि लड़ाई के ज़रिए विस्तार की नीति महँगी पड़ रही है और उनके मुनाफ़े को घटा रही है। कम्पनी के ऊपर कर्ज़ की रक़म 1797 में 1 करोड़ 70 लाख पौंड थी जो बढ़कर 1806 में 3 करोड़ 10 लाख हो गयी। इसके अलावा अंग्रेज़ों के वित्तीय संसाधन उस समय घटते जा रहे थे जब नेपोलियन एक बार फिर यूरोप में उनके लिए एक प्रमुख खतरा बन रहा था। ब्रिटिश राजनेताओं और कम्पनी के निदेशकों ने महसूस किया कि अब आगे के विस्तार को रोकने का समय आ गया है। विनाशकारी व्यय को रोक देना और भारत में प्राप्त ताज़ी ब्रिटिश उपलब्धियों को मज़बूत बनाना चाहिए। इसीलिए वेलसली को भारत से वापस बुला लिया गया तथा जनवरी 1806 में राजघाट की संधि द्वारा कम्पनी ने होल्कर के साथ सुलह कर ली। होल्कर को उसके अधिकांश इलाक़े वापस मिल गए।

वेलसली की विस्तारवादी नीति पर रोक लगायी गयी इसके बावजूद उसकी नीति के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में सर्वोपरि शक्ति बन गयी। कम्पनी की न्यायिक सेवा में नियुक्त एक युवा अफ़सर, हेनरी रावरवला ने 1805 में लिखा :

> "भारत स्थित हर अंग्रेज़ अभिमानी और दृढ़ प्रतिज्ञ थे, एक पराजित जनगण के बीच वह अपने को विजेता महसूस करता है तथा अपने से नीचे वालों को इस निगाह से देखता है मानो वह श्रेष्ठ है।"

लार्ड हेस्टिंग्स के शासनकाल में विस्तार

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध ने मराठा सरदारों की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया था मगर उनका उत्साह पहले की तरह बना हुआ था। अपनी स्वतन्त्रता खो देने की बात उनके दिलों को कचोटती रही। उन्होंने 1817 में अपनी आज़ादी और पुरानी प्रतिष्ठा को वापस लेने के लिए बिना कोई आगा-पीछा सोचे आखिरी प्रयास किया। मराठा सरदारों का संयुक्त मोर्चा संगठित करने के लिए पेशक़दमी पेशवा ने शुरू की जिसका ब्रिटिश रेज़िडेंसी के सख्त नियंत्रणों में दम घुट रहा था। मगर एक बार फिर मराठा समायोजित और सुविचारित कार्यक्रम बनाने में विफल हो गए। नवम्बर 1817 में पेशवा ने पूना स्थित ब्रिटिश रेज़िडेंसी पर हमला कर दिया। नागपुर के अप्पा साहब ने नागपुर की रेज़िडेंसी पर आक्रमण किया, और माधव राव होल्कर ने लड़ाई की तैयारियाँ कीं।

गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स ने बड़े उत्साह के साथ जवाबी हमला किया। उसने सिंधिया को ब्रिटिश आधिपत्य स्वीकार करने के लिए मजबूर किया तथा पेशवा, भोंसले और होल्कर की फ़ौजों को हरा दिया। पेशवा को गद्दी से उतार दिया गया तथा पेंशन देकर कानपुर के नज़दीक बिठूर भेज दिया गया। उसके भूभाग को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया और इस तरह विस्तारित बम्बई प्रेसिडेंसी का जन्म हुआ। होल्कर और भोंसले ने सहायक फ़ौजों को रखना मंज़ूर कर लिया। मराठा अहंकार को संतुष्ट करने के लिए पेशवा के भूभाग में से कुछ हिस्से लेकर सतारा राज्य की स्थापना की गयी और उसे छत्रपति शिवाजी के वंशज को दिया गया जिसने अंग्रेज़ों के पूर्ण आश्रित के रूप में शासन किया। भारतीय राज्यों के अन्य शासकों की तरह मराठा सरदार भी अब ब्रिटिश सत्ता की दया पर निर्भर हो गए।

राजपुताना के राज्यों पर कई दशकों से सिंधिया और होल्कर का आधिपत्य चला आ रहा था। मराठों के पतन

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

के बाद उनमें इतनी ताकत नहीं थी कि वे अपनी आज़ादी को फिर से क़ायम करें। उन्होंने तुरन्त ही ब्रिटिश आधिपत्य मान लिया।

इस तरह 1818 तक पंजाब और सिंध को छोड़कर सारा भारतीय उपमहाद्वीप अंग्रेज़ों के नियंत्रण में आ गया था। इसके एक हिस्से पर अंग्रेज़ सीधे शासन करते थे और बाक़ी पर अनेक भारतीय शासकों का शासन था मगर उन पर अंग्रेज़ों की सर्वोपरि सत्ता थी। इन राज्यों के पास अपनी वस्तुतः कोई फ़ौज नहीं होती थी और न ही वे विदेशी राज्यों से सम्बन्ध क़ायम करने के लिए आज़ाद थे। उनके इलाकों में उन्हीं पर नियन्त्रण रखने के लिए जो अंग्रेज़ी फ़ौजें रखी जाती थीं, उनके लिए उन्हें भारी रक़म अदा करनी पड़ती थी। वे अपने आन्तरिक मामलों में स्वायत्त थे मगर उनमें भी उन्हें ब्रिटिश सत्ता स्वीकार करनी पड़ती थी। इस सत्ता का प्रयोग रेज़िडेंट करता था। ये राज्य हमेशा परीक्षा-काल में ही रहते थे। दूसरी ओर, अब अंग्रेज़ 'भारत की प्राकृतिक सीमाओं तक पहुँचने' के लिए स्वतन्त्र थे।

2. ब्रिटिश सत्ता का सुदृढ़ीकरण, 1818-57

अंग्रेज़ों ने सारे भारत को जीतने का काम 1818 से 1857 तक पूरा कर लिया। सिंध और पंजाब को जीत लिया गया और अवध, मध्य प्रदेश और अनेक अन्य छोटे राज्यों को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया।

सिंध पर विजय

सिंध की विजय यूरोप और एशिया में बढ़ती हुई आंग्ल-रूसी प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम थी जिससे अंग्रेज़ों में यह डर [illegible]गया था कि रूस हिन्दुस्तान पर अफ़गानिस्तान या फ़ारस होकर आक्रमण कर सकता है। रूस का मुक़ाबला करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अफ़गानिस्तान और फ़ारस में अपना असर बढ़ाने का फ़ैसला किया। उसने यह भी महसूस किया कि इस नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए सिंध को ब्रिटिश नियंत्रण के अन्तर्गत लाना आवश्यक है। सिंधु नदी की व्यावसायिक संभावनाएँ एक अतिरिक्त आकर्षण बनी हुई थीं।

सिंध की सड़कें और नदियाँ अंग्रेज़ों के लिए 1832 की संधि के बाद खोल दी गयी थीं। सिंध के सरदारों को, जिन्हें अमीर कहा जाता था, सहायक संधि पर 1839 में दस्तख़त करने के लिए मजबूर कर दिया गया और अन्ततोगत्वा, पिछले आश्वासनों के बावजूद कि उसकी क्षेत्रीय अखंडता का सम्मान किया जाएगा, सिंध को 1843 में सर चार्ल्स नेपियर के एक संक्षिप्त अभियान के बाद अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। सर चार्ल्स नेपियर ने अपनी डायरी में पहले ही लिखा था : 'हमें सिंध को हथियाने का कोई अधिकार नहीं है, तो भी हम उसे हथियाएँगे, और यह बहुत ही लाभप्रद और उपयोगी मानवोचित नीच काम होगा।" इस काम को करने के लिए उसे इनाम में सात लाख रुपए मिले।

पंजाब पर विजय

जून 1839 में महाराजा रणजीत सिंह के मरने के बाद पंजाब में राजनीतिक अस्थिरता तथा सरकार में तेज़ी से परिवर्तन हुए। स्वार्थी और भ्रष्ट नेता आगे आए। अन्ततोगत्वा, सत्ता बहादुर और देशभक्त मगर बिल्कुल ही अनुशासनहीन फ़ौज के हाथों में आ गयी। यद्यपि अंग्रेज़ों ने महाराजा रणजीत सिंह के साथ 1809 में सनद मित्रता की संधि पर हस्ताक्षर किए थे तथापि वे सतलज के पार पंजाब को लोभभरी निगाहों से देखने लगे। ब्रिटिश अधिकारी पंजाब में अभियान चलाने के बारे में अधिकाधिक बातें करने लगे।

पंजाब की फ़ौज ने आत्म-नियंत्रण नहीं रखा और अंग्रेज़ों की भड़कावे की कार्रवाइयों तथा पंजाब के भ्रष्ट सरदारों के साथ साज़िशों के कारण वह उत्तेजित हो गयी। नवम्बर 1844 में मेजर ब्राडफुट जिसकी सिक्खों के प्रति शत्रुता के बारे में सभी जानते थे लुधियाने में ब्रिटिश एजेंट नियुक्त किया गया। ब्राड फुट ने बार-बार शत्रुतापूर्ण और उकसावे की कार्रवाइयाँ कीं। भ्रष्ट सरदारों और अधिकारियों ने पाया कि फ़ौज जल्द ही उनके अधिकार, ओहदे और जायदाद छीन लेगी। उन्होंने सोचा कि अपने को बचाने का एकमात्र रास्ता यह है कि फ़ौज को अंग्रेज़ों के साथ लड़ाई में उलझा दिया जाए। 1845 की शरद ऋतु में यह खबर आयी कि पुल बनाने के काम आने वाली नावें बम्बई से सतलज नदी के किनारे बसे फ़िरोज़पुर को भेजी गयी हैं। अग्रिम इलाक़ों में अतिरिक्त सैनिकों के लिए बैरक बनाए गए तथा अतिरिक्त

रेजिमेंटों को पंजाब की सीमाओं पर भेजा जाना आरम्भ हो गया। पंजाब की फ़ौज को पूरा विश्वास हो गया कि अंग्रेजों ने पंजाब पर क़ब्ज़ा जमाने के लिए कमर कस ली है। उसने जवाबी क़दम उठाए। जब उसने दिसम्बर में सुना कि प्रधान सेनापति लार्ड गाफ और गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंग फिरोज़पुर की ओर बढ़ रहे हैं तब उसने हमला करने का फ़ैसला किया। विदेशी खतरे ने हिन्दुओं मुसलमानों और सिक्खों को तुरन्त ही एकसूत्रबद्ध कर दिया। पंजाब की फ़ौज वीरतापूर्वक और अनुकरणीय हिम्मत के साथ लड़ी मगर तब तक उसके कुछ नेता देश द्रोही हो गए थे। प्रधानमंत्री राजा लालसिंह और प्रधान सेनापति मिसर तेजसिंह दुश्मन के साथ गुप्त रूप से पत्र-व्यवहार कर रहे थे। पंजाब की फ़ौज को हार मानने तथा 8 मार्च 1846 को लाहौर की अपमानजनक संधि पर दस्तखत करने के लिए मजबूर कर दिया गया। अंग्रेजों ने जलंधर दोआब को अपने राज्य में मिला लिया तथा जम्मू और कश्मीर के राजा गुलाब सिंह डोगरा को 50 लाख रुपए नक़द भुगतान करने पर दे दिया। पंजाब की फ़ौज में पैदल सैनिकों की संख्या घटाकर 20,000 और घुड़सवार सैनिकों की संख्या घटाकर 12,000 कर दी गयी तथा एक शक्तिशाली ब्रिटिश सेना लाहौर में रख दी गयी।

बाद में, 16 दिसम्बर 1846 को एक और संधि पर दस्तख़त हुए जिसके अनुसार राज्य के हर विभाग के सभी मामलों में लाहौर स्थित ब्रिटिश रेजिडेंट को पूर्ण अधिकार दे दिया गया। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ों को राज्य के किसी भी हिस्से में अपने सैनिकों को रखने का अधिकार मिल गया। अब ब्रिटिश रेजिमेंट ही पंजाब का वास्तविक शासक हो गया। पंजाब ने अपनी आज़ादी खो दी तथा एक आरक्षित राज्य बन गया।

मगर भारत स्थित ब्रिटिश अफ़सरशाही के आक्रामक साम्राज्यवादी हिस्से अब भी असंतुष्ट थे। वे चाहते थे कि पंजाब पर प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन क़ायम किया जाए। उनको 1848 में तब मौक़ा मिल गया जब स्वतंत्रता प्रेमी पंजाबियों ने अनगिनत स्थानीय विद्रोह कर दिए। इनमें से दो प्रमुख विद्रोह क्रमशः मूलराज के नेतृत्व में मुलतान में और छत्तारसिंह अट्टारीवाला के नेतृत्व में लाहौर के निकट हुए। पंजाबियों को एक बार फिर निर्णायक रूप से हरा दिया गया। लार्ड डलहौज़ी ने इस अवसर का लाभ उठाकर पंजाब को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया। इस प्रकार भारत का आखिरी स्वतन्त्र राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

डलहौज़ी और क़ब्ज़ा करने की नीति (1848-1856)

लार्ड डलहौजी 1848 में गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया। वह आरम्भ से दृढ़प्रतिज्ञ था कि प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन जितने बड़े क्षेत्र पर संभव हो उतने बड़े क्षेत्र पर क़ायम किया जाए। उसने घोषणा की थी कि "भारत के सभी देशी राज्यों के अस्तित्व की समाप्ति सिर्फ़ कुछ समय की बात है।" इस नीति के लिए प्रकट कारण इस धारणा को बतलाया गया कि देशी शासकों के भ्रष्ट और अत्याचारी प्रशासन की अपेक्षा ब्रिटिश प्रशासन काफ़ी बेहतर है। मगर इस नीति का आधारभूत उद्देश्य भारत में ब्रिटिश माल का निर्यात बढ़ाना था। अन्य आक्रामक साम्राज्यवादियों की तरह ही डलहौज़ी का भी विश्वास था कि भारत के देशी राज्यों में ब्रिटिश माल का निर्यात कम होने का मूल कारण उन राज्यों में उनके भारतीय शासकों का कुप्रशासन है। इसके अलावा उन्होंने सोचा कि उनके "भारतीय सहयोगियों" से भारत में ब्रिटिश विजय को आसान बनाने का काम लिया जा चुका है और अब उनसे पिंड छुड़ा लेना फ़ायदेमंद रहेगा।

जिस मुख्य औज़ार के द्वारा लार्ड डलहौज़ी ने क़ब्ज़ा करने की अपनी नीति को कार्यान्वित किया उसे उत्तराधिकार-अपहरण का सिद्धान्त (Doctrine of Lapse) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब भी किसी संरक्षित राज्य का शासक वंशक्रमोत्पन्न उत्तराधिकारी के बिना मर जाता तब उसका राज्य देश की युगों पुरानी परम्परा की अवहेलना कर उसके दत्तक उत्तराधिकारी को नहीं दिया जा सकता था। गोद लेने की कार्रवाई को पहले से ही अंग्रेज़ अधिकारियों की स्पष्ट स्वीकृति न होने पर राज्य को ब्रिटिश क्षेत्र में मिला लिया जाता था। इस सिद्धान्त को लागू कर अनेक राज्यों पर अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया। सतारा को 1848 और नागपुर तथा झांसी को 1854 में अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया।

डलहौज़ी ने अनेक भूतपूर्व राजाओं के खिताबों को मानने या उन्हें पेंशन देने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार कर्नाटक तथा सूरत के नवाबों तथा तंजोर के राजा के खिताब खत्म कर दिए गए। इसी प्रकार भूतपूर्व पेशवा बाजी राव द्वितीय की मृत्यु के बाद डलहौज़ी ने उसके वेतन या पेंशन उसके दत्तक पुत्र नाना साहब को देने से इन्कार कर दिया। बाजी राव द्वितीय को पहले बिठुर का राजा बनाया गया था।

लार्ड डलहौज़ी अवध की रियासत को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लेने के लिए तत्पर था। बक्सर की लड़ाई के समय से अवध के नवाब ब्रिटिश सहयोगी रहे थे। इसके अलावा वर्षों से वे अंग्रेज़ों के अत्यन्त आज्ञाकारी रहे थे। अवध के नवाब के अनेक उत्तराधिकारी थे और इसीलिए उत्तराधिकार अपहरण का सिद्धांत लागू नहीं किया जा सकता था। उसको उसके राज्य से वंचित करने के लिए कोई अन्य बहाना ढूंढने की जरूरत थी। अन्ततोगत्वा, लार्ड डलहौज़ी के दिमाग़ में अवध की जनता की दशा को सुधारने का विचार आया। नवाब वाजिद अली शाह पर अपने राज्य का गलत ढंग से प्रशासन करने तथा सुधार लाने से इन्कार करने का आरोप लगाया गया। इसलिए उसका राज्य 1856 में अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया।

बेशक, अवध के प्रशासन की अवनति जनता के लिए एक दर्दनाक वास्तविकता बन गयी थी। उस समय के अन्य भारतीय राजाओं की तरह अवध के नवाब स्वार्थी शासक थे जो अपने भोग-विलास में खोए रहते थे। वे अच्छे प्रशासन या जनकल्याण के बारे में तनिक भी चिन्ता नहीं करते थे। मगर राज्य की इस हालत के लिए आँशिक तौर पर अंग्रेज़ ज़िम्मेदार थे जिन्होंने कम से कम 1801 से अवध पर नियंत्रण रखा और शासन किया था। वस्तुतः मैंन्चेस्टर की वस्तुओं के लिए बाज़ार के रूप में अवध की विशाल सम्भावनाओं ने डलहौज़ी के लोभ को उभारा तथा उसकी 'जनहित' की भावनाओं को जागृत किया और इसी प्रकार के कारणों से, कपास के लिए ब्रिटेन की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए, 1853 में डलहौज़ी ने निज़ाम से कपास उत्पन्न करने वाला बरार प्रान्त ले लिय।

इस बात को साफ़ समझने की ज़रूरत है कि देशी राज्यों को बनाए रखने या अंग्रेज़ी राज्य में मिला लेने का प्रश्न उसी समय कोई अधिक प्रासंगिक नहीं था। संरक्षित देशी राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के उतने ही अभिन्न हिस्से थे जितने कम्पनी द्वारा सीधे प्रशासित इलाक़े। अगर इनमें से कुछ राज्यों पर ब्रिटिश नियंत्रण के रूप में परिवर्तन कर दिया तो ऐसा अंग्रेज़ों की सुविधा के लिए किया गया। इस परिवर्तन के साथ उनकी जनता के हितों का कोई सम्बन्ध नहीं था।

अभ्यास

1. ईस्ट इंडिया कम्पनी और सिराज-उद्-दौला के बीच लड़ाई के क्या कारण थे ?
2. पलासी की लड़ाई कैसे लड़ी गयी ? उसके क्या परिणाम हुए ?
3. मीर कासिम और ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच झगड़े की चर्चा कीजिए।
4. मैसूर के साथ अंग्रेज़ों की लड़ाइयों पर रोशनी डालिए।
5. वेल्सली की विस्तारवादी नीति के लिए ज़िम्मेदार आधारभूत कारणों तथा शक्तियों की चर्चा कीजिए। अपने लक्ष्यों को पाने के लिए उसने किन मुख्य तरीक़ों का इस्तेमाल किया ?

6. किस प्रकार अंग्रेज़ों ने मराठा महासंघ पर विजय पायी ?

7. डलहौज़ी द्वारा अपनायी गयी जीतने और राज्यों को हड़पने की नीति की चर्चा कीजिए।

8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
(क) मीर जाफ़र; (ख) कलाईव; (ग) बंगाल में द्वयात्मक शासन; (घ) सिंघ को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाना; (च) अवघ को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाना।

अध्याय 5

भारत में सरकार का ढाँचा और ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक नीतियाँ (1757-1857)

भारत में विशाल साम्राज्य प्राप्त करने के बाद उस पर नियंत्रण रखने तथा प्रशासन करने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी को शासन के उपयुक्त तरीक़े ढूंढने पड़े। कम्पनी की प्रशासनिक नीति में 1757 और 1857 के बीच की लम्बी अवधि के दौरान बार-बार परिवर्तन आए। मगर उसने कभी अपने मुख्य उद्देश्यों को नहीं भुलाया। उसके मुख्य उद्देश्य थे : कम्पनी के मुनाफ़ों को बढ़ाना, अपनी भारतीय जायदादों को ब्रिटेन के लिए अधिक लाभप्रद बनाना तथा भारत के ऊपर ब्रिटिश दबदबा मज़बूत करना। शेष सभी उद्देश्य इन लक्ष्यों के सामने गौण थे। भारत सरकार के प्रशासनिक तंत्र को ऐसा बनाया गया और इस प्रकार विकसित किया गया कि इन लक्ष्यों की पूर्ति हो सके। इस दृष्टि से मुख्य ज़ोर कानून व्यवस्था बनाये रखने पर दिया गया जिससे भारत के साथ व्यापार और उसके संसाधनों का इस्तेमाल बिना किसी रुकावट के हो सके।

सरकार का ढाँचा

जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने 1765 में बंगाल पर अधिकार कर लिया तब उसके प्रशासन में कोई नवीन परिवर्तन करने का उनका क़तई इरादा नहीं था। उनकी इच्छा केवल अपने लाभप्रद व्यापार को चलाना तथा इंग्लैंड भेजने के लिए करों की वसूली करना था। द्वयात्मक शासन के दौरान, 1765 से 1772 तक, भारतीय अधिकारियों को पहले की तरह ही काम करने दिया गया मगर उन पर ब्रिटिश गवर्नर और ब्रिटिश अधिकारियों का व्यापक नियंत्रण रहा। भारतीय अधिकारियों को ज़िम्मेदारी तो दी गयी थी मगर उनके पास अधिकार नहीं थे, जबकि कम्पनी के अधिकारियों को अधिकार तो मिले थे मगर उनकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी। दोनों ही तरह के अधिकारी धनलोलुप और भ्रष्टाचारी थे। 1772 में कम्पनी ने द्वयात्मक सरकार को खत्म कर दिया तथा अपने कर्मचारियों द्वारा बंगाल पर सीधा प्रशासन करना आरम्भ किया। मगर एक विशुद्ध व्यावसायिक कम्पनी द्वारा किसी देश का प्रशासन करने में जो ख़ामियाँ होती हैं वे जल्द ही स्पष्ट हो गयीं।

उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी एक व्यावसायिक संस्था थी जिसका गठन पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए किया गया था। उसके अतिरिक्त उसके उच्चतर अधिकारी भारत से हज़ारों मील दूर इंगलैंड में थे। इसके बावजूद, करोड़ों लोगों के ऊपर उसकी राजनीतिक सत्ता क़ायम हो गयी। इस असंगत स्थिति ने ब्रिटिश सरकार के लिए अनेक समस्याएँ खड़ी कर दीं। उदाहरण के लिए, ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके इलाक़ों का ब्रिटिश सरकार से क्या सम्बन्ध होना चाहिए ? सुदूर भारत में स्थित अफ़सरों और सैनिकों के बहुत बड़े समूह पर ब्रिटेन स्थित कम्पनी के अधिकारी किस प्रकार नियंत्रण रखें ? बंगाल, मद्रास
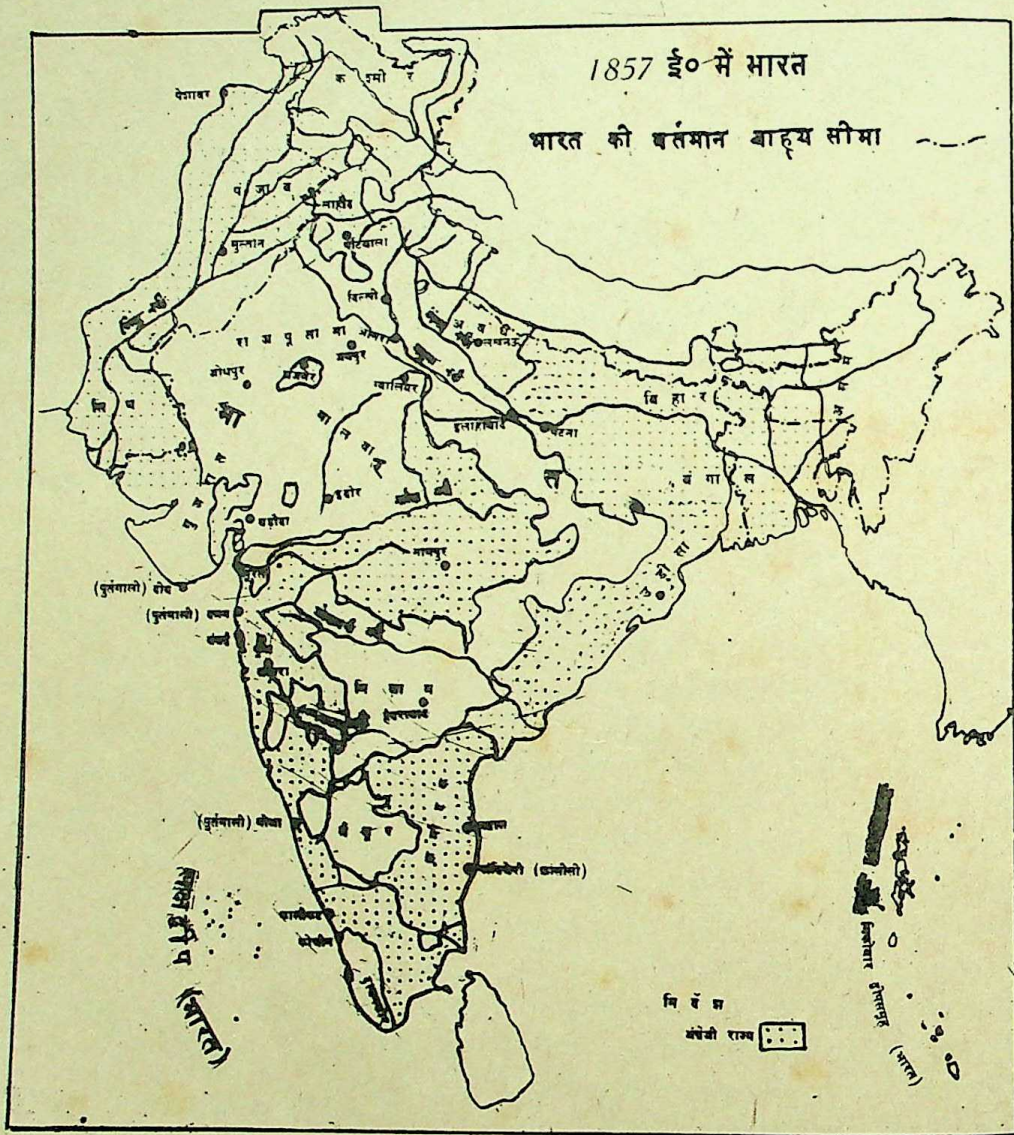
भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

और बम्बई में दूर-दूर तक फैले ब्रिटिश भूभागों पर नियंत्रण रखने के लिए एक केन्द्र कैसे स्थापित किया जाए ?

इनमें से पहली समस्या सबसे ज़रूरी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इसके अतिरिक्त यह बहुत ही घनिष्ठ रूप से ब्रिटेन की दलीय और संसदीय प्रतिद्वन्द्विताओं, अंग्रेज़ राजनेताओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं और अंग्रेज़ सौदागरों के व्यावसायिक लोभ से जुड़ी हुई थी। बंगाल के संसाधन कम्पनी के हाथों में पड़ गए थे जिसके मालिकों ने 1767 में लाभांश की दर बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दी और प्रस्ताव किया कि उसे बढ़ाकर 1771 में $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया जाए। कम्पनी के अंग्रेज़ कर्मचारियों ने इस स्थिति का फ़ायदा जल्द से जल्द धनवान होने के लिए उठाया। उन्होंने गैरक़ानूनी और असमान व्यापार तथा भारतीय सरदारों और ज़मींदारों से ज़बर्दस्ती घूस और "भेंट" ऐंठने का रास्ता अपनाया। क्लाईव 34 साल की उम्र में इतनी संपदा और जायदाद लेकर इंग्लैंड लौटा कि उससे उसे हर साल 40,000 पौंड की आमदनी मिलती थी।

कम्पनी के ऊँचे लाभांश और उसके अफ़सरों को अगर धन लेकर घर लौटते देख ब्रिटिश समाज के अन्य भागों में ईर्ष्या भड़क उठी। कम्पनी के एकाधिकार के कारण जिन सौदागरों को पूर्व के देशों में नहीं घुसने दिया गया था वे विनिर्माताओं का नवोदित वर्ग और, आमतौर से, ब्रिटेन उदय होने वाली मुक्त उद्यम की शक्ति भारत के लाभप्रद व्यापार तथा धन-दौलत में हिस्सा चाहने लगी, जिन्हें केवल कम्पनी और उसके कर्मचारी ही भोग रहे थे। इसलिए उन्होंने कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को तोड़ने के लिए जी तोड़ प्रयास किए और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने बंगाल में कम्पनी के प्रशासन पर हमला किया। उन्होंने भारत से लौटने वाले कम्पनी के अफ़सरों को अपना विशेष निशाना बनाया। इस अफ़सरों को 'नवाब' की उपहासपूर्ण उपाधि दी गयी और समाचार पत्रों में तथा रंगमंच पर उनकी हंसी उड़ायी गयी। अभिजात वर्ग ने उनका बहिष्कार किया और भारतीय जनता का शोषक और उत्पीड़क कह कर उनकी निंदा की गयी। उसके दो मुख्य निशाने थे : क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स। 'नवाबों' की निंदा कर कम्पनी के विरोधियों ने उम्मीद की कि वे कम्पनी को बदनाम कर देंगे और उसे अपदस्थ कर देंगे।

अनेक मंत्री और संसद के अन्य सदस्य बंगाल के अधिग्रहण से फ़ायदा उठाना चाहते थे। उन्होंने कम्पनी को मजबूर किया कि वह ब्रिटिश सरकार को नज़राना दे जिससे भारतीय राजस्व का इस्तेमाल करों को घटाने या इंग्लैंड के सार्वजनिक ऋण को कम करने के लिए किया जा सके। ऐसा उन्होंने जन समर्थन प्राप्त करने के लिए किया। संसद ने 1767 में एक कानून पास कर कम्पनी को ब्रिटिश ख़जाने में हर साल 4,00,000 पौंड देने के लिए मजबूर किया। ब्रिटेन के अनेक राजनीतिक विचारों को और राजनेताओं ने कम्पनी और उसके अफ़सरों की गतिविधियों को नियंत्रित करना चाहा क्योंकि उन्हें डर था कि शक्तिशाली कम्पनी और उसके धनी अफ़सर अंग्रेज़ राष्ट्र और राजनीति को पूरी तरह भ्रष्ट कर देंगे। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दौरान ब्रिटेन की संसदीय राजनीति अत्यन्त भ्रष्ट थी। कम्पनी और उसके अवकाश प्राप्त अफ़सरों ने अपने दलालों (एजेंटों) के लिए हाउस आफ़ कामन्स में जगहें ख़रीदीं। अनेक अंग्रेज़ राजनेता चिन्तित थे कि कम्पनी और उसके अफ़सर भारत से लूटे गए माल का सहारा लेकर ब्रिटेन की सरकार पर प्रबल प्रभाव डालने लगेंगे। कम्पनी और भारत स्थित उसके विशाल साम्राज्य पर नियंत्रण रखना होगा नहीं तो भारत के स्वामी के रूप में कम्पनी जल्द ही ब्रिटिश प्रशासन पर नियंत्रण कर लेगी और ब्रिटिश जनता की स्वतंत्रताओं को खत्म करने की स्थिति में आ जाएगी।

मुक्त व्यापार का समर्थन करने वाले विनिर्माण पूंजीवाद के प्रतिनिधि नवोदित अर्थशास्त्रियों के समूह ने कम्पनी के विशेषाधिकारों पर भी हमला किया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द वेल्थ आफ़ नेशन्स' में क्लासिकी अर्थशास्त्र के प्रवर्तक ऐडम स्मिथ ने विशिष्ट कम्पनियों की निंदा इस प्रकार की :

> "इसलिए इस तरह की विशिष्ट कम्पनियाँ कई दृष्टियों से सरदर्द बनी हुई हैं; उन देशों के लिए हमेशा कमोवेश तकलीफ़देह बनी हुई हैं जहाँ उसकी स्थापना हुई है और उन देशों के विध्वंसक हैं जिनकी सरकारों के दुर्भायवश वे अधीन हैं।"

इस प्रकार, ब्रिटिश राज्य और कम्पनी के अधिकारियों के पारस्परिक संबन्धों का पुनर्गठन आवश्यक हो गया और इसके लिए मौक़ा तब आया जब कम्पनी को सरकार से दस लाख पौंड का क़र्ज मांगने की ज़रूरत पड़ी। मगर, यद्यपि कम्पनी के अनेक और शक्तिशाली दुश्मन थे, तथापि संसद में उसके दोस्तों की कमी नहीं थी। इसके अलावा राजा, जार्ज तृतीय, उसका संरक्षक था। इसलिए कम्पनी ने डटकर मुक़ाबला किया। अन्ततोगत्वा संसद ने सुलह का रास्ता निकाला जिसके ज़रिए कम्पनी और ब्रिटिश समाज के विभिन्न प्रभावशाली हिस्सों के हितों को बड़ी कुशलतापूर्वक संतुलित किया गया। यह तय हुआ कि ब्रिटिश सरकार कम्पनी के भारतीय प्रशासन की मूल नीतियों को नियंत्रित करेगी। जिससे भारत में ब्रिटिश शासन सम्पूर्ण ब्रिटिश उच्च वर्गों के हित में चलाया जा सके। साथ ही कम्पनी पूर्वी व्यापार के अपने एकाधिकार तथा भारत में अपने अफ़सरों को नियुक्त करने का बहुमूल्य अधिकार बनाए रख सके। भारतीय प्रशासन के ब्योरे भी कम्पनी के निदेशकों पर छोड़ दिये गए।

कम्पनी के मामलों के सिलसिले में पहला महत्त्वपूर्ण संसदीय कानून 1773 का रेगुलेटिंग ऐक्ट था। इस ऐक्ट ने कम्पनी के निदेशक मंडल के गठन में परिवर्तन किए और उसकी गतिविधियों पर निगाह रखने का काम ब्रिटिश सरकार को दे दिया। यह जरूरी हो गया कि निदेशक मंत्रालय के सम्मुख भारत के नागरिक और सैनिक मामलों तथा राजस्व सम्बन्धी पत्राचार रखें। भारत में बंगाल की सरकार का संचालन गवर्नर-जनरल और उसकी काउन्सिल को सौंपा गया। उन्हें बम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसियों के युद्ध और शान्ति के मामले में देखरेख तथा नियंत्रण करने की ज़िम्मेदारी भी सौंपी गयी। ऐक्ट के अनुसार कलकत्ता में एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of Justice) की स्थापना की व्यवस्था की गयी जिसे यूरोपवासियों, उनके कर्मचारियों और कलकत्ता के नागरिकों को न्याय देने का काम दिया गया। मगर जल्द ही रेगुलेटिंग ऐक्ट अव्यावहारिक साबित हो गया। उससे ब्रिटिश सरकार कम्पनी पर प्रभावकारी और निर्णायक नियंत्रण स्थापित नहीं कर सकी। भारत में उसने गवर्नर-जनरल को उसकी काउन्सिल की मर्जी पर छोड़ दिया था। काउन्सिल के तीन सदस्य एक साथ मिलकर किसी भी मुद्दे पर गवर्नर-जनरल के निर्णय को रद्द कर सकते थे। व्यवहार में, इस ऐक्ट के अन्तर्गत नियुक्त प्रथम गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स और उसके तीनों काउन्सिलर लगातार लड़ते रहे जिसके फलस्वरूप प्रशासन में बहुधा गतिरोध पैदा हो जाता था। व्यवहार में अन्य दोनों प्रेसिडेंसियों पर गवर्नर-जनरल का नियन्त्रण भी अपर्याप्त सिद्ध हुआ। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि कम्पनी और इंग्लैंड स्थित उसके विरोधियों के झगड़ों को सुलझाने में ऐक्ट विफल रहा। इंग्लैंड स्थित कम्पनी के विरोधी दिन-प्रति-दिन अधिक ताक़तवर और मुखर होते जा रहे थे। इसके अलावा कम्पनी अपने दुश्मनों के हमलों के सामने अधिक असुरक्षित महसूस करने लगी क्योंकि उसके भारतीय भूभागों का प्रशासन भ्रष्ट, उत्पीड़क और आर्थिक दृष्टि से विनाशकारी था।

रेगुलेटिंग ऐक्ट की खामियों और ब्रिटिश राजनीति की आवश्यकताओं ने 1784 में एक अन्य महत्त्वपूर्ण कानून का पास किया जाना जरूरी बना दिया। यह नया क़ानून पिट का इंडिया ऐक्ट (Pitt's India Act) के नाम से मशहूर हुआ। इस ऐक्ट ने कम्पनी के मामलों और भारत में उसके प्रशासन पर ब्रिटिश सरकार को सर्वोपरि नियंत्रण का अधिकार दिया। ऐक्ट के अनुसार भारत केमामलों के लिए छः कमिश्नर (आयुक्त) नियुक्त किए गए जिन्हें बोर्ड आफ़ कंट्रोल कहा जाता था उनमें मन्त्रिमण्डल स्तर के दो मंत्री होते थे। बोर्ड आफ कंट्रोल का काम निदेशक मंडल और भारत सरकार का पथ-प्रदर्शन करना तथा उन पर नियंत्रण रखना था। महत्त्वपूर्ण तथा अत्यन्त जरूरी मामलों में निदेशकों की एक गुप्त समिति के ज़रिए भारत को सीधे आदेश भेजने का अधिकार था। ऐक्ट के अनुसार भारत सरकार का संचालन गवर्नर-जनरल तथा तीन सदस्यों वाली एक काउन्सिल को दे दिया गया जिससे अगर गवर्नर-जनरल को एक भी सदस्य का समर्थन मिल जाय तो जो वह करना चाहे कर सके। युद्ध, कूटनीति और राजस्व के सभी मामलों में ऐक्ट ने बम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसियों को बंगाल के अधीन कर दिया। इस ऐक्ट के साथ ही भारत में ब्रिटिश विजय का एक नया दौर आरम्भ हुआ। यद्यपि ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटिश राष्ट्रीय

नीति का औजार बन गयी तथापि भारत को ब्रिटेन के शासक वर्गों के सभी हिस्सों के हितों को साधने के लिए इस्तेमाल करना था । कम्पनी संतुष्ट थी क्योंकि उसने भारतीय और चीनी व्यापार पर अपने एकाधिकार को बचा लिया था । उसके निदेशकों के हाथों में भारत स्थित ब्रिटिश अफ़सरों को नियुक्त और बर्खास्त करने का अधिकार रह गया था । इसके अलावा, भारत सरकार का संचालन उनके माध्यम से होता था ।

यद्यपि पिट के इंडिया ऐक्ट ने उस सामान्य ढाँचे को रखा जिसके अन्तर्गत 1857 तक भारत सरकार का संचालन हुआ, तथापि बाद के क़ानूनों ने ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जिनसे कम्पनी की शक्तियाँ और विशेषाधिकार धीरे-धीरे कम हो गए । गवर्नर-जनरल को 1786 में सुरक्षा, शान्ति या भारत में साम्राज्य के हितों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण मामलों में अपनी काउन्सिल के निर्णय को न मानने का अधिकार दिया गया ।

1813 के चार्टर ऐक्ट के अनुसार भारत में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को खत्म कर दिया गया तथा भारत के साथ व्यापार करने का अधिकार समस्त ब्रिटिश प्रजा को दे दिया गया । मगर चाय का और चीन के साथ व्यापार केवल कम्पनी के लिए ही सुरक्षित रखा गया । भारत सरकार और भारत के राजस्व कम्पनी के हाथों में बने रहे । कम्पनी भारत में अपने अफ़सरों की नियुक्ति करती रही । 1833 के चार्टर ऐक्ट ने चाय के व्यापार और चीन के साथ व्यापार पर कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया । साथ ही कम्पनी के ऋणों की ज़िम्मेदारी भारत सरकार ने अपने ऊपर ले ली । भारत सरकार ने कम्पनी के हिस्सेदारों (शेयर होल्डरों) को उनकी पूंजी पर 10½ प्रतिशत लाभांश देने का वचन भी दिया । बोर्ड आफ कंट्रोल के सख्त नियन्त्रण में कम्पनी भारत सरकार का संचालन करती रही ।

इस प्रकार, संसद के उपर्युक्त विभिन्न क़ानूनों ने कम्पनी और उसके भारतीय प्रशासन को पूरी तरह ब्रिटिश सरकार के अधीन कर दिया । साथ ही इस बात को स्वीकार किया गया कि भारत के दिन-प्रति-दिन के शासन को 6,000 मील दूर बैठे नहीं चलाया जा सकता या यहाँ तक कि उसकी देखरेख भी नहीं की जा सकती । इसलिए सर्वोच्च सत्ता गवर्नर-जनरल को अपनी काउन्सिल की सहायता से काम में लाने के लिए दे दी गयी । जैसाकि हम कह चुके हैं गवर्नर-जनरल को अपनी काउन्सिल की सलाह को महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर ठुकरा देने का अधिकार दिया गया । इसलिए वही भारत का वास्तविक और प्रभावकारी शासक बन गया । वह ब्रिटिश सरकार की देखरेख, नियन्त्रण और मार्गदर्शन के अन्तर्गत काम करता था । यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भारतीयों को अपने ऊपर प्रशासन में कोई हिस्सा नहीं दिया गया । जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, तीन प्रकार के सत्ता के केन्द्र थे : कम्पनी का निदेशक मंडल, ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करने वाली बोर्ड आफ़ कंट्रोल और गवर्नर-जनरल । इनमें से किसी के भी साथ किसी भारतीय का कोई दूर का या किसी भी हैसियत से संबंध नहीं था ।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंग्रेज़ों ने प्रशासन की एक नयी व्यवस्था क़ायम की । इस व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं की चर्चा करने से पहले बेहतर होगा कि हम उन उद्देश्यों को देखें जिनकी पूर्ति के लिए इस व्यवस्था को स्थापित किया गया था क्योंकि किसी भी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का मुख्य कार्य उसके शासकों के लक्ष्यों और उद्देश्यों को पूरा करना होता है । अंग्रेज़ों का मुख्य उद्देश्य कम्पनी से लेकर लंकाशायर विनिर्माताओं तक विभिन्न ब्रिटिश हितों के अधिकतम लाभ के लिए भारत का आर्थिक दृष्टि से शोषण करने में समर्थ होना था । साथ ही भारत को अपने आप पर विजय तथा विदेशी शासन के पूरे ख़र्च को उठाने में समर्थ बनाना था । इस लिए भारत में अंग्रेज़ों की आर्थिक नीतियों की समीक्षा अत्यन्त आवश्यक है ।

भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीतियाँ, 1757-1858

व्यापारिक नीति : 1600 से लेकर 1757 तक भारत में ईस्ट इंडिया क़म्पनी की भूमिका एक व्यापारिक निगम की थी । वह बाहर से वस्तुएँ या बहुमूल्य धातुएँ भारत लाती थी और उनका विनिमय कपड़ों, मसालों आदि भारतीय वस्तुओं से करती थी और उन्हें फिर बाहर ले जाकर बेचती थी । उसको मुनाफा मुख्य रूप से भारतीय वस्तुओं को विदेशों में बेचने से मिलता था । स्वभावतया

उसने ब्रिटेन और अन्य देशों में भारतीय वस्तुओं के लिए नए बाज़ार खोलन के लिए लगातार कोशिशें कीं। इस प्रकार उसने तैयार भारतीय वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाया और उनके उत्पादन को प्रोत्साहित किया। यही कारण था कि भारतीय शासकों ने भारत में कम्पनी के कारखानों की स्थापना को न केवल बर्दाश्त किया बल्कि प्रोत्साहन भी दिया।
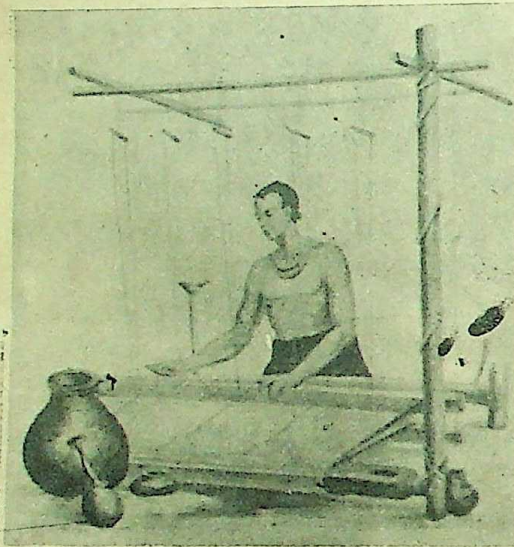
बुनकर एक पिट लूम में काम करता हुआ
भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

मगर बिल्कुल आरम्भ से ही ब्रिटिश विनिर्माता ब्रिटेन में भारतीय कपड़ों की लोकप्रियता से जलते थे। एकाएक पहनावे के फैशनों में परिवर्तन हो गया और हल्के सूती कपड़ों ने अंग्रेज़ों के मोटे ऊनी कपड़ों की जगह लेना आरम्भ कर दी। 'राबिन्सन क्रूसो' नामक प्रसिद्ध उपन्यास के लेखक डैफो ने शिकायत की कि भारतीय कपड़ा "हमारे घरों, अलमारियों और सोने के कमरों में घुस गया है; परदे, गद्दे, कुर्सियों और अन्त में, बिस्तर के रूप में और कुछ नहीं बल्कि केलिको या भारतीय सामान है।" ब्रिटिश विनिर्माताओं ने इंग्लैंड में भारतीय वस्तुओं की बिक्री को नियंत्रित करने और उन पर पाबंदी लगाने के लिए अपनी सरकार पर दबाव डाला। 1720 तक क़ानून पास कर छींट या रंगे हुए सूती कपड़े के पहनने या इस्तेमाल करने की मनाही कर दी गयी थी। एक महिला को 1760 में 200 पौंड जुर्माने के रूप में इसलिए देना पड़ा कि उसके पास एक विदेशी रुमाल था। इसके अलावा, सादे कपड़े के आयात पर भारी शुल्क लगा दिए गए। हालैंड को छोड़कर अन्य योरोपीय देशों ने भी भारतीय कपड़े के आयात की मनाही कर दी या भारी आयात शुल्क लगा दिए। मगर इन क़ानूनों के बावजूद भारतीय रेशमी और सूती कपड़े अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक विदेशी बाज़ारों में जमे रहे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश सूती कपड़ा उद्योग नयी और उन्नत टेक्नोलोजी के आधार पर विकसित होने लगा।

1757 में पलासी की लड़ाई के बाद भारत के साथ कम्पनी के व्यापारिक संबंधों में एक गुणात्मक परिवर्तन हो गया। अब कम्पनी बंगाल के ऊपर अपने राजनीतिक नियंत्रण का इस्तेमाल अपने भारतीय व्यापार को आगे बढ़ाने के लिए कर सकती थी। इसके अलावा, उसने बंगाल के राजस्व का इस्तेमाल भारतीय वस्तुओं के निर्यात का खर्च पूरा करने के लिए किया। कम्पनी के द्वारा भारतीय विनिर्माताओं को प्रोत्साहन मिलना चाहिए था मगर ऐसा नहीं हुआ। कम्पनी ने अपनी राजनीतिक शक्ति का इस्तेमाल बंगाल के बुनकरों पर अपनी शर्तें लादने के लिए किया। बंगाल के बुनकरों को अपने उत्पादन सस्ती दरों और कम्पनी द्वारा निश्चित की गयी क़ीमतों पर बेचने के लिए मजबूर कर दिया गया भले ही उन्हें घाटा क्यों न हो। इतना ही नहीं, उनका श्रम मुक्त नहीं रह गया था। उनमें से अनेक को कम मज़दूरी लेकर कम्पनी के लिए काम करने को विवश कर दिया गया और उन्हें भारतीय सौदागरों के यहाँ काम करने से मना कर दिया गया। कम्पनी ने अपने प्रतिद्वन्द्वी व्यापारियों, भारतीय और विदेशी दोनों को मैदान से हटा दिया, और उन्हें बंगाल के दस्तकारों को ऊँची मज़दूरी या क़ीमतें देने का प्रस्ताव करने से रोक दिया। कम्पनी के कर्मचारियों ने कपास की बिक्री पर एकाधिकार कर लिया और उसके लिए बंगाल के बुनकरों को हद से ज्यादा क़ीमतें चुकाने के लिए मजबूर कर दिया। इस प्रकार बुनकर को ख़रीदार और विक्रेता दोनों के रूप में घाटा सहना पड़ा। साथ ही, इंग्लैंड में भारतीय सूती कपड़ों को भारी शुल्क देने पड़ते थे। अपने

उदीयमान मशीन उद्योग की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार दृढ़ प्रतिज्ञ थी। ब्रिटिश मशीनी उद्योग के उत्पादन उस समय तक भी सस्ते और बेहतर भारतीय वस्तुओं के मुक़ाबले में नहीं टिक पाते थे। भारतीय उत्पादन तब भी बहुत कुछ बाज़ार में बने रहे। भारतीय हस्तकला उद्योगों पर असली चोट 1813 के बाद पड़ी जब उन्होंने न केवल अपने विदेशी बाज़ारों को खो दिया बल्कि उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि वे भारत में अपने बाज़ार को खो बैठे।

ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था और भारत के साथ उसके आर्थिक संबंधों को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पहले कुछ दशकों के दौरान ब्रिटेन में गहरे सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए और ब्रिटिश उद्योग, आधुनिक मशीनों, कारख़ानों की व्यवस्था और पूँजीवाद के आधार पर तेज़ी से विकसित हुआ और उसका विस्तार हुआ। इस विकास में कई कारकों से सहायता मिली।

ब्रिटिश विदेश व्यापार पिछली शताब्दियों से तेज़ी के साथ बढ़ रहा था। ब्रिटेन ने युद्ध और उपनिवेशवाद के सहारे अनेक विदेशी बाज़ारों पर क़ब्ज़ा कर एकाधिकार जमा लिया था। इन निर्यात बाज़ारों ने उसके निर्यात उद्योगों को उत्पादन और संगठन के आधुनिकतम तकनीकों का इस्तेमाल कर तेज़ी से उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी। अफ्रीका, वेस्ट इंडीज़, लैटिन अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, चीन और सबसे अधिक, भारत ने निर्यात के लिए असीमित अवसर दिए। यह बात सूती कपड़ा उद्योग के लिए विशेष रूप से लागू होती है। सूती कपड़ा उद्योग ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति का मुख्य वाहन बना। ब्रिटेन ने व्यापार का औपनिवेशिक ढाँचा विकसित कर लिया था जिससे औद्योगिक क्रान्ति को सहायता मिली जिसने क्रम से, इस ढाँचे को मज़बूत बनाया। यह ढाँचा ऐसा था कि उपनिवेश और अर्द्ध विकसित देश ब्रिटेन को कृषिजन्य और खनिज कच्चे माल निर्यात करते थे जब कि ब्रिटेन उन्हें तैयार माल बेचता था।

दूसरे, नयी मशीनों और कारख़ाने की व्यवस्था में निवेश के लिए देश में पर्याप्त पूँजी संचित हो गयी थी। इसके अतिरिक्त यह पूँजी सामन्त वर्ग के हाथों में संकेंद्रित नहीं थी जो इसे ऐशो-आराम में बर्बाद कर देता बल्कि सौदागरों और उद्योगपतियों के हाथों में केंद्रित थी जो उसे व्यापार और उद्योग में लगाने के लिए तत्पर थे। यहाँ भी अफ्रीका, एशिया, वेस्ट इंडीज़ और लैटिन अमरीका से लायी गयी अपार सम्पदा ने जिसमें पलासी की लड़ाई के बाद भारत से ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कर्मचारियों द्वारा ले जायी गयी संपदा भी शामिल थी, औद्योगिक विस्तार की वित्तीय आवश्यकता को पूरा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

तीसरे, जनसंख्या में तेज़ी से वृद्धि ने अधिक और सस्ते श्रम के लिए उद्योगों की बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा किया। ब्रिटेन की जनसंख्या 1740 के बाद तेज़ी से बढ़ी और 1780 के बाद 50 वर्षों में दुगुनी हो गयी।

चौथे, ब्रिटेन की सरकार व्यापारिक और विनिर्माता वर्गों के प्रभाव में थी और इसीलिए उसने अन्य देशों के साथ बाज़ारों और उपनिवेशों के लिए दृढ़ता के साथ लड़ाई की।

पाँचवें, उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता को टेक्नोलोजी के विकास ने पूरा किया। ब्रिटेन के उदीयमान उद्योग ने हारग्रीवज़, वाट क्राम्पटन, कार्टराइट और अनेक अन्य लोगों के आविष्कारों को अपना आधार बनाया। उस समय काम में लाए जाने वाले अनेक आविष्कार शताब्दियों से उपलब्ध थे। इन आविष्कारों और भाप की शक्ति से पूरा फ़ायदा उठाने के लिए उत्पादन कारखानों में अधिकाधिक संकेंद्रित होता गया। यह ध्यान देने की बात है कि इन आविष्कारों के कारण ही औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई। फ़ैलते हुए बाज़ारों के लिए तेज़ी से उत्पादन बढ़ाने की विनिर्माताओं की इच्छा और आवश्यक पूँजी लगाने की उनकी क्षमता (जिसके फलस्वरूप वे तत्कालीन टेक्नोलोजी को इस्तेमाल कर सके और नए आविष्कारों के लिए माँग प्रस्तुत कर सके) ही औद्योगिक क्रान्ति की मुख्य कारण थीं। वस्तुतः उद्योग के नए संगठन ने तकनीकी परिवर्तन को मानवीय विकास की प्रमुख विशेषता बना दिया। इस अर्थ में औद्योगिक क्रान्ति कभी समाप्त नहीं हुई क्योंकि अठारहवीं शताब्दी के मध्य से आधुनिक उद्योग और टेक्नोलोजी विकास के एक चरण से दूसरे चरण की ओर बढ़ती ही गयी है।

औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटिश समाज में एक मूलभूत परिवर्तन किया। उसके फलस्वरूप तेज़ गति से आर्थिक विकास हुआ जो ब्रिटेन और यूरोप, सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, और जापान के वर्तमान उच्च जीवनयापन-स्तर का आधार है। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक आर्थिक दृष्टि से आज के विकसित और पिछड़े हुए देशों के जीवनयापन-स्तर में बहुत कम अन्तर था। आज के पिछड़े हुए मुल्कों में औद्योगिक क्रान्ति न होने के कारण ही हम वर्तमान संसार में आय में विशाल खाई देखते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन का अधिकाधिक शहरीकरण हुआ। अधिकाधिक लोग औद्योगिक शहरों में रहने लगे। 1750 में ब्रिटेन में 50,000 से अधिक निवासियों वाले केवल दो शहर थे मगर 1851 में उनकी संख्या बढ़कर 29 हो गयी।

समाज के दो बिल्कुल नए वर्गों ने जन्म लिया। वे वर्ग थे: औद्योगिक पूंजीपति जिनका कारखानों पर स्वामित्व था, और मज़दूर जो दैनिक मज़दूरी पर श्रम करते थे। औद्योगिक पूंजीपति वर्ग तेज़ी से विकसित हुआ और उसे अभूतपूर्व समृद्धि मिली मगर मज़दूरों—श्रम जीवी ग़रीबों—को आरम्भ में काफ़ी कष्टमय जीवन बिताना पड़ा। उन्हें अपने ग्रामीण पास-पड़ोस से उजाड़ दिया गया, उनका पारस्परिक जीवन-क्रम छिन्न-भिन्न और और नष्ट हो गया। उन्हें शहरों में रहना पड़ा जो धुआँ और गंदगी से भरे हुए थे। आवास की व्यवस्था अपर्याप्त और अस्वास्थ्यकर थी। उनमें से अनेक ऐसी गंदी बस्तियों में रहते थे जहां अंधकार छाया रहता था और सूरज के दर्शन नहीं होते थे। चार्ल्स डिकेंस ने अपने उपन्यासों में इन गन्दी बस्तियों का बड़ी अच्छी तरह वर्णन किया है। कारखानों और खानों में काम के घंटे असहनीय रूप से लम्बे होते थे। मज़दूरों को बहुधा 14 या 16 घंटे हर रोज़ काम करना पड़ता था। मज़दूरी बहुत कम थी। औरतों और बच्चों को भी समान रूप से कठिन परिश्रम करना पड़ता था। कभी-कभी 4 या 5 वर्ष के बच्चों को भी कारखानों और खानों में काम पर लगाया जाता था। आमतौर से एक मज़दूर की ज़िन्दगी गरीबी, कठिन परिश्रम, बीमारी और कुपोषण की ज़िन्दगी होती थी। उन्नीसवीं सदी के बाद ही जाकर कहीं उनकी आय में वृद्धि होने लगी।

विनिर्माताओं के एक शक्तिशाली वर्ग के उदय से भारतीय प्रशासन और उसकी नीतियों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। जैसे-जैसे यह वर्ग संख्या और ताक़त और राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से मज़बूत हुआ वैसे-वैसे उसने कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार पर प्रहार किया। चूंकि इस वर्ग के मुनाफ़े व्यापार से नहीं बल्कि विनिर्माण से आते थे इसलिए इसने भारत से तैयार माल के आयात को नहीं बल्कि अपने उत्पादनों को भारत निर्यात करने और वहाँ से कपास जैसे कच्चे माल के आयात करने को प्रोत्साहन देना चाहा। ब्रिटिश उद्योगपतियों ने 1769 में क़ानून द्वारा कम्पनी को हर साल 3,80,000 पौंड मूल्य के ब्रिटिश तैयार माल का निर्यात करने पर मजबूर किया यद्यपि उसे इस कारोबार में घाटा सहना पड़ा। उन्होंने 1793 में कम्पनी को मजबूर किया कि वह अपनी जहाज़रानी क्षमता का 3,000 टन उन्हें हर साल अपनी वस्तुएँ ले जाने के लिए इस्तेमाल करने दे। पूरब के देशों, ख़ास कर भारत को ब्रिटिश सूती कपड़े का निर्यात 1794 में 156 पौंड मूल्य का था जो बढ़कर 1813 में 1,10,000 पौंड मूल्य का हो गया यानी लगभग 700 गुना वृद्धि हुई। मगर यह वृद्धि भी लंकाशायर के विनिर्माताओं की बेलगाम उम्मीदों के सामने अपर्याप्त सिद्ध हुई। लंकाशायर के विनिर्माताओं ने भारत को अपने उत्पादनों का निर्यात बढ़ाने के लिए सक्रिय रूप से उपाय ढूँढने आरम्भ कर दिए। जैसा कि रमेश चन्द्र दत्त ने बाद में अपनी प्रसिद्ध रचना 'दी इकानामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में बतलाया कि 1812 की पार्लियामेंट्री सैलेक्ट कमेटी की कोशिश थी "कि यह पता लगाया जाए कि किस प्रकार उनकी (भारतीय तैयार माल की) जगह ब्रिटिश तैयार माल को लाया जाए, और किन ब्रिटिश उद्योगों को भारतीय उद्योगों के मत्थे प्रोत्साहित किया जाए।"

ब्रिटिश विनिर्माता ईस्ट इंडिया कम्पनी, पूर्वी व्यापार पर उसके एकाधिकार और भारत के राजस्व और निर्यात व्यापार पर नियंत्रण के ज़रिए भारत के शोषण के तरीक़ों को अपने सपनों के साकार होने के मार्ग में मुख्य बाधा मानते थे। उन्होंने 1793 और 1813 के बीच कम्पनी और उसके व्यापारिक विशेषाधिकारों के ख़िलाफ़ एक शक्तिशाली अभियान छेड़ा और, अन्ततोगत्वा 1813 में

भारतीय व्यापार पर उसके एकाधिकार को खत्म कराने में सफल हो गए।

इस घटना के साथ, भारत और ब्रिटेन के आर्थिक संबंधों में एक नया दौर आरम्भ हो गया। फलस्वरूप कृषि प्रधान भारत को औद्योगिक इंग्लैंड का आर्थिक उपनिवेश बना दिया गया।

भारत सरकार ने मुक्त व्यापार या ब्रिटिश वस्तुओं के बेरोकटोक प्रवेश की नीति को अपनाया। भारतीय दस्तकारियों को ब्रिटेन के मशीनी उत्पादनों की भयंकर और असमान प्रतिद्वन्द्विता का मुक़ाबला करना पड़ा और उनके सामने उनके अस्तित्व की समाप्ति का खतरा आ गया। भारत को ब्रिटिश वस्तुएँ निःशुल्क या नाममात्र सीमा-शुल्क देकर प्रवेश करने की अनुमति देनी पड़ी। भारत सरकार ने नए इलाक़े हासिल करने और अवध जैसे संरक्षित राज्यों पर सीधा क़ब्ज़ा करने की नीति अख्तियार करके ब्रिटिश वस्तुओं के खरीदने वालों की संख्या बढ़ाने की भी कोशिश की। अनेक ब्रिटिश अफ़सरों, राजनीतिक नेताओं और व्यवसायियों ने भूराजस्व में कमी करने की वकालत की जिससे भारतीय किसान विदेशी वस्तुओं को खरीदने के लिए बेहतर स्थिति में हो। उन्हों ने भारत को आधुनिक बनाने की भी वकालत की जिससे अधिकाधिक भारतीयों में पश्चिमी वस्तुओं के लिए रुचि उत्पन्न हो सके।

भारतीय दस्तकारी की वस्तुएं ब्रिटिश मिलों की काफ़ी सस्ती वस्तुओं का मुकाबला करने में असमर्थ थीं। ब्रिटिश मिलें आविष्कारों के प्रयोग तथा भाप की शक्ति का व्यापक इस्तेमाल कर अपनी उत्पादक क्षमता में तेज़ी से सुधार ला रही थीं। केवल भारतीय हितों से प्रतिबद्ध सरकार ही भारतीय उद्योग को ऊँचे सीमा शुल्कों की दीवार खड़ी करके बचा सकती थी और इस प्रकार जो समय मिलता उसका इस्तेमाल पश्चिमी देशों से नए तकनीक आयात करने के लिए करती। ब्रिटेन ने अठारहवीं सदी में अपने उद्योगों के सिलसिले में यही रास्ता अपनाया था, फ्रांस, जर्मनी, और संयुक्त राज्य अमरीका उस समय इसी रास्ते पर चल रहे थे, अनेक दशकों बाद जापान और सोवियत संघ ने भी यही रास्ता अपनाया; और आज स्वतंत्र भारत ऐसा ही कर रहा है। मगर विदेशी शासकों ने न केवल भारतीय उद्योगों की रक्षा नहीं की बल्कि विदेशी वस्तुओं के मुक्त प्रवेश के लिए भारत के दरवाज़े खोल दिए। विदेश से आने वाली वस्तुओं में वृद्धि हुई। सिर्फ ब्रिटिश कपड़े का आयात जो 1813 में 1,10,0000 पौंड मूल्य का था 1856 में बढ़कर 63,00,000 पौंड मूल्य का हो गया।

यद्यपि भारत के दरवाज़े विदेशी वस्तुओं के लिए खोल दिए गए थे, तथापि भारतीय दस्तकारी के उत्पादनों पर ब्रिटेन में प्रवेश करने पर भारी शुल्क देने पड़ते थे। इस चरण में भी जब ब्रिटिश उद्योगों ने भारतीय हस्तकला उद्योगों के मुक़ाबले काफ़ी टेक्नोलोजिकल श्रेष्ठता प्राप्त कर ली अंग्रेज़ भारतीय वस्तुओं को उचित और समान दरों पर लेने को तैयार नहीं थे। कई प्रकार की भारतीय वस्तुओं पर ब्रिटेन में तब तक ऊँचे शुल्क लिए जाते रहे जब तक उनका इंग्लैंड को निर्यात ठप्प नहीं हो गया। उदाहरण के लिए, 1824 में भारतीय केलिको पर 62½ प्रतिशत और भारतीय मलमल पर 37½ प्रतिशत शुल्क लगाया जाता था। ब्रिटेन में प्रवेश करने पर भारतीय चीनी पर जो शुल्क देना पड़ता था वह उसकी लागत-क़ीमत के तिगुने से भी अधिक था। कुछ स्थितियों में इंग्लैंड में 400 प्रतिशत तक शुल्क लगाया जाता था। ऐसे निषेधात्मक आयात शुल्कों और मशीनी उद्योगों के फलस्वरूप, विदेशों को निर्यात करने वाली भारतीय वस्तुओं में तेज़ी से कमी हुई। ब्रिटिश इतिहासकार एच० एच० विल्सन ने ब्रिटिश व्यापारिक नीति के अनौचित्य को संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित शब्दों में रखा है:

> "साक्ष्य में यह बतलाया गया कि इस काल तक भारत की सूती और रेशमी वस्तुएँ ब्रिटिश बाजार में इंग्लैंड में बनी वस्तुओं की अपेक्षा 50 से 60 प्रतिशत कीमतों पर बेचकर मुनाफ़ा प्राप्त कर सकती थीं। फलस्वरूप यह जरूरी हो गया कि ब्रिटिश वस्तुओं के संरक्षण के लिए भारतीय वस्तुओं के मूल्य पर 70 से 80 प्रतिशत शुल्क लगाए जाएं या उनके आयात पर पाबंदी लगा दी जाए। अगर यह स्थिति नहीं होती और इस प्रकार के निषेधात्मक शुल्क नहीं लगाए गए होते तथा आज्ञाप्तियां नहीं होती तो पेस्ले और मेनचेस्टर की मिलें आरम्भ में ही बन्द हो गयी होतीं और शायद ही भाप की शक्ति से भी फिर चालू की गयी होतीं। उनका निर्माण भारतीय विनिर्माण के बलिदान से हुआ। अगर भारत स्वतंत्र होता तो उसने बदले की कार्रवाई की होती, उसने ब्रिटिश वस्तुओं पर निरोधात्मक शुल्क लगाए होते, और इस प्रकार अपने उत्पादक उद्योग को विनाश से बचाया होता। आत्मरक्षा की यह कारंवाई करने की इजाजत उसे नहीं थी; वह अजनबी लोगों की मर्जी पर निर्भर

था। शुल्क मुक्त ब्रिटिश वस्तुएँ उसके ऊपर लाद दी गयी; विदेशी विनिर्माता ने राजनीतिक अन्याय का सहारा एक ऐसे प्रतिद्वन्द्वी को दबाने और अन्ततोगत्वा दबोच देने के लिए लिया जिसके मुक़ाबले में वह समान शर्तों पर नहीं ठहर सकता था।"

भारत को तैयार माल निर्यात करने के बदले अब कपास और कच्चे रेशम जैसे कच्चे मालों को निर्यात करने के लिए मजबूर किया गया जो ब्रिटिश उद्योगों के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। इनके अलावा, भारत को नील और चाय जैसे बागान-उत्पादनों को भी निर्यात करने के लिए विवश किया गया। भारत ने मजबूर होकर अनाज का भी निर्यात ब्रिटेन को किया। ब्रिटेन में अनाज की कमी थी। भारत ने 1856 में 43,00,000 पौंड मूल्य का कपास, केवल 8,10,000 पौंड मूल्य का कपड़ा, 29,00,000 पौंड मूल्य के अनाज, 17,30,000 पौंड मूल्य का नील, और 7,70,000 पौंड मूल्य का कच्चा रेशम निर्यात किया। यद्यपि चीन वालों ने अफ़ीम की बिक्री पर उसके जहरीलेपन और अन्य नुकसानदेह प्रभावों के कारण प्रतिबंध लगा दिया था तथापि अंग्रेज़ों ने चीन में भारतीय अफ़ीम की बिक्री को बढ़ावा दिया। इस व्यापार से ब्रिटिश सौदागरों को भारी मुनाफ़े तथा कम्पनी नियंत्रित प्रशासन को राजस्व की मोटी रकमें मिलीं। दिलचस्प बात यह है कि ब्रिटेन में अफ़ीम के आयात पर सख्त प्रतिबन्ध था।

इस प्रकार, 1813 के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक नीति ब्रिटिश उद्योग की ज़रुरतों के अनुकूल रखी और चलायी गयी। उसका मुख्य लक्ष्य भारत को ब्रिटिश तैयार माल के उपभोक्ता और कच्चे माल के संभरक के रूप में बदल देना था।

संपदा का निष्कासन : अंग्रेज़ों ने भारत की संपदा और संसाधनों का एक हिस्सा ब्रिटेन को निर्यात किया जिसके बदले में भारत को कुछ भी नहीं मिला। 'आर्थिक निष्कासन' भारत में केवल ब्रिटिश शासन में ही देखा गया। उसके पहले की बुरी से बुरी भारतीय सरकारों ने जनता से उगाहे गए राजस्व को देश के अन्दर ही ख़र्च किया। उन्होंने उसे सिंचाई के लिए नहरों, और मुख्य मार्गों के निर्माण पर ख़र्च किया या महलों, मंदिरों और मस्ज़िदों को बनाने में लगाया या युद्धों और विजय हासिल करने पर व्यय किया या यहाँ तक कि वैयक्तिक भोगविलास पर उड़ाया; अन्ततोगत्वा उससे भारतीय व्यापार और उद्योग को बढ़ावा मिला तथा भारतवासियों को रोज़गार के अवसर प्राप्त हुए। ऐसा इसलिए हुआ कि विदेशी विजेता भी, उदाहरण के लिए मुग़ल, जल्द ही भारत में बस गए और उन्होंने भारत को अपना घर बना लिया। मगर अंग्रेज़ हमेशा विदेशी बने रहे। भारत में काम करने वाले तथा व्यापार में लगे अंग्रेज़ प्रायः हमेशा ब्रिटेन वापस जाने की योजना बनाते रहते थे, और भारत सरकार पर सौदागरों की एक विदेशी कम्पनी तथा ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण था। फलस्वरूप अंग्रेज़ों ने भारतीय जनता से उगाहे गए करों और आय का एक बड़ा भाग भारत में नहीं बल्कि अपने देश ब्रिटेन में ख़र्च किया।

बंगाल से संपदा का निष्कासन 1757 में आरम्भ हुआ जब कम्पनी के कर्मचारियों ने भारतीय शासकों, ज़मींदारों, सौदागरों और आम जनता से उगाहे गए अपार धन को ब्रिटेन ले जाना आरम्भ कर दिया। उन्होंने 1758 और 1765 के बीच लगभग 60 लाख पौंड स्वदेश भेजा। यह रक़म 1765 में बंगाल के नवाब की कुल भूराजस्व वसूली के चौगुने से भी अधिक थी। निष्कासन की इस रक़म में कम्पनी के व्यापारिक मुनाफ़े शामिल नहीं थे जो बहुधा ग़ैरकानूनी तरीक़े से प्राप्त किये जाते थे। कम्पनी ने 1765 में बंगाल की दीवानी हासिल की और इस प्रकार उसने बंगाल के राजस्व पर अधिकार कर लिया। कम्पनी ने जल्द अपने कर्मचारियों से भी अधिक सक्रियता के साथ इस निष्कासन की सीधी व्यवस्था की। उसने बंगाल के राजस्व से भारतीय वस्तुओं को ख़रीदकर निर्यात करना आरम्भ कर दिया। इन ख़रीदारियों को 'निवेश' (Investments) कहा जाता था। इस प्रकार, 'निवेशों' के ज़रिए बंगाल के भूराजस्व को इंग्लैंड भेजा गया। उदाहरण के लिए, 1765 से 1770 तक कम्पनी ने वस्तुओं के रूप में लगभग 40 लाख पौंड की रक़म या बंगाल के निवल राजस्व का क़रीब 33 प्रतिशत ब्रिटेन भेजा। वास्तविक निष्कासन इससे भी अधिक था क्योंकि अंग्रेज़ अफ़सरों के वेतन और अन्य आय तथा अंग्रेज़ सौदागरों की व्यापारिक समृद्धि का अधिकांश भी इंग्लैंड गया।

यद्यपि अब तक वार्षिक निष्कासन की सही रक़म का हिसाब नहीं लगाया गया है और इतिहासकारों के बीच उसकी

राशि को लेकर मतभेद है तथापि निष्कासन के तथ्य को, कम-से-कम 1757 से 1857 तक, ब्रिटिश अधिकारियों ने व्यापक रूप से स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए लार्ड एलेनबरो, हाउस ऑफ़ लार्डस की सेलेक्ट कमेटी के अध्यक्ष और बाद में भारत के गवर्नर-जनरल, ने 1840 में स्वीकार किया कि भारत से "अपेक्षा है कि वह इस देश (ब्रिटेन) को थोड़े मूल्य में सैनिक सामानों के अलावा बदले में बिना कुछ लिए, हर साल बीस और तीस लाख पौंड के बीच रक़म भेजे।" और बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू, मद्रास के अध्यक्ष जान सुल्लिवान ने टिप्पणी की : "हमारी व्यवस्था बहुत कुछ स्पंज की तरह काम करती है, उसके ज़रिए गंगा तट से सारी अच्छी चीज़ों को सोख लिया जाता है और टेम्स नदी के किनारे लाकर उसे निचोड़ा जाता है।"

परिवहन और संचार के साधनों का विकास : उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत में परिवहन के साधन पिछड़े हुए थे। वे बैलगाड़ी, ऊँट और भारवाही घोड़े तक सीमित थे। ब्रिटिश शासकों ने जल्द ही महसूस किया कि ब्रिटिश तैयार माल को बड़े पैमाने पर भारत में वितरित करने तथा ब्रिटिश उद्योगों के लिए भारतीय कच्चा माल प्राप्त करने के लिए सस्ती और आसान परिवहन व्यवस्था आवश्यक है। उन्होंने नदियों में स्टीमर चलाए तथा सड़कों को सुधारना आरम्भ किया। ग्रैंड ट्रंक रोड पर कलकत्ता से दिल्ली तक काम 1839 में आरम्भ किया गया और उसे उन्नीसवीं सदी के छठे दशक में पूरा कर लिया गया। देश के बड़े शहरों, बन्दरगाहों और बाज़ारों को सड़कों द्वारा जोड़ने के प्रयास आरम्भ किए गए। मगर परिवहन में असली सुधार सिर्फ़ रेलमार्गों के बनने पर आया।

जार्ज स्टीफैंसन द्वारा जिस रेलवे इंजन की रूपरेखा बनाई गई थी वह इंजन 1814 में इंग्लैंड में पटरियों पर चलने लगा। उन्नीसवीं सदी के चौथे और पाँचवें दशकों के दौरान इंग्लैंड में रेलवे का तेज़ी से विकास हुआ। भारत में रेलवे के तेज़ी से निर्माण के लिए बहुत जल्द सरकार पर दवाव डाला गया। ब्रिटिश विनिर्माताओं ने आशा की कि इस तरह वे देश के अन्दरूनी विशाल अछूते बाज़ार के दरवाज़े खोल सकेंगे और अपनी मशीनों और कर्मिकों के लिए भारतीय कच्चे मालों और खाद्य सामग्रियों के निर्यात को आसान बना सकेंगे। ब्रिटिश बैंकर और निवेश-कर्ता भारत में रेलवे के विकास को अपनी अधिशेष पूंजी के निरापद निवेश के माध्यम के रूप में देखते थे। ब्रिटिश इस्पात विनिर्माताओं ने उसे अपने उत्पादनों, जैसे पटरियों, इंजनों, डिब्बों, अन्य मशीनरी तथा संयंत्र, की खपत के ज़रिए के रूप में देखा। भारत सरकार पर जल्द ही ये विचार हावी हो गए। उसने रेलवे में एक अतिरिक्त फ़ायदा भी देखा। रेलमार्ग के निर्माण के बाद अंग्रेज़ देश पर अधिक प्रभावकारी ढंग से और कुशलतापूर्वक प्रशासन कर पाएँगे। रेलवे होने पर वे सैनिकों को अधिक तेज़ी के साथ इकट्ठा कर एक जगह से दूसरी जगह ले जा पाएँगे तथा अपनी सरकार को अन्दरुनी बगावत या बाहरी आक्रमण से बचाने में समक्ष हो पाएँगे।

सबसे पहले 1831 में यह सुझाव दिया गया कि भारत में रेलवे का निर्माण मद्रास में हो। मगर इस रेलवे के डिब्बों को घोड़ों ने खींचना था। भारत में भाप के इंजनों वाली रेलगाड़ियों को चलाने का प्रस्ताव 1834 में इंग्लैंड में रखा गया। प्रस्ताव को इंग्लैंड के रेलवे-प्रोत्साहकों, पूंजीपतियों, भारत के साथ व्यापार करने वाले मर्केन्टाइल प्रतिष्ठानों, तथा वस्त्र विनिर्माताओं का ज़ोरदार समर्थन मिला। यह तय हुआ कि भारतीय रेलवे का निर्माण और संचालन निजी कम्पनियाँ करेंगी जिन्हें भारत सरकार ने उनकी पूंजी पर कम से कम 5 प्रतिशत मुनाफा देने की गारंटी दी। बम्बई से थाना तक पहली रेलवे लाईन यातायात के लिए 1853 में खोल दी गयी।

लार्ड डलहौजी जो 1849 में भारत का गवर्नर-जनरल हुआ तेज़ी से रेलमार्ग निर्माण करने का पक्का हिमायती था। 1853 में लिखी गयी एक प्रसिद्ध टिप्पणी में उसने रेलवे के विकास का एक विस्तृत कार्यक्रम रखा। उसने चार मुख्य लाइनों का जाल बिछाने का प्रस्ताव रखा जिसके ज़रिए देश के अन्दरुनी इलाक़ों को बड़े बंदरगाहों से तथा देश के विभिन्न भागों को एक दूसरे से जोड़ा जा सके।

1869 के अन्त तक गारंटी शुदा कम्पनियों ने 4,000 मील लम्बा रेलमार्ग बना दिया, मगर यह व्यवस्था बहुत ख़र्चीली और धीमी साबित हुई तथा 1869 में भारत सरकार ने नई रेलवे का निर्माण राजकीय उदयमों के रूप में किया। मगर रेलवे विस्तार की गति भारत स्थित अधिकारियों तथा ब्रिटेन स्थित व्यवसायियों को संतुष्ट नहीं कर सकी। 1880 के बाद रेलवे का निर्माण निजी

उद्यमों और राजकीय एजेंसी के ज़रिए हुआ। 1905 तक लगभग 28000 मील रेलमार्गों का निर्माण हो चुका था। भारतीय रेलवे के विकास के तीन महत्त्वपूर्ण पहलुओं को ध्यान में रखना चाहिए। प्रथमतः रेलवे में लगाई गई 350 करोड़ रुपए की लगभग सारी रक़म ब्रिटिश निवेशकर्ताओं ने दी, भारतीय पूँजी का हिस्सा नगण्य था। द्वितीयतः आरम्भिक 50-वर्षों के दौरान रेलवे में घाटा हुआ। वे लगाई गई पूँजी पर ब्याज देने में भी सक्षम नहीं थी। तृतीयतः उनके नियोजन निर्माण और प्रबंध में भारत तथा उसकी जनता के आर्थिक-राजनीतिक विकास को विशेष

हरकारा

भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली के सौजन्य से

महत्त्व नहीं दिया गया। इसके विपरीत मुख्य उद्देश्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक, राजनीतिक, और सैनिक स्वार्थों को साधना था। रेलवे लाइनें मुख्य रूप से भारत के कच्चा माल उत्पादन करने वाले क्षेत्रों को निर्यात बन्दरगाहों से जोड़ने के लिए बिछायी गयी थीं। अपने बाज़ार और अपने कच्चे मालों के स्त्रोतों से संबंधित भारतीय उद्योगों की आवश्यकताओं की अवहेलना की गयी। इसके अलावा, रेलवे लाइनें इस तरह से बिछायी गयी थीं कि आयात-निर्यात को बढ़ावा मिले मगर वस्तुओं को देश के अन्दर एक जगह से दूसरी जगह लाने-ले-जाने में अपेक्षाकृत कम सुविधा मिली। बर्मा और उत्तर-पश्चिम भारत में कई रेलवे लाइनें बड़ी ऊँची लागतों पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों को साधने के लिए बनाई गई थीं।

अंग्रेज़ों ने एक कुशल और आधुनिक डाक व्यवस्था भी स्थापित की और तार भेजने की सुविधा भी चालू की। प्रथम टेलीग्राफ लाइन कलकत्ता से आगरा तक 1853 में चालू की गयी। लार्ड डलहौजी ने डाक टिकट चालू किए। पहले जब भी कोई पत्र डाक द्वारा भेजा जाता था उसके लिए नक़द पैसा देना पड़ता था। उसने डाक दरों में कमी भी की और सारे देश में एक पत्र के लिए अधन्नी की समरुप दर रखी। उसके सुधारों से पहले किसी चिट्ठी पर डाक व्यय जाने वाली दूरी के हिसाब से लगता था। कुछ अवस्थाओं में चिट्ठी का डाक व्यय एक दक्ष भारतीय मजदूर के चार दिनों की मजदूरी के बराबर होता था।

भूराजस्व नीति

कम्पनी के व्यापार और मुनाफ़े के लिए मुद्राराशि प्रदान करने, प्रशासन का खर्च और भारत में ब्रिटिश राज्य के विस्तार के लिए लड़ाइयों का बोझ भारतीय किसान या रैयत को उठाना पड़ता था। वस्तुतः अंग्रेज़ भारत जैसे विशाल देश को बिना भारी मात्रा में कर लगाए नहीं जीत सक़ते थे। काफ़ी पुराने ज़माने से भारतीय राज्य कृषि की पैदावार का एक हिस्सा भूराजस्व के रूप में लेता रहा था। उसने ऐसा सीधे अपने कर्मचारियों के ज़रिए या अप्रत्यक्ष रूप से बिचौलियों, जैसे ज़मींदारों, लगान के ठेकेदारों आदि के ज़रिए किया था। बिचौलिये किसान से भूराजस्व वसूल करते थे और उसका एक भाग कमीशन के रूप में रख लेते थे। ये बिचौलिये मुख्यतः भूराजस्व वसूल करने वाले थे यद्यपि कभी-कभी उस क्षेत्र में उनकी कुछ जमीन होती थी जहाँ से वे भूराजस्व वसूल करते थे।

स्थायी बंदोबस्त : हम देख चुके हैं कि 1765 में ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी या उनके राजस्व पर अधिकार मिल गया। आरम्भ में उसने राजस्व वसूली की पुरानी व्यवस्था ही जारी रखने की कोशिश की हालाँकि उसने वसूल की जाने वाली रक़म को बढ़ा दिया। यह रक़म 1722 में 1,42,90,000 रुपए और 1764 में 81,80,000 रुपए थी। इसे बढ़ाकर 1771 में 2,34,00,000 रुपए कर दिया गया। 1773 में भूराजस्व का प्रबंध सीधा करने का निर्णय किया गया। वारेन हेस्टिंग्ज ने राजस्व वसूली का अधिकार सबसे ऊँची बोली लगाने वालों को नीलाम कर दिया। मगर यह प्रोग्राम सफल नहीं हुआ। यद्यपि भूराजस्व की रक़म को एक दूसरे के खिलाफ़ बोली लगाने वाले ज़मींदारों और सटोरियों ने काफ़ी ऊँचा बढ़ा दिया तथापि वास्तविक वसूली हर साल अलग-अलग और शायद ही कभी सरकारी उम्मीदों के अनुकूल होती थी। इससे कम्पनी के राजस्व में अस्थिरता आ गयी। यह याद रखना चाहिए कि उस समय कम्पनी को पैसों की सख्त ज़रूरत थी। इसके अलावा इस अनिश्चितता के कारण कि अगले साल कितना लगान होगा और राजस्व वसूल करने वाला कौन होगा, न तो रैयत और न ही ज़मींदार खेती में सुधार लाने के लिए कुछ करते थे।

इसी अवस्था में भूराजस्व को स्थायी तौर पर निश्चित करने का विचार पहली बार सामने आया। अन्ततोगत्वा लम्बे विचार-विमर्श और वाद-विवाद के बाद लार्ड कार्नवालिस ने 1793 में स्थायी बंदोबस्त बंगाल और बिहार में लागू किया। इसकी दो ख़ास विशेषताएँ थीं। प्रथमतः ज़मींदारों और राजस्व वसूल करने वालों को भूस्वामी बना दिया गया। उन्हें रैयत से भूराजस्व वसूल करने के लिए सरकारी एजेंट ही नहीं बनाया गया बल्कि वे अपनी ज़मींदारी में सारी ज़मीन के मालिक भी बन गए। उनके स्वामित्व के अधिकार को पैतृक और हस्तान्तरणीय बना दिया गया। दूसरी ओर किसानों को मात्र रैयतों का नीचा दरजा दिया गया और उनसे भूमि संबंधी तथा अन्य परम्परागत अधिकारों को छीन लिया गया। चरागाह तथा जंगल की ज़मीनों, सिंचाई की नहरों, मछलीपालन और वास-भूमि ज़मीन के इस्तेमाल तथा लगान वृद्धि से सुरक्षा उनके उन अधिकारों में से थे जिन्हें बलि चढ़ा दिया गया। वस्तुतः बंगाल के रैयतों को पूरी तरह ज़मींदारों की दया पर छोड़ दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया कि ज़मींदार कम्पनी की काफ़ी ऊँची भूराजस्व संबंधी माँग को पूरा कर सकें। द्वितीयतः, ज़मींदारों को आदेश दिया गया कि किसानों से वसूल किए गए लगान की रक़म का 10/11 हिस्सा कम्पनी को अदा करें और केवल 1/11 अपने लिए रखें। मगर भूराजस्व की जो रक़म कम्पनी को अदा करनी थी वह सदा के लिए निश्चित कर दी गयी। अगर किसी ज़मींदारी से प्राप्त लगान की रक़म कृषि के प्रसार या सुधार, या रैयतों से अधिक रक़म उगाहने, या किसी अन्य कारण से बढ़ जाती तो ज़मींदार को बढ़ी हुई पूरी रक़म रखने का अधिकार दे दिया गया। राज्य ने उससे कोई अन्य रक़म माँगने का अधिकार छोड़ दिया। साथ ही ज़मींदार से अपेक्षा की गयी कि वह अपना राजस्व निश्चित तारीख पर ज़रूर अदा कर दे भले ही फसल खराब क्यों न हो गयी हो, अन्यथा उसकी ज़मींदारी नीलाम कर दी जाएगी।

भूराजस्व का प्रारम्भिक निर्धारण मनमाने ढंग से ज़मींदारों से बिना सलाह-मशविरा किए किया गया। अधिकारियों की कोशिश अधिकतम रक़म प्राप्त करने की थी। परिणामस्वरूप राजस्व की दरों को काफ़ी ऊँचा रखा गया। जान शोर ने स्थायी बंदोबस्त की योजना बनायी और बाद में वह कार्नवालिस की जगह गवर्नर-जनरल बना। उसने हिसाब लगाया कि अगर बंगाल के सकल उत्पादन को 100 माना जाए तो सरकार को 45 तथा उसके नीचे आने वाले ज़मींदारों और अन्य बिचौलियों को 15 मिलेगा और केवल 40 वास्तविक किसान के पास रहेगा।

बाद में चल कर सरकारी और गैरसरकारी तौर पर सामान्यतः यह स्वीकार किया गया कि बंगाल और बिहार के ज़मींदारों का अधिकांश ज़मीन पर स्वामित्व संबंधी अधिकार नहीं था। प्रश्न यह उठता है कि अंग्रेज़ों ने ज़मीन पर उनकी मिल्कियत क्यों मान ली। एक उत्तर यह है कि ऐसा उन्होंने ग़लतफ़हमी के कारण किया। इंग्लैंड में उस समय कृषि में मुख्य स्थान भूस्वामी का था और ब्रिटिश अधिकारियों ने यह समझने की ग़लती की कि वही स्थान

भारत में ज़मींदार का है। मगर यह उल्लेखनीय है कि एक महत्त्वपूर्ण पहलू की दृष्टि से ब्रिटिश अधिकारियों ने दोनों की स्थितियों में फ़र्क़ किया। इंग्लैंड में भूस्वामी न सिर्फ़ रैयत की दृष्टि से बल्कि राज्य की दृष्टि से भी ज़मीन का मालिक था। बंगाल में ज़मींदार रैयत के लिए भूस्वामी था परन्तु वह राज्य के अधीन था। वस्तुतः उसे ईस्ट इंडिया कम्पनी के रैयत का दरजा दे दिया गया था। उसकी स्थिति ब्रिटिश भूस्वामी के विपरीत थी। ब्रिटिश भूस्वामी अपनी आय का एक छोटा हिस्सा लगान के रूप में देता था मगर बंगाल के ज़मींदार को अपनी उस ज़मीन की आय का 10/11 सरकार को देना पड़ता था जिसका उसे स्वामी समझा जाता था, और उसे समय पर राजस्व न दे पाने पर उस ज़मीन से बिना दिक्कत बेदखल कर दिया जा सकता था और उसकी ज़मींदारी को नीलाम किया जा सकता था।

अन्य इतिहासकारों का विचार है कि ज़मींदारों को भूस्वामी मानने का निर्णय मूलतः राजनीतिक, वित्तीय और प्रशासनिक ज़रूरतों को देखते हुए किया गया। यहाँ मार्ग-दर्शक कारक तीन थे। पहला कारक चतुराई पूर्ण शासन-कला पर आधारित था। वह था राजनीतिक सहायक बनाने की आवश्यकता। ब्रिटिश अधिकारियों ने महसूस किया कि भारत में विदेशी होने के कारण उनका शासन तब तक अस्थिर रहेगा जब तक वे स्थानीय समर्थक न बना लें जो उनके और भारतीय जनता के बीच प्रतिरोधक का काम करें। इस तर्क का तात्कालिक महत्त्व था क्योंकि अठारहवीं सदी के आखिरी 25 वर्षों के दौरान बंगाल में अनेक जन विद्रोह हुए। इसलिए अंग्रेज़ों ने ज़मींदारों के एक समृद्ध और विशेषाधिकार युक्त वर्ग को जन्म दिया। चूंकि इस वर्ग का अस्तित्व ब्रिटिश शासन के कारण हुआ इसलिए वह अपने बुनियादी हितों से प्रेरित होकर उसका समर्थन करता। वास्तव में यह प्रत्याशा बाद में पूरी हुई जब ज़मींदारों ने एक वर्ग के रूप में उदीयमान स्वतंत्रता-आंदोलन के विरुद्ध विदेशी सरकार का समर्थन किया। दूसरा, और शायद सबसे प्रमुख उद्देश्य वित्तीय सुरक्षा प्राप्त करना था। 1793 के पहले कम्पनी की अपनी आय के मुख्य स्रोत—भूराजस्व—में उतारचढ़ाव के कारण बड़ी परेशानी थी। स्थायी बंदोबस्त ने आय में स्थिरता की गारंटी दी। ज़मींदारों की नवसृजित सम्पत्ति ने इसकी ज़मानत का काम किया। इसके अलावा स्थायी बन्दोबस्त ने कम्पनी को अपनी आय अधिकतम करने में सहायता दी क्योंकि भूराजस्व इतना अधिक निर्धारित कर दिया गया जितना पहले कभी नहीं था। लाखों किसानों से लेन-देन रखने की प्रक्रिया की अपेक्षा थोड़े से ज़मींदारों के ज़रिए राजस्व वसूल करना काफ़ी आसान और सस्ता था। तीसरे स्थायी बंदोबस्त से कृषि उत्पादन बढ़ने की उम्मीद थी। चूंकि भविष्य में ज़मींदार की आय बढ़ने पर भी भूराजस्व नहीं बढ़ने वाला था इसलिए उम्मीद थी कि ज़मींदार खेती के विस्तार और कृषि-उत्पादकता को बढ़ाने के लिए प्रेरित होंगे।

बाद में चलकर स्थायी ज़मींदारी बंदोबस्त को उड़ीसा, मद्रास के उत्तरी ज़िलों, तथा वाराणासी ज़िले में भी लागू किया गया।

मध्य भारत के हिस्सों और अवध में अंग्रेज़ों ने एक अस्थायी ज़मींदारी बंदोबस्त लागू किया जिसके अन्तर्गत ज़मींदारों को ज़मीन का मालिक तो बना दिया गया मगर भूराजस्व को समय-समय पर पुनर्निर्धारित करने की व्यवस्था की गयी। भूस्वामियों का एक अन्य वर्ग सारे भारत में तब बनाया गया जब सरकार ने उन लोगों को ज़मीन देने की प्रथा आरम्भ की जिन्होंने विदेशी शासकों की बड़ी निष्ठापूर्ण सेवा की थी।

रैयतबारी बंदोबस्त : दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना ने ज़मीन के बंदोबस्त से संबंधित नयी समस्याएँ खड़ी कर दीं। अधिकारियों का ख्याल था कि इन क्षेत्रों में बड़ी भूसंपत्तियों वाले ज़मींदार नहीं हैं, जिनके साथ भूराजस्व का बंदोबस्त किया जा सके। वे समझते थे कि जमींदारी व्यवस्था लागू करने से अस्त-व्यस्तता आ जाएगी। रीड और मनरो के नेतृत्व में मद्रास के अनेक अधिकारियों ने सिफ़ारिश की कि बंदोबस्त सीधे वास्तविक किसानों के साथ किया जाए। उन्होंने यह भी बतलाया कि स्थायी बंदोबस्त के अंतर्गत कम्पनी को वित्तीय दृष्टि से घाटा रहता है क्योंकि उसे राजस्व का एक हिस्सा ज़मींदारों को देना पड़ता है तथा वह ज़मीन से बढ़ती हुई आय पर कोई दावा नहीं कर सकती। जिस व्यवस्था को लागू करने का प्रस्ताव उन्होंने रखा उसे

रैयतवारी बंदोबस्त कहते हैं। इसके अन्तर्गत किसान को अपने खेत का स्वामी माना गया बशर्ते कि वह भूराजस्व अदा करे। रैयतवारी व्यवस्था के समर्थकों ने दावा किया कि उसके ज़रिए भूतकाल में जो स्थिति थी उसको ही आगे बढ़ाया जा रहा है। मनरो ने कहा "यह वही व्यवस्था है जो भारत में हमेशा रही है।" अन्त में रैयतवारी व्यवस्था उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में मद्रास और बम्बई प्रेसिडेंसियों में लागू की गयी। रैयतवारी व्यवस्था के अन्तर्गत बंदोबस्त को स्थायी नहीं बनाया गया इसे नियमित रूप से 20 से 30 वर्षों के बाद संशोधित किया जाता था और आमतौर से राजस्व की माँग को बढ़ा दिया जाता था।

रैयतवारी बंदोबस्त से कृषक स्वामित्व की व्यवस्था नहीं क़ायम हो सकी। किसानों ने जल्द ही पाया कि अनेक ज़मींदारों की जगह एक बड़े विशाल ज़मींदार राज्य ने ले ली है। वस्तुतः बाद में सरकार ने खुलेआम दावा किया कि भूराजस्व लगान है, कर नहीं। अपनी ज़मीन पर मिल्कियत संबंधी किसान के अधिकार का भी निषेध तीन अन्य कारकों द्वारा कर दिया गया। (1) अधिकांश इलाक़ों में निर्धारित भूराजस्व काफ़ी अधिक था, अत्यन्त बढ़िया मौसम में भी रैयत के पास शायद ही इतनी आय रह जाती थी जिससे वह अपना भरण-पोषण कर सके। उदाहरण के लिए, मद्रास में पहले के बंदोबस्त के दौरान सरकार का भूराजस्व सकल उत्पादन का 45 से 55 प्रतिशत निश्चित किया गया था। बम्बई में भी हालत कोई कम खराब न थी। (2) सरकार ने इच्छानुसार भूराजस्व बढ़ाने का अधिकार अपने पास रखा। (3) रैयत को तब भी राजस्वअदा करना पड़ता था जब उसकी उपज आंशिक या सम्पूर्ण रूप से सूखे या बाढ़ से बर्बाद हो जाती थी।

महालवारी व्यवस्था : गंगा की घाटी, उत्तर-पश्चिम प्रान्तों, मध्य भारत के हिस्सों और पंजाब में ज़मींदारी बंदोबस्त का एक संशोधित रूप लागू किया गया। इसे महालवारी बंदोबस्त कहा गया। राजस्व बंदोबस्त गाँव-गाँव या महाल-महाल में ज़मींदारों या उन परिवारों के प्रधानों के साथ किया गया जो सामूहिक रूप से गाँव या महाल के ज़मींदार होने का दावा करते थे। पंजाब में एक संशोधित महाल री व्यवस्था लागू की गयी जिसे ग्राम व्यवस्था कहा जाता था। महालवारी क्षेत्रों में भी भू-राजस्व में नियमित रूप से समय-समय पर फेर-बदल किया जाता था।

ज़मींदारी और रैयतवारी व्यवस्थाएँ, दोनों देश की पारस्परिक भूमि व्यवस्थाओं से मूलतः भिन्न थीं। अंग्रेज़ों ने भूमि संपत्ति का एक ऐसा रूप बनाया जिससे अभिनवीकरण का लाभ किसानों को न मिल सके। सारे देश में ज़मीन को बेचा, बंधक रखा तथा हस्तान्तरण किया जाना संभव हो गया। ऐसा मुख्यतः सरकारी राजस्व की सुरक्षा के लिए किया गया। अगर ज़मीन को हस्तान्तरणीय या बिक्री योग्य नहीं बनाया जाता तो उस किसान से राजस्व वसूल करना सरकार के लिए मुश्किल हो जाता जिसके पास न तो कोई बचतें होतीं और न ही ऐसी कोई जायदाद होती जिससे वह भुगतान कर पाता। अब वह अपना भूराजस्व अदा करने के लिए ज़मीन की जमानत पर पैसे उधार ले सकता था या उसका कुछ हिस्सा बेच सकता था। अगर वह ऐसा करने से इन्कार करता तो सरकार भूराजस्व की रक़म वसूल करने के लिए ज़मीन को नीलाम कर सकती थी। बहुधा सरकार ने ऐसा किया भी। भूमि के ऊपर निजी स्वामित्व लागू करने का एक अन्य कारण इस धारणा से निकला था कि केवल स्वामित्व का अधिकार ही ज़मींदार या रैयत को ज़मीन में सुधार लाने के लिए प्रेरित करेगा।

अंग्रेज़ों ने ज़मीन को एक माल का रूप देकर जिसे खुलेआम खरीदा या बेचा जा सकता था देश की तत्कालीन भूमि व्यवस्थाओं में एक बुनियादी परिवर्तन किया। भारतीय गाँवों की स्थिरता और निरन्तरता हिल गयी। वस्तुतः ग्रामीण समाज का पूरा ढाँचा टूटने लगा।

अभ्यास

1. ब्रिटिश राज्य के साथ 1765 से 1833 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के संबंधों के विकास पर प्रकाश डालिए । उन मुख्य कारकों की चर्चा कीजिए जिन्होंने इन संबंधों को प्रभावित किया ।
2. भारत में 1757 से 1857 तक ब्रिटेन ने जो व्यापारिक नीति अपनायी उसकी आलोचनात्मक विवेचना कीजिए :
3. किस प्रकार ब्रिटिश भूराजस्व नीति ने भारत में कृषि संबंधों को रूपान्तरित किया ?
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (क) 1773 का रेगुलेटिंग ऐक्ट और गवर्नर-जनरल के अधिकार; (ख) औद्योगिक क्रान्ति; (ग) बंगाल से सम्पदा का निष्कासन; (घ) रेलवे का विकास ।

अध्याय 6

प्रशासनिक संगठन और सामाजिक तथा सांस्कृतिक नीति

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि 1784 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारतीय प्रशासन को ब्रिटिश सरकार ने अपने नियंत्रण में ले लिया था और उसकी आर्थिक नीतियाँ ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को देखते हुए निर्धारित की जाने लगी थीं। अब हम उस संगठन की चर्चा करेंगे जिसके जरिए कम्पनी ने अपने नव प्राप्त उपनिवेश का प्रशासन किया।

आरम्भ में कम्पनी ने भारत स्थित अपने इलाकों का प्रशासन भारतीयों के हाथों में छोड़ दिया था और तब उसकी गतिविधियाँ देखरेख तक ही सीमित रह गयी थीं। मगर उसने जल्द ही पाया कि प्रशासन के पुराने तौर-तरीकों का अनुसरण करने से ब्रिटिश उद्देश्य ठीक से प्राप्त नहीं हो सकते। फलस्वरूप कम्पनी ने प्रशासन के सभी पहलुओं को अपने हाथों में ले लिया। वारेन हेस्टिंग्स और कार्नवालिस के शासनकाल में बंगाल के प्रशासन में आमूल परिवर्तन किया गया और नयी व्यवस्था की नींव अंग्रेजी ढाँचे पर रखी गयी। नये क्षेत्रों में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार, नयी समस्याओं, नयी आवश्यकताओं, नये अनुभवों और नए विचारों के फलस्वरूप प्रशासन की व्यवस्था में परिवर्तन हुए। मगर साम्राज्यवाद के व्यापक उद्देश्यों को कभी नहीं भुलाया गया।

भारत में ब्रिटिश प्रशासन तीन खम्भों पर टिका हुआ था। वे थे नागरिक सेवा (सिविल सर्विस), सेना, और पुलिस। ऐसा दो वजहों से था। पहला कारण : ब्रिटिश भारत के प्रशासन का मुख्य लक्ष्य कानून और व्यवस्था को बनाये रखना तथा ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाना था। कानून और व्यवस्था के अभाव में ब्रिटिश सौदागर और ब्रिटिश विनिर्माता अपनी वस्तुओं को भारत के कोने-कोने में बेचने की उम्मीद नहीं रख सकते थे। फिर विदेशी होने के कारण अंग्रेज भारतीय जनता का स्नेह पाने की आशा नहीं कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने भारत पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए जन समर्थन के बदले शक्ति का सहारा लिया। ड्यूक आफ वेलिंग्टन (जिसने अपने भाई लार्ड वेल्सली के मातहत भारत में काम किया था) ने यूरोप जाने पर लिखा :

> "भारत में सरकार की व्यवस्था, सत्ता की नींव और उसे संभाले रखने तथा सरकार के कार्यकलापों को चलाने के तौर-तरीके समान उद्देश्य के लिए यूरोप में अपनाए गए और तौर-तरीक़ों से बिलकुल भिन्न हैं··· वहाँ सम्पूर्ण सत्ता की नींव और उपकरण तलवार है।"

नागरिक सेवा (सिविल सर्विस)

नागरिक सेवा का जन्मदाता लार्ड कार्नवालिस था। जैसा कि पहले के एक अध्याय में हम देख चुके हैं, आरम्भ

से ही पूर्व में ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापार कर्मचारियों के ज़रिए होता था। कर्मचारियों को बहुत कम मज़दूरी दी जाती थी मगर उन्हें अपना निजी व्यापार करने की इजाज़त थी। बाद में जब कम्पनी एक क्षेत्रीय शक्ति बन गयी तब उन्हीं कर्मचारियों ने प्रशानिक कार्य करने आरम्भ किए। वे तब अत्यन्त भ्रष्ट हो गए। स्थानीय बुनकरों और दस्तकारों, सौदागरों, और ज़मींदारों का उत्पीड़न कर, राजाओं और नवाबों से घूस और नज़राना ऐंठ कर और गैरक़ानूनी निजी व्यापार के ज़रिए उन्होंने अकथनीय संपदा इकट्ठी की जिसको लेकर सेवानिवृत्त हो इंग्लैंड चले गए। क्लाईव और वारेन हेस्टिंग्स ने उनके भ्रष्टाचार को समाप्त करने के प्रयास किए मगर वे आंशिक रूप से ही सफल रहे।

कार्नवालिस 1786 में भारत का गवर्नर-जनरल बन कर आया। वह प्रशासन को स्वच्छ बनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था मगर उसने महसूस किया कि कम्पनी के कर्मचारी तब तक ईमानदारी और कुशलतापूर्वक काम नहीं कर सकते जब तक उन्हें पर्याप्त वेतन नहीं दिए जाते। इसीलिए उसने निजी व्यापार तथा अफ़सरों द्वारा नज़राने और घूस लिए जाने के ख़िलाफ़ सख्त क़ानून बनाए। साथ ही उसने कंपनी के कर्मचारियों के वेतन भी बढ़ा दिए। उदाहरण के लिए, ज़िले के कलक्टर का वेतन 1500 रु० प्रति माह निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त उसे अपने ज़िले की कुल वसूल की गयी राजस्व की रक़म का एक प्रतिशत दिया जाना तय हुआ। वस्तुतः कम्पनी की नागरिक सेवा संसार में सबसे अधिक भुगतान पाने वाली सेवा हो गयी। कार्नवालिस ने यह भी निर्धारित किया कि नागरिक सेवा में पदोन्नति वरिष्ठता के आधार पर होगी जिससे उसके सदस्य बाहरी प्रभाव के मुक्त रहें।

लार्ड वेल्सली ने 1800 में बतलाया कि यद्यपि नागरिक कर्मचारी बहुधा विशाल क्षेत्रों पर शासन करते थे तथापि वे भारत 18 वर्ष या उसके लगभग की अपरिपक्व उम्र में आते थे और अपना काम आरम्भ करने के पहले उन्हें कोई प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था। आमतौर से उन्हें भारतीय भाषाओं की जानकारी नहीं होती थी। इस लिए वेल्सली ने नागरिक सेवा में आनेवाले युवा लोगों के प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कालेज खोला। कम्पनी के निदेशकों ने उसकी कार्रवाई को पसन्द नहीं किया और 1806 में उन्होंने कलकत्ता के कालेज की जगह इंग्लैंड में हेलीवरी के अपने ईस्ट इंडियन कालेज में प्रशिक्षण का का काम आरम्भ किया।

1853 तक नागरिक सेवा में सारी नियुक्तियाँ ईस्ट इंडिया कम्पनी के निदेशक करते रहे। बोर्ड आफ़ कंट्रोल के सदस्यों को खुश करने के लिए उन्होंने उन्हें कुछ नियुक्तियाँ करने का मौक़ा दिया। निदेशको ने इस लाभप्रद और बहुमूल्य विशेषाधिकार को बनाए रखने के लिए बहुत संघर्ष किया और जब संसद ने उनके अन्य आर्थिक और राजनीतिक विशेषाधिकारों को छीन लिया तब भी उन्होंने इस विशेषाधिकार को छोड़ने से इन्कार कर दिया। अन्ततोगत्वा 1853 में वे उसे खो बैठे जब चार्टर ऐक्ट ने यह क़ानूनी व्यवस्था लागू कर दी कि नागरिक सेवा में सारे प्रवेश प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा होंगे।

कार्नवालिस के ज़माने से ही भारतीय नागरिक सेवा की एक ख़ास विशेषता थी : भारतीयों को बड़ी सख्ती से पूरी तरह अलग रखना। अधिकृत तौर पर 1793 में यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रशासन में उन सारे ऊँचे ओहदों पर जहाँ 500 पौंड सालाना से अधिक वेतन मिलता था, केवल अंग्रेज़ ही नियुक्त हो सकते हैं। इस नीति को सरकार की अन्य शाखाओं जैसे सेना, पुलिस, न्यायपलिका और इंजिनियरिंग में भी अपनाया गया। कार्नवालिस की जगह गवर्नर-जनरल बनने वाले जान शोर के शब्दों में :

> "अंग्रेज़ों का बुनियादी सिद्धान्त सारे भारतीय राष्ट्र को हर संभव तौर पर अपने हितों और फ़ायदों के लिए गुलाम बनाना था। भारतवासियों को हर सम्मान, प्रतिष्ठा या ओहदे से वंचित रखा गया है जिन्हें स्वीकार करने के लिए छोटे से छोटे अंग्रेज़ों की भी चिरौरी की जा सकती है।"

अंग्रेज़ों ने ऐसी नीति का अनुसरण क्यों किया ? इस के लिए अनेक कारक संयुक्त रूप से ज़िम्मेदार थे। सर्वप्रथम, उन्हें विश्वास था कि ब्रिटिश विचारों, संस्थानों, और व्यवहारों पर आधारित कोई प्रशाशन केवल अंग्रेज़ कार्यकर्ताओं द्वारा ही पूरी तरह स्थापित किया जा सकता है। और फिर भारतीय लोगों की योग्यता और ईमानदारी पर उनको भरोसा नहीं था। उदाहरण के लिए, चार्ल्स ग्रांट ने भारतीय जनता की निंदा करते हुए कहा कि वह

"मनुष्यों की अत्यन्त पतित और निकृष्ट नस्ल है जिसमें नैतिक ज़िम्मेदारी की नाममात्र की भावना रह गयी है,... और जो अपने दुर्गुणों के कारण विपन्नता में धंसी हुई है।" इसी तरह कार्नवालिस का विश्वास था कि "हिंदुस्तान का हर निवासी भ्रष्ट है।" यह उल्लेखनीय है कि यह आलोचना कुछ हद तक तत्कालीन भारतीय अफ़सरों और ज़मींदारों के एक छोटे वर्ग पर ज़रूर लागू होती थी। मगर यह आलोचना अगर अधिक नहीं तो समान रूप से भारत स्थित ब्रिटिश अफ़सरों पर भी लागू होती थी। वस्तुतः कार्नवालिस ने उन्हें ऊँचे वेतन देने का प्रस्ताव इसलिए रखा था कि उन्हें प्रलोभन से बचने में सहायता मिले और वे ईमानदार तथा आज्ञाकारी बन सकें। मगर उसने पर्याप्त वेतन का यह उपाय भारतीय अफ़सरों के बीच से भ्रष्टाचार हटाने के लिए लागू करने के बारे में कभी नहीं सोचा।

वास्तव में, सेवाओं के उच्च वेतनमानों से भारतीयों को वंचित रखने की नीति जानबूझ कर अपनायी गयी। इन सेवाओं की ज़रूरत उस समय भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना करने तथा उसे मज़बूत बनाने के लिए थी। स्पष्टतया यह काम भारतीयों पर नहीं छोड़ा जा सकता था जिनमें अंग्रेज़ों की तरह ब्रिटिश हितों के लिए न सहज सहानुभूति थी और न उनकी समझदारी। वस्तुतः इन नियुक्तियों को लेकर उनके बीच घनघोर संघर्ष हुए। नियुक्ति करने का अधिकार कम्पनी के निदेशकों और ब्रिटिश मंत्रिमंडल के बीच बहुत दिनों तक विवाद का विषय बना रहा। ऐसी स्थिति में अंग्रेज भारतवासियों को कैसे इन जगहों पर आने देते। मगर छोटे ओहदों के लिए भारतवासियों को बड़ी संख्या में भर्ती किया गया क्योंकि वे अंग्रेज़ों की अपेक्षा सस्ते तथा आसानी से उपलब्ध थे।

भारतीय नागरिक सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) धीरे-धीरे दुनिया की एक अत्यन्त कुशल और शक्तिशाली सेवा से रूप में विकसित हो गयी। उसके सदस्यों को काफ़ी अधिकार थे और बहुधा वे नीति-निर्माण के कार्य में भाग लेते थे। उन्होंने आज़ादी, ईमानदारी, और कठिन परिश्रम की कतिपय परम्पराएँ विकसित कीं यद्यपि इन गुणों ने स्पष्टतया भारतीय हितों को नहीं बल्कि ब्रिटिश हितों को साधा। साथ ही उन्होंने अपनी एक अलग परिदृढ़ और अभिमानी जाति ही बना ली जिसका दृष्टिकोण अत्यन्त रूढ़िवादी और संकीर्ण था। उनको यह विश्वास हो गया कि भारत शासन करने का उन्हें लगभग दैवी अधिकार मिल गया है। भारतीय नागरिक सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) को बहुधा 'इस्पात का चौखट' कहा गया है जिसने भारत में ब्रिटिश शासन का पोषण किया और उसे बनाए रखा। कालक्रम से वह भारतीय जीवन के जो कुछ भी प्रगतिशील और उन्नत पहलू थे उनका विरोधी बन गयी और इस प्रकार वह उदीयमान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के हमले का एक निशाना हो गयी।

सेना

भारत में ब्रिटिश राज के दूसरे महत्त्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में सेना थी। उसने तीन महत्त्वपूर्ण कार्य किए। वह भारतीय शक्तियों को जीतने के लिए औज़ार बनी। उसने विदेशी प्रतिद्वन्द्वियों से भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की, और सदा वर्तमान आन्तरिक विद्रोह के ख़तरे से ब्रिटिश प्रभुसत्ता की रक्षा की।

कम्पनी की अधिकांश सेना भारतीय सिपाहियों की थी जिन्हें मुख्य रूप से उन क्षेत्रों से भर्ती किया गया था जो अभी उत्तर-प्रदेश और बिहार में हैं। उदाहरण के लिए, 1857 में भारत में कम्पनी की फ़ौज में 3,11,400 सैनिक थे जिनमें से 2,65,900 भारतीय थे। मगर उसके अफ़सर कार्नवालिस के ज़माने से निश्चित ही केवल अंग्रेज थे। 1856 में सेना में केवल तीन ऐसे भारतीय थे जिनको 300 रु० प्रति माह वेतन मिलता था और सबसे ऊँचा भारतीय अफ़सर एक सूबेदार था। बड़ी संख्या में भारतीय सैनिकों को काम पर लगाना पड़ता था क्योंकि ब्रिटिश सैनिक अपेक्षाकृत अधिक ख़र्चीले थे। इसके अलावा, ब्रिटेन की जनसंख्या इतनी कम थी कि वह शायद भारत को जीतने के लिए बड़ी संख्या में सैनिक नहीं दे सकती थी। संतुलन के लिए फ़ौज के सारे अफ़सर अंग्रेज़ रखे जाते थे और भारतीय सैनिकों को नियंत्रण में रखने के लिए ब्रिटिश सैनिकों को एक निश्चित संख्या में रखा जाता था। आज इस पर बड़ा अचरज होता है कि मुट्ठी भर विदेशी ऐसी फ़ौज के ज़रिए भारत को जीत और नियंत्रित कर सके, जिसमें भारतीयों का बहुमत

था। ऐसा दो कारणों से संभव हुआ। एक ओर उस समय देश में आधुनिक राष्ट्रीयता का अभाव था। बिहार या अवध के किसी सैनिक ने न यह सोचा और न ही वह यह सोच सकता था कि मराठों या पंजाबियों को हराने में कम्पनी की सहायता कर वह भारत विरोधी हो रहा है। दूसरी ओर, भारतीय सैनिक की यह बड़ी पुरानी परम्परा रही थी कि वह जिससे वेतन पाए उसकी निष्ठापूर्वक सेवा करे। इसे आमतौर से नमक हलाली कहा जाता था। दूसरे शब्दों में, भारतीय सैनिक भाड़े का एक बढ़िया सिपाही था और कम्पनी एक अच्छा वेतनदाता थी। उसने अपने सैनिकों को नियमित रूप से और अच्छा वेतन दिया। यह एक ऐसी चीज़ थी जो भारतीय शासक और सरदार उस समय नहीं कर रहे थे।

पुलिस

पुलिस ब्रिटिश शासन का तीसरा स्तम्भ थी। उसका सृजन करने वाला भी कार्नवालिस ही था। उसने ज़मींदारों को पुलिस कार्यों से मुक्त कर दिया और कानून तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक नियमित पुलिस दल की स्थापना की। इसके लिए उसने थानों की पुरानी भारतीय व्यवस्था को लिया और उसे आधुनिक बनाया। दिलचस्प बात यह है कि पुलिस व्यवस्था के मामले में भारत ब्रिटेन से आगे हो गया। उस समय तक ब्रिटेन में पुलिस-व्यवस्था विकसित नहीं हुई थी। कार्नवालिस ने थानों की व्यवस्था स्थापित की। हर थाने का प्रधान दरोग़ा होता था। दरोग़ा भारतीय होता था। बाद में, पुलिस के ज़िला सुपरिंटेंडेंट (अधीक्षक) का पद बनाया गया। सुपरिंटेंडेंट ज़िले में पुलिस संगठन का प्रधान हो गया। पुलिस में भी भारतीयों को सभी ऊँचे ओहदों से अलग रखा गया। गाँवों में पुलिस की ज़िम्मेदारियों को चौकीदार निभाते थे जिनका भरण-पोषण गाँववाले करते थे। पुलिस धीरे-धीरे डकैती जैसे प्रमुख अपराधों को कम करने में सफल हो गयी। ठगों को दबाना उसकी एक प्रमुख उपलब्धि था। ठग राष्ट्रीय मार्गों पर जाने वाले यात्रियों को लूट लेते और उन्हें जान से मार देते थे। ठग विशेषकर मध्य भारत में सक्रिय थे। पुलिस ने विदेशी नियंत्रण के विरुद्ध बड़े पैमाने पर षड्यंत्रों को भी रोका और जब राष्ट्रीय आंदोलन का उदय हुआ तब पुलिस का इस्तेमाल उसे दबाने के लिए किया गया। लोगों के साथ व्यवहार में भारतीय पुलिस ने असहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया। संसद की एक समिति ने 1813 की अपनी एक रिपोर्ट में बतलाया कि "पुलिस ने शान्तिप्रिय निवासियों को उसी तरह लूटा-मारा जैसे डकैत करते थे जिनको दबाने के लिए उसका आयोजन किया गया था।" और गवर्नर-जनरल बैंटिक ने 1832 में लिखा :

> "जहाँ तक पुलिस का सवाल है वह जनता का रक्षक होने की स्थिति से कोसों दूर है। इस सम्बन्ध में जनता की भावना को बिना निम्नलिखित तथ्य का सहारा लिए मैं अच्छी तरह नहीं रख सकता। हाल के एक रेगुलेशन से बढ़कर कुछ भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकता। इस रेगुलेशन के अनुसार अगर कोई डकैती हुई हो तो पुलिस को तब तक जांच करने की मनाही है जब तक लूटे गए व्यक्ति उसे नहीं बुलाए: कहने का मतलब यह है कि गडेरिया भेड़िये से बड़ा भुक्खड़ हिंसक पशु है।

न्यायिक संगठन

अंग्रेज़ों ने दीवानी और फ़ौजदारी कचहरियों के श्रेणीबद्ध संगठन के द्वारा न्याय प्रदान करने की एक नयी व्यवस्था की नींव रखी। इस व्यवस्था को वारेन हेस्टिंग्स ने आरम्भ किया मगर कार्नवालिस ने 1793 में इसे स्थिरता प्रदान की। हर ज़िले में एक दीवानी अदालत क़ायम की गयी जिसका प्रमुख ज़िला जज होता था जो नागरिक सेवा का सदस्य होता था। इस तरह कार्नवालिस ने दीवानी जज और कलक्टर के ओहदों को अलग-अलग कर दिया। ज़िला अदालत के फ़ैसलों के ख़िलाफ़ अपील पहले दीवानी अपील की चार प्रांतीय अदालतों में हो सकती थी। अपील की आख़िरी सुनवाई सदर दीवानी अदालत ही कर सकती थी। जिला अदालत के नीचे रजिस्ट्रार की अदालतें थीं जिनके प्रधान यूरोपवासी होते थे, और अनेक छोटी अदालतें थीं जिनके प्रधान भारतीय जज होते थे जिन्हें मुन्सिफ़ और अमीन कहा जाता था। फ़ौजदारी मुक़दमों का निबटारा करने के लिए कार्नवालिस ने बंगाल प्रेसिडेंसी को चार डिविज़नों में बाँट दिया। उसने उनमें से हर एक में एक क्षेत्रीय न्यायालय (कोर्ट ऑफ़ सर्किट) स्थापित किया जिनके प्रधान नागरिक सेवा के लोग होते थे। इन अदालतों के नीचे छोटे-छोटे मुक़दमों का फ़ैसला करने के लिए बड़ी संख्या में भारतीय मजिस्ट्रेट

होते थे। क्षेत्रीय न्यायालयों (कोर्टस ऑफ सर्किट) के फ़ैसलों के ख़िलाफ़ सदर निज़ामत अदालत में अपील की जा सकती थी। फ़ौजदारी अदालतों ने मुस्लिम फ़ौजदारी क़ानून को संशोधित और कम सख्त रूप में लागू किया जिससे शरीर के अंगों को फाड़ने और इस प्रकार की अन्य सज़ाएँ देनें की मनाही कर दी गयी। दीवानी अदालतों ने उस पारम्परिक क़ानून को लागू किया जो किसी क्षेत्र या जनता के किसी हिस्से के बीच बहुत पुराने ज़माने से चला आरहा था। विलियम बैंटिक ने 1831 में अपील का प्रान्तीय अदालतों तथा क्षेत्रीय न्यायालयों को ख़त्म कर दिया। उनका काम पहले कमीशनों और बाद में जिला जजों और ज़िला कलक्टरों को सौंप दिया गया। बैंटिक ने न्यायायिक सेवा में काम करने वाले भारतीयों के दरजे और अख्तियार बढ़ा दिए। उसने भारतीयों को डिप्टी मजिस्ट्रेट सबार्डिनेट जज और प्रिंसिपल सदर अमीन नियुक्त किए। सदर दीवानी अदालत और सदर निज़ामत अदालत की जगह 1865 में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में उच्च न्यायालय (हाई कोर्ट) स्थापित किए गए।

अधिनियम (enactment) तथा पुराने क़ानूनों को संहिताबद्ध (codification) करने की प्रक्रियाओं के द्वारा अंग्रेजों ने क़ानूनों की एक नयी प्रणाली स्थापित की। भारत में न्याय की परम्परागत प्रणाली मुख्य रूप से प्रचलित क़ानून पर आधारित थी जो लम्बी परम्परा और रिवाज से निकली थी यद्यपि अनेक क़ानून शास्त्रों और शरियत तथा शाही फ़रमानों पर आधारित थे। यद्यपि अंग्रेज आमतौर से प्रचलित क़ानून को लागू करते रहे तथापि उन्होंने धीरे-धीरे क़ानूनों की एक नयी प्रणाली विकसित की। उन्होंने रेगुलेशन लागू किए, तत्कालीन क़ानूनों को संहिताबद्ध किया और उन्हें बहुधा न्यायिक व्याख्याओं के द्वारा सुव्यवस्थित किया और आधुनिक बनाया। 1833 के चार्टर ऐक्ट ने क़ानून बनाने के सारे अख्तियार 'काउन्सिल की सहमति से गवर्नर-जनरल' को दे दिए। इन सबका मतलब था कि अब भारतीय उत्तरोत्तर मानव-निर्मित क़ानूनों के तहत रहेंगे जो अच्छे-बुरे कुछ भी हो सकते हैं। मगर वे स्पष्ट रूप से मानवीय तर्क की उपज थे। दूसरे शब्दों में लोग उन क़ानूनों के तहत नहीं रहेंगे जिनका आँख मूंद कर पालन करना पड़ता था और उनके औचित्य पर इसलिए उंगली नहीं उठाई जाती थी क्योंकि वे दैवी और इसलिए पवित्र माने जाते थे।

सरकार ने 1833 में लार्ड मैकाले के नेतृत्व में भारतीय क़ानूनों को संहिताबद्ध करने के लिए एक विधि आयोग (Law Commission) नियुक्त किया। उसके परिश्रम के फलस्वरूप भारतीय दंड संहिता (Indian Penas Code) पश्चिमी देशों से लायी गयी दीवानी प्रक्रिया और दण्ड प्रक्रिया संहिताएँ और कानूनों की अन्य संहिताएँ आयीं। अब सारे देश में एक ही प्रकार के क़ानून लागू हो गए और उन्हें न्यायालयों की समरूप प्रणाली के ज़रिए लागू किया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत को न्यायिक रूप से एक सूत्रबद्ध किया गया।

क़ानून का शासन

अंग्रेज़ों ने क़ानून के शासन या विधि-शासन (Rule of Law) की आधुनिक अवधारणा को लागू किया। इसका तात्पर्य था कि उनका प्रशासन कम से कम सैद्धान्तिक रूप में क़ानूनों के अनुसार चलाया जाएगा, न कि शासक की सनक या वैयक्तिक इच्छा के अनुसार। क़ानूनों ने प्रजा के अधिकारों, विशेषाधिकारों और ज़िम्मेदारियों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया था। बेशक, व्यवहार में अफ़सरशाही और पुलिस को मनमाने अख्तियार थे और उन्होंने जनता के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं में हस्तक्षेप किया। क़ानून के शासन की अवधारणा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि किसी भी अधिकारी के ख़िलाफ़ न्यायालय में सरकारी ज़िम्मेदारी को नहीं निबाहने या अपनी सरकारी अधिकार सीमा के बाहर जाकर कार्रवाइयाँ करने के लिए मुकदमा चलाया जा सकता था। क़ानून का शासन कुछ हद तक व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की गारंटी था। यह सही है कि भारत के पिछले शासक आमतौर से रीति-रिवाज से बंधे होते थे मगर उन्हें अपनी इच्छानुसार कोई भी प्रशासनिक कदम उठाने का क़ानूनी अधिकार था और उनसे बड़ी कोई ऐसी सत्ता नहीं थी जिसके सामने उनकी कार्रवाइयों को चुनौती दी जा सके। कभी-कभी भारतीय शासकों और सरदारों ने अपनी इच्छानुसार इस शक्ति का प्रयोग किया। दूसरी ओर, ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत प्रशासन मुख्य रूप से क़ानूनों के आधार पर न्यायालयों द्वारा उनकी की गई व्याख्या के अनुसार चलाया

जाता था। क़ानून बहुधा त्रुटिपूर्ण होते थे। क़ानून जनता द्वारा जनतांत्रिक प्रक्रियाओं के द्वारा नहीं बल्कि विदेशी शासकों द्वारा निरंकुश तरीक़ों से बनाए जाते थे। क़ानून सरकारी कर्मचारियों तथा पुलिस के हाथों में काफ़ी अख्तियार दे देते थे। मगर शायद एक विदेशी राज के अन्तर्गत यह अवश्यम्भावी था। विदेशी राज स्वभावतः जनतांत्रिक या स्वतन्त्रतावादी नहीं हो सकता।

क़ानून के सम्मुख समानता

अंग्रेज़ी राज के दौरान भारतीय विधि प्रणाली क़ानून के सम्मुख समानता की अवधारणा पर आधारित थी। इसका मतलब था कि कानून की निगाहों में सारे मनुष्य बराबर हैं। जाति, धर्म या वर्ग के आधार पर बिना कोई भेदभाव कि एक ही क़ानून सब लोगों पर लागू होता था। पहले न्याय-प्रणाली जाति के भेदभावों का ख्याल करती थी और तथाकथित उच्च जाति और निम्न जाति के बीच भेदभाव करती थी। एक ही अपराध के लिए एक गैर-ब्राह्मण की अपेक्षा एक ब्राह्मण को हल्का दण्ड दिया जाता था। इसी प्रकार ज़मींदारों और सामन्तों को व्यवहार में उतना कड़ा दंड नहीं दिया जाता था जितना एक आम आदमी को। वस्तुतः बहुधा उनके ख़िलाफ़ उनकी कार्रवाइयों के लिए मुक़दमा नहीं चलाया जाता था। अब दीनहीन लोग भी न्यायालय में जा सकते थे।

मगर क़ानून के सम्मुख समानता के इस उत्कृष्ट सिद्धान्त का एक अपवाद था। वह यह कि यूरोपवासियों और उनके वंशजों के लिए अलग-अलग अदालत और यहाँ तक कि अलग क़ानून भी थे। उनके ख़िलाफ़ फ़ौजदारी मुक़दमों की सुनवाई केवल योरोपीय जज ही कर सकते थे। अनेक अंग्रेज़ अधिकारियों, सैनिक अधिकारियों, बाग़ान मालिकों और सौदागरों ने भारतीय लोगों के साथ अहंकारी, निष्ठुर और यहाँ तक क्रूर व्यवहार किया कि जब उनके ख़िलाफ़ मुक़दमा चलाने के प्रयास हुए तब उन्हें अप्रत्यक्ष और अनुचित संरक्षण दिया गया और फलस्वरूप मुक़दमों की सुनवाई करने वाले अनेक योरोपीय जजों ने उन्हें हल्की सज़ा दी या रिहा कर दिया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनके ख़िलाफ़ मुकदमों की सुनवाई केवल योरोपीय जज ही कर सकते थे। फलस्वरूप बहुधा न्याय की हत्या हुई।

व्यवहार में एक अन्य प्रकार की क़ानूनी समानता उभर कर आयी। न्याय काफ़ी मंहगा हो गया क्योंकि कोर्ट फीस का भुगतान करना पड़ता था, वकील करने पड़ते थे और गवाहों के खर्च को पूरा करना होता था। आमतौर से कचहरियाँ दूर शहरों में होती थीं। मुक़दमें वर्षों तक चलते थे। जटिल क़ानून अशिक्षित और गैर-जानकार किसानों की समझदारी से बाहर थे। निरपवाद रूप से धनी लोग क़ानूनों और कचहरियों को अपने पक्ष में मोड़ सकते थे। किसी ग़रीब आदमी को निचली अदालत से अपील सुनने वाली सबसे बड़ी अदालत तक न्याय की लम्बी प्रक्रिया में ले जाने और फलस्वरूप उसे पूरी तरह बर्बाद करने की धमकी मात्र उसे घुटने टेकने के लिए मजबूर कर देती थी। इसके अलावा पुलिस तथा शेष प्रशासकीय तंत्र के अन्दर व्याप्त भ्रष्टाचार न्याय नहीं मिलने देता था। अधिकारी बहुधा धनी लोगों का पक्ष लेते थे। बिना सरकारी कार्रवाई से डरे ज़मीदार रैयतों पर अत्याचार करते थे। इसके विपरीत, अंग्रेज़ी राज्य के पहले जो न्याय प्रणाली थी वह अपेक्षाकृत अनौपचारिक, शीघ्र और कम खर्चीली थी। इस प्रकार यद्यपि नयी न्याय-प्रणाली उस हद तक प्रगतिशील थी जिस हद तक वह क़ानून के शासन और क़ानून के सम्मुख समानता के प्रशासनीय सिद्धान्तों तथा विवेकपूर्ण और मानवोचित मानवनिर्मित क़ानूनों पर आधारित थी, तथापि वह कतिपय अन्य दृष्टियों अधोगामी थी। उदाहरण के लिए, वह अब अधिक खर्चीली हो गयी थी और न्याय पाने में काफ़ी विलम्ब होता था।

सामाजिक और सांस्कृतिक नीति

हम देख चुके हैं कि ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन और विनियमन ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों में किया और व्यवस्था एवं सुरक्षा की गारंटी के लिए एक आधुनिक प्रशासन व्यवस्था की स्थापना की। 1813 तक अंग्रेज़ों ने देश के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में गैर-हस्तक्षेप की नीति अपनायी मगर 1813 के बाद उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति के रूपान्तरण के लिए सक्रिय क़दम उठाये। इसके पहले उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान ब्रिटेन में नए हितों और नए विचारों का उदय हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति, जो अठारहवीं सदी के मध्य में आरम्भ हुई थी, और फलस्वरूप

औद्योगिक पूँजीवाद का विकास ब्रिटिश समाज के सभी पहलुओं को तेजी से बदल रहा थे। उदीयमान औद्योगिक हितों ने भारत को अपनी वस्तुओं के लिए बड़े बाज़ार के रूप में बदलना चाहा। ऐसा केवल शांति बनाए रखने की नीति के ज़रिए नहीं हो सकता था बल्कि भारतीय समाज के आंशिक रूपान्तरण और आधुनिकीकरण की आवश्यकता थी। और इस प्रकार, इतिहासकारों थाम्पसन और गैरेट के शब्दों में, "पुरानी बटमारी की मनोदशा और तरीक़े आधुनिक उद्योगवाद तथा पूँजीवाद की मनोदशा तथा तरीक़े में बदल गए।"

विज्ञान और टेक्नोलोजी ने भी मानवीय प्रगति की नयी प्रत्याशाएँ उत्पन्न कर दीं। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के दौरान ब्रिटेन तथा यूरोप में नए विचारों का एक नया ज्वार देखा गया जिसने भारतीय समस्याओं के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण को प्रभावित किया। सारे यूरोप में "सोच-विचार, तौर-तरीक़ों और नैतिकताओं के नए दृष्टिकोण सामने आ रहे थे।" 1789 की महान् फ्रांसीसी क्रांति ने अपने स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के संदेश द्वारा शक्तिशाली जनतांत्रिक भावनाएँ उत्पन्न कीं और आधुनिक राष्ट्रीयता की शक्ति को फैलाया। नयी प्रवृत्ति का चिंतन के क्षेत्र में प्रतिनिधित्व बेकन, लाक, वाल्तेयर, रूसो, कांट-ऐडम स्मिथ और बेंथम और साहित्य के क्षेत्र में वर्डस्वर्थ, बायरन, शैली और चार्ल्स डिकेंस ने किया। नया चिंतन अठारहवीं शताब्दी की बौद्धिक क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति और औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न हुआ था। स्वभावतया इस नए चिंतन का प्रभाव भारत में महसूस किया गया तथा उसने सरकार की शासकीय धारणाओं को प्रभावित किया।

नए चिंतन की तीन मुख्य विशेषताएँ थीं विवेकशीलता या तर्क और विज्ञान में विश्वास, मानवतावाद या मनुष्य के प्रति प्रेम, मानव की प्रगति करने की क्षमता में आस्था-विवेकशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस बात का सूचक था कि केवल वही चीज़ सही मानी जाएगी जो मानव-तर्क के अनुकूल हो और व्यवहार में जिसकी परीक्षा की जा सके। सतरहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों की वैज्ञानिक प्रगति तथा उद्योग में विज्ञान के प्रयोग से प्राप्त उत्पादन की विशाल शक्तियाँ मानवीय तर्कशक्ति का प्रकट प्रमाण थीं। मानवतावाद इस धारणा पर आधारित था कि प्रत्येक मानवप्राणी अपने आप ही साध्य है और इसी रूप में उसका सम्मान किया जाना और उसे महत्त्व दिया जाना चाहिए। किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह दूसरे मनुष्य को अपने सुख का माध्यम समझे। मानवतावादी दृष्टिकोण ने व्यक्तिवाद, उदारतावाद और समाजवाद के सिद्धान्तों को जन्म दिया। प्रगति के सिद्धान्त के अनुसार सभी समाजों को समय के साथ अवश्य बदलना होता है। कोई भी चीज़ न जड़ थी और न जड़ हो सकती है। इसके अलावा मनुष्य में प्रकृति और समाज को विवेकशील तथा उचित रूपरेखा के अनुसार फिर से ढालने की क्षमता है।

यूरोप में चिंतन की नयी लहरों का पुराने दृष्टिकोण से टकराव हुआ। भारत संबंधी नीति निर्धारित करने वालों तथा भारतीय प्रशासन चलाने वालों के बीच दृष्टिकोणों में संघर्ष हुआ। पुराने दृष्टिकोण को रुढ़िवादी या परम्परागत दृष्टिकोण कहा जाता था। यह दृष्टिकोण भारत में यथासंभव कम से कम परिवर्तन करने का पक्षपाती था। इस दृष्टिकोण के शुरू के काल में प्रतिनिधि वारेन हेस्टिंग्स और प्रसिद्ध लेखक तथा सांसदिक एडमंड वर्क थे और बाद के प्रतिनिधि प्रसिद्ध अफ़सर मुनरो, मैल्क, एल्फिस्टन और मेटकाफ़ थे। रूढ़िवादियों का कहना था कि भारतीय सभ्यता योरोपीय सभ्यता से भिन्न थी मगर अवश्यम्भावी रूप से उससे निकृष्ट नहीं थी। उनमें से अनेक भारतीय दर्शन और संस्कृति की इज़्ज़त और प्रशंसा करते थे। यह महसूस करते हुए कि कुछ पश्चिमी विचारों और रिवाजों को लागू करना ज़रूरी हो सकता है उन्होंने प्रस्ताव किया कि उन्हें बहुत सावधानी पूर्वक और धीरे-धीरे लागू किया जाए। सामाजिक स्थिरता को सर्वोपरि रखते हुए, उन्होंने तेज़ आधुनिकीकरण के किसी भी कार्यक्रम का विरोध किया। उन्होंने महसूस किया कि व्यापक या जल्दबाज़ी में किए गए परिवर्तन देश में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करेंगे। इंग्लैंड और ब्रिटिश शासन के बिल्कुल अन्त तक भारत में रूढ़िवादी दृष्टिकोण प्रभावशाली बना रहा। वस्तुतः भारत में ब्रिटिश अफ़सरों का बहुमत आमतौर से रूढ़िवादी दृष्टिकोण वाला था। मगर ब्रिटेन स्थित नीति

निर्धारकों के बीच रूढ़िवादी दृष्टिकोण कमज़ोर पड़ता जा रहा था क्योंकि व्यापार तथा घटनाओं का क्रम यह स्पष्ट करता जा रहा था कि रूढ़िवादी नीति से न तो व्यापार का वांछित रूप से प्रसार हो रहा है और न ही ब्रिटिश प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए पर्याप्त आधार तैयार हो रहा है।

रूढ़िवादी दृष्टिकोण की जगह पर 1800 तक बड़ी तेज़ी से नया दृष्टिकोण आने लगा था जो भारतीय समाज और संस्कृति का कटु आलोचक था। भारतीय सभ्यता को गतिहीन कह कर उसकी निंदा की गयी और उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। भारतीय रीति-रिवाजों को असभ्यता का प्रतीक माना गया, भारतीय संस्थानों को भ्रष्ट और पतनोन्मुख बतलाया गया तथा भारतीय चिंतन को संकीर्ण और अवैज्ञानिक कहा गया। ब्रिटेन के अधिकांश अफ़सरों और लेखकों तथा राजनेताओं ने इस आलोचनात्मक दृष्टि का प्रयोग भारत की राजनीतिक और आर्थिक दासता को उचित बतलाने तथा यह घोषित करने के लिए किया कि वह उन्नति करने योग्य नहीं है और इसलिए उसे स्थायी रूप से ब्रिटिश संरक्षण में रहना चाहिए। मगर थोड़े से अंग्रेज जिन्हें 'रेडिकल्स' (Radicals) कहा जाता था संकुचित आलोचना और साम्राज्यवादी दृष्टिकोण की सीमा से बाहर गए और उन्होंने विकसित मानवतावादी और विवेकशील चिंतन को भारतीय स्थिति पर लागू करने का प्रयत्न किया। विवेकबुद्धि के सिद्धांत के फलस्वरूप उनकी धारणा थी कि यह आवश्यक नहीं है कि भारत हमेशा पतित बना रहे क्योंकि सभी समाजों में विवेकबुद्धि और विज्ञान के रास्ते चलकर उन्नति करने की क्षमता है और इस प्रकार ब्रिटिश समाज के श्रेष्ठतर तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले 'रैडिकल्स' ने भारत को विज्ञान तथा मानवतावाद के आधुनिक प्रगतिशील संसार का भाग बनाना चाहा।

इन लोगों का मानवतावाद जाति-प्रथा और अस्पृश्यता जैसी प्रथाओं, सती और शिशुहत्या जैसे रिवाजों और सामान्यतया स्त्रियों तथा विशेषकर विधवाओं, की निम्न अवस्थाओं में निहित सामाजिक अन्याय के कारण जागृत हुआ। उनके वैज्ञानिक मस्तिष्क को भारतीय जनता के दिमाग में बैठे अंधविश्वासी और देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पूर्ण अभाव से गहरा आघात पहुँचा। उनके अनुसार भारत की कुरीतियों का निराकरण आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान, दर्शन, और साहित्य अपना कर वस्तुतः व्यापक और तेज़ आधुनिकीकरण से हो सकता है। 'रैडिकल्स' को जेम्स मिल और विलियम बैंटिक के ज़रिए भारतीय नीतियों को प्रभावित करने का मौक़ा मिला। जेम्स मिल इंग्लैंड का एक अग्रणी रेडिकल दार्शनिक था जो निदेशक मंडल के कार्यालय में 1817 में मुख्य परीक्षक (Chief Examiner) के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त हुआ। विलियम बैंटिक एक रैडिकल था जो 1829 में भारत का गवर्नर-जनरल बना। इनके अतिरिक्त उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक में भारत आनेवाले कुछ अफ़सर भी रैडिकल दृष्टिकोण से गम्भीर रूप से प्रभावित थे। यही नहीं, 1830 के बाद इंग्लैंड में सुधारक व्हिग सत्तारूढ़ थे।

मगर यहाँ पर इस बात पर बल देने की ज़रूरत है कि ऐसे ईमानदार और लोकहितैषी अंग्रेज़ों की संख्या बहुत कम थी और ब्रिटिश प्रशासन पर उनका प्रभाव कभी निर्णायक नहीं रहा। ब्रिटिश भारत के प्रशासन में शासक तत्व साम्राज्यवादी और शोषक बने रहे। वे नए विचारों को तभी ग्रहण करते और सुधारवादी उपायों को तभी और उसी हद तक लागू करते थे जब वे व्यापारिक हितों और मुनाफ़े की प्रवृतियों से नहीं टकराते थे। भारत का आधुनिकीकरण उस हद तक ही हो सकता था जिससे कि ब्रिटिश भारत के संसाधनों का अपेक्षाकृत आसानी से और पूरे तौर पर अपने हित में शोषण कर सकें। इस प्रकार भारत के आधुनिकीकरण को अनेक अंग्रेज़ अधिकारियों, व्यवसायियों और राजनेताओं ने स्वीकार कर लिया था क्योंकि हिंदुस्तानियों को ब्रिटिश वस्तुओं का बेहतर ग्राहक बनाना था तथा उन्हें विदेशी शासन स्वीकार करने के लिए तैयार करना था। जैसा कि उन्होंने ब्रिटेन में किया उस तरह जनतांत्रिक सरकार की स्थापना के लिए प्रयास करने के बदले उन्होंने भारत में एक अपेक्षाकृत अधिक सत्तावादी शासन की माँग की जिसे उन्होंने पितृसत्तावादी कहा। इस दृष्टि से वे रूढ़िवादियों के साथ थे। रूढ़िवादी भी पितृसत्तावाद के कट्टर हिमायती थे जिसके अन्तर्गत भारतीय जनता के साथ बच्चों जैसा व्यवहार किया जाएगा और उन्हें प्रशासन से अलग रखा जाएगा। भारत स्थित ब्रिटिश प्रशासकों की मूल द्विविधा थी कि कुछ सीमा तक आधुनिकीकरण के बिना भारत में ब्रिटिश हितों को नहीं

साधा जा सकता था परन्तु पूर्ण आधुनिकीकरण ऐसी शक्तियाँ पैदा कर देतीं जो उनके हितों के विरुद्ध जातीं और काफ़ी आगे चलकर देश में ब्रिटिश प्रभुत्व के लिए खतरे पैदा कर देतीं। इसलिए, उन्हें आंशिक आधुनिकीकरण की अत्यन्त सावधानी से संतुलित की गयी नीति अपनानी पड़ी। इस नीति का मतलब था : कुछ क्षेत्रों में आधुनिकीकरण करना और अन्य क्षेत्रों में उसके रास्ते में रोड़े अटकाना या उसे नहीं होने देना।

भारतीय समाज और संस्कृति के आधुनिकीकरण ही की नीति को ईसाई धर्मप्रचारकों तथा विलियम विल्बर-फोर्स और ईस्ट इंडिया कम्पनी के निदेशक मंडल के अध्यक्ष चार्ल्स ग्रांट जैसे धर्मपरायण लोगों ने बढ़ावा दिया, जो चाहते थे कि भारत में ईसाई धर्म फैले। उन्होंने भी भारतीय समाज के प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाया मगर उन्होंने ऐसा धार्मिक आधार पर किया। उनका उत्कट विश्वास था कि ईसाई धर्म ही एकमात्र सच्चा धर्म है और अन्य सारे धर्म झूठे हैं, उनके अनुसार वे लोग जो इन अन्य धर्मों में विश्वास रखते थे "काफिर" म्लेच्छ और यहाँ तक कि 'अर्ध बर्बर' थे। उन्होंने पश्चिमीकरण के एक कार्यक्रम को इस उम्मीद से समर्थन दिया कि उसके परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा देश ईसाई धर्म को अपना लेगा। उन्होंने सोचा कि पाश्चात्य ज्ञान की रोशनी अपने धर्मों में लोगों के विश्वास को खत्म कर देगी और उन्हें ईसाई धर्म का स्वागत करने तथा उसे अपनाने के लिए प्रेरित करेगी। इसलिए उन्होंने देश में आधुनिक स्कूल, कालेज, और अस्पताल खोले। मगर धर्मप्रचारकों को विवेकशील "रैडिकल्स" का बहुधा अनचाहे सहायक होना पड़ता था। 'रैडिकल्स' का वैज्ञानिक दृष्टिकोण न केवल हिन्दू या मुस्लिम पौराणिक गाथाओं की बल्कि ईसाई पौराणिक गाथाओं की भी जड़ें खोदता था। जैसा कि प्रोफेसर एच० एच० डाडवेल ने बतलाया है : "अपने ही देवताओं की मान्यता पर शंका प्रकट करने की शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने (पाश्चात्य प्रभाव में आए भारतीयों ने) बाइबल की प्रमाणिकता और उसके वृतान्त की सचाई पर भी संदेह व्यक्त किया।" धर्मप्रचारकों ने पितृसत्तावादी साम्राज्यवादी नीतियों का भी समर्थन किया क्योंकि वे क़ानून तथा व्यवस्था और ब्रिटिश प्रभुत्व को अपने धार्मिक प्रचार के काम के लिए आवश्यक समझते थे। यह आशा दिलाकर कि ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले ब्रिटिश वस्तुओं के अच्छे ग्राहक होंगे, उन्होंने ब्रिटिश सौदागरों और विनिर्माताओं से उनका समर्थन प्राप्त करना चाहा।

'रैडिकल्स' को राजा राममोहन राय और उसी तरह के अन्य भारतीयों ने अपना पूर्ण समर्थन दिया। वे भारतीय इस तथ्य के प्रति सचेत थे कि उनका देश और समाज काफ़ी नीचे गिर गया है। वे जाति सम्बन्धी पूर्वाग्रहों तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों से ऊब गए थे और उनका विश्वास था कि भारत की मुक्ति विज्ञान और मानवतावाद के द्वारा ही हो सकती है। हम इन भारतीयों के दृष्टिकोण और गतिविधियों के बारे में विस्तार से चर्चा अगले अध्याय में करेंगे।

भारत सरकार ने व्यापक रूप से आधुनिकीकरण करने के बदले सावधानी और धीमी गति से नए परिवर्तन लाने की जो नीति अपनायी उसके लिए ज़िम्मेदार अन्य कारणों में भारत स्थित ब्रिटिश अधिकारियों में रूढ़िवादी दृष्टिकोण का बोलबाला और यह धारणा थी कि भारतीयों के धार्मिक ख्यालों तथा सामाजिक रिवाजों में हस्तक्षेप करने से भारतीय जनता के बीच क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया हो सकती है। यहाँ तक कि अत्यन्त कट्टर 'रैडिकल्स' ने भी इस चेतावनी की ओर ध्यान दिया क्योंकि ब्रिटिश शासक वर्गों के अन्य सदस्यों के साथ उन्होंने भी भारत में ब्रिटिश शासन की सुरक्षा और स्थायित्व की कामना की, जिसके सामने हर अन्य विचार का गौण महत्त्व था। वस्तुतः आधुनिकीकरण की नीति को 1858 के बाद धीरे-धीरे छोड़ दिया गया क्योंकि भारतीय योग्य शिष्य सिद्ध हुए और वे अपने समाज के आधुनिकीकरण तथा अपनी संस्कृति पर ज़ोर देने की दिशा में बढ़े। उन्होंने माँग की कि उन पर स्वतंत्रता, समानता और राष्ट्रीयता के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार शासन किया जाए।

लोकोपकारी कार्रवाइयाँ

भारतीय समाज को उसकी कुरीतियों से मुक्त करने के लिए किए गए सरकारी ब्रिटिश प्रयास कुल मिलाकर बहुत कम थे और इसलिए उनका कुछ विशेष परिणाम नहीं हुआ। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी 1829 में सती प्रथा को ग़ैरक़ानूनी घोषित करने की कार्रवाई। विलियम बैंटिक ने घोषित किया कि पति की चिता पर विधवा के जल मरने की कार्रवाई में जो भी सहयोगी होंगे उन्हें अपराधी माना जाएगा। इससे पहले ब्रिटिश शासकों ने

सती प्रथा को रोकने के प्रश्न पर उदासीन रुख अपनाया था। उन्हें डर था कि सती प्रथा के ख़िलाफ़ कोई भी कार्रवाई करने से रूढ़िवादी भारतीय नाराज़ हो जाएँगे। जब राममोहन राय और अन्य प्रबुद्ध भारतीयों तथा धर्म-प्रचारकों ने इस विकराल प्रथा को खत्म करने के लगातार आंदोलन किए तब जाकर सरकार सती प्रथा को रोकने के लोकोपकारी क़दम उठाने के लिए सहमत हुई। भूतकाल में अकबर और औरंगज़ेब, पेशवाओं और जयपुर के जयसिंह ने इस कुप्रथा को दबाने के लिए असफल प्रयास किये थे। कुछ भी हो, इस प्रथा को ग़ैरक़ानूनी घोषित करने के लिए कठोर कार्रवाई करने के लिए बैंटिक प्रशंसा का पात्र है। इस कुप्रथा के कारण 1815 और 1818 के बीच केवल बंगाल में ही 800 महिलाओं ने अपनी जान गंवाई थी। बैंटिक इसलिए भी प्रशंसा का पात्र है कि उसने सती प्रथा के रूढ़िवादी समर्थकों के विरोध के सामने झुकने से इन्कार कर दिया।

जन्मते ही लड़कियों को मार देने की प्रथा कतिपय राजपूत वंशों तथा अन्य जातियों में प्रचलित थी। इसके मुख्य कारण थे लड़ाइयों में बड़ी संख्या में मरने के कारण नौजवानों की कमी तथा ऊसर क्षेत्रों में जीविकोपार्जन में कठिनाइयाँ। यह प्रथा पश्चिम और मध्य भारत में दहेज की कुप्रथा के भयंकर रूप में विद्यमान होने के कारण प्रचलित थी। शिशु हत्या को रोकने के सम्बन्ध में क़ानून 1795 और 1802 में बनाए गए थे मगर उन्हें सख्ती से बैंटिक और हार्डिंग ने ही लागू किया। हार्डिंग ने नर बलि की प्रथा को खत्म करने के लिए भी क़ानून बनाया। यह प्रथा गोंड नाम की आदिम जाति के बीच प्रचलित थी। भारत सरकार ने 1856 में हिंदू विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए क़ानून पास किया। सरकार ने पंडित ईश्वरचन्द विद्यासागर और अन्य सुधारकों द्वारा इसके पक्ष में लगातार आंदोलन चलाने के बाद यह कार्रवाई की। इस क़ानून के तात्कालिक प्रभाव कुछ विशेष नहीं हुए।

इन सब सरकारी सुधारों ने भारतीय समाज व्यवस्था को सतही तौर पर ही प्रभावित किया तथा जनता के विशाल बहुमत के जीवन पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा। शायद एक विदेशी सरकार के लिए इससे अधिक कुछ करना संभव नहीं था।

आधुनिक शिक्षा का प्रसार

अंग्रेज़ आधुनिक शिक्षा आरम्भ कर भारत के बौद्धिक जीवन में क्रान्ति लाने में अधिक सफल रहे। निःसंदेह आधुनिक शिक्षा का प्रसार केवल सरकार के प्रयास से ही नहीं हुआ। ईसाई धर्म प्रचारकों और बड़ी संख्या में प्रबुद्ध भारतीयों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अपने शासन के पहले 60 वर्षों के दौरान ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपनी प्रजा की शिक्षा में नाममात्र दिलचस्पी ली। वह एक व्यापारिक मुनाफ़ा कमाने वाली संस्था रही। परन्तु इसके दो बहुत ही छोटे अपवाद रहे। वारेन हेस्टिंग्स ने 1781 में मुस्लिम क़ानून और सम्बद्ध विषयों के अध्ययन और पढ़ाई के लिए कलकत्ता मदरसा क़ायम किया। जोनाथन डंकन ने 1791 में हिन्दू क़ानून और दर्शन के अध्ययन के लिए वाराणसी में संस्कृत कालेज स्थापित किया। वह वाराणसी में रेज़िडेंट था। दोनों संस्थाओं की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी थी कि उनसे कम्पनी की अदालतों में न्याय-प्रशासन के लिए योग्य भारतीय नियमित रूप से मिल सकें।

धर्म प्रचारकों और उनके समर्थकों तथा अनेक लोकोपकारी व्यक्तियों ने कम्पनी पर तुरन्त दबाव डालना आरम्भ किया कि वह भारत में आधुनिक धर्म निरपेक्ष पश्चिमी शिक्षा को बढ़ावा दे। यद्यपि अनेक भारतीयों सहित लोकोपकारी लोगों की धारणा थी कि आधुनिक ज्ञान ही देश की समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कुरीतियों की सर्वोत्तम दवा है, तथापि धर्म प्रचारकों का विश्वास था कि आधुनिक शिक्षा अपने धर्मों में लोगों की आस्था को खत्म कर देगी और वे ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिए प्रेरित होंगे। एक मामूली सी शुरूआत 1813 में की गयी जब चार्टर ऐक्ट में विद्वान भारतीयों को बढ़ावा देने तथा देश में आधुनिक विज्ञानों के ज्ञान को प्रोत्साहित करने का सिद्धान्त शामिल कर लिया गया। ऐक्ट ने कम्पनी को इस उद्देश्य के लिए एक लाख रुपए खर्च करने का निर्देश दिया। मगर 1823 तक कम्पनी के अधिकारियों ने यह तुच्छ रक़म भी उपलब्ध नहीं करायी।

वर्षों तक देश में इस प्रश्न को लेकर काफ़ी वादविवाद चलता रहा कि यह खर्च किस दिशा में किया जाए। कुछ

लोगों का कहना था कि यह रक़म केवल आधुनिक पाश्चात्य अध्ययनों को प्रोत्साहन देने के लिए ख़र्च की जाए, अन्य लोगों की इच्छा थी कि पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य की पढ़ाई छात्रों को नौकरियों के लिए तैयार करने के लिए की जाए मगर मुख्य ज़ोर परम्परागत भारतीय विद्या के प्रसार पर दिया जाए। जो लोग पाश्चात्य विद्या का प्रसार चाहते थे उनके बीच इस चीज़ पर विवाद खड़ा हो गया कि आधुनिक स्कूलों और कालेजों में शिक्षा का कौनसा माध्यम अपनाया जाए। कुछ लोगों ने भाषाओं (जिन्हें उस समय Vernaculars कहा जाता था) के प्रयोग की सिफ़ारिश की जबकि अन्य लोगों ने अंग्रेज़ी के इस्तेमाल की वकालत की। दुर्भाग्यवश, इस प्रश्न को लेकर काफ़ी उलझन पैदा हो गयी। अनेक लोग माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी तथा अध्ययन के विषय में अंग्रेज़ी के बीच, तथा माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं और अध्ययन की मुख्य विषयवस्तु के रूप में परम्परागत भारतीय विद्या के बीच भेद नहीं कर पाए।

दोनों विवाद 1835 में तब खत्म हुए जब भारत सरकार ने निर्णय किया कि जो भी सीमित संसाधन वह देने को तैयार है उसे वह पाश्चात्य विज्ञानों तथा साहित्य को केवल अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से पढ़ाने के लिए लगाएगी। लार्ड मैकाले ने, जो उस समय गवर्नर-जनरल की काउन्सिल का विधि सदस्य था, एक प्रसिद्ध आलोक-पत्र (minute) में यह तर्क दिया कि भारतीय भाषाएँ इतनी विकसित नहीं हैं कि इस उद्देश्य को पूरा कर सकें, और "प्राच्य विद्या योरोपीय विद्या से बिल्कुल निकृष्ट है।" यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि मैकाले के विचार विज्ञान तथा चिंतन के क्षेत्रों में भारत की भूतकालीन उपलब्धियों के प्रति पूर्वाग्रह तथा अज्ञान से भरे हुए थे, तथापि उसका यह दावा कि भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्रों में योरोपीय ज्ञान तत्कालीन भारतीय ज्ञान से श्रेष्ठतर था, सही था। भारतीय ज्ञान जो कभी सबसे अधिक उन्नत था बहुत दिनों से गतिहीन हो गया था तथा वास्तविकता से उसका कोई सम्पर्क नहीं रह गया था। इसीलिए राजा राममोहन राय के नेतृत्व में उस समय के अधिकांश प्रगतिशील भारतीयों ने ज़ोरदार ढंग से पाश्चात्य ज्ञान के अध्ययन की वकालत की। वे पाश्चात्य ज्ञान को "आधुनिक पश्चिम के वैज्ञानिक तथा जनतांत्रिक चिंतन के ख़ज़ाने की कुँजी" के रूप में देखते थे। उन्होंने यह भी माना कि परम्परागत शिक्षा ने अंधविश्वास, डर और सत्तावाद को जन्म दिया है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने माना कि देश की मुक्ति आगे बढ़ने में है न कि पीछे जाने में। वस्तुतः उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के किसी भी प्रमुख भारतीय ने इस दृष्टिकोण को कभी नहीं छोड़ा। इसके अतिरिक्त आधुनिक इतिहास के संपूर्ण काल में पाश्चात्य ज्ञान को ग्रहण करने के लिए उत्सुक भारतीयों ने सरकार पर दबाव डाला कि वह आधुनिक ढर्रे पर अपनी शैक्षणिक गतिविधियों का प्रसार करे।

भारत सरकार ने, विशेषकर बंगाल में, 1835 के निर्णय पर तेज़ी से कार्रवाई की और अपने स्कूलों और कालेजों में अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बना दिया। उसने बड़ी संख्या में प्राथमिक स्कूल खोलने के बदले थोड़े से अंग्रेज़ी स्कूल और कालेज खोले। जनशिक्षा की उपेक्षा करने के कारण बाद में इस नीति की तीव्र आलोचनाएँ हुईं। वस्तुतः आधुनिक और उच्चतर शिक्षा संस्थान खोलने पर ज़ोर देने की नीति ग़लत नहीं थी। अगर और कुछ नहीं तो प्राथमिक स्कूलों के लिए शिक्षकों को शिक्षित और प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से बड़ी संख्या में स्कूलों और कालेजों की आवश्यकता थी। मगर उच्च शिक्षा के प्रसार के साथ ही जनशिक्षा का काम भी हाथ में लिया जाना चाहिए था। सरकार इसके लिए तैयार नहीं थी क्योंकि वह शिक्षा पर एक मामूली रक़म से अधिक ख़र्च नहीं करना चाहती थी। शिक्षा पर ख़र्च की कमी को पूरा करने के लिए अधिकारियों ने तथाकथित "अधोगामी निस्यंदन सिद्धान्त" या नीचे की ओर छन कर जाने के सिद्धान्त (Downward filtration theory) का सहारा लिया। चूँकि आवंटित निधि के द्वारा मुट्ठी भर लोगों को ही शिक्षित किया जा सकता था, इसलिए यह तय हुआ कि उसे उच्च और मध्यम वर्गों के थोड़े से लोगों को शिक्षित बनाने पर ख़र्च किया जाए, जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे जनसाधारण को शिक्षित करने और उसके बीच आधुनिक विचारों का प्रचार करने का काम अपने ऊपर लेंगे। इस प्रकार यह समझा गया कि शिक्षा और आधुनिक विचार उच्च वर्गों से छन कर या निकल कर निचले वर्गों के लोगों को प्राप्त होंगे। यह नीति ब्रिटिश

शासन के बिल्कुल अन्त तक चली हालाँकि इसे सरकारी तौर पर 1854 में छोड़ दिया गया था। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि यद्यपि शिक्षा रिसकर नीचे नहीं गयी तथापि आधुनिक विचार बहुत हद तक आम लोगों के बीच फैले हालाँकि शासकों ने जिस रूप में चाहा था उस रूप में ऐसा नहीं हुआ। स्कूलों और पाठ्यपुस्तकों के ज़रिए नहीं बल्कि राजनीतिक दलों, पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं और सार्वजनिक मंचों से शिक्षित भारतीयों का बुद्धिजीवियों ने ग्रामीण और शहरी जनता के बीच जनतंत्र, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद विरोध और सामाजिक एवं आर्थिक समानता तथा न्याय के विचारों का प्रचार किया।

भारत में शिक्षा के विकास में भारत मंत्री (Secretary of States) की 1854 की शैक्षणिक विज्ञप्ति (Educational Despatch) एक और महत्त्वपूर्ण क़दम थी। इस विज्ञप्ति ने भारत सरकार से जनशिक्षा की ज़िम्मेदारी लेने को कहा। इस प्रकार उसने "अधोगामी निस्यंदन सिद्धान्त" को कम कागज़ीतौर पर छोड़ दिया। व्यवहार में, सरकार ने शिक्षा के प्रसार के लिए कुछ भी नहीं किया और उस पर नाममात्र खर्च किया। विज्ञप्ति द्वारा दिए गए निर्देशों के अनुसार सभी प्रांतों में शिक्षा विभाग बने और 1857 में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में सम्बद्धकारी (affiliating) विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। प्रसिद्ध बंगला उपन्यासकार बंकिम चन्द्र चटर्जी 1858 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रथम दो स्नातकों में से थे।

सभी बड़े-बड़े दावों के बावजूद, कम्पनी और बाद में ब्रिटिश राजा के अधीनस्थ भारत सरकार ने भारत में पाश्चात्य विद्या या किसी भी अन्य विद्या के प्रसार में वस्तुतः कोई गंभीर दिलचस्पी नहीं ली। यहाँ तक कि जो सीमित प्रयास किया गया वह उन कारकों का परिणाम था, जिनका लोकोपकारी भावनाओं से कोई संबंध नहीं था। इस दिशा में आधुनिक शिक्षा के पक्ष में प्रगतिशील भारतीयों, विदेशी ईसाई धर्म प्रचारकों, और लोकोपकारी अफ़सरों तथा अन्य अंग्रेज़ों का आन्दोलन कुछ महत्त्व रखता है। मगर सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था प्रशासन का खर्चा कम करने की चिंता। इसके लिए सरकार शिक्षित भारतीयों की संख्या बढ़ाना चाहती थी जिससे प्रशासन और ब्रिटिश व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की छोटे कर्मचारियों की बड़ी और बढ़ती हुई ज़रूरतों को पूरा किया जा सके। शिक्षित भारतीय अपेक्षाकृत सस्ते पड़ते थे। इन कामों के लिए पर्याप्त संख्या में अंग्रेज़ों को बाहर से लाना बहुत ही खर्चीला था और शायद सम्भव भी नहीं था। सस्ते क्लर्कों की संख्या बढ़ाने पर ज़ोर देने के फलस्वरूप स्कूलों और कालेजों में आधुनिक शिक्षा दी जाने लगी जिसने वहाँ शिक्षा प्राप्त करने वालों को कम्पनी के प्रशासन में काम करने लायक़ बनाया। साथ ही इन संस्थानों ने अंग्रेज़ी पर ज़ोर दिया जो स्वामियों और प्रशासन की भाषा थी; अंग्रेज़ों की शिक्षा नीति का एक अन्य प्रयोजन इस धारणा से निकला था कि शिक्षित भारतीय भारत में ब्रिटिश विनिर्मित वस्तुओं के बाज़ार का विस्तार करेंगे। अन्त में, पाश्चात्य शिक्षा भारतीय जनता को ब्रिटिश शासन को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करेगी विशेषकर इस कारण से कि उसने भारत के ब्रिटिश विजेताओं और उनके प्रशासन की महिमा का गान किया था। उदाहरण के लिए मैकाले ने निर्देश दिया था :

> "हमें ऐसा वर्ग बनाने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और उन करोड़ों लोगों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं दुभाषिए का काम कर सके; यह उन लोगों का वर्ग हो जो रक्त और रंग की दृष्टि से भारतीय मगर रुचि, विचारों, आचरण तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज़ हों।"

इस प्रकार अंग्रेज़ों ने आधुनिक शिक्षा का उपयोग देश में अपनी राजनीतिक सत्ता को मज़बूत बनाने के लिए करना चाहा।

परम्परागत भारतीय शिक्षा-प्रणाली धीरे-धीरे सरकारी समर्थन के अभाव और उससे भी अधिक, 1844 की सरकारी घोषणा के कारण समाप्त हो गई, जिसके अनुसार सरकारी रोज़गार के लिए आवेदन करने वालों को अंग्रेज़ी का ज्ञान होना चाहिए। इस घोषणा ने अंग्रेज़ी माध्यम वाले स्कूलों को अधिक लोकप्रिय बना दिया और अधिकाधिक छात्रों को परम्परागत स्कूलों को छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया।

शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी कमज़ोरी थी जनशिक्षा की उपेक्षा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में जन-साक्षरता की स्थिति 1821 की तुलना में 1921 में शायद

ही अच्छी थी। 1911 में 94 प्रतिशत और 1921 में 92 प्रतिशत भारतीय निरक्षर थे। शिक्षा के माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं की जगह अंग्रेज़ी के ऊपर अधिक ज़ोर ने जनता में शिक्षा का प्रसार नहीं होने दिया। उसमें शिक्षित लोगों और जनता के बीच की खाई पैदा करने की प्रवृति भी नज़र आने लगी। इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा के ख़र्चीलेपन ने उस पर धनी वर्गों और शहरी लोगों का एकाधिकार बना दिया।

प्रारम्भिक शिक्षा नीति में एक सबसे बड़ी ख़ामी थी लड़कियों की शिक्षा की बिल्कुल अवहेलना। लड़कियों की शिक्षा के लिए धन की कोई भी व्यवस्था नहीं की गयी थी। ऐसा अंशतः इसलिए हुआ कि सरकार चिन्तित थी कि रूढ़िवादी भारतीयों की भावनाओं को चोट न पहुँचे। इससे भी बढ़कर यह बात थी कि विदेशी अधिकारियों की नज़र में स्त्री-शिक्षा की कोई तत्कालिक उपयोगिता नहीं थी क्योंकि स्त्रियों को सरकारी दफ़्तरों में क्लर्क नहीं बनाया जा सकता था। परिणाम यह हुआ कि 1921 में भी केवल 2 प्रतिशत भारतीय स्त्रियाँ लिख-पढ़ सकती थीं और 1919 में केवल 490 लडकियाँ बंगाल प्रेसिडेंसी के हाई स्कूलों की चार उच्च क्लासों में पढ़ रही थीं।

कम्पनी के प्रशासन ने वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा की भी उपेक्षा की। 1857 तक देश में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में केवल तीन ही मेडिकल कालेज थे। उच्चतर तकनीकी शिक्षा देने के लिए केवल एक ही इंजीनियरिंग कालेज रुड़की में था। उसके दरवाज़े केवल यूरोपवासियों तथा यूरेशियन लोगों के लिए खुले हुए थे।

इन कमज़ोरियों में से अधिकांश की जड़ में वित्तीय समस्या थी। सरकार शिक्षा पर कभी एक मामूली रक़म से अधिक ख़र्च करने को तैयार नहीं थी। यहाँ तक कि 1886 में भी उसने अपनी लगभग 47 करोड़ रुपयों की निवल आय में से केवल एक करोड़ रुपए शिक्षा पर ख़र्च किए।

मगर हमें यह अवश्य याद रखना चाहिए कि सरकारी शिक्षा नीति की अनेक कमज़ोरियों के बावजूद आधुनिक शिक्षा के सीमित प्रसार के फलस्वरूप भी भारत में आधुनिक विचारों का प्रचार हुआ और इस प्रकार उसने आधुनिकीकरण में सहायता दी।

अभ्यास

1. प्रशासन, नागरिक सेवा, सेना, पुलिस और न्याय-प्रशासन के मूल लक्ष्यों के विशेष संदर्भ में. ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन भारत के प्रशासनिक संगठन की मूल विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
2. आधुनिक चिंतन की मुख्य विशेषताएँ कौनसी थीं जिन्होंने भारत में ब्रिटिश नीतियों को प्रभावित किया ? इस प्रभाव के स्वरूप और सीमा की विवेचना कीजिए।
3. उन कारकों के विशेष संदर्भ में जिनके कारण आधुनिक शिक्षा आरम्भ की गयी, उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में आधुनिक शिक्षा और शिक्षा-नीतियों की समीक्षा कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (क) भारतीय नागरिक सेवा (इंडियन सिविल सर्विस); (ख) क़ानून का शासन; (ग) कानून के सम्मुख समानता; (घ) आंशिक आधुनिकीकरण की नीति; (च) सती प्रथा का उन्मूलन; (छ) शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी की भूमिका; (ज) लड़कियों की शिक्षा; (झ) तकनीकी शिक्षा।

अध्याय 7

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भारत में एक नव जागरण आया। अंग्रेज़ों की विजय ने भारतीय समाज की कमज़ोरी और अवनति को उभार कर सामने रख दिया। चिंतनशील भारतीयों ने अपने समाज की ख़ामियों तथा उन्हें हटाने के तौर-तरीकों को ढूंढना आरम्भ किया। यद्यपि बड़ी संख्या में भारतीयों ने पश्चिम के साथ समझौता करने से इन्कार कर दिया और उन्होंने परम्परागत भारतीय विचारों और संस्थानों में अपनी आस्था बनाए रखी, तथापि अन्य लोगों ने धीरे-धीरे यह स्वीकार कर लिया कि आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन ने उनके समाज के पुनरुद्धार की कुंजी प्रदान की है। वे विशेषकर आधुनिक विज्ञान तथा विवेकशीलता और मानवतावाद के सिद्धांतों से प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त, नए सामाजिक वर्गों—पूंजीपति वर्ग, मज़दूर वर्ग और आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग—ने आधुनिकीकरण की माँग इसलिए की कि उनके हितों के लिए वह आवश्यक था।

इस जागरण के मुख्य नेता राममोहन राय थे जिन्हें आधुनिक भारत का प्रथम महान् नेता मानना बिल्कुल सही है। राममोहन राय अपनी जनता और अपने देश के प्रति गहरे प्रेम से प्रेरित हुए और उन्होंने जीवन भर उनके सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक और राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए कठिन परिश्रम किया। समसामयिक भारतीय समाज की जड़ता और भ्रष्टाचार से उन्हें बड़ी तकलीफ हुई। उस समय भारतीय समाज में जाति और परम्परा का बोलवाला था। लोकधर्म अंधविश्वासों से भरा हुआ था, जिसका फ़ायदा अज्ञानी और भ्रष्ट पुरोहित उठाते थे। च्च वर्ग स्वार्थी थे और उन्होंने बहुधा अपने संकुचित हितों के लिए सामाजिक हितों की बलि चढ़ायी। राममोहन राय के मन में प्राच्य दार्शनिक विचारधाराओं के लिए बहुत प्रेम और आदर था। मगर, साथ ही, उन का ख्याल था कि सिर्फ़ पाश्चात्य संस्कृति से ही भारतीय समाज का पुनरुत्थान हो सकता है।

उन्होंने ख़ासतौर पर चाहा कि उनके देशवासी विवेकशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा सभी नर-नारियों की मानवीय प्रतिष्ठा और सामाजिक समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करें। वे चाहते थे कि देश में आधुनिक पूंजीवाद और उद्योग आरम्भ किए जाएँ।

राममोहन राय प्राच्य और पाश्चात्य चिंतन के संश्लेषण का, प्रतिनिधित्व करते थे। वे विद्वान् थे और संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, लैटिन, ग्रीक तथा

हिब्रू सहित एक दर्जन से अधिक भाषाएँ जानते थे। युवावस्था में उन्होंने वाराणसी में संस्कृत साहित्य और हिन्दू दर्शन तथा पटना में कुरान और फ़ारसी तथा अरबी साहित्य का अध्ययन किया था। वे जैन धर्म और भारत के अन्य धार्मिक आंदोलनों तथा पंथों से अच्छी तरह परिचित थे। बाद में उन्होंने पाश्चात्य चिंतन और संस्कृति का गहरा अध्ययन किया। मूल बाइबिल का अध्ययन करने के लिए उन्होंने ग्रीक और हिब्रू भाषाएँ सीखीं। उन्होंने 1809 में फ़ारसी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एकेश्वरवादियों को उपहार (Gift to Monotheists) लिखी जिसमें उन्होंने अनेक देवताओं में विश्वास के विरुद्ध और एकेश्वरवाद के पक्ष में वज़नदार तर्क दिए।

वे 1814 में कलकत्ता में बस गए और उन्होंने जल्द ही नौजवानों के एक समूह को अपनी ओर आकर्षित कर लिया जिनके सहयोग से उन्होंने आत्मीय सभा आरम्भ की। तब से लेकर जीवन भर बंगाल के हिंदुओं में प्रचलित धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों के ख़िलाफ़ उन्होंने एक ज़ोरदार संघर्ष चलाया। विशेषरूप से उन्होंने मूर्तिपूजा, जाति की कट्टरता और निरर्थक धार्मिक कृत्यों के प्रचलन का ज़ोरदार विरोध किया। इन रिवाजों को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने पुरोहित वर्ग की निंदा की। उनकी धारणा थी कि सभी प्रमुख प्राचीन हिन्दू धर्मग्रंथों ने एकेश्वरवाद की शिक्षा दी है। अपने दावे को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने वेदों और पाँच प्रमुख उपनिषदों के बंगला अनुवाद प्रकाशित किए। उन्होंने एकेश्वरवाद के समर्थन में कई पुस्तक-पुस्तिकाएँ लिखीं।

यद्यपि अपने दार्शनिक विचारों के समर्थन में उन्होंने प्राचीन विशेषज्ञों को उद्धृत किया तथापि अन्ततोगत्वा उन्होंने मानवीय तर्कशक्ति का सहारा लिया जो, उनके विचार से, किसी भी सिद्धान्त—प्राच्य या पाश्चात्य—की सच्चाई की अन्तिम कसौटी है। उनकी धारणा थी कि वेदान्त-दर्शन मानवीय तर्कशक्ति पर आधारित है। किसी भी स्थिति में आदमी को तब पवित्र ग्रंथों, शास्त्रों और विरासत में मिली परम्पराओं से हट जाने में नहीं हिचकिचाना चाहिए जब मानवीय तर्कशक्ति का वैसा तकाज़ा हो और वे परम्पराएँ समाज के लिए हानिकारक सिद्ध हो रही हों। मगर राममोहन राय ने अपने विवेकशील दृष्टिकोण का प्रयोग केवल भारतीय धर्मों और परम्पराओं तक ही सीमित नहीं रखा। उससे उनके अनेक ईसाई धर्मप्रचारक मित्रों को निराशा हुई जिन्होंने उम्मीद लगायी थी कि हिन्दू धर्म की विवेकशील समीक्षा उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरित करेगी। राममोहन राय ने ईसाई धर्म विशेषकर उसमें निहित अंध आस्था के तत्वों को भी विवेकशक्ति के अनुसार देखने पर जोर दिया। उन्होंने 1820 में 'प्रीसेप्ट्स ऑफ जीसस' (Precepts of Jesus) नाम की पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उन्होंने 'न्यू टेस्टामेंट' के नैतिक और दार्शनिक संदेश को उसकी चमत्कारी कहानियों से अलग करने की कोशिश की। उन्होंने 'न्यू टेस्टामेंट' के नैतिक और दार्शनिक संदेश की प्रशंसा की। वे चाहते थे कि ईसा मसीह के उच्च नैतिक संदेश को हिन्दू धर्म में समाहित कर लिया जाए। इससे ईसाई धर्म प्रचारक उनके विरोधी बन गए।

इस प्रकार राममोहन राय चाहते थे कि न तो भारत के भूतकाल पर आँखें मूंदकर निर्भर रहा जाए और न ही पश्चिम का अंधानुकरण किया जाए। दूसरी ओर, उन्होंने ये विचार रखा कि विवेकबुद्धि का सहारा लेकर नए भारत को सर्वोत्तम प्राच्य और पाश्चात्य विचारों को प्राप्त कर संजो रखना चाहिए। अतः उन्होंने चाहा कि भारत पश्चिमी देशों से सीखे, मगर सीखने की यह क्रिया एक बौद्धिक और सर्जनात्मक प्रक्रिया हो जिसके द्वारा भारतीय संस्कृति और चिंतन में जान डाल दी जाए। इस प्रक्रिया का अर्थ भारत पर पाश्चात्य संस्कृति को थोपना नहीं हो। इसलिए वे हिंदू धर्म में सुधार के हिमायती और हिन्दू धर्म की जगह ईसाई धर्म लाने के विरोधी थे। उन्होंने ईसाई धर्म प्रचारकों की हिन्दू धर्म और दर्शन पर अज्ञानपूर्ण आलोचनाओं का जवाब दिया। साथ ही उन्होंने अन्य धर्मों के प्रति अत्यन्त मित्रतापूर्ण रुख़ अपनाया। उनका विश्वास था कि बुनियादीतौर पर सभी धर्म एक ही संदेश देते हैं कि उनके अनुयायी भाई-भाई हैं।

ज़िन्दगी भर राममोहन राय को अपने निडर धार्मिक दृष्टिकोण के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ी। रूढ़िवादियों ने मूर्ति पूजा की आलोचना तथा ईसाई धर्म और इस्लाम की दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रशंसा करने के कारण उनकी निंदा की। उन्होंने उनका सामाजिकतौर पर बहिष्कार किया। उनकी माँ ने भी बहिष्कार करने वालों का साथ दिया। उन्हें विधर्मी और जाति-बहिष्कृत कहा गया।

उन्होंने 1829 में एक नयी धार्मिक संस्था, ब्रह्म सभा, की स्थापना की जिसको बाद में ब्रह्म समाज कहा गया। इसका उद्देश्य हिन्दू धर्म को स्वच्छ बनाना और एकेश्वरवाद की शिक्षा देना था। नयी संस्था के दो आधार थे, तर्कशक्ति और वेद तथा उपनिषद। उसे अन्य धर्मों की शिक्षाओं को भी समाहित करना था। ब्रह्म समाज ने मानवीय प्रतिष्ठा पर ज़ोर दिया, मूर्तिपूजा का विरोध किया तथा सती प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की।

राममोहन राय एक महान् चिंतक थे; वे कर्मठ व्यक्ति भी थे। राष्ट्र-निर्माण का शायद ही कोई पहलू था जिसे उन्होंने अछूता छोड़ा हो। वस्तुतः जैसे उन्होंने हिन्दू धर्म को अन्दर रहकर सुधारने का काम आरम्भ किया, वैसे ही उन्होंने भारतीय समाज के सुधार के लिए आधार तैयार किया। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उनके आजीवन जिहाद का सबसे बढ़िया उदाहरण अमानवीय सती प्रथा के खिलाफ़ उनका ऐतिहासिक आंदोलन था। उन्होंने 1818 में इस प्रश्न पर जनमत खड़ा करने का काम आरम्भ किया। एक ओर, पुराने शास्त्रों का प्रमाण देकर दिखलाया कि हिन्दू धर्म सती प्रथा के विरोध में था, दूसरी ओर उन्होंने लोगों की तर्कशक्ति, मानवीयता और दयाभाव की दुहाई दी। वे कलकत्ता के श्मशानों में जाते और विधवाओं के रिश्तेदारों से उनके आत्मदाह के कार्यक्रम को त्याग देने के लिए समझाते-बुझाते। उन्होंने समान विचार वाले लोगों के समूह संगठित किए जो इन कृत्यों पर कड़ी निगाह रखें और विधवाओं को सती होने के लिए मजबूर करने की हर कोशिश को रोकें। जब रूढ़िवादी हिंदुओं ने संसद को याचिका दी कि वह सती प्रथा पर पाबंदी लगाने संबंधी बैंटिक की कार्रवाई को मंजूरी न दे तब उन्होंने बैंटिक की कार्रवाई के पक्ष में प्रबुद्ध हिन्दुओं की ओर से एक याचिका दिलवायी।

वे औरतों के अधिकारों के पक्के हिमायती थे। उन्होंने औरतों की परवशता की निंदा की तथा इस प्रचलित विचार का विरोध किया कि औरतें पुरुषों से बुद्धि में या नैतिक दृष्टि से निकृष्ट हैं। उन्होंने बहु-विवाह तथा विधवाओं की अवनत स्थिति की आलोचना की। औरतों की स्थिति को सुधारने के लिए उन्होंने माँग की कि उन्हें विरासत और संपत्ति संबंधी अधिकार दिए जाएँ।

राममोहन राय आधुनिक शिक्षा के सबसे प्रारम्भिक प्रचारकों में से थे। वे आधुनिक शिक्षा को देश में आधुनिक विचारों के प्रचार का प्रमुख साधन समझते थे। डेविड हेअर ने 1817 में कलकत्ता में प्रसिद्ध हिन्दू कालेज की स्थापना की। वह 1800 में एक घड़ीसाज़ के रूप में भारत आया था मगर उसने अपनी सारी जिंदगी देश में आधुनिक शिक्षा के प्रसार में लगा दी। राममोहन राय ने हेअर को हिन्दू कालेज की स्थापना और उसकी अन्य शिक्षा संबंधी परियोजनाओं के लिए अत्यन्त ज़ोरदार समर्थन दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कलकत्ता में 1817 से अपने खर्च से एक अंग्रेज़ी स्कूल चलाया जिसमें अन्य विषयों के साथ ही यांत्रिकी (Mechanics) और वाल्तेयर के दर्शन की पढ़ाई होती थी। उन्होंने 1825 में एक वेदान्त कालेज की स्थापना की जिसमें भारतीय विद्या और पाश्चात्य सामाजिक तथा भौतिक विज्ञानों की पढ़ाई की सुविधाएँ उपलब्ध थीं।

राममोहन राय बंगाल में बंगला को बौद्धिक संपर्क का माध्यम बनाने के लिए समान रूप से उत्सुक थे। उन्होंने एक बंगला व्याकरण की रचना की। अपने अनुवादों, पुस्तिकाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं के ज़रिए बंगला भाषा की एक आधुनिक और सुरुचिपूर्ण शैली विकसित करने में सहायता दी।

राममोहन भारत में राष्ट्रीय चेतना के उदय की पहली झलक का प्रतिनिधित्व करते थे। एक स्वतंत्र और पुनरुत्थानशील भारत का स्वप्न उनके चिन्तन और कार्यों का मार्गदर्शन करता था। उनका विश्वास था कि भारतीय धर्मों और समाज से भ्रष्ट तत्वों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की कोशिश कर और एकेश्वरवाद का वेदान्तिक संदेश देकर वे भिन्न-भिन्न समूहों में बंटे भारतीय समाज की एकता का आधार तैयार कर रहे हैं। उन्होंने जातिप्रथा की कट्टरता का विशेषरूप से विरोध किया, जो, उनके अनुसार, "हमारे बीच एकता के अभाव का स्रोत रहा है।" उनका ख्याल था कि जाति प्रथा दोहरी कुरीति है : उसने असमानता पैदा की है और जनता को विभाजित किया है और उसे "देश भक्ति की भावनाओं से वंचित रखा है।" इस प्रकार, उनके अनुसार, धार्मिक सुधार का एक लक्ष्य राजनीतिक उत्थान था।

राममोहन राय भारतीय पत्रकारिता के अग्रदूत थे। जनता के बीच वैज्ञानिक, साहित्यिक और राजनीतिक ज्ञान के प्रचार, तात्कालिक दिलचस्पी के विषयों पर जनमत तैयार करने, और सरकार के सामने जनता की माँगों और शिकायतों को रखने के लिए उन्होंने बंगला, फ़ारसी, हिन्दी और अंग्रेज़ी में पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं।

वे देश के राजनीतिक प्रश्नों पर जन-आन्दोलन के प्रवर्तक भी थे। उन्होंने बंगाल के ज़मींदारों की उत्पीड़क कार्रवाइयों की निंदा की, जिन्होंने किसानों को दयनीय स्थिति में पहुँचा दिया था। उन्होंने माँग की कि वास्तविक किसानों द्वारा दिए जाने वाले अधिकतम लगान को सदा के लिए निर्धारित कर दिया जाना चाहिए जिससे वे भी 1793 के स्थायी बंदोबस्त के फायदों को प्राप्त कर सकें। उन्होंने लाखिराज (rent-free) ज़मीन पर लगान निर्धारित करने के प्रयासों के प्रति भी विरोध प्रकट किया। उन्होंने कम्पनी के व्यापारिक अधिकारों को खत्म करने तथा भारतीय वस्तुओं पर से भारी निर्यात शुल्कों को हटाने की भी माँग की। उन्होंने उच्च सेवाओं के भारतीयकरण, कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से अलग करने, जूरी के ज़रिए मुक़दमों की सुनवाई और भारतीयों तथा यूरोपवासियों के बीच न्यायिक समानता की माँग की।

राममोहन का अन्तर्राष्ट्रीयता और राष्ट्रों के बीच मुक्त सहयोग में पक्का विश्वास था। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही लिखा है, "राममोहन अपने समय में, सम्पूर्ण मानव समाज में एकमात्र व्यक्ति थे जिन्होंने आधुनिक युग के महत्त्व को पूरी तरह समझा। वे जानते थे कि मानव-सभ्यता का आदर्श अलग-अलग रहने में नहीं बल्कि चिंतन और क्रिया के सभी क्षेत्रों में व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के परस्पर निर्भर बंधुत्व में निहित है।" राममोहन राय ने अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में गहरी दिलचस्पी ली और हर जगह उन्होंने स्वतंत्रता, जनतंत्र और राष्ट्रीयता के आंदोलन का समर्थन तथा हर प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और जुल्म का विरोध किया। 1821 में नेपल्स में क्रांति की विफलता की खबर से वे इतने दुखी हो गए कि उन्होंने अपने सारे सामाजिक कार्यक्रमों को रद कर दिया। दूसरी ओर, स्पेनिश अमरीका में 1823 में क्रांति की सफलता को उन्होंने एक सार्वजनिक भोज देकर मनाया। आयरलैंड की दूरस्थ ज़मींदारों के उत्पीड़क राज में दयनीय स्थिति की उन्होंने निंदा की। उन्होंने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि अगर संसद रिफार्म बिल पास करने में असफल रही तो वे ब्रिटिश साम्राज्य छोड़कर चले जाएँगे।

राममोहन सिंह की तरह निडर थे। किसी उचित उद्देश्य का समर्थन करने में वे कभी नहीं हिचकिचाए। सारी जिन्दगी व्यक्तिगत हानि और कठिनाई सहकर भी उन्होंने सामाजिक अन्याय और असमानता के खिलाफ़ संघर्ष किया। समाज सेवा की ज़िन्दगी के दौरान उनका बहुधा अपने परिवार, धनी ज़मींदारों और शक्तिशाली धर्म प्रचारकों, उच्च अफ़सरों तथा विदेशी अधिकारियों से टकराव हुआ। मगर वे न तो कभी डरे और न ही कभी अपने अपनाए हुए रास्ते से विचलित हुए।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में वे भारतीय आकाश के सबसे चमकीले सितारे ज़रूर थे मगर वे अकेले सितारे नहीं थे। उनके अनेक विशिष्ट सहयोगी, अनुयायी और उत्तराधिकारी थे। शिक्षा के क्षेत्र में डच घड़ी-साज हेअर और स्काटिश धर्मप्रचारक अलेक्ज़ेंडर डफ़ ने उनकी बड़ी सहायता की। अनेक भारतीय सहयोगियों में द्वारका नाथ टैगोर सबसे प्रमुख थे। उनके अन्य प्रमुख अनुयायी थे प्रसन्न कुमार टैगोर, चन्द्रशेखर देव, और ब्रह्म सभा के प्रथम मंत्री तारा चंद चक्रवर्ती।

उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों तथा चौथे दशक के दौरान बंगाली बुद्धिजीवियों के बीच एक आमूल परिवर्तनकारी प्रवृति पैदा हुई। यह प्रवृति राममोहन राय की अपेक्षा अधिक आधुनिक थी और उसे यंग बंगाल आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। उसका नेता और प्रेरक नौजवान एंग्लो इण्डियन हेनरी विवियन डेरोज़िओ था। डेरोज़िओ का जन्म 1809 में हुआ था। उसने 1826 से 1831 तक हिन्दू कालेज में पढ़ाया। डेरोज़िओ में आश्चर्यजनक प्रतिभा थी। उसने महान् फ्रांसीसी क्रांति से प्रेरणा ग्रहण की और अपने ज़माने के अत्यंत क्रांतिकारी विचारों को अपनाया। वह अत्यंत प्रतिभाशाली शिक्षक था जिसने अपनी युवावस्था के बावजूद अपने इर्द-गिर्द अनेक तेज़ और श्रद्धालु छात्रों को इकट्ठा कर लिया था। उसने उन छात्रों को विवेकपूर्ण और मुक्त ढंग से सोचने, सभी आधारों की प्रमाणिकता की जाँच करने, मुक्ति, समानता और स्वतंत्रता से प्रेम करने तथा सत्य की पूजा करने के लिए प्रेरित किया। डेरोज़िओ और उसके प्रसिद्ध अनुयायी जिन्हें डेरोज़िअन और यंग बंगाल कहा जाता था, प्रचण्ड देशभक्त थे।

डेरोज़िओ आधुनिक भारत का शायद प्रथम राष्ट्रवादी कवि था। उदाहरण के लिए, उसने 1827 में लिखा :

My Country ! in the days of glory past
A beauteous halo circled round thy brow,
and worshipped as a diety thou wast,
Where is that glory, where that reverence now ?
Thy eagle pinion is changed down at last,
And grovelling in the lowly dust art thou,
Thy minstrel hath no wreath to wave for thee
save the sad story of thy misery !

[मेरे देश ! बीती हुई गरिमा के दिनों में तुम्हारे ललाट के चारों ओर एक सुन्दर प्रभामण्डल व्याप्त था और पूजा एक देवता के समान होती थी। वह गरिमा कहाँ है ? अब वह श्रद्धा कहाँ है ? आखिरकार गरुड़ के समान तुम्हारे पंखों को जंजीर से जकड़ दिया गया है और तुम नीचे धूल में औंधे पड़े हो। तुम्हारे चारण को तुम्हारी विपन्नता की दुखद कहानी के सिवाय गूंथने के लिए कोई माला नहीं है !]

उसके एक शिष्य काशी प्रसाद घोष ने लिखा :

Land of the Gods and lofty name;
Land of the fair and beauty's spell;
Land of the bards of mighty fame,
My native land ! for e'er farewell ! (1830)

[देवताओं और उच्च नाम वाली भूमि ; मनोहर और सौंदर्य से सम्मोहित करने वाली ; अत्यधिक यशस्वी चरणों की भूमि ; मेरी जन्मभूमि सदा के लिए अलविदा ! (1830)]

But woe me ! I never shall live to behold,
That day of thy triumph, when firmly and bold,
Thou shalt mount on the wings of an eagle on high,
To the region of knowledge and blest liberty.(1861).

[मगर हाय ! तुम्हारी विजय का वह दिन देखने के लिए मैं कभी जिन्दा नहीं रहूँगा जब दृढ़ता और दिलेरी से तुम गरुड़ के पंखों पर तैरोगी और ऊपर ज्ञान और सुखद स्वतन्त्रता के क्षेत्र में उड़ान भरोगी (1831)]

डेरोज़िओ को उसकी क्रांतिकारिता के कारण 1831 में हिन्दू कालेज से हटा दिया गया और वह उसके तुरन्त बाद 22 वर्ष की युवावस्था में हैज़े से मर गया। उसके अनुयायियों ने पुरानी और ह्रासोन्मुख प्रथाओं, कृत्यों और रिवाजों की घोर आलोचना की। वे नारी अधिकारों के पक्के हिमायती थे। उन्होंने नारी-शिक्षा की माँग की किंतु वे किसी आंदोलन को जन्म देने में सफल नहीं हुए क्योंकि उनके विचारों को फलने-फूलने के लिए सामाजिक स्थितियाँ उपयुक्त नहीं थीं। उन्होंने किसानों के मसायल के सवाल को नहीं उठाया और उस समय भारतीय समाज में ऐसा कोई और वर्ग या समूह नहीं था जो इनके प्रगतिशील विचारों का समर्थन करता। यही नहीं, वे जनता के साथ अपने संपर्क नहीं बना सके। वस्तुतः उनकी क्रांतिकारिता किताबी थी; वे भारतीय वास्तविकता को पूरी तरह से समझने में असफल रहे। इतना होते हुए भी, डेरोज़िओ के अनुयायियों ने जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर समाचारपत्रों, पुस्तिकाओं और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा शिक्षित करने की राममोहन राय की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने कम्पनी के चार्टर (सनद) के संशोधन, प्रेस की स्वतंत्रता, विदेश स्थित ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय मज़दूरों के साथ बेहतर व्यवहार, जूरी द्वारा मुकदमों की सुनवायी, अत्याचारी ज़मींदारों से रैयतों की सुरक्षा और सरकारी सेवाओं के उच्चतर वेतनमानों में भारतीयों को रोज़गार देने जैसे सार्वजनिक प्रश्नों पर सार्वजनिक आंदोलन चलाए। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रसिद्ध नेता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने डेरोज़िओ के अनुयायियों को "बंगाल में आधुनिक सभ्यता के अग्रदूत, हमारी जाति के पिता" कहा "जिनके सद्गुण उनके प्रति श्रद्धा पैदा करेंगे और जिनकी कमज़ोरियों पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया जाएगा।"

ब्रह्म समाज बना रहा मगर उसमें कोई खास दम नहीं था। रवींद्रनाथ ठाकुर के पिता देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने उसे पुनर्जीवित किया। देवेन्द्र नाथ भारतीय विद्या की सर्वोत्तम परम्परा तथा नवीन पाश्चात्य चिंतन की उपज थे ? उन्होंने राममोहन राय के विचारों के प्रचार के लिए 1839 में तत्वबोधिनी सभा की स्थापना की। उसमें राममोहन राय और डेरोज़िओ के प्रमुख अनुयायी तथा ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और अक्षय कुमार दत्त जैसे स्वतंत्र चिंतक शामिल हो गए। तत्वबोधिनी सभा और उसके मुख्य पत्र 'तत्वबोधिनी पत्रिका' ने बंगला भाषा में भारत के सुव्यवस्थित अध्ययन को बढ़ावा दिया। उसने बंगाल के बुद्धिजीवियों को विवेकशील दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया। 1843 में देवेंद्र नाथ ठाकुर ने ब्रह्म समाज का पुनर्गठन किया और उसमें नया जीवन डाला। समाज ने सक्रिय रूप से विधवा पुनर्विवाह, बहुविवाह के उन्मूलन, नारी-शिक्षा, रैयत की दशा में सुधार, और आत्म संयम के आंदोलन का समर्थन किया।

भारत में उस समय एक दूसरा बड़ा व्यक्तित्व उभर कर सामने आया। यह व्यक्तित्व पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का था। विद्यासागर महान् विद्वान् और समाज-सुधारक थे। उन्होंने अपना सारा जीवन समाज सुधार के कार्य में लगा दिया। उनका जन्म 1820 में एक ग़रीब परिवार में हुआ था। उन्होंने अपने को शिक्षित करने के लिए कठिनाईयों से संघर्ष किया और अंत में वे संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल के पद पर पहुँचे। यद्यपि वे एक महान् संस्कृत विद्वान् थे तथापि उनके दिमाग़ के दरवाज़े पाश्चात्य चिंतन में जो कुछ सर्वोत्तम था उसके लिए खुले हुए थे। वे भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के एक सुखद संयोग का प्रतिनिधित्व करते थे। सबसे ऊपर, उनकी महानता, उनकी सच्चरित्रता और प्रखर प्रतिभा में निहित थी। उनमें असीम साहस था तथा उनके दिमाग़ में किसी प्रकार का भय नहीं था। जो कुछ भी उन्होंने सही समझा उसे उन्होंने कार्यान्वित किया। उनकी धारणाओं और कार्य, तथा उनके चिंतन और व्यवहार के बीच कोई खाई नहीं थी। उनका पहनावा सादा, आदतें स्वाभाविक और व्यवहार सीधा था। वे एक महान् मानवतावादी थे। उनमें ग़रीबों, अभागों और उत्पीड़ित लोगों के लिए अपार सहानुभूति थी।

बंगाल में आज भी उनके उदात्त चरित्र, नैतिक गुणों और अगाध मानवतावाद के संबंध में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। उन्होंने सरकारी सेवा से त्याग-पत्र दे दिया क्योंकि वे अनुचित सरकारी हस्तक्षेप को बर्दाश्त नहीं कर सके। ग़रीबों के प्रति उनकी उदारता अचम्भे में डालने वाली थी। शायद ही कभी उनके पास कोई गर्म कोट रहा क्योंकि निरपवाद रूप से उन्होंने अपना कोट जो भी नंगा भिखारी सड़क पर पहले मिला उसे दे दिया।

आधुनिक भारत के निर्माण में विद्यासागर का योग-दान अनेक प्रकार का था। उन्होंने संस्कृत पढ़ाने के लिए नयी तकनीक विकसित की। उन्होंने एक बंगला वर्णमाला लिखी जो आज तक इस्तेमाल में आती है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा बंगला में आधुनिक गद्य शैली के विकास में सहायता दी। उन्होंने संस्कृत कालेज के दरवाजे ग़ैर-ब्राह्मण विद्यार्थियों के लिए खोल दिए क्योंकि वे संस्कृत के अध्ययन पर ब्राह्मण जाति के तत्कालीन एकाधिकार के विरोधी थे। संस्कृत अध्ययनों को स्वगृहीत अलगाव के नुक़सान-देह प्रभावों से बचाने के लिए उन्होंने संस्कृत कालेज में पाश्चात्य चिंतन का अध्ययन आरम्भ किया। उन्होंने एक कालेज की स्थापना में सहायता दी जो अब उनके नाम पर है।

सबसे अधिक, विद्यासागर को उनके देशवासी भारत की पद्दलित नारी जाति को ऊँचा उठाने में उनके योगदान के कारण आज भी याद करते हैं। इस क्षेत्र में वे राम मोहन राय के सुयोग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह के लिए एक लम्बा संघर्ष चलाया। उनके मानवतावाद को हिन्दू विधवाओं के कष्टों ने पूरी तरह उभारा। उन्होंने उनकी दशा को सुधारने के लिए अपना सब कुछ दे दिया और अपने को वस्तुतः बर्बाद कर लिया। उन्होंने 1855 में विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में अपनी शक्ति-शाली आवाज़ उठायी। उन्होंने इस काम में अगाध परम्परागत विद्या का सहारा लिया। जल्द ही विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में एक शक्तिशाली आंदोलन आरम्भ हो गया जो आज तक चल रहा है। 1855 के अन्तिम दिनों में बंगाल, मद्रास, बम्बई, नागपुर और भारत के अन्य शहरों से सरकार को बड़ी संख्या में याचिकाएँ दी गयीं जिनमें विधवाओं के पुनर्विवाह को क़ानूनी बनाने के लिए एक ऐक्ट पास करने का अनुरोध किया गया। यह आंदोलन सफल रहा और एक क़ानून बनाया गया। हमारे देश की उच्च जातियों में पहला क़ानूनी हिन्दू विधवा पुनर्विवाह कल-कत्ता में 7 दिसम्बर 1856 को विद्यासागर की प्रेरणा से और उनकी ही देख-रेख में हुआ। देश के विभिन्न भागों में अनेक अन्य जातियों की विधवाओं को प्रचलित क़ानून के तहत यह अधिकार पहले से ही प्राप्त था। एक प्रत्यक्ष-द्रष्टा ने उपर्युक्त विधवा पुनर्विवाह समारोह का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

> "मैं वह दिन कभी नहीं भुला पाऊँगा जब पंडित विद्यासागर अपने मित्र, दुल्हे के साथ एक बड़ा बारात में आगे-आगे आए तब दर्शकों की भीड़ इतनी बड़ी थी कि घूमने-फिरने के लिए एक इंच जगह भी नहीं थी, और कई लोग बड़े नालों में गिर गए; जो उन दिनों कलकत्ता की सड़कों के किनारे होते थे। समारोह के बाद यह हर जगह चर्चा का विषय हो गया; बाजारों और दुकानों में, सड़कों पर, सार्वजनिक चौराहों पर, छात्रावासों में, भद्र लोगों की बैठकों में, दफ्तरों और दूर ग्रामीण घरों में इसकी चर्चा होने लगी, जहाँ औरतों ने भी बड़ी गम्भीरता से उस पर आपस में विचार-विमर्श किया। शांतिपुर के बुनकरों ने

एक विचित्र प्रकार की स्त्रियों की साड़ी तैयार की जिसके किनारों पर एक नव-रचित गीत की पंक्ति बुनी गयी थी जिसमें कहा गया था "विद्यासागर चिरंजीवी हों ।"

विधवा पुनर्विवाह की वकालत करने के कारण विद्यासागर को पोंगापंथी हिन्दुओं की कटु शत्रुता का सामना करना पड़ा। कभी-कभी उनकी जान लेने की धमकी दी गयी। किंतु निडर होकर वे अपने द्वारा चुने गए रास्ते पर आगे बढ़े। उनके प्रयासों से, जिनमें जरूरतमंद दम्पत्तियों की आर्थिक सहायता भी शामिल थी, 1855 और 1860 के बीच 25 विधवा पुनर्विवाह हुए।

विद्यासागर ने 1850 में बालविवाह का विरोध किया। उन्होंने जीवन भर बहुविवाह के विरुद्ध आंदोलन चलाया। वे नारी-शिक्षा में भी गहरी दिलचस्पी रखते थे। स्कूलों के सरकारी निरीक्षक की हैसियत से उन्होंने 25 बालिका विद्यालयों की स्थापना की जिनमें से कई को उन्होंने अपने खर्च से चलाया। बेथुन स्कूल के मंत्री की हैसियत से वे उच्च नारी-शिक्षा के अग्रदूतों में से थे।

बेथुन स्कूल की स्थापना 1849 में कलकत्ता में हुई। वह नारी-शिक्षा के लिए उन्नीसवीं सदी के पाँचवें और छठे दशकों में चलाए गए शक्तिशाली आंदोलन का पहला परिणाम था। यद्यपि नारी-शिक्षा भारत के लिए कोई नयी चीज नहीं थी, तथापि उसके विरुद्ध काफ़ी पूर्वाग्रह व्याप्त था। कुछ लोगों की यह भी धारणा थी कि शिक्षित औरतें अपने पतियों को खो बैठेंगी। लड़कियों को आधुनिक शिक्षा देने की शिक्षा में सबसे पहले 1821 में ईसाई धर्मप्रचारकों ने क़दम उठाए। मगर ईसाई धार्मिक शिक्षा पर जोर देने के कारण उनके प्रयास सफल नहीं हो सके। बेथुन स्कूल को विद्यार्थी प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हुई। युवा छात्राओं के खिलाफ़ नारे लगाए गए और उन्हें गालियाँ दी गयीं। कई बार उनके अभिभावकों का सामाजिक बहिष्कार किया गया। अनेक लोगों का ख्याल था कि पाश्चात्य शिक्षा पाने वाली लड़कियाँ अपने पतियों को अपना गुलाम बना देंगी।

पश्चिम भारत की अपेक्षा बंगाल में पाश्चात्य विचारों का प्रभाव पहले हुआ। पश्चिम भारत प्रभावकारी ब्रिटिश नियंत्रण में काफ़ी देर बाद 1818 में आया। 1849 में परमहंस मंडली की स्थापना महाराष्ट्र में हुई। उसके संस्थापक एकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे और मूलतः जाति के नियमों को तोड़.. के हक़ में थे। उसकी बैठकों में सदस्य निम्न जाति के लोगों द्वारा तैयार किया गया भोजन खाते थे। अनेक शिक्षित नौजवानों ने 1848 में छात्र साहित्यिक और वैज्ञानिक समिति (Students Literary and Scientific society) की स्थापना की जिसकी दो शाखाएँ गुजराती और मराठी ज्ञान प्रसारक मंडलियाँ थीं। समिति लोकप्रिय वैज्ञानिक और सामाजिक प्रश्नों पर भाषण करवाती थी। समिति का एक लक्ष्य नारी-शिक्षा के लिए स्कूल खोलना था। जोतिबा फुले और उनकी पत्नी ने 1851 में पुणे में एक बालिका विद्यालय खोला और तुरन्त ही अनेक अन्य विद्यालय खुल गए। इन स्कूलों को सक्रिय रूप से प्रोत्साहन देने वालों में जगन्नाथ शंकर सेठ और भाऊदाजी थे। फुले महाराष्ट्र में विधवा पुनर्विवाह के अग्रदूत थे। विष्णु शास्त्री पंडित ने उन्नीसवीं सदी के छठे दशक में विधवा पुनर्विवाह (Widow Remarriage Association) की स्थापना की। इस क्षेत्र में एक अन्य प्रमुख कार्यकर्ता कर्सन दास मूलजी थे जिन्होंने 1852 में विधवा पुनर्विवाह की वकालत के लिए गुजराती में 'सत्य प्रकाश' आरम्भ किया।

महाराष्ट्र में नयी विद्या और समाज सुधार के एक बड़े हिमायती गोपाल हरि देशमुख थे जो अपने उपनाम 'लोकहितवादी', से मशहूर हुए। उन्होंने विवेकशील सिद्धान्तों और आधुनिक मानवतावादी तथा धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के आधार पर भारतीय समाज के पुनर्गठन की वकालत की। जोतिबा फुले का जन्म एक छोटी जाति के माली परिवार में हुआ था। महाराष्ट्र में ग़ैर-ब्राह्मणों और अछूतों की गिरी हुई अवस्था से वे पूरी तरह परिचित थे। जीवन भर उन्होंने ऊँची जातियों के दबदबे और ब्राह्मणों की सर्वोच्चता के विरुद्ध अभियान चलाया।

दादा भाई नौरोजी बम्बई के एक अग्रणी समाज सुधारक थे। वे पारसी धर्म में सुधार लाने के लिए बनायी गयी एक संस्था के संस्थापकों में से थे। उन्होंने पारसी लॉ असोसियेशन की स्थापना में भी योगदान दिया था जिसने औरतों को क़ानूनी दर्जा देने तथा पारसियों के लिए विरासत और विवाह के समरूप क़ानून बनाने के लिए आंदोलन किया।

अभ्यास

1. उन्नीसवीं सदी के सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण में राजा राममोहन राय के योगदान की चर्चा कीजिए।
2. ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने आधुनिक भारत के निर्माण में किस प्रकार योगदान दिया ?
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
   (क) हेनरी विवियन डेरोजिओ; (ख) यंग बंगाल; (ग) देवेंद्र नाथ ठाकुर; (घ) बेथुन स्कूल; (च) पश्चिम भारत में धार्मिक सुधार।

अध्याय 8

अठारह सौ सत्तावन का विद्रोह

एक शक्तिशाली जनविद्रोह 1857 में उत्तर और मध्य भारत में भड़क उठा जिसने ब्रिटिश राज को लगभग ख़तम सा कर दिया। उसकी शुरूआत सिपाहियों (यानी कंपनी की सेना के भारतीय सैनिकों) की बग़ावत से हुई मगर वह जल्द ही काफ़ी बड़े क्षेत्रों और बड़ी संख्या में लोगों के बीच फैल गया। लाखों किसान, दस्तकार और सैनिक एक साल से भी अधिक तक बहादुरी से लड़ते रहे और उन्होंने अपनी हिम्मत और बलिदान से भारतीय जनता के इतिहास में एक नया गौरवपूर्ण अध्याय लिखा।

1857 का विद्रोह सिपाहियों के असंतोष की उपज मात्र नहीं था। वस्तुतः वह कम्पनी के प्रशासन के विरुद्ध जनता की संचित शिकायतों और विदेशी राज के प्रति उनकी नापसंदगी का परिणाम था। एक सदी से भी अधिक से अंग्रेज़ धीरे-धीरे इस देश पर विजय प्राप्त करते आ रहे थे। इससे भारतीय समाज के विभिन्न समुदायों में विदेशी शासन के विरुद्ध जनअसंतोष और घृणा बढ़ती जा रही थी। यही असंतोष एक शक्तिशाली जनविद्रोह के रूप में भड़क उठा।

जनअसंतोष का शायद सबसे महत्त्वपूर्ण कारण देश का अंग्रेज़ों द्वारा आर्थिक शोषण और उसके पारम्परिक आर्थिक ढाँचे का पूर्णतया विनाश था। दोनों ने किसानों, दस्तकारों और हस्तशिल्पकारों तथा बड़ी संख्या में परम्परागत ज़मींदारों और प्रधानों को दरिद्र बना दिया। एक अन्य अध्याय में हम प्रारम्भिक ब्रिटिश शासन के विध्वंसकारी आर्थिक प्रभाव के ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। असंतोष के अन्य सामान्य कारण थे: ब्रिटिश भू और भूराजस्व नीतियाँ और क़ानून तथा प्रशासन की प्रणालियाँ। विशेषतौर से बड़ी संख्या में किसान भूस्वामियों की ज़मीन उनके हाथों से निकल कर व्यापारियों और महाजनों के पास चली गयी। किसान भूस्वामी बड़ी बुरी तरह क़र्ज़ में फंस गए। इसके अलावा प्रशासन के निचले स्तरों पर व्याप्त भ्रष्टाचार से आम जनता को बड़ा नुक़सान पहुँचा था। पुलिस, छोटे अफ़सर तथा छोटी अदालतें भ्रष्टाचार के लिए बदनाम थीं। विलियम एडवर्डस नामक एक ब्रिटिश अफ़सर ने विद्रोह के कारणों की चर्चा करते हुए 1859 में लिखा कि "पुलिस जनता के लिए चाबुक की तरह" है और "उसकी उत्पीड़न और बलपूर्वक उगाही हमारी सरकार के प्रति असंतोष के मुख्य कारणों में से थे।" छोटे अफ़सरों ने रैयतों और ज़मींदारों के मत्थे अपने को समृद्ध बनाने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ा। जटिल न्यायप्रणाली ने ग़रीबों के ऊपर ज़ुल्म करने में धनी लोगों की सहायता की। अतः लोगों की बढ़ती हुई ग़रीबी ने उन्हें निराशोन्मत बना दिया और उन्हें अपनी दशा सुधारने की आशा से विद्रोह में शामिल होने के लिए प्रेरित किया।

भारतीय समाज के मध्यम और उच्च वर्गों को, विशेषकर उत्तर भारत में, प्रशासन के अच्छे वेतन वाले ऊँचे ओहदों से अलग रखे जाने के कारण काफी नुक़सान पहुँचा था। भारतीय राज्यों के धीरे-धीरे लुप्त हो जाने के कारण वे भारतवासी जो उनमें उच्च प्रशासनिक और न्यायिक पदों पर थे, जीवन यापन के प्रत्यक्ष साधनों को खो बैठे। ब्रिटिश प्रभुत्व के कारण वे लोग भी बर्बाद हो गए जो सांस्कृतिक कार्यों में लगे हुए थे। भारतीय शासक कला और साहित्य के संरक्षक थे और धार्मिक उपदेशकों तथा संत-महात्माओं का भरण-पोषण करते थे। इन शासकों को ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा अपदस्थ किए जाने का मतलब था इस संरक्षण की एकाएक समाप्ति और उन लोगों की दरिद्रता, जो उस संरक्षण पर निर्भर थे। धार्मिक उपदेशकों, पंडितों और मौलवियों ने देखा कि उनका सम्पूर्ण भविष्य खतरे में पड़ गया है। इन लोगों ने विदेशी शासन के प्रति घृणा फैलाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

ब्रिटिश शासन की बदनामी का एक अन्य मूल कारण उसका विदेशीपन था। अंग्रेज़ भारत में हमेशा विदेशी बने रहे। उनके और भारतीयों के बीच कोई सामाजिक कड़ी नहीं थी और न ही कोई सम्पर्क था। अपने पहले के विदेशी विजेताओं के विपरीत वे भारत के उच्च वर्ग के लोगों के साथ भी सामाजिक तौर पर मेल-जोल नहीं रखते थे, उनमें जातिगत (Racial) श्रेष्ठता की भावना थी और वे भारतीयों को तिरस्कार और अहंकार भरी निगाह से देखते थे। जैसा कि बाद में सैयद अहमद खाँ ने लिखा: "सर्वोच्च श्रेणी के भारतवासी भी अफ़सरों के सामने मन में डर लिए और कांपते हुए आते थे।" सबसे बड़ी बात यह थी कि अंग्रेज़ भारत में बसने के लिए और भारत को अपना घर बनाने के लिए नहीं आए थे। उनका मुख्य लक्ष्य अपने को समृद्ध बनाना और धन लेकर ब्रिटेन वापस जाना था। भारत के लोगों को नए शासकों के मूल विदेशी चरित्र के बारे में पूरी तरह पता था। उन्होंने अंग्रेज़ों को अपना हितैषी मानने से इन्कार कर दिया और वे उनके हर काम को संदेह की नज़र से देखते थे। इस प्रकार उन में एक अस्पष्ट सी अंग्रेज़-विरोधी भावना थी जिसकी अभिव्यक्ति 1857 के विद्रोह के पहले भी जनविद्रोहों में हुई थी। दिल्ली के मुन्शी मोहन लाल ने जो 1857 के विद्रोह के दौरान अंग्रेज़ों का वफ़ादार रहा, बाद में चल कर लिखा कि "उन लोगों ने भी जो ब्रिटिश राज में समृद्ध हुए थे, अंग्रेज़ों की हारों पर गुप्त प्रसन्नता जाहिर की।" अंग्रेज़ों के एक अन्य वफ़ादार मुईन-उद्दीन हसन खाँ ने बतलाया कि लोग अंग्रेज़ों को "विदेशी घुसपैठिए" के रूप में देखते थे।

जिस अवधि में जन-असंतोष बढ़ा उसी में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने ब्रिटिश हथियारों की अपराजेयता में आम विश्वास को खत्म कर दिया और लोगों को यह विश्वास करने के लिए प्रेरित किया कि ब्रिटिश राज का अन्त क़रीब आ गया है। ब्रिटिश फ़ौज को प्रथम अफगान युद्ध (1838-42) और पंजाब के युद्धों (1845--1849) तथा क्रीमिया के युद्ध (1854-56) में करारी हारें हुईं। बिहार और बंगाल के संथाल आदिवासी कुल्हाड़ियों और तीर-कमानों से लैस होकर बगावत कर उठे। उन्होंने अपने क्षेत्र से अस्थायी तौर पर ब्रिटिश शासन को खत्म कर दिया। इससे जन-विद्रोह की ताक़त स्पष्ट हो गयी। यद्यपि अंग्रेज़, अन्ततोगत्वा इन युद्धों में जीत गए और उन्होंने संथाल विद्रोह को दबा दिया तथापि प्रमुख लड़ाइयों में उन्हें जिन घोर संकटों का सामना करना पड़ा उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि दृढ़ संकल्प कर लड़ने पर कोई एशियाई सेना भी ब्रिटिश फ़ौज को हरा सकती है। वस्तुतः यहाँ पर भारतवासियों ने ब्रिटिश शक्ति को कम आंक कर राजनीतिक मूल्यांकन संबंधी भारी भूल की। यह भूल 1857 के विद्रोहियों के लिए काफ़ी नुक़सानदेह साबित हुई। साथ ही इस कारक के ऐतिहासिक महत्त्व को नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए। लोगों को सिर्फ़ इस लिए विद्रोह नहीं करना चाहिए कि वे अपने शासकों को उखाड़ फेंकना चाहते हैं बल्कि उनमें यह आत्मविश्वास भी होना चाहिए कि वे ऐसा सफलतापूर्वक कर सकते हैं।

डलहौज़ी द्वारा 1856 में अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लेने पर आमतौर से सारे भारत में, और ख़ासकर अवध में, व्यापक रूप से नाराज़गी जाहिर की गयी। विशेष तौर पर इससे अवध और कम्पनी की फ़ौज में विद्रोह का वातावरण पैदा हो गया। डलहौज़ी की कार्रवाई ने कम्पनी के सिपाहियों में गुस्सा भर दिया। अधिकांश सिपाही अवध के रहने वाले थे। एक अखिल भारतीय

भावना न होने के कारण इन सिपाहियों ने शेष भारत पर विजय करने में अंग्रेज़ों की सहायता की थी। मगर उनमें अपने क्षेत्र और स्थान के प्रति प्रेम और निष्ठा थी और वे यह पसंद नहीं करते थे कि उनकी जन्मभूमि विदेशी अधिकार में चली जाए। इतना ही नहीं, अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से वहां के रहने वाले सिपाही के ऊपर वित्तीय बोझ बढ़ा। उसे अब अवध स्थित अपनी पारिवारिक ज़मीन पर पहले की अपेक्षा अधिक लगान देना पड़ता था।

अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाते समय डलहौज़ी ने यह बहाना बनाया था कि वह अवध की जनता को नवाब तथा ताल्लुकेदारों के उत्पीड़न से मुक्त करना चाहता है, परन्तु जनता को कोई राहत नहीं मिली। अब आम आदमी को पहले की अपेक्षा भूराजस्व और खाद्य सामग्रियों, मकानों, नौकाओं, अफ़ीम तथा न्याय पर अधिक कर देने को मजबूर किया गया। इतना ही नहीं, शेष भारत की तरह ज़मीन किसानों और पुराने ज़मींदारों के हाथों से निकल कर नए ज़मींदारों और महाजनों के पास जाने लगी। नवाब के प्रशासन और सेना के विघटन ने हज़ारों सामंतों, कुलीन लोगों और अधिकारियों के साथ ही उनके नौकरों तथा अफ़सरों और सैनिकों को रोज़गार विहीन बना दिया और इस प्रकार लगभग हर किसान का घर बेरोज़गारी से प्रभावित हुआ। इसी तरह वे सौदागर, दुकानदार तथा हस्तशिल्पी जो अवध के राजदरबार तथा सामंतों के लिए काम करते आ रहे थे अपनी आजीविका से हाथ धो बैठे। अंग्रेज़ों ने इन लोगों को कोई वैकल्पिक रोज़गार नहीं दिए। इसके अलावा, अंग्रेज़ों ने बहुसंख्यक ताल्लुक़ेदारों या ज़मींदारों की संपत्ति छीन ली। ये संपत्ति-विहीन ताल्लुक़ेदार ब्रिटिश शासन के अत्यन्त ख़तरनाक विरोधी बन गए।

डलहौज़ी द्वारा अन्य इलाक़ों को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने तथा अवध को हथियाने से देशी राज्यों के शासकों में तहलका मच गया। उन्होंने देखा कि वे चाहे दीन-हीन बनकर ज़मीन पर कितनी भी नाक रगड़ें, अंग्रेज़ों का इलाक़े के लिए लोभ कम होने वाला नहीं है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि अंग्रेज़ों ने जिस तरह भारतीय शक्तियों के साथ अपने लिखित और मौखिक वादे तथा संधियाँ तोड़ी थीं और उन्हें यह कहते हुए भी अपने अधीन बना लिया था कि वे उनके मित्र और रक्षक हैं, उससे अंग्रेज़ों की राजनीतिक प्रतिष्ठा काफ़ी गिर गयी थी। उदाहरण के लिए, राज्यों को हथियाने की यह नीति नाना साहब, झाँसी की रानी तथा बहादुर शाह को अंग्रेज़ों के कट्टर दुश्मन बनाने के लिए जिम्मेदार थी। नाना साहब अन्तिम पेशवा बाजी राव द्वितीय का दत्तक पुत्र था। बाजी राव द्वितीय के 1851 में मरने के बाद अंग्रेज़ों ने नाना साहब को बाजी राव द्वितीय को जो पेंशन मिल रही थी वह देने से इन्कार कर दिया। इसी तरह झाँसी को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाने की ब्रिटिश ज़िद ने अभिमानी रानी लक्ष्मी बाई को नाराज़ कर दिया। रानी लक्ष्मी बाई चाहती थी कि उसका दत्तक पुत्र उसके मृत पति की जगह राजा बने। मुग़ल घराने ने डलहौज़ी की 1849 की इस घोषणा से बड़ा अपमानित महसूस किया कि बहादुर शाह के उत्तराधिकारी को ऐतिहासिक लाल क़िले को छोड़कर दिल्ली के एक छोर पर कुतुब मीनार के पास एक मामूली से मकान में रहना पड़ेगा। इतना ही नहीं, 1856 में कैनिंग ने घोषणा की कि बहादुर शाह के मरने के बाद मुग़लों को बादशाह नहीं बल्कि सिर्फ़ शाहज़ादे कहा जाएगा।

लोगों में यह डर समा गया था कि ब्रिटिश राज उनके धर्म के लिए ख़तरा है। इस डर ने लोगों को ब्रिटिश राज के ख़िलाफ़ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। यह डर मुख्यतः ईसाई धर्म प्रचारकों की गतिविधियों से पैदा हो गया था। ईसाई धर्म प्रचारक "हर जगह—स्कूलों, अस्पतालों, जेलों और बाजारों में" नजर आने लगे। इन ईसाई धर्म प्रचारकों ने लोगों का धर्म परिवर्तन करने की कोशिश की तथा हिन्दू धर्म और इस्लाम की उग्र एवं अशिष्ट सार्वजनिक आलोचनाएँ कीं। उन्होंने लोगों की प्रिय प्रथाओं और परम्पराओं की खुलेआम हँसी उड़ायी तथा उनकी भर्त्सना की। ईसाई धर्म प्रचारकों के बचाव के लिए पुलिस का इन्तज़ाम किया गया था। उनके द्वारा किए गए वास्तविक धर्म परिवर्तन लोगों को अपने धर्म के प्रति ख़तरे के जीते-जागते सबूत लगे। लोगों को यह संदेह था कि विदेशी सरकार ईसाई धर्म प्रचारकों की गतिविधियों को समर्थन दे रही है। यह संदेह सरकार के कतिपय कार्यों और उसके अफ़सरों की कार्रवाईयों से पुष्ट हो

गया। सरकार ने 1850 में एक क़ानून बनाया जिसके अनुसार ईसाई बनने वाला आदमी अपनी पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त कर सकता था। इसके अलावा, सरकारी ख़र्च से फ़ौजों में पादरी रखे जाने लगे। अनेक सिविल और फ़ौजी अफ़सर ईसाई धार्मिक प्रचार को बढ़ावा देना तथा सरकारी स्कूलों और यहाँ तक कि जेलों में भी ईसाई धर्म की शिक्षा की व्यवस्था करना अपना कर्तव्य समझने लगे। ऐसे अफ़सरों की गतिविधियों ने लोगों में डर भर दिया, और इस डर की पुष्टि तब हो गई जब 1857 में उन्होंने पढ़ा कि आर० डी० मैंग्लस ने हाउस आफ कामंस में कहा है कि :

> "विधाता ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंग्लैंड को इसलिए सौंपा है कि ईसा मसीह का झंडा भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक शान से फहराए। प्रत्येक आदमी को अपनी सारी ताक़त जरूर लगानी चाहिए जिससे कि भारत को ईसाई बनाने का शानदार काम जारी रहे।"

भारतीय समाज सुधारकों की सलाह से सरकार ने जो थोड़े से मानवतावादी क़दम उठाए थे उनसे अनेक लोगों में रूढ़िवादी धार्मिक भावनाएँ उभरीं। उनकी धारणा थी कि एक विदेशी ईसाई सरकार को उनके धर्म और रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने या सुधार लाने का कोई अधिकार नहीं है। सती-प्रथा का उन्मूलन, विधवा पुनर्विवाह को क़ानूनी बना देना, और लड़कियों के लिए भी पाश्चात्य शिक्षा की व्यवस्था उन्हें ऐसे अनुचित हस्तक्षेप के उदाहरण लगे। मंदिरों और मस्जिदों तथा उनके पुरोहितों और इमामों या लोकोपकारी संस्थानों की ज़मीन पर लगान लगाने से भी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँची। भारतीय शासकों ने इस प्रकार की ज़मीन को लगान से मुक्त रखा था। इसके अलावा, जो अनेक ब्राह्मण और मुसलमान परिवार इन ज़मीनों पर निर्भर थे वे गुस्से से भर गए और उन्होंने यह प्रचार आरम्भ किया कि अंग्रेज़ भारत के धर्मों की जड़ें खोदने की कोशिश कर रहे हैं।

अठारह सौ सत्तावन का विद्रोह कम्पनी के सिपाहियों की बग़ावत से आरम्भ हुआ। इसलिए हमें यह देखना चाहिए कि जिन सिपाहियों ने कम्पनी को भारत पर विजय करने में सहायता दी थी वे एकाएक विद्रोही क्यों बन गए। यहाँ पर इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि आखिरकार सिपाही भी भारतीय समाज का अंग थे और इसलिए वे भी कुछ हद तक अन्य भारतीयों के सुख-दुख में हिस्सेदार थे। समाज के अन्य वर्गों की आशाएँ, आकांक्षाएँ और निराशाएँ उनमें भी देखने में आयीं। अगर उनके नाते रिश्तेदारों को ब्रिटिश शासन के विध्वंसक आर्थिक परिणामों को भुगतना पड़ा तो उन्होंने भी उनके कष्टों को महसूस किया। वे भी इस आम धारणा से प्रभावित थे कि अंग्रेज़ उनके धर्मों में हस्तक्षेप कर रहे हैं और भारतीयों को ईसाई बनाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। उनके अपने अनुभव ने भी उन्हें इस तरह की धारणा को स्वीकार करने के लिए पहले से ही तत्पर बना दिया था। वे जानते थे कि फ़ौज में भी सरकारी ख़र्च से पादरी रखे जाते हैं। इसके अलावा कुछ ब्रिटिश अफ़सर धार्मिक उत्साह में आकर सिपाहियों के बीच ईसाई धर्म प्रचार करते थे। सिपाहियों की भी अपनी धार्मिक या जातिगत शिकायतें थीं। उन दिनों के भारतीय बड़ी सख्ती से जाति के नियमों आदि का पालन करते थे। सैनिक अधिकारियों ने सिपाहियों को जाति और पंथ संबंधी चिन्ह, (जैसे चंदन-टीका आदि) दाढ़ी रखने या पगड़ी का इस्तेमाल करने से मना कर दिया था। 1856 में एक क़ानून बना जिसके तहत हर नए रंगरूट को आवश्यकता पड़ने पर समुद्र पार जाकर भी काम करने का वादा करना पड़ा था। इससे सिपाहियों की भावनाओं को ठेस पहुँची क्योंकि हिन्दुओं की प्रचलित धार्मिक धारणाओं के अनुसार समुद्र पार जाने की मनाही थी और समुद्र पार जाने से जातिच्युत हो जाने का खतरा था।

सिपाहियों को अपने मालिकों से अन्य अनगिनत शिकायतें थीं। उनके अंग्रेज़ अफ़सर उनके साथ तिरस्कार पूर्ण व्यवहार करते थे। एक समसामयिक अंग्रेज़ पर्यवेक्षक ने लिखा कि "अफ़सर और उनके आदमी एक दूसरे के लिए दोस्त नहीं बल्कि अजनबी हैं। सिपाही को एक निकृष्ट प्राणी समझा जाता है। उसे गालियाँ दी जाती हैं। उसके साथ रूखा व्यवहार होता है। उसे 'हब्शी' कहा जाता है। उसे सूअर कह कर पुकारा जाता है—नौजवान अफ़सर उसको एक निकृष्ट जानवर समझते हैं।" अगर कोई सिपाही अपने ही जैसे किसी ब्रिटिश सिपाही की तरह अच्छा सैनिक होता तो भी उसे ब्रिटिश सिपाही से कम वेतन मिलता तथा उसके रहने तथा खाने-पीने की व्यवस्था घटिया होती। इसके अलावा, उसकी उन्नति की संभावना बिल्कुल नहीं थी, कोई भी भारतीय सूबेदार के ओहदों से ऊपर नहीं जा सकता था। एक सूबेदार का मासिक वेतन

60 से 70 रुपए तक होता था। वस्तुतः सिपाही का जीवन काफ़ी कठिनाइयों से भरा हुआ था। स्वभावतया सिपाहियों को हीनता की इस कृत्रिम और ज़बर्दस्ती लादी गयी स्थिति पर नाराज़गी थी। जैसा कि ब्रिटिश इतिहासकार टी० आर० होल्मस ने लिखा है :

"उसमें हैदर अली जैसी सैनिक प्रतिभा के लक्षण हो सकते थे, मगर वह जानता था कि वह एक अंग्रेज अफ़सर जितना वेतन नहीं पा सकता और, 30 सालों की निष्ठापूर्वक सेवा के बाद वह जिस ओहदे पर पहुँचेगा वह इंग्लैंड से आये नये कमीशन प्राप्त अफ़सर के बदतमीज़ी से भरे हुक्मों से उसे नहीं बचा पायेगा।"

सिपाहियों के असंतोष का एक अधिक तात्कालिक कारण वह ताज़ा आदेश था जिसमें कहा गया था कि उन्हें सिंध या पंजाब में काम करने पर विदेशी सेवा भत्ता नहीं दिया जाएगा। इस आदेश के फलस्वरूप अनेक सिपाहियों के वेतन में भारी कटौती हो गयी। अनेक सिपाहियों के निवासस्थान अवध के अंग्रेज़ी राज में मिलाए जाने के कारण उनकी भावनाएँ भड़क उठीं।

सिपाहियों के असंतोष का, वस्तुतः, एक लम्बा इतिहास था। बंगाल में काफ़ी पहले—1764 में—एक सिपाही विद्रोह हुआ था। तीस सिपाहियों को तोपों से उड़ा कर अधिकारियों ने विद्रोह को दबा दिया था। 1806 में वेल्लोर में सिपाहियों ने बग़ावत की मगर भयंकर हिंसा का सहारा लेकर उन्हें कुचल दिया गया। 1824 में बैरकपुर स्थित 47वीं रेजिमेंट के सिपाहियों ने समुद्री रास्ते से बर्मा जाने से इन्कार कर दिया। उस रेजिमेंट को तोड़ दिया गया, उसके निहत्थे आदमियों पर तोपखाने से गोलियाँ चलायी गयीं, और सिपाहियों के नेताओं को फाँसी पर लटका दिया गया। 1844 में सात बटालियनों ने वेतनों और भत्तों के सवाल को लेकर विद्रोह कर दिया। इसी प्रकार, अफ़ग़ान युद्ध के दौरान अफ़ग़ानिस्तान स्थित सिपाही विद्रोह के लिए तत्पर हो गए। फ़ौज में फैले असंतोष को ज़ाहिर करने के लिए दो सूबेदारों को, जिनमें एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान था, गोली मार दी गयी। सिपाहियों के बीच असंतोष इतना व्याप्त था कि बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर फ्रेडरिक हैलिडे ने कहा कि बंगाल की सेना "कमोवेश विद्रोह की मुद्रा में थी, वह सदा विद्रोह करने को तत्पर रहती थी और उत्तेजना तथा अवसर का संयोग होते ही उसने विद्रोह कर दिया होता।"

इस तरह भारतीय जनता और कम्पनी की सेना के सिपाहियों के एक बड़े भाग में विदेशी शासन के प्रति व्यापक तथा घोर नापसंदगी और यहाँ तक कि घृणा फैली हुई थी। इस भावना को सैयद अहमद ख़ाँ ने अपनी पुस्तक 'कॉज़ेज़ ऑफ़ दी इंडियन म्युटिनी' (हिन्दुस्तान के ग़दर के कारण) में संक्षेप में इस प्रकार रखा:

"आखिरकार भारतीयों को यह सोचने की आदत लग गयी कि सारे क़ानून उनको गर्त में गिराने तथा बर्बाद करने और उन्हें तथा उनके देशवासियों को उनके धर्म से वंचित करने के लिए बनाए गए हैं। अंततोगत्वा वह समय भी आ गया जब सब लोग अंग्रेज़ी सरकार को धीरे-धीरे दिया जाने वाला ज़हर... तथा आग की जोखिम भरी लपट समझने लगे। उन्होंने धीरे-धीरे यह विश्वास करना शुरू कर दिया कि अगर वे आज सरकार के चंगुल से बच भी जाएँ तो कल उसमें ज़रूर फंसेंगे या कल भी बच निकले तो परसों अपना सर्वनाश ज़रूर देखेंगे... लोगों ने सरकार में परिवर्तन की कामना की, और इस विचार से कि ब्रिटिश शासन को हटाकर उसकी जगह पर दूसरा कोई शासन आएगा, उनको हार्दिक आनन्द हुआ।"

इसी प्रकार दिल्ली में विद्रोहियों द्वारा जारी किए गए घोषणा पत्र में निम्नलिखित शिकायतें की गयी थीं :

"सर्वप्रथम, भारत में जहाँ से 200 रुपए देय थे वहाँ उन्होंने 300 रुपए वसूले हैं और जहाँ 400 रुपए माँगे जाने चाहिए वहाँ 500 रुपए ऐंठे हैं, फिर भी वे अपनी माँगों को बढ़ाने के लिए व्याकुल हैं। अतएव जनता ज़रूर बर्बाद होगी और दर-दर भीख माँगती फिरेगी। द्वितीयतः उन्होंने चौकीदारी टैक्स को बढ़ाकर दुगुना, फिर चौगुना और यहाँ तक कि दस गुना कर दिया है और इस प्रकार उन्होंने जनता को बर्बाद कर देना चाहा है। तृतीयतः सभी प्रतिष्ठित और विद्वान् लोगों का व्यवसाय ख़त्म हो गया है, और करोड़ों लोग जीवन-निर्वाह आवश्यक वस्तुओं के लिए मोहताज हैं। जब भी कोई व्यक्ति रोज़गार ढूँढने के लिए एक ज़िले से दूसरे ज़िले में जाता है तब उससे सड़कों पर छः पाई प्रति व्यक्ति के हिसाब से मार्ग कर (राहदारी) लिया जाता है, और उसे हर गाड़ी पर 4 से 8 आना कर देना पड़ता है। जो टैक्स का भुगतान करते हैं उन्हें ही सार्वजनिक सड़कों पर चलने दिया जाता है : ज़ालिमों के अत्याचार को हम कहाँ तक गिनाएँ! धीरे-धीरे बात इस हद तक बढ़ गयी कि सरकार ने प्रत्येक के धर्म को नष्ट करने का फैसला कर लिया।"

अठारह सौ सत्तावन का विद्रोह ब्रिटिश नीतियों और साम्राज्यवादी शोषण के प्रति जन-असंतोष की पराकाष्ठा

के रूप में आया। मगर यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, असंतोष काफ़ी लम्बे समय से जमा होता जा रहा था। अनेक बुद्धिमान ब्रिटिश अफ़सरों ने इस पर ध्यान दिया था और कड़ी चेतावनियाँ जारी की थीं। भारत में 1757 में ब्रिटिश सत्ता स्थापित होने के समय से ही लगातार कई विद्रोह हुए थे जो भावी तूफ़ान के निश्चित और स्पष्ट संकेत थे। इतिहासकारों ने ऐसे सैकड़ों विद्रोहों का उल्लेख किया है। शायद इनमें प्रसिद्ध थे, कच्छ विद्रोह, 1831 का कोल विद्रोह तथा 1855 का संथाल विद्रोह। कच्छ विद्रोह का नेतृत्व उनके सरदारों ने किया और वह किसी-न-किसी रूप में 1816 से 1832 तक चला। छोटा-नागपुर के कोल आदिवासियों ने बाहरी लोगों को महाजनों और ज़मींदारों के रूप में लादने के कारण अंग्रेज़ों के खिलाफ़ विद्रोह किया। हज़ारों कोलों के मारे जाने के बाद जाकर कहीं ब्रिटिश सत्ता फिर से क़ायम हो सकी। संथाल विद्रोह के कारण मूलतः आर्थिक थे। संथालों का विद्रोह महाजनों और उनके संरक्षकों— ब्रिटिश अधिकारियों—के खिलाफ़ था। हज़ारों की संख्या में संथालों ने विद्रोह किया और भागलपुर तथा राजमहल के बीच के इलाक़ों में उन्होंने अपनी सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी। आखिरकार उन्हें 1856 में दबा दिया गया।

तात्कालिक कारण

अठारह सौ सत्तावन तक आम उथल-पुथल के लिए मसाला तैयार था, उसे प्रज्वलित करने के लिए केवल एक चिनगारी की ज़रूरत थी। जनता के अन्दर दबे हुए असंतोष को एक केंद्र बिन्दु—एक तात्कालिक कारण—की आवश्यकता थी जिस पर उसे संकेंद्रित किया जा सके। चरबी लगे कारतूसों की घटना ने सिपाहियों में असंतोष को भड़काने के लिए चिनगारी का काम किया और उनकी बग़ावत ने आम जनता को विद्रोह करने का मौक़ा दिया।

नयी एन्फील्ड राइफल फ़ौज को पहली बार दी गयी थी। उसके कारतूसों पर चिकनाई लगा कागज़ होता था जिसके किनारों को दांतों से काटना पड़ता था और फिर कारतूस को राइफल में भरना पड़ता था। कतिपय स्थितियों में चिकनाई में गोमांस और सूअर की चरबी मिली होती थी। दोनों हिन्दू और मुसलमान सिपाही इसे देखकर गुस्से से भड़क उठे। चिकनाई मिले कारतूसों के इस्तेमाल से उनके धर्म को खतरा पैदा हो जाता। उनमें से अनेक का विश्वास था कि सरकार जानबूझ कर उनके धर्म को नष्ट करने की कोशिश कर रही है। विद्रोह करने का समय आ गया था।

विद्रोह की शुरुआत

अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि 1857 का विद्रोह स्वतःस्फूर्त और अनियोजित था या सावधानीपूर्वक और गुप्त संगठन का परिणाम था। अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह के इतिहास के अध्ययन का विचित्र पहलू यह है कि अध्ययन करने वाले को बिल्कुल पूरी तरह ब्रिटिश अभिलेखों (रेकार्डों) का सहारा लेना पड़ता है। विद्रोहियों ने अपने पीछे कोई अभिलेख नहीं छोड़े हैं। चूंकि उनका काम ग़ैरकानूनी था इसलिए उन्होंने कोई अभिलेख नहीं रखे। इसके अलावा विद्रोहियों को हरा और दबा दिया गया था और घटनाओं का उनका विवरण उनके साथ ही खत्म हो गया। अन्त में, उसके कई वर्षों बाद तक अंग्रेज़ों ने विद्रोह का हर प्रशांसात्मक उल्लेख दबा दिया, और उन लोगों के खिलाफ़ कड़ी कार्रवाई की जिन्होंने विद्रोहियों की दृष्टि से 1857 की कहानी को रखने की कोशिश की।

इतिहासकारों और लेखकों के एक समूह ने दावा किया है कि 1857 का विद्रोह एक व्यापक और सुसंगठित षड्यन्त्र का परिणाम था। वे चपातियों और लाल कमल के एक जगह से दूसरी जगह भेजे जाने और सदा एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते रहने वाले संन्यासियों, फ़कीरों और मदारियों के प्रचार का जिकर करते हैं। उनका कहना है कि अनेक भारतीय रेजिमेंटें एक गुप्त संगठन से जुड़ी हुई थीं, जिसने 31 मई 1857 का दिन विद्रोह के लिए निश्चित किया था। यह भी कहा जाता है कि नाना साहब और फ़ैज़ाबाद के मौलवी अहमदउल्ला इस षड्यंत्र में प्रमुख भूमिका अदा कर रहे थे। अन्य लेखक उतने ही ज़ोरदार रूप से इस बात से इन्कार करते हैं कि विद्रोह के लिए पहले से कोई सतर्कतापूर्वक योजना बनायी गयी थी। वे इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि न तो विद्रोह के पहले और न ही उसके बाद कोई ऐसा काग़ज़ मिला जिससे किसी संगठित प[illegible]त्र का संकेत मिलता हो। न ही ऐसा कोई गवाह सामने आया जो सुनियोजित षड्यंत्र होने का

दावा करता। असलियत शायद इन दोनों छोरों के बीच में है। यह सम्भव प्रतीत होता है कि विद्रोह का एक सुनियोजित षड्यंत्र था मगर संगठन पर्याप्त रूप से अभी आगे नहीं बढ़ पाया था कि अकस्मात् विद्रोह हो गया।

विद्रोह की शुरुआत दिल्ली से 36 मील दूर मेरठ में 10 मई 1857 को हुई और जल्द ही बढ़ती हुई ताक़त से वह तलवार की मानंद सारे उत्तरी भारत में फैल गयी। कुछ ही दिनों में उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में नर्मदा तथा पूर्व में बिहार से लेकर पश्चिम में राजपुताना तक इसकी ज़द में आ गए।

मेरठ में विद्रोह होने के पहले ही मंगल पाण्डे बैरकपुर में शहीद हो चुका था। मंगल पाण्डे एक नौजवान सैनिक था। उसे 29 मार्च 1857 को अकेले विद्रोह करने तथा अपने बड़े अफ़सरों पर हमला करने के कारण फांसी पर चढ़ा दिया गया। यह और इसी प्रकार की अनेक घटनाएँ इस बात का सबूत थीं कि सिपाहियों के बीच असंतोष और बग़ावत की आग सुलग रही थी और इसके बाद ही मेरठ का विस्फोट हुआ। 24 अप्रैल को तीसरी देशी (नेटिव) रेजिमेंट के 99 सिपाहियों ने चिकनाई मिले कारतूसों को लेने से इन्कार कर दिया। उनमें से 85 को 9 मई को बर्ख़ास्त कर दिया गया तथा उन्हें दस साल क़ैद की सज़ा दी गई। उन्हें बेड़ियों में जकड़ दिया गया। इससे मेरठ स्थित भारतीय सैनिकों ने आम विद्रोह कर दिया। दूसरे ही दिन यानी 10 मई को उन्होंने अपने क़ैद हुए साथियों को छुड़ा लिया, अपने अफ़सरों को मार दिया तथा विद्रोह का झंडा बुलंद कर दिया। सूर्यास्त के बाद वे दिल्ली की ओर ऐसे बढ़े मानों चुम्बक द्वारा खींचें जा रहे हों। जब मेरठ के सैनिक दूसरे दिन सुबह दिल्ली पहुँचे तब स्थानीय पैदल सेना अपने योरोपीय अफ़सरों को मार कर उनसे जा मिली, और उन्होंने शहर पर क़ब्जा कर लिया। विद्रोही सैनिकों ने बूढ़े और शक्तिहीन बहादुर शाह को भारत का बादशाह घोषित किया। दिल्ली जल्द ही महान् विद्रोह का केंद्र बन गयी तथा बहादुर शाह उसका प्रतीक बन गया। आख़िर मुग़ल बादशाह को सहज ही देश का नेतृत्व प्रदान करना इस तथ्य को स्वीकार करना था कि मुग़ल वंश के लम्बे शासन ने उसे भारत की राजनीतिक एकता का प्रतीक बना दिया था। इसी एकमात्र कार्रवाई से सिपाहियों ने सैनिकों की बग़ावत को एक क्रांतिकारी युद्ध का रूप दे दिया। यही कारण था कि देश भर के सिपाही अपने आप दिल्ली की ओर चल पड़े और विद्रोह में हिस्सा लेने वाले, भारतीय सरदारों ने मुग़ल बादशाह के प्रति अपनी निष्ठा अविलम्ब प्रकट की। जहाँ तक बहादुर शाह का सवाल था उसने सिपाहियों के उकसावे और शायद दबाव के कारण भारत के सभी सरदारों और शासकों को पत्र लिख कर उनसे अनुरोध किया कि वे भारतीय राज्यों का महासंघ गठित करें जिससे ब्रिटिश राज से संघर्ष किया जा सके और वह महासंघ ब्रिटिश राज का स्थान ले सके।

जल्द ही सारी ब्रिटिश फ़ौज ने विद्रोह का झंडा बुलंद किया। विद्रोह तेज़ी से साथ फैल गया। अवध, रुहेलखंड, दोआब, बुंदेलखंड मध्य भारत, बिहार के बड़े भाग तथा पूर्वी पंजाब ने ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंका। अनेक देशी रियासतों में शासक ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता के प्रति वफ़ादार रहे मगर उनके सैनिकों ने विद्रोह कर दिया या विद्रोह करने पर उतारू हो गए। इन्दौर के अनेक सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और सिपाहियों के साथ चल पड़े। इसी प्रकार ग्वालियर के 20,000 से भी अधिक सैनिक तांत्या टोपे और झांसी की रानी से जा मिले। राजस्थान और महाराष्ट्र के अनेक छोटे सरदारों ने जनता के समर्थन से अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया। वहाँ की जनता बिल्कुल ब्रिटिश-विरोधी थी। स्थानीय विद्रोह हैदराबाद और बंगाल में भी हुए।

विद्रोह का दायरा जितना बड़ा था उतनी ही उसकी जड़ें भी गहरी थीं। उत्तर और मध्य भारत में हर जगह सिपाहियों की बग़ावत के होते ही जनता ने भी विद्रोह कर दिए। सिपाहियों द्वारा ब्रिटिश सत्ता नष्ट किए जाने के बाद आम जनता हथियार लेकर उठ खड़ी हुई और भालों, कुल्हाड़ियों, तीर-कमानों, लाठियों, हँसियों और यहाँ तक कि अनगढ़ बन्दूकों से अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लड़ने लगी। मगर अनेक स्थानों में लोगों ने सिपाहियों के बग़ावत करने से पहले ही विद्रोह कर दिया। कई ऐसी जगहों में भी जनता ने विद्रोह कर दिया जहाँ सिपाहियों की कोई भी रेजिमेंट उपस्थित नहीं थी। विद्रोह में किसानों तथा दस्तकारों के बड़े पैमाने पर भाग लेने के कारण ही उसे वास्तविक ताक़त मिली तथा उसे जनविद्रोह का चरित्र प्राप्त हुआ। ऐसा खासकर उन इलाक़ों में हुआ जो अभी

उत्तर प्रदेश और बिहार में शामिल हैं। इन इलाक़ों में किसानों और ज़मींदारों ने महाजनों और उन नए ज़मींदारों पर हमले किए जिन्होंने उन्हें उनकी ज़मीन से बेदखल कर दिया था। इस प्रकार उन्होंने अपनी शिकायतों को खुलेआम ज़ाहिर किया। उन्होंने विद्रोह का सहारा लेकर महाजनों की लेखा-बहियों तथा क़र्ज़ के प्रमाणों को नष्ट कर दिया। उन्होंने अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित न्यायालयों, तहसीलों और राजस्व अभिलेखों तथा थानों को नष्ट कर दिया। यह उल्लेखनीय बात है कि अनेक लड़ाइयों में आम आदमी सिपाहियों से ज्यादा संख्या में थे। एक अनुमान के अनुसार अवध में अंग्रेज़ों के साथ लड़ाई में 1,50,000 लोग मारे गए जिनमें 1,00,000 से अधिक नागरिक थे।

यह उल्लेखनीय है कि वहाँ भी जहाँ लोगों ने विद्रोह नहीं किए, विद्रोहियों के साथ सहानुभूति जतायी। उन्होंने विद्रोहियों की सफलताओं पर खुशियाँ मनायीं और उन सिपाहियों का सामाजिक तौर पर बहिष्कार किया जो अंग्रेज़ों के प्रति निष्ठावान रहें। उन्होंने ब्रिटिश फ़ौजों के प्रति सक्रिय शत्रुता व्यक्त की, उन्हें सहायता या सूचना देने से इन्कार कर दिया, और यहाँ तक कि उन्हें ग़लत सूचना देकर गुमराह किया। डब्ल्यू एच० रस्सल ने जिसने 1858 और 1859 में लंदन के अख़बार 'टाइम्स' के संवाददाता के रूप में भारत का दौरा किया लिखा :

> "किसी भी हालत में गोरे व्यक्ति की गाड़ी को मैत्रीपूर्ण दृष्टि से नहीं देखा जाता है...... ......आह ! आँखों की भाषा ! कौन उस पर संदेह कर सकता है ? कौन उसका ग़लत अर्थ लगा सकता है ? इसी से ही केवल मैंने समझा है कि कभी कभी हमारी जाति से अनेक लोग डरते भी नहीं हैं, और सभी लोग हमारी जाति को नापसंद करते हैं।"

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह का लोकचरित्र तब इससे भी स्पष्ट हो गया जब अंग्रेज़ों ने उसे कुचलने की कोशिश की। उन्हें न केवल विद्रोही सिपाहियों के ख़िलाफ़ बल्कि दिल्ली, अवध, उत्तर-पश्चिम प्रान्तों और आगरा, मध्य भारत, पश्चिम बिहार के लोगों के विरुद्ध भी भीषण और बेरहम लड़ाई छेड़नी पड़ी। उन्होंने गाँवों को जला दिया और ग्रामीण एवं शहरी जनता का क़त्लेआम किया। खुलेआम फाँसी पर लटका कर तथा बिना मुक़दमा चलाए मृत्यु दण्ड देकर उन्होंने लोगों को डराने की कोशिश की। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इन हिस्सों में विद्रोह की जड़ें कितनी गहरी थीं। सिपाहियों और जनता ने अन्त तक बड़ी दृढ़ता और बहादुरी से लड़ाई की। हार जाने के बाद भी उनका मनोबल नहीं टूटा। रेवरेंड डफ़ ने लिखा : "यह सैनिक बग़ावत नहीं बल्कि एक विद्रोह या क्रांति थी जो इस बात से साफ हो जाती है कि उसे समाप्त करने में हुई सफलता नाममात्र की ही है।" इसी तरह लंदन के टाइम्स के संवाददाता ने उल्लेख किया कि अंग्रेज़ों को असल में भारत को 'पुनर्विजय' करना पड़ा।

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह की अधिकांश शक्ति हिन्दू-मुसलमान एकता में निहित थी। सैनिकों, जनता और नेताओं के बीच पूर्ण हिन्दू-मुसलमान एकता थी। सभी विद्रोहियों ने बहादुर शाह को बादशाह माना, जो एक मुसलमान था। इतना ही नहीं, मेरठ के हिन्दू सिपाहियों के मन में पहला विचार सीधे दिल्ली रवाना होने का आया। हिन्दू और मुसलमान विद्रोहियों तथा सिपाहियों ने एक दूसरे की भावनाओं का आदर किया। उदाहरण के लिए, जहाँ विद्रोह सफल हुआ वहाँ हिन्दुओं की भावनाओं का आदर करते हुए गोहत्या पर प्रतिबध लगाने का आदेश तुरन्त जारी कर दिया गया; इसके अतिरिक्त नेतृत्व में हिन्दुओं और मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व था। विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान एकता की भूमिका को बाद में एक वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारी ऐचिसन ने अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया, उसने कटु शिकायत की : "इस स्थिति में हम मुसलमानों को हिन्दुओं से नहीं भिड़ा सके।" वस्तुतः 1857 की घटनाएँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं कि मध्य काल में और 1858 के पहले भारत की जनता और राजनीति मूलतः साम्प्रदायिक नहीं थी।

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह के मुख्य केन्द्र दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, बरेली, झांसी और आरा (बिहार) थे। दिल्ली में बादशाह बहादुर शाह नाममात्र और प्रतीकात्मक नेता था, परन्तु वास्तविक नेतृत्व सैनिकों की परिषद् के हाथों में था जिसका प्रधान जनरल बख़्त ख़ाँ था। बख़्त ख़ाँ ने बरेली के सैनिकों के विद्रोह का नेतृत्व किया था और

उन्हें दिल्ली ले आया था। ब्रिटिश फ़ौज में वह तोपखाने का एक मामूली सूबेदार था। विद्रोह के प्रधान केन्द्र में बख्त ख़ाँ सर्वसाधारण का प्रतिनिधि था। सितम्बर 1857 में दिल्ली पर अंग्रेज़ों द्वारा क़ब्ज़ा कर लिए जाने के बाद वह लखनऊ चला गया और अंग्रेज़ों से तब तक लड़ता रहा

बहादुर शाह द्वितीय
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

जब तक वह 13 मई 1859 को लड़ाई में मारा नहीं गया। बादशाह बाहदुर शाह विद्रोह के नेतृत्व में शायद सबसे कमज़ोर कड़ी था। यहाँ तक कि विद्रोह के समर्थन में भी वह दृढ़ नहीं था। उसकी साधारण सिपाहियों के प्रति कोई सच्ची सहानुभूति नहीं थी। सिपाही भी उस पर पूरी तरह विश्वास नहीं करते थे। सिपाहियों के नेताओं द्वारा सत्ता का दावा करने पर वह रुष्ट था। वह बादशाह के रूप में राज करने तथा अंग्रेज़ों द्वारा विद्रोह को कुचल दिए जाने की हालत में अपनी जान बचाने की फ़िक्र के बीच ढुलमुल रहा। उसकी स्थिति को उसकी प्रिय पात्र रानी ज़ीनत महल और उसके बेटों ने दुश्मन के साथ साज़िशें कर कमज़ोर कर दिया। उसके कमज़ोर व्यक्तित्व और बुढ़ापे तथा उसमें नेतृत्व के गुणों के अभाव ने विद्रोह के मुख्य केन्द्र में राजनीतिक कमज़ोरी पैदा कर दी और विद्रोह को इतनी हानि पहुँचायी जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है।

कानपुर में विद्रोह का नेतृत्व अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब ने किया। सिपाहियों की मदद से नाना साहब ने अंग्रेज़ों को कानपुर से निकाल बाहर किया और अपने आप को पेशवा घोषित कर दिया।

बहादुर शाह द्वितीय की बेगम ज़ीनत महल
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

साथ ही उसने बहादुर शाह को हिन्दुस्तान का बादशाह माना तथा अपने को उसका सूबेदार घोषित किया। नाना साहब की ओर से लड़ने की मुख्य ज़िम्मेदारी तांत्या टोपे के कंधों पर थी, जो उसके निष्ठावान् सेवकों में से था। तांत्या टोपे ने अपनी देशभक्ति, दृढ़ता के साथ लड़ने और चतुर गुरिल्ला युद्ध के द्वारा अमर प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। अज़ीमउल्ला, नाना सहाब का एक अन्य सेवक था। वह राजनीतिक प्रचार में सिद्धहस्त था। दुर्भाग्यवश नाना साहब ने कानपुर स्थित अंग्रेज़ों की फ़ौजी टुकड़ी को वहाँ सुरक्षित चले जाने देने के लिए सहमत होने के बाद छल से मौत के घाट उतार कर अपनी प्रतिष्ठा में धब्बा लगा लिया।

लखनऊ में विद्रोह का नेतृत्व अवध की बेगम ने किया। उसने अपने छोटे बेटे, बिरजिस कादर को अवध का नवाब घोषित कर दिया था। लखनऊ स्थित सिपाहियों तथा अवध के ज़मींदारों और नवाबों की सहायता से बेगम ने अंग्रेज़ों पर चौतरफा हमला किया। शहर छोड़ने को मजबूर होने पर अंग्रेज़ रेज़िडेंसी की इमारत में
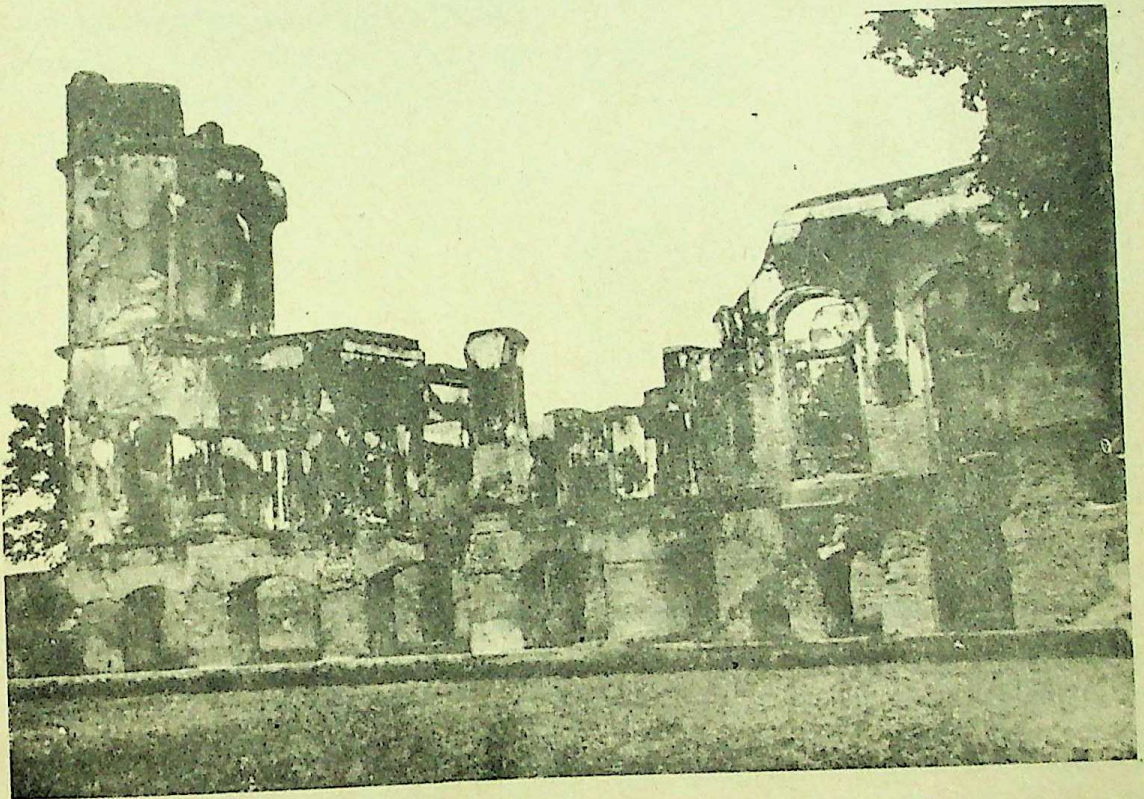
रेज़ीडेंसी, लखनऊ

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

जाकर जम गए। आखिरकार, रेज़िडेंसी का घेरा असफल रहा क्योंकि छोटी ब्रिटिश सेना अनुकरणीय धैर्य तथा बहादुरी से लड़ी।

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह की एक महान् नेता तथा भारतीय इतिहास की शायद महानतम वीरांगना झाँसी की युवा रानी लक्ष्मीबाई थी। जब अंग्रेज़ों ने उसके दत्तक पुत्र को झांसी की गद्दी देने से इन्कार कर दिया, उसके राज्य को हथिया लिया तथा उस पर झांसी स्थित सिपाहियों को भड़काने का इलज़ाम लगाने की धमकी दी तब युवा रानी ने विद्रोहियों का साथ दिया। कुछ समय तक रानी ढुलमुल रही। मगर एक बार जब वह विद्रोहियों के साथ हो गई तब वह एक सच्ची वीरांगना की तरह लड़ी। उसकी बहादुरी और हिम्मत तथा सैनिक दक्षता की गाथाओं से उसके देशवासियों को तब से हमेशा प्रेरणा मिली है। एक भयंकर लड़ाई के बाद, जिसमें, 'औरतों तक को तोपखाने का संचालन करते तथा गोला बारुद बाँटते देखा गया।'' जब उसे झाँसी से बाहर निकलना पड़ा तो उसने अपने अनुयायियों को यह शपथ दिलायी कि "हम

अपने हाथों से अपनी आजादशाही को नहीं दफ़न होने देंगे।" तांत्या टोपे और अपने विश्वासी अफ़ग़ान रक्षकों

रानी लक्ष्मीबाई और तांत्या टोपे
भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली के सौजन्य से

की सहायता से उसने ग्वालियर पर क़ब्ज़ा कर लिया। अंग्रेज़ों के प्रति निष्ठावान् महाराजा सिंधिया ने रानी से लड़ने की कोशिश की मगर उसके अधिकांश सैनिक उसे छोड़ रानी के साथ जा मिले। सिंधिया ने आगरा में अंग्रेज़ों से शरण माँगी। बहादुर रानी 17 जून 1858 को लड़ती हुई मारी गयी। वह उस समय एक सैनिक की युद्ध की पोशाक में लड़ाई में काम आने वाले घोड़े पर सवार थी। उसके पास ही उसकी जीवन भर की मित्र और साथी, एक मुसलमान लड़की, भी शहीद हुई।

कुँवर सिंह आरा के नज़दीक जगदीशपुर का एक तबाहशुदा और असंतुष्ट ज़मींदार था। वह बिहार में विद्रोह का मुख्य नेता था। यद्यपि वह क़रीब 80 वर्ष का बूढ़ा था तथापि विद्रोह का शायद सबसे महान् सैनिक नेता तथा युद्ध कौशल का जानकार था। वह अंग्रेज़ों से बिहार में लड़ा और बाद में, नाना साहब की सेनाओं के साथ मिलकर उसने अवध और मध्य भारत में अभियान चलाए। घर वापस आते हुए उसने ब्रिटिश फ़ौजों को आरा के नज़दीक हरा दिया। मगर यह उसकी आख़िरी लड़ाई साबित हुई। लड़ाई में उसे एक जान लेवा ज़ख़्म लग गया। उसकी मृत्यु 27 अप्रैल 1858 को जगदीशपुर गाँव में उसके पैतृक मकान में हो गयी।

फ़ैज़ाबाद का मौलवी अहमदउल्ला विद्रोह का एक अन्य महान् नेता था। वह मद्रास का रहने वाला था जहाँ उसने सैनिक विद्रोह का उपदेश देना शुरू किया था। जनवरी 1857 में वह उत्तर भारत में फ़ैज़ाबाद की ओर बढ़ा जहाँ उसने ब्रिटिश सैनिकों की एक टुकड़ी के साथ बड़े पैमाने पर लड़ाई की। ब्रिटिश सैनिकों की उस टुकड़ी को उसे राजद्रोह का उपदेश देने से रोकने के लिए भेजा गया था। जब मई में आम विद्रोह हो गया तब वह अवध में एक मान्य नेता के रूप में सामने आया। लखनऊ में हार जाने के बाद उसने रूहेलखण्ड में विद्रोह का नेतृत्व किया, जहाँ उसे धोखे से पुवाँय के राजा ने मार डाला। राजा को अंग्रेज़ों ने 50,000 रु० इनाम के तौर पर दिए। मौलवी अहमदउल्ला की देशभक्ति, बहादुरी और सैनिक योग्यता की काफ़ी तारीफ़ ब्रिटिश इतिहासकारों तक ने की है। कर्नल जी० बी० मैल्लेसन ने उसके बारे में लिखा है:

> "अगर देशभक्त वह आदमी है जो अपने देश की आज़ादी के लिए, जिसे ग़लत ढंग से नष्ट कर दिया गया हो, साज़िश करे और लड़े तो मौलवी निश्चित रूप से एक सच्चा देशभक्त था—वह उन अजनबियों के ख़िलाफ़, जिन्होंने उसके देश को हथिया लिया था, मर्दानगी, नैतिकता और दृढ़ता के साथ मैदान में लड़ा और उसकी स्मृति को सभी राष्ट्रों के बहादुर और सच्चे दिल वाले लोगों से आदर पाने का अधिकार है।"

मगर विद्रोह के सबसे बड़े नायक वे सिपाही थे जिनमें से अनेक ने लड़ाई के मैदान में महान् साहस दिखाया तथा उनमें से हज़ारों ने अपने जीवन की निःस्वार्थ बलि चढ़ायी। सबसे ऊपर उनका दृढ़ संकल्प और बलिदान था जिसके फलस्वरूप अंग्रेज़ों को भारत से लगभग निकाल बाहर कर दिया गया। इस देशभक्तिपूर्ण संघर्ष में उन्होंने अपने घोर धार्मिक पूर्वाग्रहों को त्याग दिया। उन्होंने चिकनाई वाले

कारतूसों के सवाल को लेकर विद्रोह किया था, मगर घृणास्पद विदेशियों को भारत से निकाल बाहर करने के लिए उन्होंने उन्हीं कारतूसों को अपनी लड़ाइयों में इस्तेमाल किया।

अठारह सौ सत्तावन का विद्रोह एक विशाल क्षेत्र में फैल गया और उसे जनता का समर्थन हासिल हुआ तथापि वह न तो सारे भारत में फैल सका और न ही भारतीय समाज के सभी समूहों और वर्गों को अपने प्रभाव में ला सका। भारतीय राज्यों के अधिकतर शासक और बड़े ज़मींदार हद दर्जे के स्वार्थी और ब्रिटिश शक्ति से भयभीत थे। उन्होंने विद्रोह में शामिल होने से इन्कार कर दिया। इसके विपरीत, विद्रोह का दमन करने में ग्वालियर के सिंधिया, इंदौर के होल्कर, हैदराबाद के निज़ाम, जोधपुर के राजा तथा अन्य राजपूत शासकों, भोपाल के नवाब, पटियाला, नाभा, जींद और कश्मीर के शासकों, नेपाल के राणाओं, और अनेक अन्य शासक सरदारों तथा बड़ी संख्या में बड़े ज़मींदारों ने अंग्रेजों को सक्रिय समर्थन दिया। वस्तुतः एक प्रतिशत के लगभग ही भारतीय सरदारों ने विद्रोह में भाग लिया। गवर्नर-जनरल कैनिंग ने बाद में टिप्पणी की कि इन शासकों और सरदारों ने "तूफान के सामने तरंगरोध का काम किया अन्यथा उसने हमें एक झोंके में ही बहा दिया होता।" मद्रास, बम्बई, बंगाल और पश्चिम पंजाब के इलाक़े शान्त रहे, यद्यपि इन प्रान्तों में जन-भावना विद्रोहियों के पक्ष में थी। इसके अलावा, असंतुष्ट और अपनी जायदाद से बेदखल किए गए ज़मींदारों को छोड़ कर अधिकांशतः संपत्तिवान् वर्ग उनके प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखते थे या सक्रिय रूप से उनके विरोधी थे। यहाँ तक कि अवध के ताल्लुक़ेदारों ने, जो विद्रोह में शामिल थे, सरकार से यह आश्वासन पाकर कि उनकी जायदाद उनको वापस कर दी जाएगी, विद्रोहियों का साथ छोड़ दिया। इस कारण अवध के किसानों और सैनिकों के लिए बहुत दिनों तक गुरिल्ला अभियान चलाना मुश्किल हो गया।

महाजन गाँव वालों के हमलों का मुख्य लक्ष्य थे। इसलिए, स्वभावतः वे विद्रोह के विरोधी बन गए। धीरे-धीरे सौदागर भी विद्रोह के विरोधी बन गए। लड़ाई के खर्च को चलाने के लिए विद्रोहियों को सौदागरों पर भारी कर लगाने पड़े। फ़ौज को खिलाने के लिए उन्हें सौदागरों से खाद्य सामग्रियों के भण्डार छीनने पड़े। सौदागरों ने बहुधा अपने धन और माल को छिपाया तथा विद्रोहियों को मुफ़्त सामग्रियाँ देने से इन्कार कर दिया। बंगाल के ज़मींदार भी अंग्रेज़ों के प्रति निष्ठावान् रहे। आखिरकार वे अंग्रेज़ों की ही सृष्टि थे। इतना ही नहीं, अपने ज़मींदारों के प्रति बिहार के किसानों के विरोध भाव ने बंगाल के जमींदारों को डरा दिया। इसी प्रकार बम्बई, कलकत्ता, और मद्रास के बड़े सौदागरों ने अंग्रेज़ों का समर्थन किया क्योंकि उन्हें अपने मुख्य मुनाफ़े विदेश व्यापार और ब्रिटिश सौदागरों के साथ आर्थिक सम्बन्धों के फलस्वरूप मिलते थे।

आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने भी विद्रोह का समर्थन नहीं किया। विद्रोहियों द्वारा अंधविश्वासों की दुहाई तथा प्रगति सामाजिक क़दमों का विरोध करने के कारण वे उनसे दूर हट गए। जैसा कि हम देख चुके हैं, शिक्षित भारतीय देश का पिछड़ापन खत्म करना चाहते थे। उनमें यह ग़लत धारणा थी कि ब्रिटिश शासन उन्हें आधुनिकीकरण के इन कामों को पूरा करने में सहायता देगी जब कि विद्रोही देश को पीछे की ओर ले जाएँगे। बाद में चल कर इन्हीं शिक्षित भारतीयों ने अपने अनुभवों से सीखा कि विदेशी शासन देश को आधुनिक बनाने में सक्षम नहीं है बल्कि वह उसे दरिद्र बनाएगा और पिछड़ा हुआ बनाए रखेगा। इस सम्बन्ध में 1857 के क्रान्तिकारी अधिक दूरदर्शी साबित हुए। उनमें विदेशी शासन बुराईयों और उससे मुक्ति पाने की आवश्यकता की बेहतर सहज समझदारी थी। दूसरी ओर शिक्षित बुद्धिजीवियों की तरह वे इस बात को नहीं समझ सके कि देश विदेशियों का शिकार इसलिए हो गया कि वह सड़ी और घिसी पिटी प्रथाओं, रिवाजों और संस्थानों से चिपका हुआ था। वे इस बात को समझने में असफल रहे कि राष्ट्रीय मुक्ति सामंती राजतंत्र को अपनाने से नहीं, बल्कि एक आधुनिक समाज, एक आधुनिक अर्थव्यवस्था, वैज्ञानिक शिक्षा, और आधुनिक राजनीतिक संस्थानों की ओर बढ़ने से ही मिल सकती है। किसी भी तरह, यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षित भारतीय राष्ट्रविरोधी या विदेशी राज के प्रति निष्ठावान् थे। जैसा कि 1858 के बाद की घटनाओं ने स्पष्ट कर दिया उन्होंने जल्द ही ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक शक्तिशाली और आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व किया।

भारतीयों की फूट के जो भी कारण रहे हों, वह विद्रोह के लिए घातक साबित हुए। मगर यही एक ऐसा कारण नहीं था जिससे विद्रोहियों के उद्देश्य को धक्का लगा। उनके पास आधुनिक हथियारों और युद्ध की अन्य सामग्रियों का अभाव था। उनमें से अधिकतर भालों और तलवारों जैसे प्राचीन हथियारों से लड़े। सांगठनिक दृष्टि से भी वे बहुत कमज़ोर थे। सिपाही बहादुर और निःस्वार्थ थे मगर उनमें अनुशासन की कमी थी। विद्रोही सैनिक इकाइयों के पास कार्रवाई की कोई संयुक्त योजना नहीं थी। न ही उनके कोई अधिकृत नेता थे। कहने का मतलब यह है कि केंद्रीय नेतृत्व का अभाव था। देश के विभिन्न भागों में हुए विद्रोहों के बीच कोई तालमेल नहीं था। अन्य किसी चीज़ ने नहीं बल्कि विदेशी शासन के प्रति घृणा की समान भावना ने ही नेताओं को एकजुट कर दिया था। किसी क्षेत्र से ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के बाद उन्हें मालूम नहीं था कि उसकी जगह पर कौनसी सत्ता स्थापित की जाए। वे अपनी कार्यवाइयों में तालमेल नहीं स्थापित कर सके। वे एक दूसरे के प्रति संदेहशील और डाही थे और वे बहुधा आत्मघाती झगड़ों में फंस गए। उदाहरण के लिए, अवध की बेगम ने मौलवी अहमदउल्ला, तथा मुग़ल शाहज़ादों ने सिपाहियों के जनरलों से झगड़े किए; नाना साहब के राजनीतिक सलाहकार अजीमउल्ला ने उसे दिल्ली जाने से मना किया क्योंकि वहाँ बादशाह के सामने उसका कुछ खास महत्त्व नहीं होता। इस प्रकार, नेताओं की स्वार्थपरता और गुटपरस्ती ने विद्रोह की शक्ति कम कर दी और विद्रोह को सुदृढ़ नहीं होने दिया। इसी प्रकार राजस्व अभिलेखों और महाजनों की बहियों को नष्ट करने, तथा नए ज़मींदारों को उखाड़ फेंकने के बाद किसान निष्क्रिय हो गए क्योंकि उन्हें मालूम नहीं था कि इसके बाद क्या किया जाए। अंग्रेज़ विद्रोह के नेताओं को एक-एक कर कुचलने में सफल हो गए।

वस्तुतः विद्रोह की कमज़ोरी की जड़ें व्यक्तिगत कमजोरियों की अपेक्षा अधिक गहरी थीं। सम्पूर्ण आंदोलन के पास कोई ऐसा एकीकृत और प्रगतिशील कार्यक्रम नहीं था जिसे सत्ता प्राप्त करने के बाद कार्यान्वित किया जाए। अतः आंदोलन में विविध प्रकार के तत्व शामिल हो गए। उनकी एकता का आधार ब्रिटिश शासन के प्रति उनकी घृणा थी। उनमें से प्रत्येक की शिकायतें अलग-अलग थीं और उनके दिमाग़ में स्वतंत्र भारत की राजनीति के अलग-अलग स्वरूप थे। आधुनिक और प्रगतिशील कार्यक्रम के इस अभाव से प्रतिक्रियावादी राजाओं और ज़मींदारों को क्रांतिकारी आंदोलन में प्रभावशाली स्थानों को हथियाने में सहायता मिली। ये वे ही सामंती नेता, मुग़ल, मराठे नेता या अन्य लोग थे जो अपने राज्यों की स्वतंत्रता को नहीं बनाए रख पाए थे इसलिए उनसे यह आशा शायद ही की जा सकती थी कि वे अब एक नया अखिल भारतीय राज्य बनाने में सफल हो पाएँगे। मगर विद्रोह के सामंती चरित्र पर बहुत अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है। सैनिक और जनता एक भिन्न प्रकार का नेतृत्व धीरे-धीरे विकसित कर रही थी। विद्रोह को सफल बनाने का प्रयास उन्हें संगठन के नए रूप विकसित करने के लिए मजबूर कर रहा था। बेंजामिन डिज़रेली ने उस समय ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दी कि अगर उसने विद्रोह का समय पर दमन नहीं किया तो अंग्रेज़ "मंच पर अपने खिलाफ़ भारत के राजाओं को नहीं बल्कि अन्य पात्रों को पाएँगे।"

भारतवासियों के बीच एकता का अभाव भारतीय इतिहास के इस चरण में अपरिहार्य था। आधुनिक राष्ट्रीयता से उस समय तक भारतवासी अनभिज्ञ थे। देशभक्ति का अर्थ था अपने छोटे से इलाके या क्षेत्र या अधिक से अधिक अपने राज्य के प्रति प्रेम। समान अखिल भारतीय हित और यह चेतना कि ये हित सारे भारतीयों को एक सूत्रबद्ध करते हैं उस समय नहीं थे। वस्तुतः भारतवासियों को एक साथ लाने तथा उनमें यह चेतना पैदा करने में कि वे सब एक ही देश के हैं 1857 के विद्रोह ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

आखिरकार सारे संसार में अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा ब्रिटिश साम्राज्यवाद जिसे अधिकतर भारतीय राजाओं और सरदारों का समर्थन प्राप्त था, सैन्य शक्ति की दृष्टि से विद्रोहियों की अपेक्षा अधिक ताक़तवर साबित हुआ। ब्रिटिश सरकार देश में विशाल जन-शक्ति मुद्राराशि तथा शस्त्रास्त-भंडार ले आयी। भारतीयों को बाद में अपने दमन का पूरा खर्च भी चुकाना पड़ा। विद्रोह को दबा दिया गया। मात्र हिम्मत से एक ऐसे शक्तिशाली और दृढ़प्रतिज्ञ शत्रु के विरुद्ध युद्ध नहीं जीता जा सका जिसने अपना हर क़दम सुनियोजित ढंग से बढ़ाया हो। विद्रोहियों को सबसे पहले धक्का तब लगा जब अंग्रेज़ों ने लम्बे और

घोर युद्ध के बाद 20 सितम्बर 1857 को दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया। बूढ़े बहादुर शाह को कैदी बना लिया गया। शाहजादों को पकड़ लिया गया और उन्हें तुरंत क़त्ल कर दिया। बादशाह पर मुक़दमा चलाया गया और उसे देश निकाला देकर रंगून भेज दिया गया जहाँ वह 1872 में मर गया। उसे अपने भाग्य पर घोर अफ़सोस रहा जिसने उसे अपने जन्म-स्थान से काफ़ी दूर ला कर दफ़न किया। इस प्रकार महान् मुग़ल वंश का अन्तिम रूप से और पूरी तरह ख़ात्मा हो गया।

दिल्ली के पतन के साथ ही विद्रोह का लक्ष्य बिंदु लुप्त हो गया। विद्रोह के अन्य नेताओं ने वीरतापूर्वक मगर ग़ैर-बराबरी का संघर्ष चलाया अंग्रेज़ों ने उनके खिलाफ़ भीषण आक्रमण किया। जान लारेंस, आऊटरेम हैवलाक, नील केम्पबेल, और ह्यूगरोज उन ब्रिटिश सेनापतियों में से कुछ एक थे जिन्होंने इस अभियान के दौरान सैनिक यश प्राप्त किया। एक-एक कर विद्रोह के सभी महान् नेता धराशायी हो गए। नाना साहब को कानपुर में हरा दिया गया। वह अन्त तक ब्रिटिश सरकार की अवज्ञा करता रहा और आत्मसमर्पण करने से इन्कार करता रहा। वह 1859 के आरम्भ में नेपाल चला गया, जिसके बाद उसके बारे में कभी कुछ नहीं सुना गया। तांत्या टोपे मध्य भारत के जंगलों में चला गया और अप्रैल 1859 तक उसने घोर और प्रतिभापूर्ण गुरिल्ला युद्ध चलाया। अप्रैल 1859 में उसके एक ज़मींदार मित्र ने उसके साथ विश्वासघात किया और उसे सोते हुए पकड़ लिया गया। उस पर तुरंत ही मुक़दमा चलाया गया और 15 अप्रैल 1859 को मौत के घाट उतार दिया गया। इस के पहले 17 जून 1858 को झाँसी की रानी लड़ाई के मैदान में मारी जा चुकी थी। 1858 तक कुँवर सिंह, बख्त खाँ, बरेली के ख़ाँ बहादुर ख़ाँ, नाना साहब का भाई राव साहब और मौलवी अहमदउल्ला मर चुके थे। अवध की बेगम को नेपाल में छिपने के लिए मजबूर होना पड़ा था।

अठारह सौ उनसठ के अन्त तक भारत पर ब्रिटिश सत्ता पूरी तरह फिर स्थापित हो गयी, मगर विद्रोह व्यर्थ नहीं गया। वह हमारे इतिहास में एक गरिमामय युगान्तरकारी घटना है। यद्यपि वह भारत को पुरानी तरह और पारम्परिक नेतृत्व के अधीन बचाने का दु:साहसिक प्रयास था तथापि वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वतंत्रता के लिए भारतीय जनता का पहला महान् संघर्ष था। उस ने आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन के उदय के लिए मार्ग प्रशस्त किया। अठारह सौ सत्तावन के वीरता और देशभक्तिपूर्ण संघर्ष ने भारतीय जनता के दिमाग़ पर एक अविस्मणीय छाप छोड़ी और उसके बाद के स्वतंत्रता-संघर्ष में शाश्वत प्रेरणा-स्रोत का काम किया। विद्रोह के नायकों के नाम जल्द ही घर-घर लिए जाने लगे यद्यपि उनके नामों के मात्र उल्लेख से ही शासक चिढ़ जाते थे।

अभ्यास

1. किस हद तक 1857 का विद्रोह विदेशी शासन के प्रति जन-असंतोष का परिणाम था ?
2. कम्पनी की फौज के सिपाहियों ने विद्रोह क्यों किया ?
3. विद्रोह क्यों असफल रहा ?
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखो :
   (क) विद्रोह में राजाओं की भूमिका; (ख) विद्रोह में शिक्षित भारतीयों की भूमिका; (ग) विद्रोह के दौरान हिन्दू-मुस्लिम एकता; (घ) बहादुर शाह; (च) नाना साहब; (छ) तांत्या टोपे; (ज) झाँसी की रानी; (झ) कुँवर सिंह; (ट) फ़ैज़ाबाद के मौलवी अहमदउल्ला।

अध्याय 9

1858 के बाद प्रशासनिक परिवर्तन

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह ने भारत स्थित ब्रिटिश प्रशासन को एक गहरा झटका दिया और उसके पुनर्गठन को अवश्यम्भावी बना दिया। वस्तुतः विद्रोह के बाद के दशकों के दौरान भारतीय समाज, भारतीय सरकार और भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

प्रशासन

संसद के एक ऐक्ट के अनुसार भारत पर शासन करने का अधिकार ईस्ट इंडिया कम्पनी से लेकर ब्रिटिश राजतंत्र को दे दिया गया। पहले भारत के ऊपर सत्ता कम्पनी के निदेशकों और बोर्ड ऑफ कंट्रोल के हाथों में थी। अब उस सत्ता के इस्तेमाल का अधिकार भारत मंत्री (Secretary of State for India) को दे दिया गया। भारत मंत्री की सहायता के लिए एक परिषद् या काउन्सिल बना दी गई। भारत मंत्री ब्रिटिश मंत्रीमंडल का सदस्य होता था और इस तरह वह संसद के प्रति उत्तरदायी होता था। इस प्रकार भारत के ऊपर परम अधिकार संसद के हाथों में था। भारत मंत्री की काउन्सिल को इंडिया काउन्सिल कहा जाता था। उसका काम भारत मंत्री को सलाह देना था। भारत मंत्री काउन्सिल की सलाह को रद्द भी कर सकता था मगर वित्तीय मामलों में काउन्सिल की स्वीकृति आवश्यक था। 1869 तक काउन्सिल को पूरी तरह भारत मंत्री के अधीन कर दिया गया। इंडिया काउन्सिल के अधिकांश सदस्य ब्रिटिश भारत के सेवा निवृत अफ़सर होते थे।

ऐक्ट के तहत सरकार का काम पहले की तरह गवर्नर-जनरल को चलाना था, उसे वायसराय (राजा का वैयक्तिक प्रतिनिधि) की भी उपाधि दे दी गयी। उसको अनेक भत्तों के अतिरिक्त ढाई लाख रुपए सालाना वेतन मिलता था। कालक्रम से नीति संबंधी मामलों तथा नीति के कार्यान्वयन में वायसराय ब्रिटिश सरकार के अधीन होता गया। बेशक यह प्रवृति कोई नयी नहीं थी। रेगुलेटिंग एक्ट, पिट के इंडिया ऐक्ट और बाद के चार्टर ऐक्टों के तहत भारत सरकार को लंदन से प्रभावकारी रूप में पहले से ही नियंत्रित किया जा रहा था। यद्यपि भारत को ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने फ़ायदे के लिए जीता था तथापि उस पर धीरे-धीरे ब्रिटिश समाज के प्रबल वर्गों के हितों की दृष्टि से शासन होने लगा। 1858 के इंडिया ऐक्ट ने इस प्रवृत्ति को और अधिक मज़बूत बनाया। मगर, पुराने जमाने में, निर्णय लेने की काफ़ी शक्ति व्यवहार में गवर्नर-जनरल के हाथों में छोड़ दी गयी थी। लंदन से निर्देश आने में कई हफ्ते लग जाते थे और इस हालत में भारत सरकार को बहुधा जल्दी में नीति संबंधी महत्त्वपूर्ण निर्णय करने पड़ते थे। इसलिए लंदन स्थित अधिकारियों द्वारा नियंत्रण बहुधा वास्तविक निर्देश की अपेक्षा कार्योत्तर

मूल्यांकन और आलोचना के रूप में होता था। दूसरे शब्दों में, लंदन स्थित अधिकारियों ने भारत के प्रशासन की देखभाल की, उसका संचालन नहीं किया। मगर 1870 में लाल सागर होकर इंग्लैंड और भारत के बीच समुद्री तार का इन्तज़ाम किया गया। अब लंदन से भारत आदेश कुछ घंटों में पहुँच सकते थे। भारत मंत्री अब प्रशासन के सूक्ष्म ब्यौरों पर भी नियंत्रण रख सकता था और वह ऐसा प्रतिदिन लगातार हर समय कर सकता था। इस प्रकार भारतीय मामलों के ऊपर आख़िरी और ब्यौरेवार नियंत्रण रखने तथा दिशा निर्देश करने वाली सत्ता भारत से हज़ारों मील दूर लंदन में निहित हो गयी। इंडिया काउन्सिल, ब्रिटिश मंत्रिमंडल या संसद में कोई भारतीय नहीं था। भारतीयों का इन दूरस्थ स्वामियों तक पहुँचना असम्भव था। इन हालात में सरकारी नीति पर भारतीय जनमत का पहले की अपेक्षा भी कम असर था। दूसरी ओर, ब्रिटिश उद्योगपतियों, सौदागरों और बैंकरों ने भारत सरकार पर अपना प्रभाव बढ़ा लिया। इसके फलस्वरूप भारतीय प्रशासन 1858 के पहले की अपेक्षा अधिक प्रतिक्रियावादी हो गया क्योंकि अब उदारतावाद का दिखावा भी धीरे-धीरे छोड़ दिया गया।

1858 के ऐक्ट में व्यवस्था की गयी कि भारत में गवर्नर-जनरल की एक कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) होगी जिसके सदस्य विभिन्न विभागों के प्रधान तथा गवर्नर-जनरल के सलाहकार के रूप में काम करेंगे। परिषद् के सदस्यों का दर्जा वर्तमान भारतीय मंत्रिमंडल के सदस्यों की तरह होता था। शुरू में इस परिषद् में पाँच सदस्य होते थे। बाद में, 1918 तक, सेनाध्यक्ष के अलावा, जो सैनिक विभाग का प्रधान होता था, छः साधारण सदस्य होते थे। परिषद् सभी महत्त्वपूर्ण मामलों पर विचारविमर्श करती थी तथा उन पर बहुमत से निर्णय लेती थी, मगर गवर्नर-जनरल को परिषद् के किसी महत्त्वपूर्ण निर्णय को ठुकरा देने का अधिकार था। वस्तुतः धीरे-धीरे सारी शक्ति गवर्नर-जनरल के हाथों में संकेंद्रित हो गयी।

इंडियन काउन्सिल ऐक्ट, 1861 ने क़ानून बनाने के उद्देश्य से गवर्नर-जनरल की काउन्सिल का विस्तार किया। इस रूप में उसे इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल कहा जाने लगा। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह अपनी कार्यकारिणी परिषद् में छः से बारह सदस्य शामिल करे। उनमें कम से कम आधे ग़ैर-सरकारी लोग होने थे। ग़ैर-सरकारी सदस्य भारतीय या अंग्रेज़ कोई भी हो सकते थे। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल को कोई वास्तविक अधिकार नहीं थे। इसलिए उसे किसी प्रारम्भिक या कमज़ोर संसद के रूप में नहीं देखना चाहिए। वह एक सलाहकार समिति मात्र थी। सरकार की पूर्व स्वीकृति लिए बिना वह किसी महत्त्वपूर्ण कार्रवाई पर विचार-विमर्श नहीं कर सकती थी और वित्तीय कार्रवाइयों पर विचार करने का उसे क़तई कोई अधिकार नहीं था। उसका बजट के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं था। वह प्रशासन की कार्रवाइयों पर विचार नहीं कर सकती थी; सदस्य उनके बारे में सवाल तक नहीं पूछ सकते थे। दूसरे शब्दों में, लेजिस्लेटिव काउन्सिल का कार्यपालिका पर कोई नियंत्रण नहीं था। यही नहीं, उसके द्वारा पास किया गया कोई भी बिल गवर्नर-जनरल की स्वीकृति के बिना ऐक्ट नहीं बन सकता था। सर्वोपरि बात यह थी कि भारत मंत्री उसके किसी भी ऐक्ट को अस्वीकृत कर सकता था। इस प्रकार, लेजिस्लेटिव काउन्सिल का एकमात्र कार्य सरकारी कार्रवाइयों पर स्वीकृति की मुहर लगाना तथा यह आभास देना था कि उन्हें एक विधायी संस्था ने पास किया है। सिद्धान्ततः ग़ैर-सरकारी भारतीय सदस्यों को काउन्सिल में भारतीय विचारों का प्रतिनिधित्व करने के लिए रखा गया था क्योंकि अनेक ब्रिटिश अधिकारियों और राजनेताओं का ख्याल था कि अगर शासकों को भारतीय विचारों का पता होता तो 1857 का विद्रोह न हुआ होता। मगर लेजिस्लेटिव काउन्सिल के भारतीय सदस्य संख्या में थोड़े होते थे और भारतीय जनता द्वारा नहीं चुने जाते थे। उन्हें गवर्नर-जनरल नामजद करता था। नामज़दगी के समय गवर्नर-जनरल निरपवाद रूप से राजाओं और उनके मंत्रियों, बड़े ज़मींदारों, बड़े सौदागरों या सेवा निवृत सरकारी अफ़सरों को चुनता था। वे भारतीय जनता या उदीयमान राष्ट्रवादी जनमत का क़तई कोई प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इस प्रकार भारतीयों का सरकार की प्रक्रियाओं में कोई हाथ नहीं था। भारत सरकार 1858 के पहले की तरह ही एक विदेशी निरंकुश शाही रही। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी बल्कि एक जानबूझ

कर अपनायी जाने वाली नीति थी। भारत मंत्री चार्ल्स वुड ने 1861 के इंडियन काउन्सिल बिल को पेश करते हुए कहा : "सभी अनुभव हमें यही सिखाते हैं कि जहाँ कोई प्रबल जाति दूसरी जाति पर शासन करती है, वहाँ सरकार का सबसे नरम रूप भी. निरंकुश तंत्र होता है।"

प्रांतीय प्रशासन : अंग्रेज़ों ने प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से भारत को प्रांतों में बाँटा था। उनमें से तीन—बंगाल, मद्रास और बम्बई—को प्रेसिडेंसी कहा जाता था। प्रेसिडेंसियों का प्रशासन गवर्नर और तीन व्यक्तियों की कार्यकारी परिषद् के ज़रिए होता था। गवर्नर और कार्यकारी परिषद् के सदस्यों को इंग्लैंड का राजा नियुक्त करता था। प्रेसिडेंसी सरकारों को अन्य प्रांतों की सरकारों की अपेक्षा अधिक अधिकार और शक्तियाँ होती थीं। अन्य प्रांतों का प्रशासन लेफ्टिनेंट गवर्नर और चीफ़ कमिश्नर (मुख्य आयुक्त) करते थे जिनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल करता था।

1833 के पहले प्रांतीय सरकारों को काफी स्वायत्तता थी। 1833 में क़ानून पास करने के उनके अधिकार को ले लिया गया और उनके ख़र्च पर सख्त केंद्रीय नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। मगर अनुभव ने जल्द ही दिखला दिया कि भारत जैसे विशाल देश पर पूर्ण केंद्रीयकरण के आधार पर कुशलतापूर्वक प्रशासन नहीं किया जा सकता।

1861 के ऐक्ट ने केंद्रीयकरण की लहर को एक मोड़ दिया। उसने व्यवस्था की कि केंद्र की तरह ही, सर्वप्रथम, बम्बई, मद्रास और बंगाल में लेजिस्लेटिव काउन्सिलों की स्थापना हो। बाद में उनकी स्थापना अन्य प्रांतों में की जाए। प्रांतीय लेजिस्लेटिव काउन्सिलें भी सलाहकारी संस्थाएँ मात्र थीं। उनमें चार से आठ तक ग़ैर-सरकारी भारतीय और अंग्रेज सदस्य होते थे। इन काउन्सिलों को भी जनतांत्रिक संसद के अधिकार नहीं थे।

अत्यन्त केंद्रीयकरण के दुर्गुण वित्तीय क्षेत्रों में सबसे अधिक प्रत्यक्ष थे। सारे देश और विभिन्न स्रोतों से राजस्व को केंद्र में जमा किया जाता और फिर उसे प्रांतों के बीच बाँटा जाता था। केंद्रीय सरकार का प्रांतीय खर्च के छोटे से छोटे ब्यौरे पर सख्त नियंत्रण था। मगर यह व्यवस्था व्यवहार में काफ़ी बर्बादी वाली साबित हुई। केंद्रीय सरकार के लिए किसी प्रांतीय सरकार द्वारा राजस्व की कुशल वसूली की देखरेख करना या उस ख़र्च पर पर्याप्त निगरानी रखना संभव नहीं था। एक ओर केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच प्रशासन और खर्च के बारीक ब्यौरों को लेकर लगातार झगड़ा होता रहता था, दूसरी ओर मितव्ययी होने के लिए प्रांतीय सरकारों को कोई प्रेरणा नहीं थी। इसलिए अधिकारियों ने सार्वजनिक राजस्व का विकेंद्रीकरण करने का निर्णय लिया।

केंद्रीय और प्रांतीय वित्त को अलग-अलग करने की दिशा में पहला क़दम 1870 में लार्ड मेयो ने उठाया। प्रांतीय सरकारों को केंद्रीय राजस्व से निश्चित रक़में पुलिस, जेल, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और सड़कों के प्रशासन के लिए दी जाती थीं और उन्हें उनका प्रशासन अपनी इच्छानुसार चलाने की छूट थी। उनको जितनी रक़में दी जाती थीं उसकी सीमा के अन्दर वे विभिन्न विभागों को दी जानेवाली राशियों को घटा-बढ़ा सकती थीं। लॉर्ड मेयो के आयोजन के दायरे को 1877 में लॉर्ड लिटन ने बड़ा कर दिया। उसने प्रांतों को भूराजस्व, उत्पादन शुल्क (आबकारी), सामान्य प्रशासन और क़ानून तथा न्याय जैसे खर्च के मद हस्तान्तरित किए। अतिरिक्त ख़र्च को पूरा करने के लिए प्रान्तीय सरकार उस प्रांत में स्टाम्पों, उत्पादन शुल्कों और आय-कर जैसे कुछ स्रोतों से प्राप्त आय का एक निश्चित हिस्सा पाने का हक़दार हो गयी। इन व्यवस्थाओं में लॉर्ड रिपन के शासनकाल में और अधिक परिवर्तन हुए। प्रांतों को निश्चित अनुदान देने की प्रथा को ख़त्म कर दिया गया और उसके बदले हर प्रांत को राजस्व के कतिपय स्रोतों से अपने क्षेत्र में प्राप्त सारी आय तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त आय का एक निश्चित हिस्सा लेने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार राजस्व के सारे स्रोतों को अब तीन भागों—सामान्य, प्रांतीय और केंद्र तथा प्रांतों के बीच बाँटे जाने वाले स्रोत—में विभाजित कर दिया गया। केंद्र और प्रांतों के बीच वित्तीय व्यवस्थाओं पर हर पाँचवें साल विचार करना था।

ऊपर वित्तीय विकेंद्रीकरण के जिन क़दमों पर विचार किया गया है उनका मतलब वास्तविक प्रांतीय स्वायत्तता या प्रांतीय प्रशासन में भारतीयों के भाग लेने की कार्यवाही का प्रारम्भ नहीं था। वे मुख्य रूप से प्रशासनिक पुनर्गठन के प्रयास थे। उनके मुख्य लक्ष्य थे : खर्च को कम रखना

और आय को बढ़ाना। सिद्धान्त और व्यवहारतः केंद्रीय सरकार सर्वोच्च रही और उसने प्रांतीय सरकारों पर प्रभावकारी और विस्तृत नियंत्रण क़ायम रखा। यह अवश्यम्भावी था क्योंकि दोनों—केंद्रीय सरकार और प्रांतीय सरकारें—पूरी तरह भारत मंत्री और ब्रिटिश सरकार के अधीन थीं।

स्थानाय निकाय : वित्तीय कठिनाइयों के कारण सरकार ने नगरपालिकाओं और ज़िला परिषदों (District Boards) के ज़रिए स्थानीय सरकार को बढ़ावा देकर प्रशासन का और विकेंद्रीकरण किया। औद्योगिक क्रांति ने उन्नीसवीं सदी में योरोपीय अर्थव्यवस्था और समाज को धीरे-धीरे रूपान्तरित कर दिया। यूरोप के साथ भारत के बढ़ते हुए सम्पर्क, और साम्राज्यवाद के नए रूपों तथा आर्थिक शोषण ने यह आवश्यक कर दिया कि अर्थव्यवस्था, स्वास्थ्य-रक्षा तथा शिक्षा में हुई कुछ यूरोपीय उपलब्धियों को भारत में भी अपनाया जाए। इसके अतिरिक्त, उदीयमान राष्ट्रीय आंदोलन ने माँग की कि नागरिक जीवन में हुए आधुनिक सुधारों को भारत में भी लागू किया जाए। जन शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, पानी की आपूर्ति, बेहतर सड़कों, और अन्य नागरिक सहूलियतों की आवश्यकता को अधिकाधिक महसूस किया गया। सरकार इसकी अब अधिक अवहेलना नहीं कर सकी। मगर फ़ौज तथा रेलवे पर भारी ख़र्च के कारण उसकी वित्तीय स्थिति ठीक नहीं थी। वह नये करों के ज़रिए अपनी आय को नहीं बढ़ा सकती थी क्योंकि गरीबों पर तत्कालीन करों का बोझ काफ़ी भारी था और उसमें कोई भी और वृद्धि सरकार विरुद्ध असंतोष पैदा कर सकती थी। दूसरी ओर, सरकार उच्च वर्गों पर कर नहीं लगाना चाहती थी। मगर अधिकारियों का ख्याल था कि लोग तब नए कर देने से इन्कार नहीं करेंगे जब उन्हें मालूम होगा कि उनसे प्राप्त राशि उन्हीं के कल्याण के लिए ख़र्च की जाएगी। इसलिए यह तय हुआ कि शिक्षा, स्वास्थ्य, सफ़ाई और जल-आपूर्ति जैसी स्थानीय सेवाएँ स्थानीय निकायों को हस्तान्तरित कर दी जाएँ, जिनके लिए धन स्थानीय करों से जुटाया जाए। अनेक अंग्रेज़ों ने स्थानीय निकायों के निर्माण का समर्थन एक अन्य आधार पर भी किया था। उनका खयाल था कि प्रशासन के साथ किसी न किसी हैसियत से भारतीयों को सम्बद्ध करके उन्हें राजनीतिक तौर पर असंतुष्ट होने से रोका जा सकेगा। यह सम्बद्धता स्थानीय निकायों के स्तर पर भारत में सत्ता पर ब्रिटिश एकाधिकार के लिए कोई खतरा पैदा किए बिना की जा सकती थी।

स्थानीय निकायों का निर्माण सबसे पहले 1864 और 1868 के दौरान हुआ, मगर लगभग सभी निकाय मनोनीत सदस्यों से भरे थे और उनकी अध्यक्षता ज़िला मैजिस्ट्रेट करते थे। इसलिए वे स्थानीय स्वशासन के प्रतिनिधि बिल्कुल ही नहीं थे। न ही बुद्धिमान भारतीयों ने उन्हें स्वीकार किया। वे उनको जनता से अतिरिक्त कर वसूलने के ज़रिए समझते थे।

लार्ड रिपन की सरकार ने 1882 में आगे की ओर एक हिचकिचाहट भरा और अपर्याप्त क़दम बढ़ाया। एक सरकारी प्रस्ताव ने स्थानीय मामलों के मुख्यतः ग्रामीण तथा शहरी स्थानीय संस्थाओं द्वारा प्रशासन की नीति का प्रतिपादन किया, जिनके बहुसंख्यक सदस्य ग़ैर-सरकारी होते। यह व्यवस्था की गयी कि जब भी और जहाँ भी अधिकारी समझेंगे कि चुनाव कराना सम्भव है वहाँ ग़ैर-सरकारी सदस्य जनता द्वारा चुने जाएँगे। प्रस्ताव ने ग़ैर-सरकारी व्यक्ति के स्थानीय निकाय के अध्यक्ष के रूप में चुने जाने की अनुमति भी दी। इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए प्रांतीय एक्ट पास किए गए। मगर चुने गए सदस्य सभी ज़िला बोर्डों तथा अनेक नगरपालिकाओं में अल्पमत में होते थे। इसके अतिरिक्त उनका चुनाव थोड़े मतदाताओं के ज़रिए होता था क्योंकि मत देने का अधिकार बिल्कुल सीमित था। ज़िला अधिकारी ज़िला बोर्डों के अध्यक्ष बने रहे यद्यपि ग़ैर-सरकारी लोग धीरे-धीरे नगरपालिकाओं के अध्यक्ष बन गए। सरकार ने भी स्थानीय निकायों की गतिविधियों पर सख्त नियंत्रण रखने तथा अपनी इच्छानुसार उन्हें निलम्बित और समाप्त करने के अधिकार अपने पास रखे। फलस्वरूप कलकत्ता, बम्बई और मद्रास जैसे प्रेसिडेंसी शहरों को छोड़कर अन्य जगहों में स्थानीय निकाय सरकारी विभागों के रूप में काम करते थे और किसी भी तरह वे स्थानीय स्वशासन के अच्छे उदाहरण नहीं थे। साथ ही, राजनीतिक तौर पर जागरुक भारतीयों ने रिपन के प्रस्ताव का स्वागत किया और इस आशा से उन स्थानीय निकायों में काम किया कि समय पर वे उन्हें स्थानीय स्वशासन के प्रभावकारी साधन बना देंगे।

सेना में परिवर्तन

भारतीय सेना का 1858 के बाद सावधानी पूर्वक पुनर्गठन किया गया। ब्रिटिश राजशाही को सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गए थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेनाओं को ब्रिटिश राजशाही की फ़ौजों के साथ मिला दिया गया। मगर सेना का पुनर्गठन सबसे अधिक विद्रोह की पुनरावृति को रोकने के लिए किया। शासकों ने देख लिया था कि उनकी संगीनें ही उनके शासन की एकमात्र मजबूत आधार हो सकती हैं। भारतीय सैनिकों की विद्रोह करने की क्षमता को पूरी तरह समाप्त नहीं तो कम से कम करने के लिए अनेक कदम उठाए गए। प्रथमतः सेना पर उसकी योरोपीय शाखा का प्रभुत्व सावधानी पूर्वक पक्का बनाया गया। सेना में योरोपीय और भारतीय लोगों के परस्पर अनुपात को बढ़ाया गया तथा बंगाल की फ़ौज में उसे 1 : 2, और मद्रास तथा बम्बई की फ़ौजों में 2 : 5 निश्चित किया गया। इसके अलावा योरोपीय फ़ौजों को महत्त्वपूर्ण भौगोलिक एवं सैनिक स्थानों पर रखा गया। फ़ौज की निर्णायक शाखाओं जैसे तोपख़ाने तथा बाद में बीसवीं सदी में, टैंकों तथा बख्तरबंद टुकड़ियाँ पूर्णरूपेण केवल योरोपीय लोगों के हाथों में दे दी गयीं। भारतीयों को फ़ौज में अफ़सर न बनने देने की पुरानी नीति क़ायम रखी गयी। 1914 तक कोई भी भारतीय सूबेदार के दर्जे से ऊपर नहीं जा सका। द्वितीयतः फ़ौज के भारतीय भाग का संगठन "संतुलन और प्रतिसंतुलन" या "फूट डालो और शासन करो" की नीति पर आधारित था जिससे वह सूत्रबद्ध होकर ब्रिटिश विरोधी विद्रोह न कर सके। फ़ौज में भर्ती करते समय जाति, क्षेत्र और धर्म के नाम पर भेदभाव किए गए। एक कहानी गढ़ी गयी कि भारतवासी दो वर्गों 'सैनिक' और "ग़ैर-सैनिक" में बँटे हुए हैं। अवध, बिहार, मध्यभारत और दक्षिण भारत के जिन सैनिकों ने पहले अंग्रेज़ों को भारत पर विजय प्राप्त करने में सहायता दी थी और बाद में 1857 के विद्रोह में भाग लिया था उन्हें ग़ैर-सैनिक वर्ग का घोषित कर दिया गया। अब उन्हें फ़ौज में बड़े पैमाने पर नहीं लिया जाता था। दूसरी ओर सिक्खों, गोरखों, और पठानों को, जिन्होंने विद्रोह को दबाने में मदद की थी, सैनिक वर्ग का घोषित कर दिया गया और उन्हें फ़ौज में बड़ी संख्या में भर्ती किया जाने लगा। इसके अलावा, भारतीय रेजिमेंटों को विभिन्न जातियों और समूहों का इस प्रकार मिश्रण बना दिया गया कि वे एक दूसरे को संतुलित कर सकें। सैनिकों में साम्प्रदायिक, जातिगत क़बायली तथा क्षेत्रीय निष्ठा को इस तरह बढ़ावा दिया गया जिससे उनके बीच राष्ट्रीयता की भावना नहीं पनप सके। उदाहरण के लिए, अधिकांश रेजिमेंटों में जातिगत तथा साम्प्रदायिक कम्पनियाँ बनायी गयीं। भारत मंत्री चार्ल्स वुड ने 1861 में वायसराय कैनिंग को लिखा : 'मैं ऐसी महान् सेना फिर से नहीं देखना चाहता जो अपनी भावनाओं और पूर्वाग्रहों तथा संबंधों की दृष्टि से एक समान हो, जिसका अपनी ताक़त में विश्वास हो, और जो एक साथ बग़ावत करने की ओर प्रवृत हो : अगर एक रेजिमेंट विद्रोह करे तो मैं चाहूँगा कि दूसरी रेजिमेंट इतनी परायी हो कि वह उस पर गोली चलाने को तैयार हो जाए।'

इस तरह भारतीय सेना विशुद्ध रूप में भाड़े की फ़ौज रही। इसके अलावा, उसे शेष जनसंख्या के जीवन और विचारों से अलग रखने के लिए हर प्रयास किया गया। उसे राष्ट्रवादी विचारों से हर सम्भव उपायों से अलग रखा गया। समाचारपत्रों, पत्रिकाओं और राष्ट्रवादी प्रकाशनों को सैनिकों तक पहुँचने नहीं दिया गया। मगर, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, इस तरह के सारे प्रयास दीर्घकाल में असफल रहे तथा भारतीय सेना के कुछ भागों ने स्वतन्त्रता के लिए हमारे संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

कालक्रम से भारतीय सेना पर बहुत ख़र्च होने लगा। 1904 में उस पर भारतीय राजस्व का 52 प्रतिशत ख़र्च होता था। ऐसा इसलिए था कि वह एक से अधिक उद्देश्यों को पूरा करती थी। चूंकि उस समय भारत अत्यन्त उत्कृष्ट औपनिवेशिक क्षेत्रों में से एक था इसलिए उसे रूस, फ्रांस और जर्मनी के प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादों से लगातार बचाए रखने की जरूरत थी। इस कारण भारतीय सेना के आकार में काफ़ी वृद्धि हुई। द्वितीयतः भारतीय सैनिकों को केवल भारत की रक्षा के लिए नहीं रखा गया था। उनका इस्तेमाल बहुधा एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश सत्ता और अधीनस्थ क्षेत्रों को बढ़ाने तथा सुदृढ़ करने के

लिए किया जाता था। अन्ततः फ़ौज के ब्रिटिश हिस्से ने एक विदेशी क़ब्जा करने वाली सेना के रूप में काम किया। वह भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य की अन्तिम गारंटी के रूप में थी। मगर उसका ख़र्च भारतीय राजस्व से पूरा करना होता था, इस तरह वह राजस्व पर भारी बोझ थी।

लोक सेवाएँ

हमने ऊपर देखा कि भारत सरकार पर भारतीयों का कुछ भी नियंत्रण नहीं था। क़ानून-निर्माण या प्रशासनिक निति-निर्धारण में उन्हें कोई भूमिका अदा करने के लिए अवसर नहीं दिया जाता था। इतना ही नहीं, उन्हें अफ़सरशाही से अलग रखा गया था। अफ़सरशाही नीतियों को कार्यान्वित करती थी। प्रशासन में सत्ता और उत्तरदायित्व के सभी ओहदों पर भारतीय नागरिक सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) के सदस्य होते थे, जिनकी भर्ती लंदन में होने वाली वार्षिक सार्वजनिक प्रतियोगिता परीक्षाओं के द्वारा होती थी। इस परीक्षा में भारतीय भी बैठ सकते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भाई सत्येन्द्रनाथ टैगोर इस परीक्षा में सफल होने वाले पहले भारतीय थे। उसके बाद हर साल एक या दो भारतीयों ने नागरिक सेवा की अभिलाषित पंक्ति में प्रवेश किया, मगर उसमें प्रवेश करने वाले अंग्रेज़ों की तुलना में उनकी संख्या नगण्य थी। व्यवहार में, नागरिक सेवा के दरवाज़े भारतीयों के लिए बंद रहे क्योंकि उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। प्रतियोगिता की परीक्षा सुदूर लंदन में होती थी। परीक्षा विदेशी, अंग्रेज़ी, भाषा के ज़रिए होती थी। परीक्षा क्लासिकल ग्रीक और लैटिन विद्या के आधार पर होती थी। जिसके पाठ्यक्रम का अध्ययन इंगलैंड में काफ़ी लम्बे समय में और काफी पैसा ख़र्चने पर ही सकता था। इसके अलावा, नागरिक सेवा में प्रवेश के लिए निर्धारित अधिकतम उम्र को धीरे-धीरे घटा दिया गया। अधिकतम उम्र 1859 में 23 वर्ष थी जिसे घटाकर 1878 में 19 वर्ष कर दिया गया। अगर 23 वर्ष के भारतीय के लिए नागरिक सेवा की प्रतियोगिता में सफल होना कठिन था तो 19 वर्षीय भारतीय के लिए बिल्कुल असंभव।

प्रशासन के अन्य विभागों—पुलिस, लोक निर्माण विभाग (Public Works Department), चिकित्सा, डाक-तार, वन, इंजीनियरिंग, सीमा शुल्क विभाग और बाद में रेलवे—में बड़े तथा ऊँचे वेतन वाले ओहदों को भी ब्रिटिश नागरिकों के लिए आरक्षित कर दिया गया था।

सभी महत्त्वपूर्ण ओहदों पर यूरोपवासियों को प्रमुखता आकस्मिक नहीं थी। भारत में शासक उसे भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व बनाए रखने के लिए आवश्यक शर्त समझते थे। अतः भारतमंत्री लार्ड किम्बरले ने 1893 में व्यवस्था की कि "यह अपरिहार्य है कि नागरिक सेवा के सदस्यों में पर्याप्त संख्या में यूरोप वाले रहेंगे"; और वायसराय लैंसडाउन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि "अगर इस साम्राज्य को बरक़रार रखने के लिए इस विस्तृत साम्राज्य की सरकार को यूरोपवासियों के हाथों में रखने की पूरी आवश्यकता है।"

भारतवालों के दबाव के कारण 1918 के बाद विभिन्न प्रशासनिक सेवाओं का धीरे-धीरे भारतीयकरण किया गया, मगर नियंत्रण तथा अधिकार वाले ओहदे तब भी अंग्रेज़ों के हाथों रखे गए। इसके अलावा, जनता ने शीघ्र ही देखा कि इन सेवाओं के भारतीयकरण के होते हुए भी उसके हाथों में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं आयी। इन सेवाओं में भारतीयों ने ब्रिटिश शासन के एजेन्ट के रूप में काम किया और उन्होंने ब्रिटेन के साम्राज्यिक उद्देश्यों को निष्ठा के साथ पूरा किया।

देशी रियासतों के साथ सम्बन्ध

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह ने अंग्रेज़ों को भारतीय रियासतों के प्रति अपनी नीति बदलने के लिए प्रेरित किया। 1857 के पहले देशी रियासतों को हड़पने के लिए उन्होंने प्रत्येक अवसर का इस्तेमाल किया था। अब इस नीति को छोड़ दिया गया। अधिकतर भारतीय राजा अंग्रेज़ों के प्रति न केवल निष्ठावान् रहे बल्कि उन्हें विद्रोह को दबाने के लिए सक्रिय सहायता दी। जैसा कि वायसराय लार्ड कैनिंग ने कहा, उन्होंने "तूफ़ान के लिए तरंगरोध" का काम किया। उनकी निष्ठा को इस घोषणा से पुरस्कृत किया गया कि उत्तराधिकारियों को गोद लेने के उनके अधिकार को मान्यता दी जाएगी और उनके इलाक़ों को नहीं हथियाया जाएगा और उनकी अखण्डता बनाए रखी जाएगी। इसके अतिरिक्त विद्रोह के अनुभव ने

ब्रिटिश अधिकारियों को यह विश्वास दिला दिया था कि देशी रियासत जन-विरोध या विद्रोह की स्थिति में उनके उपयोगी सहायक और समर्थक के रूप में काम करेगी। कैनिंग ने 1860 में लिखा :

> "बहुत समय पहले सर जान मैल्कम ने कहा था कि अगर हम सारे भारत को ज़िलों में बाँट दें तो स्थितियाँ ऐसी नहीं हैं कि हमारा साम्राज्य 50 साल तक भी चले लेकिन अगर हम कई देशी रियासतें, उन्हें बिना कोई राजनीतिक सत्ता दिए, मगर शाही उपकरणों के रूप में रखें तो हम भारत में तब तक रहेंगे जब तक हमारी नौसैनिक शक्ति बरकरार रहेगी। इस राय में निहित ठोस सत्य के बारे में मुझे कोई सन्देह नहीं है; और हाल की घटनाओं ने उसे पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान देने योग्य बना दिया है।"

इसलिए यह तय किया गया कि देशी रियासतों को भारत में ब्रिटिश शासन के आधार स्तम्भ के रूप में इस्तेमाल किया जाए। ब्रिटिश इतिहासकार पी०ई० राबर्टस् ने भी माना है कि "उन्हें साम्राज्य के तरंगरोध के रूप में इस्तेमाल करना सदा से ब्रिटिश नीति रही है।"

मगर देशी राज्यों को सदा बनाए रखना उनके प्रति ब्रिटिश नीति का केवल एक पहलू था। दूसरा पहलू था उन्हें पूरी तरह ब्रिटिश अधिकारियों के अधीन रखना। यद्यपि 1857 के विद्रोह के पहले भी व्यवहार में अंग्रेज इन राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करते थे तथापि उन्हें अधीनस्थ मगर सर्वसत्ताधारी शक्तियाँ माना जाता था। इस स्थिति को अब पूरी तरह बदल दिया गया। अपने निरन्तर अस्तित्व की क़ीमत के रूप में भारतीय राजाओं को ब्रिटेन की सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करना पड़ा। कैनिंग ने 1862 में "इंग्लैंड के शासक के सारे भारत के असंदिग्ध शासक तथा सर्वोच्च सत्ता के रूप में होने" की घोषणा की। रानी विक्टोरिया ने 1876 में संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप पर ब्रिटिश प्रभुसत्ता जताने के लिए भारत की साम्राज्ञी की उपाधि ले ली। लार्ड कर्ज़न ने बाद में यह स्पष्ट कर दिया कि राजा अपने राज्यों पर ब्रिटिश शासक के मात्र एजेंट के रूप में शासन कर रहे हैं। राजाओं ने अधीनता की इस अवस्था को स्वीकार किया और साम्राज्य में वे कनिष्ठ भागीदार बन गए, क्योंकि अपने राज्यों के शासक के रूप में उनके अस्तित्व की निरन्तरता का आश्वासन उन्हें दे दिया गया।

सर्वोच्च सत्ता के रूप में अंग्रेज़ों ने देशी राज्यों की आन्तरिक सरकार की देखरेख के अधिकार का दावा किया। उन्होंने रेज़िडेंटों के ज़रिए न केवल दिन प्रति-दिन के प्रशासन में ही हस्तक्षेप किया बल्कि मंत्रियों और अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति और बर्ख़ास्तगी करने पर भी ज़ोर दिया। कभी-कभी स्वयं शासकों को हटा दिया गया या उन्हें अपने अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इस हस्तक्षेप का एक मक़सद अंग्रेज़ों की इन राज्यों को आधुनिक प्रशासन देने की इच्छा थी। उनका ख्याल था कि आधुनिक प्रशासन के ज़रिए ब्रिटिश भारत के साथ देशी राज्यों का एकीकरण पूरा हो जाएगा। इस एकीकरण और परिणामिक हस्तक्षेप को अखिल भारतीय रेलवे, डाक-तार प्रणाली, करेंसी और एक समान आर्थिक जीवन से प्रोत्साहन मिला। हस्तक्षेप के लिए प्रेरणा अनेक राज्यों में लोकप्रिय जनतांत्रिक और राष्ट्रीय आंदोलनों के पनपने से भी मिली। एक ओर ब्रिटिश अधिकारियों ने इन आंदोलनों को दबाने के लिए शासकों की सहायता की; दूसरी ओर उन्होंने इन राज्यों के प्रशासन से अत्यन्त गंभीर दुर्गुणों के निराकरण की कोशिश की।

देशी राज्यों के प्रति बदली हुई ब्रिटिश नीति मैसूर और बड़ौदा के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। लार्ड बैंटिक ने मैसूर के शासक को 1831 में अपदस्थ कर राज्य का प्रशासन अपने हाथों में ले लिया था। 1868 के बाद सरकार ने पुराने शासक के दत्तक उत्तराधिकारी को मान्यता दे दी और 1881 में राज्य पूरी तरह युवा महाराजा को फिर से दे दिया गया। दूसरी ओर, बड़ौदा के शासक मल्हार राव पर 1874 में कुशासन तथा ब्रिटिश रेज़ीडेंट को ज़हर देने के दोष लगाए गए। उसे संक्षिप्त सा मुक़दमा चलाकर अपदस्थ कर दिया गया। मगर बड़ौदा को ब्रिटिश राज्य में नहीं मिलाया गया बल्कि गायकवाड़ परिवार के एक नौजवान को गद्दी पर बिठाया गया।

प्रशासनिक नीतियाँ

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह के बाद भारत के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण और, फलतः, भारत में उनकी नीतियों में जो परिवर्तन हुए वह पहले से भी बुरे थे। 1857 के पहले उन्होंने आधे मन से और हिचकिचाहट के साथ ही

सही भारत को आधुनिक बनाने की कोशिश की थी, मगर अब उन्होंने जानबूझ कर प्रतिक्रियावादी नीतियों को अपनाना आरम्भ कर दिया। जैसा कि इतिहासकार पर्सिवल स्पीयर ने लिखा है : "भारतीय सरकार का प्रगति के साथ प्रमोदकाल ख़त्म हो गया था।"

हमने ऊपर देखा है कि किस प्रकार भारत में और इंग्लैंड में प्रशासनिक नियंत्रण के अंगों, भारतीय सेना और नागरिक सेवा को पुनर्गठित किया गया कि भारतीयों को प्रशासन में प्रभावकारी हिस्सा न लेने दिया जाए। पहले इस बात का कम से कम ऊपरी तौर पर ज़रूर दावा किया जाता था कि अंग्रेज़ भारतीयों को स्वशासन के लिए "तैयार" कर रहे हैं। अब यह विचार खुलेआम रखा गया कि भारतीय अपना शासन आप करने के योग्य नहीं हैं और उन पर अनिश्चित काल तक के लिए ब्रिटेन का शासन होना चाहिए। यह प्रतिक्रियावादी नीति अनेक क्षेत्रों में ज़ाहिर हो गयी।

फूट डालो और शासन करो : अंग्रेज़ों ने भारतीय शक्तियों की फूट का फ़ायदा उठाकर और उन्हें आपस में एक-दूसरे से लड़ाकर भारत को जीत लिया। 1858 के बाद उन्होंने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनायी। उन्होंने राजाओं को जनता से, एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से, एक जाति को दूसरी जाति से, एक समूह को दूसरे समूह से तथा सबसे ऊपर हिन्दुओं को मुसलमानों से भिड़वा दिया।

अठारह सौ सत्तावन के विद्रोह के दौरान जो हिन्दू-मुसलमान एकता देखी गयी उससे ब्रिटिश शासकों को बड़ी चिंता हो गयी। वे इस एकता को तोड़ने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, जिससे उदीयमान राष्ट्रीय आन्दोलन को कमज़ोर बनाया जा सके। वस्तुतः ऐसा करने के लिए उन्होंने कोई भी मौक़ा हाथ से नहीं निकलने दिया। विद्रोह के तुरन्त बाद उन्होंने मुसलमानों को सताया, बड़े पैमाने पर उनकी ज़मीन-जायदाद छीन ली और हिंदुओं को अपना प्रियपात्र घोषित कर दिया। 1870 के बाद इस नीति को बदल दिया गया तथा उच्च वर्गीय और मध्यम वर्गीय मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ़ करने के लिए प्रयत्न किया गया।

सरकार ने शिक्षित भारतीयों को धार्मिक आधारों पर बाँटने के लिए सरकारी सेवा की मोहिनी शक्ति का बड़ी चालाकी से इस्तेमाल किया। औद्योगिक और व्यापारिक पिछड़ापन तथा सा[illegible]क सेवाएँ नाममात्र होने के कारण भारतीय लगभग पूरी तरह सरकारी सेवा पर निर्भर थे। उनके लिए अन्य अवसर नाममात्र के थे। इसलिए उपलब्ध सरकारी जगहों के लिए उनके बीच घोर प्रतियोगिता थी। सरकार ने इस प्रतियोगिता का इस्तेमाल प्रांतीय और साम्प्रदायिक स्पर्द्धा और घृणा फैलाने के लिए किया। वफ़ादारी के एवज में उसने साम्प्रदायिक आधार पर सरकारी फ़ायदे देने की बात की और इस तरह शिक्षित मुसलमानों को शिक्षित हिन्दुओं के ख़िलाफ़ भिड़ा दिया।

शिक्षित भारतीयों के प्रति द्वेष

भारत सरकार ने 1833 के बाद आधुनिक शिक्षा को सक्रिय रूप से बढ़ावा दिया। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालय 1857 में बने और उसके बाद उच्चत्तर शिक्षा का प्रसार तेज़ी से हुआ। अनेक ब्रिटिश अधिकारियों ने शिक्षित भारतीयों द्वारा 1857 के विद्रोह में भाग लेने से इन्कार करने की प्रशंसा की। मगर शिक्षित भारतीयों के प्रति यह अनुकूल सरकारी दृष्टिकोण जल्द ही बदल गया क्योंकि उनमें से कुछ ने अपने हाल में प्राप्त आधुनिक ज्ञान का उपयोग ब्रिटिश शासन के साम्राज्यवादी चरित्र का विश्लेषण करने तथा प्रशासन में भारतीय भागीदारी की माँगें रखने के लिए किया। अधिकारी उच्चत्तर शिक्षा तथा शिक्षित भारतीयों के सक्रिय विरोधी बन गए। शिक्षित भारतीयों के प्रति उनका वैर-भाव तब उभरा जब उन्होंने जनता के बीच एक राष्ट्रीय आंदोलन संगठित करना शुरु किया तथा 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। अब अधिकारियों ने उच्चत्तर शिक्षा में कटौती के लिए सक्रिय क़दम उठाए। उन्होंने शिक्षित भारतीयों का उपहास किया और उन्हें आमतौर से बाबू कहकर पुकारा जाने लगा।

इस प्रकार अंग्रेज़ भारतीयों के उस समूह के खिलाफ़ हो गए जिन्होंने आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान को आत्मसात् किया था और जो आधुनिक लीक पर चलकर प्रगति करने के हामी थे। मगर इस प्रकार की प्रगति भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मूल हितों और नीतियों के विरोध में पड़ती थी। शिक्षित भारतीयों और उच्चत्तर शिक्षा के

प्रति सरकारी विरोध ने स्पष्ट कर दिया कि भारत में ब्रिटिश शासन के पास शुरु में प्रगति की जो भी संभावनाएँ थीं वे अब समाप्त हो गई हैं।

ज़मींदारों के प्रति दृष्टिकोण : प्रगतिशील शिक्षित भारतीयों के प्रति वैर-भाव रखते हुए अब अंग्रेज़ों ने भारतीयों के अत्यन्त प्रतिक्रियावादी समूह, राजाओं, ज़मींदारों और भूस्वामियों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। राजाओं के प्रति उनकी बदली हुई नीति और जन आंदोलनों तथा राष्ट्रीय आंदोलनों की बढ़ती हुई लहर के विरुद्ध उन्हें तटबंध के रूप में इस्तेमाल करने की सरकारी नीति की विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं। ज़मींदारों और भूस्वामियों को भी राजाओं की तरह ही संतुष्ट कर दिया गया था। उदाहरण के लिए, अवध के अधिकतर ताल्लुक़ेदारों की ज़मीनें उन्हें वापस लौटा दी गयी थीं। ज़मींदार और भूस्वामी अब भारतीय जनता के परम्परागत तथा 'स्वाभाविक' नेता कहे जाने लगे। उनके हितों और विशेषाधिकारों की रक्षा की गयी। किसानों के मत्थे उन्हें अपनी ज़मीन पर सुरक्षित अधिकार दे दिया गया। उन्हें राष्ट्रवादी रुझान वाले बुद्धिजीवियों के विरुद्ध इस्तेमाल किया गया। वायसराय लॉर्ड लिटन ने 1876 में खुलेआम घोषणा की कि "इंग्लैंड की राजशाही को अब से एक शक्तिशाली देशी अभिजाततंत्र की आशाओं, आकांक्षाओं, सहानुभूतियों और हितों के साथ अपना घनिष्ठ संबंध स्थापित करना होगा।" बदले में ज़मींदारों और भूस्वामियों ने भी समझ लिया कि वे तब तक बने रहेंगे जब तक ब्रिटिश शासन बना रहेगा और वे उसके एकमात्र पक्के समर्थक बन गए।

समाज-सुधार के प्रति रुख : रुढ़िवादी वर्गों के साथ गठबंधन की नीति के एक हिस्से के रूप में अंग्रेज़ों ने समाज-सुधारकों की सहायता करने की अपनी पहले की नीति को त्याग दिया। उनकी धारणा थी कि समाज-सुधार के उनके क़दम, जैसे सती प्रथा का उन्मूलन तथा विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति, 1857 के विद्रोह के मुख्य कारणों में से थे। इसलिए उन्होंने धीरे-धीरे रुढ़िवादी विचार का साथ देना आरम्भ कर दिया और सुधारकों को अपना समर्थन देना बन्द कर दिया।

अतः जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने "द डिस्कवरी ऑफ इंडिया" (भारत की खोज) में लिखा है : "भारत के प्रतिक्रियावादियों के साथ ब्रिटिश सत्ता के इस स्वाभाविक गठजोड़ के कारण, अंग्रेज़ उन अनेक कुरीतियों और कुप्रथाओं के संरक्षक और पोषक बन गए जिनकी अन्यथा वे निंदा करते थे।" वस्तुतः इस संबंध में अंग्रेज़ द्वविधा में थे। अगर वे समाज-सुधार चाहते और उसके लिए क़ानून पास करते तो रुढ़िवादी भारतीय उनका विरोध करते तथा कहते कि विदेशियों की सरकार को भारतीयों के अन्दरुनी सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। दूसरी ओर, अगर वे इस प्रकार के क़ानून नहीं बनाते तो वे सामाजिक कुरीतियों को बनाए रखने में सहायक बनते तथा सामाजिक तौर पर प्रगतिशील भारतीय उनकी निंदा करते। मगर यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक प्रश्नों पर अंग्रेज़ सदा तटस्थ नहीं रहे। यथास्थिति को समर्थन देकर उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों को अप्रत्यक्ष रूप से संरक्षण दिया। इसके अलावा, राजनीतिक उद्देश्यों से जातिवाद और संप्रदायवाद को बढ़ावा देकर उन्होंने सामाजिक प्रतिक्रिया को सक्रिय रूप से प्रोत्साहित किया।

सामाजिक सेवाओं का अत्यन्त पिछड़ापन : उन्नीसवीं सदी के दौरान यूरोप में शिक्षा, सफ़ाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य, जल-आपूर्ति तथा ग्रामीण सड़कों जैसी सामाजिक सेवाओं की बड़ी तेज़ी से प्रगति हुई मगर भारत में वे अत्यन्त पिछड़ी रहीं। भारत सरकार ने अपनी भारी आय का अधिकांश सेना और लड़ाइयों तथा प्रशासनिक सेवाओं पर खर्च किया और सामाजिक सेवाओं के लिए हमेशा धन की कमी बनी रही। उदाहरण के लिए, भारत सरकार ने लगभग 47 करोड़ रुपए के निवल राजस्व से करीब 19 करोड़ 41 लाख रुपए फ़ौज तथा 17 करोड़ रुपए नागरिक प्रशासन पर और 2 करोड़ रुपए से कम ही शिक्षा, चिकित्सा, और सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा केवल 65 लाख रुपए सिंचाई पर खर्च किए। सफ़ाई, जल-आपूर्ति, और सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसी सेवाओं को प्रदान करने की दिशा में जो कुछ क़दम रुक-रुक कर उठाए भी गए वे आमतौर से शहरी क्षेत्रों, तथा वहाँ भी तथाकथित सिविल लाइनों, या शहर के ब्रिटिश अथवा आधुनिक हिस्सों तक ही सीमित रहे। उनसे यूरोपीय लोगों तथा उन मुट्ठी भर उच्चवर्गीय भारतीयों को फ़ायदा पहुँचा जो शहरों के यूरोपीय हिस्सों में रहते थे।

श्रम क़ानून : उन्नीसवीं सदी के दौरान आधुनिक कारख़ानों और बाग़ानों में मजदूरों की दशा दयनीय थी। उन्हें रोजाना 12 से 16 घंटे काम करना पड़ता था तथा साप्ताहिक विश्राम के लिए भी कोई दिन नहीं था। औरतों और बच्चों को उतने ही घंटे काम करने होते थे जितने मर्द करते थे। मजदूरी बहुत ही कम होती थी। मजदूरी की दर 4 रु० से 20 रु० प्रति माह तक होती थी। कारख़ानों में बड़ी भीड़ होती थी, रोशनी की व्यवस्था बहुत ख़राब थी तथा बाहर से हवा आने का इन्तजाम अच्छा नहीं था। कारख़ाने बिल्कुल अस्वास्थ्यकर थे। मशीनों से काम करना बिल्कुल ख़तरनाक था, और आए दिन दुर्घटनाएँ होती रहती थीं।

भारत सरकार ने जो आमतौर से पूँजीपतियों की हामी थी, आधुनिक कारख़ानों की दयनीय हालत को सुधारने के लिए बेमन से बिल्कुल अपर्याप्त क़दम उठाए। आधुनिक कारख़ानों में से अधिकांश भारतीयों के हाथों में थे। इन क़दमों को आंशिक तौर पर ही मानवतावादी आधारों पर उठाया गया। कारख़ाना संबंधी क़ानून बनाने के लिए ब्रिटेन के विनिर्माताओं ने लगातार जोर दिया। उन्हें डर था कि सस्ते श्रम की सहायता से भारतीय बाजार में भारतीय निर्माता उनके मालों की तुलना में अपने मालों को अधिक मात्रा में बेच सकेंगे। पहला भारतीय फ़ैक्टरी एक्ट 1881 में पास किया गया। ऐक्ट मुख्य रूप से बाल श्रम की समस्या से संबंधित था। उसने व्यवस्था की कि 7 वर्ष के बच्चे कारख़ानों में काम नहीं कर सकते जब कि 7 से 12 वर्ष तक के बच्चे दिन में 9 घंटे से अधिक काम नहीं करेंगे। बच्चों को महीने में चार दिन की छुट्टी भी मिलेगी। ऐक्ट में खतरनाक मशीनों को उचित रूप से चारों ओर से घेर देने की भी व्यवस्था की। दूसरा भारतीय फ़ैक्टरी एक्ट 1891 में बना। उसने सभी मजदूरों के लिए एक दिन की साप्ताहिक छुट्टी की व्यवस्था की। औरतों के लिए काम के घंटे प्रति दिन 11 कर दिए गए, बच्चों के दैनिक काम के घंटे घटा कर 7 कर दिए गए। पुरुषों के लिए काम के घंटे अनिर्धारित रहे।

इन दोनों में से कोई भी ऐक्ट अंग्रेजों के चाय और कॉफी के बाग़ानों पर नहीं लागू हुए। इतना ही नहीं, सरकार ने विदेशी बाग़ान मालिकों को अपने मजदूरों का निर्ममतापूर्वक शोषण करने के लिए हर प्रकार की सहायता दी। अधिकतर चाय बाग़ान असम में थे। यहाँ जनसंख्या बहुत ही कम थी तथा वहाँ की जलवायु अस्वास्थ्यकर थी। इसलिए बाग़ानों में काम करने के लिए बाहर से श्रमिकों को लाना पड़ा। बाग़ान मालिक ऊँची मज़दूरी देकर बाहर से मज़दूर लाने को तैयार नहीं थे। उन्होंने मज़दूरों को भर्ती करने के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती तथा धोखाधड़ी का रास्ता अपनाया और उन्हें बाग़ानों में वस्तुतः गुलाम बना कर रखा। भारत सरकार ने बाग़ान मालिकों को पूरा समर्थन दिया और 1863, 1865, 1870, 1873 और 1882 में दण्डात्मक क़ानून पास किए जिनका उद्देश्य बाग़ान मालिकों को बाहर से मजदूर लाने का तथा बाग़ानों में रखने में सहायता देना था। बाग़ान में जाने तथा वहाँ काम करने के लिए क़रार पर एक बार दस्तख़त करने के बाद कोई भी मज़दूर मुकर नहीं सकता था। क़रार का मज़दूर द्वारा हर उल्लंघन एक दण्डनीय अपराध होता था। बाग़ान मालिक ऐसे मजदूर को गिरफ्तार कर सकता था।

मगर बीसवीं सदी में बेहतर श्रम क़ानून पास किए गए। ऐसा उदीयमान श्रमिक संघ आंदोलन के कारण हुआ। फिर भी भारतीय मज़दूर वर्ग की दशा अत्यन्त गिरी हुई और दयनीय रही।

प्रेस पर पाबंदियाँ : अंग्रेज़ों ने भारत में मुद्रणालय स्थापित किए और इस प्रकार उन्होंने आधुनिक प्रेस का विकास शुरू किया। शिक्षित भारतीयों ने तुरन्त ही यह स्वीकार किया कि जनमत को शिक्षित करने तथा आलोचना और निंदा के ज़रिए सरकारी नीतियों को प्रभावित करने में प्रेस एक महान् भूमिका अदा कर सकता है। राममोहन राय, विद्यासागर, दादा भाई नौरोजी, जस्टिस रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, लोकमान्य तिलक, सी० सुब्रमन्य अय्यर, सी० कार्हनाकरा मेनन, मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, विपिन चन्द्र पाल, तथा अन्य भारतीय नेताओं ने समाचारपत्रों का प्रकाशन आरम्भ करने और उन्हें एक शक्तिशाली राजनीतिक ताक़त बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। धीरे-धीरे राष्ट्रीय आंदोलन के हाथों में प्रेस एक बड़ा हथियार बन गया।

चार्ल्स मेटकॉफ़ ने 1835 में भारतीय प्रेस को पाबंदियों से छुटकारा दिलाया। इस क़दम का शिक्षित भारतीयों ने उत्साह से स्वागत किया। यह भी एक कारण था जिससे उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन का कुछ दिनों तक स्वागत् किया। मगर राष्ट्रवादियों ने धीरे-धीरे प्रेस का इस्तेमाल जनता में राष्ट्रीय चेतना जगाने तथा सरकार की प्रतिक्रियावादी नीतियों की तीखी आलोचना करने के लिए शुरु कर दिया। इससे अधिकारी भारतीय प्रेस के ख़िलाफ़ हो गए और उन्होंने उसकी आज़ादी पर प्रतिबंध लगाने का निर्णय किया। ऐसा करने के लिए 1878 में वर्नेक्युलर प्रेस ऐक्ट पास किया गया। इस ऐक्ट ने भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर सख्त प्रतिबंध लगाए। अब तक भारतीय जनमत पूरी तरह जागृत हो चुका था। उसने इस ऐक्ट के पास किए जाने के ख़िलाफ़ ज़ोरदार आवाज़ उठायी। इस विरोध का तुरन्त प्रभाव हुआ और ऐक्ट को 1882 में रद्द कर दिया गया। उसके बाद क़रीब 25 वर्षों तक भारतीय प्रेस को काफ़ी आज़ादी रही। मगर 1905 के बाद लड़ाकू स्वदेशी और बहिष्कार (बायकॉट) आंदोलन के कारण एक बार फिर 1908 और 1910 में दमनकारी प्रेस क़ानून बनाए गए।

जातीय विरोध

भारत में अंग्रेज़ों ने अपने को भारतीयों से सदा अलग रखा और अपने को उनसे जातीय दृष्टि से ऊँचा माना। 1857 के विद्रोह तथा दोनों पक्षों द्वारा किए गए अत्याचारों ने भारतीयों और अंग्रेज़ों के बीच की खाई को बड़ा कर दिया। अंग्रेज़ों ने जातीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर ज़ोर देना आरम्भ किया और वे जातीय अहंकार प्रदर्शित करने लगे। रेलगाड़ी के डिब्बे, रेलवे स्टेशनों पर प्रतीक्षालय, पार्क, होटल, तैरने के तालाब, आदि "केवल योरपवासियों के लिए" आरक्षित होने लगे। ये जातीयता या नस्लवाद के स्पष्ट प्रदर्शन थे। भारतीयों ने अपने को अपमानित महसूस किया। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में :

> "...हम भारतवासियों ने जातीयता (नस्लवाद) को उसके सभी रूपों में ब्रिटिश शासन आरम्भ होने के समय से जाना है। इस शासन की संपूर्ण विचारधारा स्वामी जाति की थी, और सरकार का ढाँचा इसी पर आधारित था। सचमुच स्वामी जाति का विचार साम्राज्यवाद में निहित है। इसके संबंध में कोई गोल-मटोल बात नहीं कही जाती; इसका ऐलान साफ-साफ शब्दों में सत्तारूढ़ लोगों ने किया। शब्दों से भी अधिक शक्तिशाली उनका कार्यान्वयन था, पुश्त-दर-पुश्त और साल-दर-साल, एक राष्ट्र के रूप में भारत तथा व्यक्तियों के रूप में भारतीयों को अपमानित तथा तिरस्कृत किया गया और उन्हें घृणा की निगाह से देखा गया। हमें बतलाया गया कि अंग्रेज़ एक शाही नस्ल है, जिन्हें हम पर शासन करने तथा हमें गुलाम बनाए रखने का ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है; अगर हमने विरोध किया तो हमें "शाही नस्ल के शेर सदृश गुणों" की याद दिलायी गयी।"

अभ्यास

1. 1858 के बाद भारत के प्रशासन, खासकर संवैधानिक परिवर्तन, प्रांतीय प्रशासन, स्थानीय निकायों, सेना तथा लोक सेवाओं के क्षेत्रों में किये गये महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की चर्चा कीजिए ?
2. 1857 के विद्रोह के बाद भारतीय एकता, शिक्षित भारतीयों, ज़मींदारों और राजाओं, तथा समाज-सुधारों के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण में क्या परिवर्तन हुए ?
3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (क) 1861 के बाद इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल; (ख) सामाजिक सेवाओं का पिछड़ापन; (ग) 1881 और 1891 के फैक्टरी श्रम क़ानून; (घ) बाग़ान के श्रमिक; (च) प्रेस की आज़ादी।

अध्याय 10

भारत और उसके पड़ोसी

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत ने अपने पड़ोसियों से नए आधार पर संबंध विकसित किए। यह दो कारकों का परिणाम था। संचार के आधुनिक साधनों के विकास तथा देश के राजनीतिक और प्रशासनिक सुदृढ़ीकरण ने भारत सरकार को भारत की प्राकृतिक, भौगोलिक सीमाओं तक बढ़ने को प्रेरित किया। यह प्रतिरक्षा तथा आन्तरिक सम्बद्धता दोनों के लिए आवश्यक था। अवश्यम्भावी रूप से इसके कारण सीमा संबंधी कुछ टकराव हुए। दुर्भाग्य-वश, भारत सरकार यदा-कदा प्राकृतिक और परम्परागत सीमाओं के बाहर भी गयी। दूसरा नया कारक भारत सरकार का विदेशी चरित्र था। एक स्वतंत्र देश की विदेश नीति उस देश की विदेश नीति से मूलतः भिन्न होती है जिस पर किसी विदेशी शक्ति का शासन होता है। एक स्वतंत्र देश की विदेश नीति उस देश की जनता की आवश्यकताओं तथा हितों पर आधारित होती है मगर विदेशी शासन के अधीन देश की विदेश नीति का उद्देश्य मूलतः शासक देश के हितों को साधना होता है। जहाँ तक भारत का संबंध था, भारत सरकार की विदेश नीति लंदन स्थित ब्रिटिश सरकार के निर्देशों के अनुसार बनी थी। एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश सरकार के दो मुख्य लक्ष्य थे : उसके अमूल्य भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा तथा अफ्रीका और एशिया में ब्रिटिश व्यापारिक तथा अन्य आर्थिक हितों का विस्तार। इन दोनों लक्ष्यों ने भारत की प्राकृतिक सीमाओं के बाहर ब्रिटिश विस्तार तथा क्षेत्रीय जीतों के लिए सरकार को प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त, इन लक्ष्यों के कारण ब्रिटिश सरकार तथा यूरोप के उन अन्य साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच टकराव हुए, जो अफ्रीकी-एशियायी देशों में भी अपने क्षेत्रीय स्वामित्व तथा व्यापार का विस्तार चाहते थे।

वस्तुतः 1870 और 1914 के बीच के वर्षों के दौरान अफ्रीका और एशिया में उपनिवेशों तथा बाज़ारों को लेकर योरोपीय शक्तियों के बीच घोर संघर्ष हुआ यूरोप और उत्तरी अमरीका के देशों के पास बेचने को अधिशेष विनिर्मित वस्तुएँ तथा निवेश करने को अधिशेष पूंजी थी। उन्हें अपने उद्योगों को चलाने के लिए कृषि-जन्य तथा खनिज कच्चे मालों की ज़रूरत थी। इस कारण योरोपीय राज्यों के बीच घोर व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता हो गयी। यूरोप की सरकारें अपने व्यापारिक हितों को बढ़ावा देने के लिए अपने प्रतिद्वन्द्वियों तथा जिस देश में व्यापारिक घुसपैठ करना था उसके खिलाफ़ बल-प्रयोग के लिए भी तैयार थी। इसके अतिरिक्त, आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देशों पर राजनीतिक नियंत्रण से कोई भी साम्राज्यवादी देश अपनी वस्तुओं तथा पूंजी के लिए सुरक्षित बाजार तथा कच्चे मालों के स्रोत प्राप्त करने और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को अलग

रखने में समर्थ हो जाते थे। अतः संसार के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण क़ायम करने के लिए विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच संघर्ष हुए। इस काल के दौरान अफ्रीका महादेश का विभाजन योरोपीय शक्तियों के बीच हो गया। रूस ने अपना साम्राज्य मध्य एशिया और पूर्वी एशिया में फैलाया। तुर्की, पश्चिम एशिया, और ईरान में पतनोन्मुख आटोमन साम्राज्य के ऊपर नियंत्रण को लेकर जर्मनी, ब्रिटेन और रूस के बीच होड़ थी। उन्नीसवीं सदी के नौवें दशक में फ्रांस ने हिन्द-चीन पर क़ब्ज़ा कर लिया, तथा थाईलैंड और उत्तरी बर्मा को लेकर ब्रिटेन तथा फ्रांस के बीच प्रतिद्वन्द्विता हुई। संयुक्तराज्य अमरीका ने 1898 में हवाई तथा फिलिपींस को जीत लिया और 1905 में जापान ने कोरिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। चीनी साम्राज्य के विभिन्न भागों पर नियंत्रण के लिए 1895 से विभिन्न शक्तियों के बीच तीव्र प्रतिद्वन्द्विता रही। दुनिया के औपनिवेशिक विभाजन में सबसे अधिक हिस्सा ब्रिटेन को मिला। इससे उसे चारों तरफ प्रतिद्वन्द्वियों का सामना करना पड़ा। उदाहरण के लिए, विभिन्न कालों के दौरान ब्रिटेन के लक्ष्यों और महत्त्वाकांक्षाओं का टकराव फ्रांस, रूस और जर्मनी के लक्ष्यों और महत्त्वाकांक्षाओं से हुआ।

अपने भारतीय साम्राज्य की रक्षा करने, ब्रिटिश आर्थिक हितों को बढ़ावा देने, और अन्य योरोपीय शक्तियों को भारत से दूर रखने की इच्छा के कारण ब्रिटिश भारत की सरकार ने भारत के पड़ोसियों पर बहुधा आक्रमण किए। दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश प्रभुत्व के काल में अपने पड़ोसियों के साथ भारत के संबंधों का निर्धारण अन्ततः ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जरूरतों के द्वारा होता था।

मगर, यद्यपि भारतीय विदेश नीति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के स्वार्थों को साधती थी तथापि उसके कार्यान्वियन का खर्च भारत को उठाना पड़ता था। ब्रिटिश हितों के लिए भारत को अपने पड़ोसियों के खिलाफ़ कई लड़ाइयाँ छेड़नी पड़ीं। उनमें भारतीय सैनिकों को अपना खून बहाना पड़ा तथा भारतीय करदाताओं को उनका भारी खर्च उठाना पड़ा। इसके अलावा, बहुधा भारतीय फ़ौज का इस्तेमाल अफ्रीका और एशिया में ब्रिटेन की ओर से लड़ने के लिए किया गया। फलस्वरूप, भारत सरकार के खर्च में सैनिक खर्च का हिस्सा बहुत अधिक हो गया। उदाहरण के लिए, 1904 में भारत के राजस्व का आधा से अधिक—लगभग 52 प्रतिशत—फ़ौज पर खर्च हुआ।

नेपाल के साथ युद्ध, 1814

भारतीय साम्राज्य को भारत की प्राकृतिक, भौगोलिक सीमा तक बढ़ाने की इच्छा के कारण अंग्रेज सबसे पहले उत्तर में स्थित नेपाल राज्य से टकराए। नेपाल घाटी को 1768 में गोरखों (पश्चिमी हिमालय का एक कबीला) ने जीत लिया था। उन्होंने धीरे-धीरे एक शक्तिशाली सेना बनाली और अपना आधिपत्य पूर्व में भूटान से लेकर पश्चिम में सतुलज नदी तक बढ़ा लिया। उसके बाद उन्होंने नेपाल तराई होकर दक्षिण की ओर बढ़ना शुरू किया। इसी बीच 1801 में अंग्रेजों ने गोरखपुर को जीत लिया। इसके फलस्वरूप विस्तार करने वाली दो शक्तियाँ एक दूसरे के आमने-सामने आ गयीं। उस समय तक सीमा साफ़तौर पर निर्धारित नहीं थी।

अक्तूबर 1814 में दोनों देशों की सीमा पुलिस के बीज संघर्ष के फलस्वरूप उनके बीच खुलेआम लड़ाई हो गयी। ब्रिटिश अधिकारियों को उम्मीद थी कि उन्हें जल्द ही विजय मिल जाएगी क्योंकि उन्होने 600 मील लम्बी पूरी सीमा पर हमला किया था। मगर गोरखों ने साहस और बहादुरी से अपनी रक्षा की। ब्रिटिश सेनाओं की बार-बार हार हुई। भारत स्थित एक वरिष्ठ अंग्रेज अफ़सर चार्ल्स मेटकॉफ ने उस समय लिखा :

> "हमारा मुक़ाबला एक ऐसे शत्रु से हुआ हैं जिसने निश्चित रूप से हमारे सैनिकों की अपेक्षा अधिक वीरता तथा धैर्य का परिचय दिया है, और यह कहना असम्भव है कि इस व्युतक्रम का अन्त क्या होगा। कुछ स्थितियों में हमारे सैनिकों—योरोपीय और देशी—को उनके कम सैनिकों ने डंडों और पत्थरों से मार भगाया है। अन्य स्थितियों में शत्रु ने तलवार लेकर हमारे सैनिकों पर हमला किया है और उन्हें भेड़ों के झुंड की तरह मीलों भगा दिया है—संक्षेप में, मैं, जिसने सदा सोचा है कि भारत में हमारी सत्ता अस्थिर है, यह सोचे बिना नहीं रह सकता कि हमारा पतन शुरू हो गया है। हमारी सत्ता केवल हमारी सैनिक श्रेष्ठता पर आधारित थी—उस एक दुश्मन की तुलना में जो ख़त्म हो गया है।"

मगर आगे चलकर गोरखे मुक़ाबले में नहीं टिक पाए। आदमियों, पैसों, और सामग्रियों की दृष्टि से अंग्रेज

काफ़ी श्रेष्ठ थे। अप्रैल 1815 में अंग्रेज़ों ने कुमायूँ पर क़ब्ज़ा कर लिया, और 15 मई को उन्होंने तेजस्वी गोरखा सेनापति अमर सिंह थापा को आत्मसमर्पण करने पर मजबूर कर दिया। अब नेपाल सरकार को शांति-याचना के लिए मजबूर होना पड़ा। मगर शान्ति की बातचीत जल्द ही टूट गयी। नेपाल सरकार अंग्रेज़ों की यह माँग मानने के लिए तैयार नहीं थी कि नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में ब्रिटिश रेज़िडेंट रहे। उसे पूरी तरह यह अहसास था कि सहायक संधि स्वीकार करने का मतलब है नेपाल की स्वतंत्रता को त्याग देना। 1816 के आरम्भ में लड़ाई फिर शुरू हो गयी। ब्रिटिश सैनिकों ने महत्त्वपूर्ण जीतें हासिल कर लीं और वे काठमाण्डू से केवल 50 मील दूर ही रह गए। आखिरकार, नेपाल सरकार को ब्रिटिश शर्तों पर समझौता करना पड़ा। उसने ब्रिटिश रेज़िडेंट रखने की बात मान ली। उसने गढ़वाल और कुमायूँ ज़िले अंग्रेज़ों को दे दिए तथा तराई क्षेत्रों पर अपना दावा त्याग दिया। वह सिक्किम से भी हट गयी। समझौते से अंग्रेज़ों को कई फ़ायदे मिले। अब उनका भारतीय साम्राज्य हिमालय तक पहुँच गया। उन्हें मध्य एशिया के साथ व्यापार की अपेक्षाकृत अधिक सुविधाएँ मिलीं। उन्हें शिमला, मसूरी तथा नैनीताल जैसे महत्त्वपूर्ण पर्वतीय स्थानों के लिए स्थल मिल गए। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश भारत की फ़ौज में बड़ी संख्या में शामिल होकर गोरखों ने उसे मजबूत बनाया।

इसके बाद नेपाल के साथ अंग्रेज़ों के सम्बन्ध बिल्कुल मैत्रीपूर्ण रहे। 1814 के युद्ध में भाग लेने वाले दोनों पक्षों ने एक दूसरे की युद्ध क्षमता की इज़्ज़त करना सीख लिया था और उन्होंने परस्पर शांति से रहना बेहतर समझा।

बर्मा पर विजय

उन्नीसवीं सदी के दौरान लगातार तीन लड़ाइयों के बाद जाकर अंग्रेज़ों ने बर्मा के स्वतंत्र राज्य को जीत लिया। बर्मा और ब्रिटिश भारत के बीच झगड़ा सीमा-संघर्षों से शुरू हुआ। उसे विस्तारवादी आकांक्षाओं ने बढ़ावा दिया। अंग्रेज़ सौदागरों ने बर्मा की वन संपदा पर ललचाई निगाहें डालीं। वे वहाँ की जनता के बीच अपने तैयार माल का निर्यात बढ़ाने की उत्कट इच्छा रखते थे। ब्रिटिश अधिकारी यह भी चाहते थे कि बर्मा तथा शेष दक्षिण-पूर्व एशिया में फ्रांसीसी व्यापारिक तथा राजनीतिक प्रभाव को बढ़ने से रोका जाए।

बर्मा की पहली लड़ाई, 1824-26 : अठारहवीं सदी के अन्त में बर्मा और ब्रिटिश भारत की समान सीमा हो गयी। उस समय दोनों अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार कर रहे थे। सदियों के आन्तरिक कलह के बाद बर्मा को राजा अलौंगपाया ने 1752 और 1760 के बीच एकसूत्रबद्ध किया। उसके उत्तराधिकारी बोडावपाया जो इरावदी नदी के तट पर स्थित अवा से शासन करता था, सियाम पर बार-बार हमला किया, चीनी आक्रमणों का सफलतापूर्वक कड़ा मुक़ाबला किया, और सीमावर्ती राज्यों—आराकान तथा मणिपुर को क्रमशः 1785 और 1813 में जीत लिया। इस प्रकार बर्मा की सीमा ब्रिटिश भारत तक पहुँच गयी। अपने राज्य का पश्चिम की ओर विस्तार करते हुए उसने असम तथा ब्रह्मपुत्र घाटी के लिए खतरा पैदा कर दिया। अन्ततः 1822 में बर्मा वालों ने असम को जीत लिया। आराकान तथा असम पर बर्मा का क़ब्ज़ा हो जाने के कारण बंगाल और बर्मा के बीच की अस्पष्ट सीमा को लेकर झगड़े हुए।

इस झगड़े का एक अन्य कारण भी था। आराकान से भागे हुए लोगों ने चट्टगाँव ज़िले में आश्रय लिया था। वहाँ से वे बर्मा द्वारा क़ब्ज़ा किए गए आराकान पर नियमित रूप से छापे मारते थे। हरा दिए जाने के बाद वे ब्रिटिश क्षेत्र में भाग जाते थे। बर्मा की सरकार ने ब्रिटिश अधिकारियों पर दबाव डाला कि वे विद्रोहियों के खिलाफ़ कार्रवाई करें तथा उन्हें पकड़ कर बर्मा के अधिकारियों को सौंप दें। इसके अलावा, विद्रोहियों का पीछा करते हुए बर्मा के सैनिक बहुधा भारतीय क्षेत्र में घुस जाते थे। चट्टगाँव—आराकान सीमा पर होने वाले झगड़ों ने शाहपुरी द्वीप को लेकर 1823 में विकट रूप धारण कर लिया। इस द्वीप पर पहले बर्मा वालों ने और फिर अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया था। बर्मा वालों ने प्रस्ताव रखा कि द्वीप पर उनमें से किसी का भी अधिकार न रहे। इस प्रस्ताव को अंग्रेज़ों ने ठुकरा दिया और दोनों के बीच तनाव बढ़ने लगा।

मणिपुर और असम पर बर्मा वालों का क़ब्ज़ा झगड़े का एक अन्य स्रोत बन गया। ब्रिटिश अधिकारी इसे अपने भारतीय साम्राज्य के लिए खतरा समझते थे। इस खतरे

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

का मुक़ाबला करने के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण सीमावर्ती राज्यों कछार और जैन्तिया पर अपना प्रभाव जमाया। इस कार्रवाई से बर्मावाले क्रोधित हो गए और सैनिक लेकर कछार में पहुँच गए। बर्मी और ब्रिटिश सैनिकों के बीच टक्कर हुई और बर्मी सैनिकों को लौटकर मणिपुर चले जाने को विवश होना पड़ा।

इस अवसर का लाभ उठाकर ब्रिटिश भारत के अधिकारियों ने बर्मा के ख़िलाफ़ लड़ाई का ऐलान कर दिया। कई दशकों से वे बर्मा की सरकार को अपने साथ एक व्यापारिक संधि पर दस्तखत करने के लिए तथा बर्मा से फ्रांसीसी व्यापारियों को अलग रखने के लिए तैयार करने की कोशिश कर रहे थे। उन्हें ऐसे शक्तिशाली पड़ोसी को पाकर भी खुशी नहीं थी जो हमेशा अपनी ताक़त की डींग हांके। उनका ख्याल था कि जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी बर्मी सत्ता को तोड़ दिया जाए। उन्होंने ऐसा खासकर इसलिए सोचा कि उस समय ब्रिटिश शक्ति बर्मी शक्ति की तुलना में कहीं ज्यादा मज़बूत थी। जहाँ तक बर्मी लोगों का सम्बन्ध था, उन्होंने लड़ाई को टालने के लिए कुछ भी नहीं किया। बर्मी शासक एक ज़माने से दुनिया से अलग-थलग थे। वे शत्रु की शक्ति का सही मूल्यांकन नहीं कर सके। उन्हें यह भी विश्वास हो गया था कि आंग्ल-बर्मी युद्ध के कारण अनेक भारतीय शक्तियाँ विद्रोह कर देंगी।

अधिकृत रूप से लड़ाई की घोषणा 24 फरवरी 1824 को हुई। आरम्भिक विफलता के बाद ब्रिटिश सैनिकों ने बर्मी सैनिकों को असम, कछार, मणिपुर और आराकान से भगा दिया। समुद्र के रास्ते पहुँच कर ब्रिटिश अभियानकारी सेनाओं ने मई 1824 में रंगून पर क़ब्जा कर लिया और वे राजधानी अवा से केवल 45 मीलों की दूरी पर रह गए। प्रसिद्ध बर्मी जनरल महा बांडुला अप्रैल 1825 में मार दिया गया। मगर बर्मी प्रतिरोध तगड़ा और कृतसंकल्प था। जंगलों में गुरिल्ला युद्ध विशेष प्रभावकारी रहा। बरसात के मौसम और सांघातिक रोगों ने लड़ाई की क्रूरता को बढ़ा दिया। बुखार और पेचिश ने लड़ाई की अपेक्षा अधिक लोगों की जानें लीं। रंगून में 3,160 व्यक्ति अस्पतालों तथा 166 लड़ाई के मैदान में मरे। कुल मिला कर, अंग्रेज़ों को बर्मा पहुँचने वाले अपने 40,000 सैनिकों में से 15,000 से हाथ धोना पड़ा। इसके अलावा, वित्तीय दृष्टि से युद्ध बड़ा महंगा पड़ा। इसलिए दोनों पक्ष यानी अंग्रेज़ जो लड़ाई जीत रहे थे तथा बर्मी जो हार रहे थे, सुलह के लिए राज़ी हो गए। फरवरी 1826 में याण्डाबो की संधि होने के साथ ही लड़ाई खत्म हो गयी।

बर्मा की सरकार : (1) लड़ाई के लिए मुआवज़े के रूप में एक करोड़ रुपए देने, (2) अपने तटीय प्रांतों—आराकान और टेनास्सेरिम को अंग्रेज़ों को सौंप देने, (3) असम, कछार और जैंतिया पर अपने सभी दावों को छोड़ देने, (4) मणिपुर को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में मान्यता देने, (5) ब्रिटेन के साथ एक व्यापारिक संधि के लिए बातचीत करने, और (6) अवा में एक ब्रिटिश रेज़िडेंट को स्वीकार करने तथा कलकत्ता में एक बर्मी राजदूत नियुक्त करने के लिए सहमत हो गयी। इस संधि के तहत अंग्रेज़ों ने बर्मा को उसके अधिकांश तटीय क्षेत्र से वंचित कर दिया, और भावी विस्तार के लिए बर्मा में एक सुदृढ़ आधार प्राप्त कर लिया।

बर्मा की दूसरी लड़ाई, 1852 : अगर बर्मा की पहली लड़ाई अंशतः सीमा संबंधी झड़पों का परिणाम थी तो बर्मा की दूसरी लड़ाई जो 1852 में शुरू हुई बिल्कुल पूरी तरह ब्रिटिश व्यापारिक लोभ का फल थी। इमारती लकड़ी की अंग्रेज़ कम्पनियों ने अपर बर्मा के इमारती लकड़ी संबंधी संसाधनों में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी। इसके अलावा, बर्मा की बड़ी जनसंख्या अंग्रेज़ों के लिए एक विशाल बाजार के समान थी जहाँ ब्रिटिश सूती वस्त्रों तथा अन्य तैयार मालों को बेचा जा सकता था। अंग्रेज़ों का बर्मा के दो तटीय प्रांतों पर पहले से ही क़ब्ज़ा था। अब उन्होंने चाहा कि शेष बर्मा के साथ व्यापारिक संबंध क़ायम किए जाएँ। मगर बर्मा की सरकार अब अधिक विदेशी व्यापारिक घुसपैठ की अनुमति देने के लिए तैयार नहीं थी। ब्रिटिश सौदागरों ने "व्यापार के लिए सुविधाओं के अभाव" और रंगून स्थित बर्मी अधिकारियों द्वारा "उत्पीड़क व्यवहार" के बारे में शिकायत करनी शुरू कर दी। असलियत यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य अपनी पराकाष्ठा पर था और अंग्रेज अपने को एक श्रेष्ठतर जनगण समझते थे। ब्रिटिश सौदागरों ने यह सोचना शुरू कर दिया था कि दूसरों को अपने साथ व्यापार करने के लिए बाध्य करना उनका दैवी अधिकार था। तभी आक्रामक लार्ड डलहौज़ी भारत का गवर्नर-जनरल बन गया। वह ब्रिटिश साम्राजी प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने तथा बर्मा

में ब्रिटिश हितों को बढ़ावा देने के लिए कृतसंकल्प था। उसने एक आलोक-पत्र में लिखा : "अपनी सुरक्षा का ख्याल रखते हुए भारत सरकार एक देशी शक्ति और सब से कम, अथवा राजदरबार के प्रति एक दिन भी हीनता का दृष्टिकोण अपना कर ज़िन्दा नहीं रह सकती।" डलहौज़ी ने दो ब्रिटिश समुद्री कप्तानों की इस तुच्छ शिकायत को बर्मा में हथियारबन्द हस्तक्षेप करने का बहाना बनाया कि रंगून के गवर्नर ने उनसे लगभग 1000 रु० जबर्दस्ती वसूल किए हैं। नवम्बर 1851 में उसने अनेक युद्धपोतों के साथ एक राजदूत रंगून दोनों ब्रिटिश सौदागरों के लिए मुआवज़े की माँग करने के वास्ते भेजा। ब्रिटिश राजदूत कमाडोर लैमबर्ट ने आक्रामक और अनुचित आचरण किया। रंगून पहुँचने पर उसने माँग की कि रंगून के गवर्नर को बरख़ास्त किए जाने पर ही वह बातचीत करने को राज़ी होगा। अवा का राजदरबार ब्रिटिश शक्ति के प्रदर्शन से भयभीत हो गया और रंगून के गवर्नर को वापस बुलाने तथा ब्रिटिश शिकायतों की जांच करने के लिए तैयार हो गया। मगर अहंकारी ब्रिटिश राजदूत कृतसंकल्प था कि झगड़ा शुरू किया जाए। उसने रंगून की नाकेबंदी शुरू कर दी और उसने हमला करके बंदरगाह में 150 से अधिक छोटे जहाज़ों को नष्ट कर दिया। बर्मा की सरकार रंगून में ब्रिटिश रेज़िडेंट रखने तथा अंग्रेज़ों द्वारा माँगा गया पूरा मुआवज़ा देने को तैयार हो गयी। तब भारत सरकार ने अपनी माँगों को और बढ़ा दिया। उन्होंने रंगून के नए गवर्नर को वापस बुला लेने की माँग की। उन्होंने अपने राजदूत के कथित अपमानों के लिए पूर्ण रूप से माफ़ी माँगने के लिए बर्मा की सरकार से कहा। ऐसी माँगें शायद ही कोई स्वतन्त्र सरकार मान सकती थी। प्रत्यक्षतः अंग्रेज़ चाहते थे कि अपने व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वियों—फ्रांसीसियों या अमरीकियों के वहाँ जमने के पहले बर्मा पर वे अपना प्रभाव शान्ति या लड़ाई जैसे भी हो वैसे मज़बूत कर लें।

अप्रैल 1852 में एक पूरा ब्रिटिश अभियान दल बर्मा के लिए रवाना किया गया। इस बार लड़ाई 1825-26 की लड़ाई की तुलना में कम समय तक चली तथा ब्रिटिश जीत अधिक निर्णायक रही। रंगून पर तुरन्त क़ब्ज़ा कर लिया गया और उसके बाद अन्य महत्त्वपूर्ण शहर—बासीन पेगू, प्रोम—अंग्रेज़ों के हाथ लग गए। इस समय बर्मा में सत्ता के लिए संघर्ष चल रहा था। बर्मी राजा मिंडान जिसने सत्ता-संघर्ष में फरवरी 1853 में अपने कठभाई (विपितृज भ्राता) राजा पागन मिन को अपदस्थ किया था, अंग्रेज़ों से लड़ने की स्थिति में नहीं था। साथ ही वह खुलेआम बर्मी क्षेत्र का समर्पण करने को तैयार नहीं हो सका। फलस्वरूप, शान्ति के लिए कोई अधिकृत बातचीत नहीं हो सकी तथा लड़ाई बिना किसी संधि के ख़त्म हो गयी। अंग्रेज़ों ने बर्मा के एकमात्र बचे हुए तटीय प्रान्त पेगू को अपने राज्य में मिला लिया। मगर लोअर बर्मा को प्रभावकारी नियंत्रण में लाने के पहले तीन सालों तक काफी जन-गुरिल्ला प्रतिरोध होता रहा। अब अंग्रेज़ों का बर्मा के सारे तटीय इलाक़ों तथा उसके समूचे समुद्री व्यापार पर नियंत्रण हो गया।

युद्ध का सारा कष्ट भारतीय सैनिकों को उठाना पड़ा तथा उसका ख़र्च पूर्णरूपेण भारतीय राजस्व से पूरा किया गया।

बर्मा की तीसरी लड़ाई, 1835 : पेगू को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिए जाने के बाद अनेक वर्षों तक बर्मा और ब्रिटेन के संबंध शान्तिपूर्ण रहे। बेशक, अंग्रेज़ों ने अपर बर्मा में घुसने के प्रयास जारी रखे। ख़ासकर ब्रिटिश सौदागर और उद्योगपति बर्मा के ज़रिए होकर चीन से व्यापार करने की संभावना के प्रति आकर्षित थे। पश्चिम चीन तक ज़मीन का रास्ता खोलने के लिए ब्रिटेन और रंगून में ज़ोरदार आंदोलन चला। आख़िरकार 1862 में बर्मा को एक व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार कर लिया गया जिसके तहत ब्रिटिश सौदागरों के बर्मा के किसी भी हिस्से में बसने तथा अपने जहाज़ इरावदी नदी होकर चीन ले जाने की इजाजत दे दी गयी। मगर इससे ब्रिटिश सौदागरों को संतोष नहीं हुआ। क्योंकि कपास, गेहूँ और हाथी दाँत जैसी अनेक वस्तुओं पर बर्मा के राजा का व्यापारिक एकाधिकार बना रहा। ये सौदागर अपने व्यापार और मुनाफ़े के ऊपर प्रतिबंध को सहन करने के लिए तैयार नहीं थे और उन्होंने बर्मी सरकार के ख़िलाफ कड़ी कार्रवाई करने के लिए ज़ोर देना शुरू किया। उनमें से अनेक ने अपर बर्मा को अंग्रेज़ों द्वारा जीतने के लिए ज़ोर दिया। अन्ततः फरवरी 1882 में राजा को सभी प्रकार के एकाधिकार को ख़त्म करने के लिए तैयार कर लिया गया।

अनेक राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्नों पर बर्मा के राजा तथा ब्रिटिश सरकार के बीच टकराव हुए। ब्रिटिश सरकार ने 1871 में इस घोषणा द्वारा राजा को अपमानित किया कि उसके साथ भारत का वायसराय संबंध रखेगा। ऐसा प्रतीत हुआ कि उसे अंग्रेज किसी भारतीय राज्य के शासक के बराबर समझ रहे हैं। राजा द्वारा अन्य योरोपीय शक्तियों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने का प्रयास झगड़े का एक अन्य कारण बना। बर्मा का एक मिशन 1873 में फ्रांस गया और उसने फ्रांस के साथ एक व्यापारिक संधि के लिए बातचीत करने की कोशिश की जिससे बर्मा को आधुनिक हथियारों के आयात में सहायता मिलती। मगर बाद में ब्रिटिश दबाव के कारण फ्रांसीसी सरकार ने संधि की पुष्टि करने से इन्कार कर दिया।

राजा मिडॉन 1878 में मर गया और उसकी जगह राजा थिबाव आया। अंग्रेजों ने प्रतिद्वंद्वी राजकुमारों को आश्रय दिया और राजा थिबाव की कथित क्रूरताओं को रोकने के बहाने उन्होंने बर्मा के अन्दरूनी मामलों में खुले आम हस्तक्षेप किया। इस प्रकार अंग्रेज़ों ने दावा किया कि उन्हें अपर बर्मा के नागरिकों की उनके ही राजा से रक्षा करने का अधिकार है।

असल में जिस बात से अंग्रेज चिढ़ गए वह थी: थिबाव द्वारा फ्रांस से व्यापारिक और राजनीतिक संबंध विकसित करने की अपने बाप की नीति का अनुसरण करने की इच्छा। उसने 1885 में फ्रांस के साथ एक विशुद्ध व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर किया। अंग्रेज बर्मा में फ्रांस के बढ़ते हुए असर के प्रति ईर्ष्यालु थे। अंग्रेज सौदागरों को भय था कि बर्मा के समृद्ध बाज़ार को उनके फ़्रांसीसी और अमरीकी प्रतिद्वन्द्वी हथिया लेंगे। अंग्रेज अधिकारियों ने महसूस किया कि फ्रांस के साथ गठजोड़ होने से अपर बर्मा के राजा को ब्रिटिश अधीनता से निकलने में सहायता मिल सकती है अथवा उसके परिणामस्वरूप बर्मा में फ्रांस का उपनिवेश क़ायम हो सकता है जिससे उनके भारतीय साम्राज्य को ख़तरा पैदा हो जाएगा। इसके अलावा, दक्षिण-पूर्व एशिया में फ्रांसीसी तब तक अंग्रेज़ों के प्रमुख प्रतिद्वंद्वी बन चुके थे। उन्होंने 1883 में अन्नाम (Annam) (मध्य वियतनाम) पर क़ब्ज़ा कर अपने हिन्द चीन उपनिवेश की नींव रख दी थी। वे सक्रिय रूप से उत्तर वियतनाम जिसे उन्होंने 1885 और 1889 के बीच जीत लिया, तथा पश्चिम में थाईलैंड और बर्मा की ओर बढ़ रहे थे।

ब्रिटेन स्थित व्यापार संगठनों तथा रंगून के ब्रिटिश सौदागरों ने रज़ामंद ब्रिटिश सरकार पर अपर बर्मा को तुरन्त अंग्रेज़ी राज्य में मिला लेने के लिए जोर डाला। लड़ाई के लिए सिर्फ़ किसी बहाने की ज़रूरत थी। बहाना बम्बई-बर्मा ट्रेडिंग कारपोरेशन ने प्रदान कर दिया। यह एक ब्रिटिश कम्पनी थी जिसने बर्मा में सागौन के जंगलों को पट्टे पर लिया था। बर्मा की सरकार ने कम्पनी पर दोष लगाया कि वह स्थानीय अफ़सरों को घूस देकर सागौन की जितनी लकड़ी का ठेका था उससे अधिक निकाल रही है। बर्मा की सरकार ने कम्पनी से मुआवज़े की माँग की। ब्रिटिश सरकार ने, जिसने अपर बर्मा पर हमला करने की सैनिक योजना बना ली थी, इस अवसर का उपयोग करने का निर्णय किया तथा बर्मा की सरकार पर कई दावे किए। ब्रिटिश सरकार ने माँग की कि बर्मा के विदेश संबंधों को भारत के वायसराय के नियंत्रण में रखा जाए। बर्मा की सरकार बिना अपनी स्वतन्त्रता को खोए ऐसी माँगें नहीं मान सकती थी। बर्मा की सरकार द्वारा माँगों को ठुकराते ही अंग्रेज़ों ने 13 नवम्बर 1885 को हमला कर दिया। स्पष्ट रूप से यह अतिक्रमण था। एक स्वतन्त्र देश होने के कारण विदेशियों पर व्यापार संबंधी प्रतिबंध लगाने का उसे हर अधिकार था। यूरोप में इस प्रकार के प्रतिबंध रोजाना लगाए जा रहे थे। इसी प्रकार बर्मा की सरकार को फ्रांस के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध क़ायम करने तथा कहीं से भी हथियार मंगाने का पूरा अधिकार था।

बर्मा की सरकार ब्रिटिश सैनिकों का प्रभावकारी प्रतिरोध करने में असमर्थ थी। राजा अयोग्य तथा अलोकप्रिय था। वह लड़ाई के लिए तैयार नहीं था। राजदरबार की साज़िशों के कारण देश विभाजित था। देश में गृह-युद्ध जैसी स्थिति थी। राजा थिबाव ने 28 नवम्बर 1885 को आत्मसमर्पण कर दिया और उसके तुरन्त बाद उसके राज्य को भारत साम्राज्य में मिला लिया गया।

जिस आसानी के साथ बर्मा को जीत लिया गया था वह भ्रामक सिद्ध हुई। फ़ौज के देशभक्त सैनिकों तथा

अफ़सरों ने आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया और वे घने जंगलों में गायब हो गए। वहाँ से उन्होंने व्यापक पैमाने पर गुरिल्ला युद्ध किया। लोअर बर्मा के लोगों ने भी विद्रोह कर दिया। जनविद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेज़ों को 40,000 सैनिकों की एक मज़बूत फ़ौज लगभग पाँच सालों तक रखनी पड़ी। लड़ाई और विद्रोह के दमन के ख़र्च का बोझ फिर भारतीय खजाने पर पड़ा।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद बर्मा में एक शक्तिशाली आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हुआ। ब्रिटिश माल तथा प्रशासन के बहिष्कार के लिए एक व्यापक अभियान चलाया गया तथा 'होम रूल' (Home Rule) की माँग रखी गयी। बर्मा के राष्ट्रवादियों ने जल्द ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मिलकर संघर्ष शुरू किया। अंग्रेज़ों ने 1935 में बर्मा को भारत से इस आशा से अलग कर दिया कि बर्मा का स्वतंन्त्रता संघर्ष कमज़ोर हो जाएगा। बर्मा के राष्ट्रवादियों ने इस कार्रवाई का विरोध किया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान ऊ आंग सान के नेतृत्व में बर्मा का राष्ट्रवादी आंदोलन पहले से काफ़ी मज़बूत हो गया और अन्ततोगत्वा, 4 जनवरी 1948 को बर्मा को आज़ादी मिल गयी।

अफ़ग़ानिस्तान के साथ संबंध

ब्रिटिश भारत की सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान से दो लड़ाईयाँ लड़ीं तब कहीं जाकर अफ़ग़ानिस्तान के साथ उसके संबंधों में स्थिरता आयी। उन्नीसवीं सदी के दौरान भारत-अफ़ग़ानिस्तान संबंध, आंग्ल-रूसी प्रतिद्वंन्द्विता के साथ विकट रूप से जुड़ गए थे। जिस प्रकार पश्चिम, दक्षिण और पूर्व एशिया में ब्रिटेन एक विस्तारवादी शक्ति था उसी प्रकार मध्य एशिया में रूस विस्तारवादी ताक़त था। रूस अपने क्षेत्रीय नियंत्रण को पश्चिम और पूर्व एशिया में बढ़ाना चाहता था फलतः दोनों साम्राज्यवादों के बीच पूरे एशिया में खुलेआम टकराव हुए। वस्तुतः 1855 में ब्रिटेन ने फ्रांस और तुर्की के साथ मिलकर रूस से लड़ाई लड़ी जिसे क्रीमिया युद्ध के नाम से जाना जाता है। अंग्रेज़ों को विशेषकर भारत स्थित अपने अधिकार क्षेत्र की सुरक्षा की चिंता थी। पूरी उन्नीसवीं सदी के दौरान भारत के ब्रिटिश शासकों को भय था कि रूस अफ़ग़ानिस्तान और भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा होकर हिन्दुस्तान पर हमला करेगा। इसलिए वे रूस को भारतीय सीमा से काफ़ी दूर रखना चाहते थे। मध्य एशिया के व्यापार के संबंध में आंग्ल-रूसी प्रतिद्वंन्द्विता स्थिति का एक अन्य पहलू थी। अगर रूस सारे मध्य एशिया को उपनिवेश बनाने में सफल हो जाता तो भविष्य में मध्य एशिया व्यापार में ब्रिटेन के हिस्सा लेने की सम्भावनाएँ ख़त्म हो जातीं।

अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण से भौगोलिक तौर पर अफ़ग़ानिस्तान निर्णायक स्थिति में था। रूस के सम्भावित ख़तरे को रोकने और मध्य एशिया में ब्रिटिश व्यापारिक हितों को बढ़ावा देने के लिए भारत की सीमाओं के बाहर अफ़ग़ानिस्तान एक अग्रिम चौकी का काम कर सकता था। अगर और कुछ नहीं तो वह दो विरोधी शक्तियों के बीच प्रतिरोधक का काम करता।

अफ़ग़ानिस्तान के प्रति ब्रिटिश नीति 1835 में जब इंग्लैंड में व्हिग लोग सत्तारूढ़ हुए तथा लार्ड पामर्स्टन विदेश मंत्री बना तब क्रियाशील हो गयी। उस समय अफ़ग़ानिस्तान का शासक दोस्त मुहम्मद था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों से ही अफ़ग़ान राजनीति अस्थिर थी। दोस्त मुहम्मद ने आंशिकतौर पर स्थिरता स्थापित कर दी थी मगर उसे अन्दरूनी और बाहरी शत्रुओं से सदा ख़तरा बना हुआ था। उत्तर में उसे अन्दरूनी विद्रोह तथा सम्भावित रूसी ख़तरे का सामना था; दक्षिण में उसके एक भाई ने कंधार में उसकी ताक़त को चुनौती दे दी थी; पूर्व में महाराजा रणजीत सिंह ने पेशावर पर कब्ज़ा कर लिया था और उसके आगे अंग्रेज़ थे; पश्चिम में हेरात में उसके दुश्मन थे तथा ईरान में ख़तरा था। इसलिए उसे शक्तिशाली मित्रों की सख्त ज़रूरत थी और चूँकि उसके मन में अंग्रेज़ों की ताकत के प्रति काफ़ी आदर था, इसलिए वह चाहता था कि भारत सरकार से किसी न किसी तरह का गठजोड़ हो जाए।

रूसियों ने उसे अपनी ओर मिलाने की कोशिश की मगर वह उनकी ओर नहीं गया। उसने रूसी राजदूत के प्रति रूखा व्यवहार किया मगर ब्रिटिश राजदूत बर्न्स के प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया। फिर भी वह अंग्रेज़ों से अच्छे सम्बन्धों का प्रस्ताव नहीं प्राप्त कर सका। अंग्रेज़ों ने उसे मौखिक सहानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं

दिया। अंग्रेज़ अफ़ग़ानिस्तान में रूसी प्रभाव को कमज़ोर बनाना तथा खत्म करना चाहते थे मगर ये यह भी नहीं चाहते थे कि अफ़ग़ानिस्तान शक्तिशाली हो। वे उसे एक कमज़ोर और विभाजित देश के रूप में रखना चाहते थे जिससे वे उसे आसानी से नियंत्रित कर सकें। जैसा कि भारत सरकार ने बर्न्स को लिखा :

> "हमारी सीमा पर एक सुदृढ़ और शक्तिशाली मुसलमान राज्य और कुछ भी हो सकता है मगर हमारे लिए निरापद और उपयोगी नहीं हो सकता। शक्ति का वर्तमान विभाजन (यानी काबुल, कंधार और हेरात के बीच) अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता हैं।"

ऐसा इसलिए था कि अंग्रेज़ों का लक्ष्य केवल भारत को रूस से बचना नहीं बल्कि अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया में घुसपैंठ करना था। भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड ऑकलैंड ने दोस्त मुहम्मद के सामने सहायक व्यवस्था पर आधारित गठजोड़ का प्रस्ताव रखा। दूसरी ओर, दोस्त मुहम्मद अंग्रेज़ों से सच्ची सहानुभूति तथा समर्थन चाहता था। वह अंग्रेज़ों का मित्र बनना चाहता था मगर उनकी कठपुतली या अधीनस्थ 'मित्र' के रूप में नहीं बल्कि पूर्ण समानता के आधार पर। ब्रिटिश मित्रता प्राप्त करने में सब कोशिशों के बाद भी विफल हो जाने पर उसने अनिच्छापूर्वक रूस की ओर रुख किया।

पहला अफ़ग़ान युद्ध : तब ऑकलैंड ने तय किया कि दोस्त मुपम्मद की जगह पर एक 'मित्र' यानी अधीनस्थ शासक को लाया जाए। उसकी निगाह शाह शुजा पर पड़ी जिसे अफ़ग़ानिस्तान की गद्दी से 1809 में हटा दिया गया था और जो तब से लुधियाना में अंग्रेज़ों का पेंशन-यापता था। आखिरकार, भारत सरकार, महाराजा रणजीत सिंह, और शाह शुजा ने 26 जून 1838 को लाहौर में एक संधि पर दस्तखत किए जिसके तहत पहले दोनों ने शाह शुजा को अफ़ग़ानिस्तान में सत्तारूढ़ कराने में मदद देने का वचन दिया और बदले में, शाह शुजा ने वादा किया कि वह ब्रिटिश तथा पंजाब सरकार की सहमति के बिना किसी विदेशी राज्य के साथ कोई बातचीत नहीं करेगा। इस प्रकार बिना किसी कारण या बहाने के ब्रिटिश सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने तथा इस छोटे पड़ोसी पर आक्रमण करने का निर्णय किया।

तीनों मित्रों ने फ़रवरी 1839 में अफ़ग़ानिस्तान पर हमला कर दिया। मगर रणजीत सिंह चालाकी से पीछे ही रह गया और पेशावर के आगे गया ही नहीं। ब्रिटिश फ़ौजों को न सिर्फ नेतृत्व करना पड़ा बल्कि सारी लड़ाई लड़नी पड़ी। इस अवस्था में कोई बड़ी लड़ाई नहीं हुई। अधिकांश अफ़ग़ान क़बीलों को घूस देकर अंग्रेज़ों ने अपनी ओर मिला लिया था। काबुल 7 आगस्त 1839 को अंग्रेज़ों के हाथों में आ गया। शाह शुजा को तुरन्त गद्दी पर बैठा दिया गया।

मगर अफ़ग़ानिस्तान के लोग शाह शुजा से घृणा करते थे खासकर इसलिए कि वह विदेशी संगीनों की साहयता से वापस आया था। ब्रिटिश इतिहासकार विलियम के० ने लिखा है कि काबुल में शाह शुजा का प्रवेश "किसी राजा ने अपने पुनर्प्राप्त अधिराज्य में प्रवेश की अपेक्षा बहुत कुछ एक शव-यात्रा की तरह था।" इसके अलावा, लोगों ने अपने प्रशासन में ब्रिटिश हस्तक्षेप को नापसंद किया। देशभक्त, स्वतंत्रता प्रेमी अफ़ग़ान क्रोध से विद्रोह करने लगा तथा दोस्त मुहम्मद और उसके समर्थकों ने क़ब्ज़ा करने वाली ब्रिटिश सेना को तंग करना शुरू कर दिया। नवम्बर 1840 में दोस्त मुहम्मद को पकड़ लिया गया और क़ैदी बनाकर भारत भेज दिया गया। मगर जनता का क्रोध बढ़ता ही गया और अधिकाधिक अफ़ग़ान क़बीले विद्रोह करने लगे। एकाएक 2 नवम्बर 1841 को क़ाबुल में विद्रोह हो गया और तगड़े अफ़ग़ान ब्रिटिश सैनिकों पर टूट पड़े।

अंग्रेज़ों को मजबूर होकर 11 दिसम्बर 1841 को अफ़ग़ान सरदारों के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर करना पड़ा जिसके अनुसार वे अफ़ग़ानिस्तान से चले जाने तथा दोस्त मुहम्मद को फिर से गद्दी पर बैठाने के लिए तैयार हो गए। मगर कहानी यहीं खत्म नहीं हुई। जब ब्रिटिश सेनाएँ पीछे हटने लगीं तब पूरे रास्ते उन पर हमले हुए। 16,000 आदमियों में से केवल एक ही जीवित सीमा तक पहुँचा। थोड़े से अन्य लोग कैंदी के रूप में ज़िन्दा रहे। इस प्रकार सम्पूर्ण अफ़ग़ान अभियान बिल्कुल विफल रहा। वह भारत में ब्रिटिश फ़ौज द्वारा झेली गई महाविपत्तियों में से एक सिद्ध हुआ।

ब्रिटिश भारत की सरकार ने तब एक नया अभियान आयोजित किया। काबुल पर 16 सितम्बर 1842 को फिर क़ब्ज़ा कर लिया गया। मगर अंग्रेज़ों को अच्छी सीख मिल गयी थी। अपनी ताज़ा हार तथा अपमान का बदला लेने के बाद, ब्रिटिश भारत की सरकार ने दोस्त मुहम्मद के साथ समझौता कर लिया जिसके तहत अंग्रेज़ों ने काबुल को खाली कर दिया तथा दोस्त मुहम्मद को अफ़ग़ानिस्तान का स्वतंत्र शासक मान लिया।

इतिहासकारों ने असाधारण सर्वसम्मति से प्रथम अफ़ग़ान युद्ध को साम्राज्यवादी, अनैतिक, मूर्खतापूर्ण तथा राजनीतिक दृष्टि से अनर्थकारी कहकर उसकी निंदा की है। उस लड़ाई में भारत को डेढ़ करोड़ रुपए से अधिक रक़म ख़र्च करनी पड़ी तथा उसकी फ़ौज को 20,000 लोगों से हाथ धोने पड़े। इसके अलावा अफ़ग़ानिस्तान भारत सरकार के प्रति न केवल शंकालु हो गया बल्कि उसने वैरभाव भी अपनाया। अफ़ग़ानिस्तान का संदेह कम होने में अनेक वर्ष लग गए।

अहस्तक्षेप की नीति : दोस्त मुहम्मद और भारत सरकार के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर होते ही 1855 में आंग्ल-अफ़ग़ान मैत्री का एक नया दौर शुरू हुआ। दोनों सरकारों ने मैत्रीपूर्ण और शान्तिमय सम्बन्ध बनाए रखने, एक दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता का आदर करने और एक दूसरे के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने की प्रतिज्ञा की। दोस्त मुहम्मद इस बात के लिए भी सहमत हो गया कि वह "ईस्ट इंडिया कम्पनी के दोस्तों का दोस्त तथा दुश्मनों का दुश्मन" रहेगा। वह इस संधि के प्रति 1857 के विद्रोह के दौरान निष्ठावान् बना रहा और उसने विद्रोहियों को सहायता देने से इन्कार कर दिया।

1864 के बाद अहस्तक्षेप की इस नीति को लार्ड लारेन्स और उसके दो उत्तराधिकारियों ने उत्साहपूर्वक अपनाया। जैसे ही रूस ने क्रीमिया युद्ध में हार के बाद अपना ध्यान मध्य एशिया की ओर दिया, अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान को एक शक्तिशाली प्रतिरोधक के रूप में मज़बूत बनाने की नीति अपनायी। उन्होंने काबुल के अमीर को सहायता दी जिससे वह अपने अन्दरूनी प्रतिद्वन्द्वियों को अनुशासित कर सके तथा विदेशी शत्रुओं से अपनी स्वतंत्रता को बनाए रख सके। इस प्रकार अहस्तक्षेप की नीति तथा यदाकदा मदद द्वारा अमीर को रूस के साथ मिल जाने से रोका गया।

दूसरा अफ़ग़ान युद्ध : मगर अहस्तक्षेप की नीति बहुत दिनों तक नहीं चल सकी। 1870 के बाद सारे संसार में साम्राज्यवाद का पुनरुत्थान हुआ। आंग्ल-रूसी प्रतिद्वन्द्विता भी तीव्र हो गयी। ब्रिटिश सरकार फिर मध्य एशिया में व्यापारिक तथा वित्तीय घुसपैठ के लिए तत्पर हो गयी थी। बलकान क्षेत्र तथा पश्चिम एशिया में आंग्ल-रूसी महत्त्वकांक्षाओं के बीच अधिक खुलेआम टक्कर भी होने लगी।

ब्रिटिश राजनेताओं ने एक बार फिर अफ़ग़ानिस्तान को प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण में लाने की बात सोची जिससे वह मध्य एशिया में ब्रिटिश विस्तार के लिए आधार का काम कर सके। इसके अलावा, ब्रिटिश अधिकारियों तथा जनमत पर ब्रिटिश साम्राज्य की "सबसे अधिक दीप्तिमय मणि" भारत के उपर रूसी हमले का भूत सवार था और इसलिए भारत सरकार को लंदन से निर्देश दिया गया कि वह अफ़ग़ानिस्तान को एक अधीनस्थ राज्य बनाए, जिसकी विदेशी तथा प्रतिरक्षा संबंधी नीतियाँ निश्चित रूप से ब्रिटिश नियंत्रण में हों।

अफ़ग़ान अमीर शेर अली अपनी स्वतंत्रता के प्रति रूसी खतरे से बिल्कुल आगाह था और इसलिए उत्तर से आनेवाले किसी भी खतरे के निराकरण के लिए वह अंग्रेज़ों के साथ सहयोग करने को बिल्कुल तैयार था। उसने रूस के खिलाफ़ एक रक्षात्मक एवं आक्रमणात्मक संधि का प्रस्ताव भारत सरकार के सामने रखा। साथ ही उसने भारत सरकार से आग्रह किया कि वह आवश्यकता पड़ने पर अन्दरूनी या विदेशी दुश्मनों के खिलाफ़ काफ़ी सैनिक सहायता देने का वचन दे। भारत सरकार ने इस प्रकार पारस्परिक और बिना शर्त वादा करने से इन्कार कर दिया। उसने यह माँग की कि उसे काबुल में ब्रिटिश मिशन रखने और अफ़ग़ानिस्तान के विदेश संबंधों पर नियंत्रण रखने का एकतरफा अधिकार दिया जाए। जब शेर अली ने इसे मानने से इन्कार कर दिया तब उसे ब्रिटिश विरोधी तथा रूसियों के प्रति हमदर्दी रखने वाला कहा गया। लॉर्ड लिटन ने, जो 1876 में गवर्नर-जनरल होकर भारत आया था, घोषणा की कि : "मैं उसे रूस के

हाथों का औज़ार कभी नहीं बनने दूंगा। मेरा यह कर्तव्य होगा कि ऐसे औज़ार को उसके इस्तेमाल से पहले ही तोड़ दूँ।" ऑकलैंड के क़दमों का अनुसरण करते हुए लिटन ने "अफ़ग़ान सत्ता को धीरे-धीरे विघटित और कमज़ोर करने" का प्रस्ताव रखा।

अमीर से ब्रिटिश शर्तों को मनवाने के लिए 1878 में अफ़ग़ानिस्तान पर एक नया हमला किया गया। मई 1879 में शान्ति स्थापित हुई जब शेर अली के बेटे याक़ूब ख़ाँ ने गण्डमाक की संधि पर दस्तख़त किया जिसके तहत अंग्रेज़ों को जो कुछ उन्होंने चाहा वह सब मिल गया। उन्हें कुछ सीमावर्ती ज़िले, काबुल में रेज़िडेंट रखने का अधिकार, और अफ़ग़ानिस्तान की विदेश नीति पर नियंत्रण प्राप्त हुए।

मगर ब्रिटिश सफलता अस्थायी साबित हुई। अफ़ग़ानों के राष्ट्रीय अभिमान को धक्का लगा और एक बार फिर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अफ़ग़ानों ने विद्रोह कर दिया। 3 सितम्बर 1879 को ब्रिटिश रेज़िडेंट मेजर कैवेनैरी तथा उसके सैनिक रक्षक पर विद्रोही अफ़ग़ान सैनिकों ने हमला किया तथा उन्हें मार डाला। अफ़ग़ानिस्तान पर फिर हमला हुआ तथा उस पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। मगर अफ़ग़ानों ने अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया था। 1880 में ब्रिटेन में सरकार बदली और लिटन की जगह पर एक नया वायसराय लॉर्ड रिपन आया। रिपन ने लिटन की आक्रामक नीति को तेज़ी के साथ बदल दिया और शक्तिशाली तथा मैत्रीपूर्ण अफ़ग़ानिस्तान के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति फिर से अपनायी। उसने दोस्त मुहम्मद के पोते अब्दुर रहमान को अफ़ग़ानिस्तान का नया शासक मान लिया। अफ़ग़ानिस्तान में ब्रिटिश रेज़िडेंट रखने की माँग को वापस ले लिया गया। बदले में अब्दुर रहमान इस बात के लिए तैयार हो गया कि वह अंग्रेज़ों को छोड़कर किसी अन्य शक्ति के साथ राजनीतिक संबंध नहीं रखेगा। भारत सरकार भी उसे वार्षिक सहायता देने तथा विदेशी आक्रमण की स्थिति में उसकी मदद करने के लिए तैयार हो गई। इस प्रकार अफ़ग़ानिस्तान के अमीर का अपनी विदेश नीति पर नियंत्रण नहीं रहा और इस सीमा तक वह एक आश्रित शासक बन गया। मगर साथ ही उसका अपने देश के अन्दरूनी मामलों में पूरा नियंत्रण बना रहा।

तीसरा आंग्ल-अफ़ग़ान युद्ध : प्रथम विश्व युद्ध तथा 1917 की रूसी क्रान्ति ने आंग्ल-अफ़ग़ान संबंधों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। युद्ध ने मुस्लिम देशों में शक्तिशाली ब्रिटिश विरोधी भावना पैदा कर दी और रूसी क्रान्ति ने अफ़ग़ानिस्तान में ही नहीं बल्कि सारे संसार में साम्राज्यवाद विरोधी नयी भावनाएँ पदा कर दीं। साम्राज्यवादी रूस के समाप्त हो जाने से उत्तरी पड़ोसी के हमले का शाश्वत भय भी खत्म हो गया। इसी भय ने एक के बाद दूसरे अफ़ग़ान शासक को अंग्रेज़ों की ओर समर्थन के लिए देखने को मजबूर किया था। अब अफ़ग़ान लोगों ने ब्रिटिश नियंत्रण से पूर्ण आज़ादी की माँग की। हबीबउल्ला जो 1901 में अब्दुर रहमान की जगह अमीर बना था 20 फरवरी 1919 को मार दिया गया और उसके बेटे अमानउल्ला ने, जो नया अमीर बना था, ब्रिटिश भारत के ख़िलाफ़ खुली लड़ाई की घोषणा कर दी। शांति तब स्थापित हुई जब 1921 में एक संधि के तहत अफ़ग़ानिस्तान को विदेशी मामलों में अपनी स्वतंत्रता फिर मिल गयी।

तिब्बत के साथ संबंध

तिब्बत भारत के उत्तर में उस जगह है जहाँ हिमालय की चोटियाँ उसे भारत से अलग करती हैं। उस पर बौद्ध धार्मिक अभिजाततंत्र (लामाओं) का शासन था जिसने स्थानीय जनसंख्या को कृषि दासता और यहाँ तक कि गुलामी के स्तर पर ला दिया था। मुख्य राजनीतिक सत्ता दलाई लामा के हाथों में थी, जिसका दावा था कि वह बुद्ध की शक्ति का जीवित अवतार है। लामा तिब्बत को शेष संसार से अलग-थलग कर देना चाहते थे, मगर सतरहवीं सदी के आरम्भ से ही तिब्बत ने चीनी साम्राज्य का नाममात्र अधिराज्य स्वीकार कर लिया था। चीनी सरकार ने भारत के साथ सम्पर्क को अनुत्साहित किया हालाँकि भारत और तिब्बत के बीच सीमित व्यापार तथा कुछ यात्रियों का आना-जाना बना हुआ था।

मांचू राजतंत्र के अधीन चीनी साम्राज्य ने उन्नीसवीं सदी के दौरान अवनति के काल में प्रवेश किया। धीरे-धीरे ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, जापान और संयुक्त राज्य अमरीका ने तिब्बत में व्यापारिक तथा राजनीतिक तौर पर घुसपैठ किया तथा मांचू लोगों के ऊपर अप्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण क़ायम किया। उन्नीसवीं सदी के अन्त में

चीनी जनता ने भी मांचू विरोधी और साम्राज्यवाद-विरोधी एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया। मांचू राजवंश को 1911 में सत्ता से अलग कर दिया गया। मगर डा० सनयात सेन के नेतृत्व में राष्ट्रवादी अपनी सत्ता को सुदृढ़ नहीं कर पाए और अगले कुछ सालों तक चीन में गृह-युद्ध चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि आन्तरिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण चीन तिब्बत पर अपने नाममात्र के नियंत्रण का भी दावा करने में असमर्थ रहा। तिब्बती अधिकारियों ने तब भी सिद्धान्त रूप में चीनी अधिराज्य को स्वीकार किया जिससे अन्य विदेशी शक्तियाँ तिब्बत में घुसपैठ करने के लिए न ललचाएँ। मगर तिब्बत बहुत दिनों तक अपने को पूरी तरह अलग-थलग नहीं रख सका।

ब्रिटेन और फ्रांस दोनों तिब्बत के साथ संबंध बढ़ाने के लिए तत्पर थे। तिब्बत के प्रति ब्रिटिश नीति आर्थिक और राजनीतिक आधारों पर बनी थी। आर्थिक दृष्टि से, अंग्रेज भारत तिब्बत व्यापार को विकसित करना तथा उसके समृद्ध खनिज संसाधनों का इस्तेमाल करना चाहते थे। राजनीतिक दृष्टि से, वे भारत की उत्तरी सीमा की रक्षा करना चाहते थे।। ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज़ इसलिए तिब्बत पर किसी-न-किसी प्रकार का राजनीतिक नियंत्रण रखना चाहते थे। मगर उन्नीसवीं सदी के अन्त तक तिब्बती अधिकारियों ने घुसपैठ के सभी ब्रिटिश प्रयासों को विफल कर दिया। उसी समय रूसियों ने तिब्बत की ओर महत्त्वाकांक्षापूर्ण दृष्टि से देखना शुरू किया। तिब्बत में रूसी प्रभाव ज़ोरों पर था; उसे ब्रिटिश सरकार नहीं सहन कर सकी। यह ख्याल भी कि भारत के उत्तरी सीमा से सटा हुआ क्षेत्र रूसी प्रभाव में आ जाए अंग्रेज़ असहनीय समझते थे। भारत सरकार ने लॉर्ड कर्ज़न के शासनकाल में, जो एक ज़ोरदार साम्राज्य निर्माता था, रूसी कार्रवाइयों का मुक़ाबला करने तथा तिब्बत को संरक्षित सीमावर्ती राज्यों में शामिल करने के लिए तुरन्त क़दम उठाने का निर्णय लिया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार रूसी ख़तरा वास्तविक नहीं था और कर्ज़न ने तिब्बत में हस्तक्षेप करने के लिए उसका बहाना बनाया था।

मार्च 1904 में कर्ज़न ने फ्रांसिस यंगहस्बैंड के नेतृत्व में एक सैनिक अभियान तिब्बत की राजधानी ल्हासा भेजा। निहत्थे तिब्बती लोगों ने, जिनके पास आधुनिक हथियारों की कमी थी, वीरतापूर्वक मगर बिना कोई सफलता प्राप्त किए सामना किया। गुरु नामक जगह पर हुई एक ही लड़ाई में 700 तिब्बती मारे गए। अगस्त 1904 में रास्ते में बिना किसी रूसी को पाए अभियान ल्हासा पहुँचा। लम्बी बातचीत के बाद एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। तय हुआ कि क्षतिपूर्ति के रूप में तिब्बत 25 लाख रुपए अंग्रेज़ों को दे; चुम्बी घाटी पर अंग्रेज़ों का तीन साल तक क़ब्ज़ा रहे, तथा ग्यांत्से में ब्रिटिश व्यापार मिशन की स्थापना हो। अंग्रेज़ सहमत हो गए कि वे तिब्बत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। दूसरी ओर, तिब्बती सहमत हो गए कि वे किसी भी विदेशी शक्ति के प्रतिनिधियों को तिब्बत में नहीं आने देंगे। तिब्बत अभियान से अंग्रेज़ों को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ। तिब्बत से रूसियों को वापस भिजवाने में अंग्रेज़ों को सफलता मिली मगर साथ ही चीनी आधिराज्य की पुष्टि भी करनी पड़ी। विश्व की घटनाओं ने जल्द ही ब्रिटेन और रूस को अपने समान दुश्मन—जर्मनी—के ख़िलाफ़ गंठजोड़ करने के लिए मजबूर कर दिया। 1907 के आंग्ल-रूसी समझौते ने यह परिवर्तन किया। इस समझौते के एक अनुच्छेद के अनुसार दोनों में से कोई भी देश तिब्बत में क्षेत्रीय रियायतें नहीं चाहेगा और न ही ल्हासा में राजनयिक प्रतिनिधि भेजेगा। दोनों देश तिब्बत के साथ सीधी बातचीत न करने के लिए सहमत हो गए। जब भी ज़रूरी होगा बातचीत चीन के ज़रिए होगी। ब्रिटेन और रूस ने तिब्बत पर चीन के आधिराज्य की पुनर्पुष्ठि आपसी झगड़े की संभावना को ख़त्म करने के लिए की। उन्हें यह भी आशा थी कि पतनोन्मुख मांचू साम्राज्य अपने आधिराज्य को व्यवहार में क़ायम नहीं कर पाएगा। मगर वे उस दिन की कल्पना नहीं कर पाए जब चीन में एक शक्तिशाली और स्वतंत्र सरकार का उदय होगा।

सिक्किम के साथ संबंध

सिक्किम राज्य बंगाल के उत्तर में नेपाल से सटा हुआ तिब्बत और भारत की सीमा पर है। अब वह भारत गणराज्य का एक राज्य है। 1835 में सिक्किम के राजा ने दार्जिलिंग के आसपास का इलाक़ा अंग्रेज़ों को एक निश्चित वार्षिक मौद्रिक अनुदान के बदले में दे दिया। दोनों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों में 1849 में तब खलल पड़ा

जब एक मामूली झगड़े के कारण डलहौज़ी ने सिक्किम में सैनिक भेज दिए। अन्ततः सिक्किम के राजा को अपने राज्य का लगभग 1700 वर्गमील इलाक़ा ब्रिटिश भारत को देने के लिए मजबूर किया गया।

एक अन्य झड़प 1860 में हुई जब अंग्रेज़ों का मुक़ाबला सिक्किम के दीवान के सैनिकों के साथ हुआ। 1861 में हुई शांति-संधि के अनुसार सिक्किम को वस्तुतः एक संरक्षित राज्य बना दिया गया। सिक्किम के राजा ने दीवान तथा उसके रिश्तेदारों को सिक्किम से निकाल बाहर किया। इसके अलावा राजा 7000 रु० जुर्माना तथा लड़ाई में अंग्रेज़ों की जो हानि हुई थी उसके लिए पूरा मुआवज़ा देने, अपने देश के दरवाज़े ब्रिटिश व्यापार के लिए पूरी तरह खोल देने और सिक्किम होकर होने वाले भारत-तिब्बत व्यापार पर पारगमन कर (Transit Duty) सीमित करने के लिए सहमत हो गया।

1886 में फिर नया झगड़ा तब खड़ा हो गया जब तिब्बतियों ने तिब्बत के पक्षधर शासकों के घालमेल से सिक्किम को अपने नियंत्रण में लाने की कोशिश की। मगर भारत सरकार ऐसा कैसे होने देती। वह भारत की उत्तरी सीमा, विशेषकर दार्जिलिंग तथा उसके चाय बाग़ानों की सुरक्षा के लिए सिक्किम को एक आवश्यक प्रतिरोध के रूप में देखती रही। इसलिए उसने 1888 के दौरान सिक्किम में तिब्बतियों के खिलाफ़ सैनिक कार्रवाइयाँ कीं। एक आंग्ल-चीना समझौते पर हस्ताक्षर के साथ 1890 में अन्तिम निपटारा हो गया। संधि ने सिक्किम को एक ब्रिटिश संरक्षित राज्य माना जिसके आन्तरिक प्रशासन और विदेश संबंधों पर केवल भारत सरकार को ही नियंत्रण रखने का अधिकार था।

भूटान के साथ संबंध

भूटान सिक्किम के पूर्व भारत की उत्तरी सीमा पर एक बड़ा पहाड़ी देश है। वारेन हेस्टिंग्स ने भूटान के शासक के साथ 1774 के बाद मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए जब भूटान ने बंगाल को अपने क्षेत्र से होकर तिब्बत के साथ व्यापार करने की अनुमति दे दी। भारत सरकार और भूटान के बीच संबंध 1815 के बाद असंतोषजनक हो गए। अब अंग्रेज़ों ने भूटान की पहाड़ियों की मील की संकरी पट्टी को लालचभरी निगाहों से देखना शुरू कर दिया। इस पट्टी में कई द्वार या दर्रे थे; इस क्षेत्र के मिलने से भारत की सीमा सुनिश्चित तथा रक्षा योग्य हो जाती और ब्रिटिश बाग़ान मालिकों को चाय पैदा करने के लिए उपयोगी ज़मीन मिल जाती। ऐशले ईडेन ने, जो 1863 में ब्रिटिश दूत के रूप में भूटान गया, द्वारों पर क़ब्ज़ा करने के फ़ायदों को निम्नलिखित शब्दों में लिखा :

> "यह प्रदेश भारत के उत्कृष्ट प्रान्तों में से है और हमारी सरकार के अधीन कुछ ही वर्षों में वह सबसे समृद्ध प्रान्तों में से एक हो जाएगा। भारत में मैंने यही एक ऐसा स्थान देखा है जहाँ यूरोपीय वस्ती का सिद्धान्त मेरे विचार से वस्तुतः कार्यान्वित किया जा सकता है।"

लॉर्ड ऑकलैंड ने 1841 में असम द्वारों को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया। भारत और भूटान के बीच संबंध बंगाल की ओर वाली सीमा पर भूटिया लोगों द्वारा रह-रह कर छापा मारने से तनावपूर्ण हो गए। यह स्थिति लगभग आधी शताब्दी तक रही। आख़िरकार, 1865 में दोनों के बीच एक संक्षिप्त लड़ाई छिड़ गयी। लड़ाई बिल्कुल एक तरफ़ा थी और उसका निपटारा नवम्बर 1865 में हुई संधि से हुआ। पचास हजार रुपए वार्षिक भुगतान के बदले में भूटान ने सभी बंगाल और असम द्वार अंग्रेज़ों को दे दिए। भारत सरकार को भूटान की रक्षा, तथा विदेश संबंधों को नियंत्रित करने का अधिकार मिला, और भारत सरकार ने भूटान के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया।

अभ्यास

1. उन कुछ बुनियादी कारकों पर रोशनी डालिए जिन पर भारत के पड़ोसियों के साथ भारत सरकार के संबंध उन्नीसवीं सदी में आधारित थे ।
2. उन्नीसवीं सदी में बर्मा के प्रति ब्रिटिश नीति के क्या उद्देश्य थे ? उन उद्देश्यों को कैसे प्राप्त किया गया ?
3. उन्नीसवीं सदी के दौरान अफ़ग़ानिस्तान के प्रति ब्रिटिश भारत की नीति की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए । वह नीति बार-बार विफल क्यों रही ?
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (क) तिब्बत में आंग्ल-रूसी प्रतिद्वन्द्विता; (ख) यंग हस्बैंड का अभियान; (ग) 1865 का भारत-भूटान निपटारा; (च) नेपाल के साथ 1814 का युद्ध ।

अध्याय 11

ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव

ब्रिटिश विजय का भारत पर स्पष्ट और गहरा आर्थिक प्रभाव हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था का शायद ही कोई पहलू रहा जिसमें अच्छी या बुरी दिशा में पूरे ब्रिटिश शासनकाल में परिवर्तन नहीं हुआ।

परम्परागत अर्थव्यवस्था का विघटन

अंग्रेज़ों ने जो आर्थिक नीतियाँ अपनायीं उनसे भारत की अर्थव्यवस्था का रूपान्तरण एक औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था में हो गया, जिसके स्वरूप और ढाँचे का निर्धारण ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की ज़रूरतों द्वारा हुआ। इस दृष्टि से ब्रिटिश विजय पहले की सभी विदेशी जीतों से भिन्न थी। पहले के सभी विजेताओं ने भारतीय राजनीतिक शक्तियों को उखाड़ फेंका मगर उन्होंने देश के आर्थिक ढाँचे में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किए। वे धीरे-धीरे भारतीय जीवन—राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन—के भाग बन गए। किसान, दस्तकार, और व्यापारी अपनी ज़िन्दगी पहले की तरह ही जीते रहे। स्वावलम्बी ग्राम अर्थव्यवस्था की बुनियादी आर्थिक बनावट को सदा बनाए रखा गया। शासकों के बदलने का मतलब था उन कर्मचारियों में परि-वर्तन जो किसान के अधिशेष को वसूल करते थे। मगर ब्रिटिश विजेता बिल्कुल भिन्न थे। उन्होंने भारतीय अर्थ-व्यवस्था के परम्परागत ढांचे को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके अलावा, वे कभी भारतीय जीवन का अभिन्न अंग नहीं बन सके। वे भारत में हमेशा विदेशी बने रहे, भारतीय संसाधनों का उपयोग करते और भार-तीय समृद्धि को नज़राने के रूप में ले जाते रहे।

भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों के अधीन करने के अनेक और विविध परिणाम हुए।

दस्तकारों और शिल्पकारों की बर्बादी

शहरी हस्तशिल्पों का एकाएक और बहुत जल्द पतन हो गया। इन शिल्पों के कारण भारत का नाम समूची सभ्य दुनिया में शताब्दियों से लिया जाता रहा था। इस पतन का मुख्य कारण था: इंग्लैंड से आयात की जाने वाली मशीनों द्वारा बनायी गयी सस्ती वस्तुओं के साथ प्रतिद्वन्द्विता। जैसा कि हम देख चुके हैं, अंग्रेज़ों ने 1813 के बाद एकतरफ़ा मुक्त व्यापार की नीति भारत पर लाद दी और ब्रिटिश विनिर्मित वस्तुओं, विशेषकर सूती वस्त्रों की तुरन्त बड़ी भरमार हो गयी। आदिम तकनीकों से बनी भारतीय वस्तुएँ भाप से चलने वाली शक्तिशाली मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर बनाई गई वस्तुओं की प्रति-द्वन्द्विता में नहीं टिक सकीं।

भारतीय उद्योगों, विशेषकर ग्रामीण दस्तकार उद्योगों की बरबादी, रेलवे के बनते ही काफी तेज़ी से हुई। रेलवे द्वारा ब्रिटिश विनिर्मित वस्तुओं के देश के सुदूर गांवों में पहुँचने और परम्परागत उद्योगों की जड़ें खोदने में सहायता

मिली। जैसा कि अमरीकी लेखक डी० एच० बुकानन ने लिखा है : "अलग-थलग रहने वाले स्वावलम्बी गाँव के कवच को इस्पात की रेल ने बेध दिया, तथा उसकी प्राण शक्ति को क्षीण कर दिया।"

सूत कातने तथा सूती कपड़ा बुनने के उद्योगों को सब से अधिक धक्का लगा। रेशमी और ऊनी वस्त्र उद्योगों की हालत भी कोई अच्छी नहीं रही। लोहा, मिट्टी के बर्तन, शीशा, काग़ज़, धातु, जहाज़रानी, तेलधानी, चमड़ा-शोधन और रंगाई उद्योगों की हालत भी बुरी हो गई।

विदेशी वस्तुओं की भरमार के अलावा कुछ अन्य कारक भी थे जिनका जन्म ब्रिटिश जीत के कारण हुआ और जिन्होंने भारतीय उद्योगों के विनाश में योगदान दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बंगाल के दस्तकारों पर अत्याचार किए। उन्होंने दस्तकारों को अपनी वस्तुएँ बाज़ार क़ीमत से कम पर बेचने तथा अपनी सेवाओं को प्रचलित मज़दूरी से कम पर देने के लिए मजबूर किया। उन्होंने अनेक दस्तकारों को अपने पुश्तैनी पेशे छोड़ने के लिए विवश किया। सामान्यतया कम्पनी द्वारा निर्यात को दिए गए प्रोत्साहन से भारतीय हस्तशिल्पों को फ़ायदा होता, मगर इस अत्याचार के कारण प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के दौरान ब्रिटेन तथा यूरोप में भारतीय वस्तुओं के आयात पर लगाए गए उच्च आयात शुल्कों तथा अन्य प्रतिबंधों और उनके साथ ही ब्रिटेन में आधुनिक विनिर्माण उद्योगों के विकास के फलस्वरूप 1820 के बाद योरोपीय बाज़ारों के दरवाज़े भारतीय विनिर्माताओं के लिए वस्तुतः बन्द हो गए। भारतीय शासकों और उनके राजदरबारों के जो शहरी हस्तशिल्प की वस्तुओं के मुख्य ग्राहक थे, धीरे-धीरे लुप्त हो जाने से भी इन उद्योगों को बड़ा धक्का लगा। उदाहरण के लिए, सैनिक हथियारों का उत्पादन पूरी तरह भारतीय राज्यों पर निर्भर था। अंग्रेज़ अपने सारे सैनिक और अन्य सरकारी सामान ब्रिटेन में खरीदते थे। इसके अलावा, शासक वर्ग के रूप में भारतीय शासकों और कुलीन पुरुषों का स्थान ब्रिटिश अधिकारियों तथा सैनिक अफ़सरों ने लिया जिन्होंने बिल्कुल निरपवाद रूप से अपने देश के उत्पादनों को अपनाया। कच्चे मालों को निर्यात करने की ब्रिटिश नीति से भी भारतीय हस्तशिल्पों को धक्का लगा क्योंकि कपास और चमड़े जैसे कच्चे मालों की क़ीमतें बढ़ गयीं। इससे हस्तशिल्प की वस्तुओं की क़ीमतें बढ़ गयीं तथा विदेशी वस्तुओं के साथ प्रतियोगिता में ठहरने की उनकी क्षमता घट गयी।

भारतीय हस्तशिल्पों की तबाही उन शहरों की तबाही के रूप में सामने आयी जो अपनी विनिर्मित वस्तुओं के लिए मशहूर थे। जो शहर युद्ध तथा लूटखसोट के विध्वंस के बाद भी टिके रहे थे, वे ब्रिटिश विजय के कारण ज़िन्दा नहीं रह सके। ढाका, सूरत, मुर्शिदाबाद और कई अन्य घनी आबादी वाले समृद्ध औद्योगिक केंद्र जन-शून्य हो गए तथा खंडरात बन गए। गवर्नर-जनरल विलियम बैंटिक ने 1834-35 में लिखा :

> "इस दरिद्रता के समान दरिद्रता वाणिज्य के इतिहास में शायद ही कभी रही है। बुनकरों की हड्डियाँ भारत के मैदानों को विरंजित कर रही हैं।"

यह महाविपदा इस कारण भी बढ़ गयी कि परम्परागत उद्योगों के पतन के साथ ब्रिटेन और पश्चिम यूरोप की तरह आधुनिक मशीन उद्योगों का विकास नहीं हुआ। फलस्वरूप, तबाह हस्तशिल्पी और दस्तकार वैकल्पिक रोज़गार पाने में असफल रहे। उनके सामने एक ही रास्ता था : कृषि को अपनाना। इसके अलावा, ब्रिटिश शासन ने गाँवों में आर्थिक जीवन के संतुलन को बिगाड़ दिया। ग्रामीण शिल्पों के धीरे-धीरे विनाश ने ग्रामीण क्षेत्र में कृषि तथा घरेलू उद्योग की एकता को तोड़ दिया और, इस प्रकार, स्वावलम्बी ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विनाश में योगदान दिया। एक ओर, करोड़ों किसानों को, जो अंशकालिक कताई तथा बुनाई द्वारा अपनी आय को पूरा करते थे, अब मुख्य रूप से खेती पर निर्भर रहना पड़ा, दूसरी ओर, करोड़ों दस्तकार अपनी परम्परागत जीविका को खो बैठे तथा खेतिहर मज़दूर या छोटे काश्तकार बन गए जिनके पास छोटे-छोटे खेत थे। उनके कारण ज़मीन पर बोझ बढ़ा।

इस प्रकार ब्रिटिश जीत के कारण देश में अव-औद्योगीकरण (Deindustrialization) आया और कृषि पर लोगों की निर्भरता बढ़ी। पहले के काल के लिए कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं मगर जनगणना की रिपोर्टों के अनुसार केवल 1901 और 1941 के बीच कृषि पर निर्भर

जनसंख्या का प्रतिशत 63.7 प्रतिशत से बढ़कर 70 प्रतिशत हो गया । कृषि पर बढ़ता हुआ यह दबाव ब्रिटिश शासन के दौरान भारत की घोर गरीबी के मुख्य कारणों में से एक था ।

वस्तुत: भारत अब औद्योगिक ब्रिटेन का एक कृषि उपनिवेश हो गया । ब्रिटेन को भारत की आवश्यकता अपने उद्योगों के लिए कच्चे मालों के स्रोत के रूप में थी । भारत सदियों से सूती वस्तुओं का संसार में सबसे बड़ा निर्यातकर्ता था, मगर अब वह ब्रिटिश सूती उत्पादनों का आयात करने वाला तथा कपास का निर्यात करने वाला बन गया ।

किसानों की दरिद्रता

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत किसान भी धीरे-धीरे दरिद्र हो गए । यद्यपि वे अब अन्दरूनी लड़ाइयों से मुक्त थे तथापि उनकी आर्थिक हालत खराब हो गयी और वह लगातार ग़रीबी में धंसते गए ।

बंगाल में ब्रिटिश शासन के आरम्भ में ही यथासंभव अधिकतम भूराजस्व उगाहने की क्लाईव और वारेन हैस्टिंग्स की नीति के कारण इतना विध्वंस हुआ कि कार्नवालिस ने भी शिकायत भरे लहजे में कहा कि एक तिहाई बंगाल "एक जंगल में बदल गया है जिसमें केवल वनचर ही रहते हैं ।" बाद में भी कोई सुधार नहीं हुआ । दोनों, स्थायी बंदोबस्त तथा अस्थायी बंदोबस्त वाले ज़मींदारी क्षेत्रों में किसानों की हालत अत्यन्त दयनीय रही । उन्हें ज़मींदारों की दया पर छोड़ दिया गया जिन्होंने लगानों को असहनीय सीमाओं तक बढ़ा दिया तथा उन्हें अब्वाब देने और बेगार करने के लिए मजबूर किया । ज़मींदारों ने किसानों पर तरह-तरह से अत्याचार किए ।

रैयतवारी और महालवारी क्षेत्रों में किसानों की हालत कोई बेहतर नहीं थी । वहाँ सरकार ने ज़मींदारों का स्थान लिया तथा अत्यधिक भूराजस्व निर्धारित किया । शुरू में भूराजस्व उत्पादन का एक तिहाई से लेकर आधा तक होता था । भारी मात्रा में भूराजस्व का निर्धारण उन्नीसवीं सदी में दरिद्रता की वृद्धि तथा कृषि की अवनति के मुख्य कारणों में से एक था । अनेक समसामयिक लेखकों और अधिकारियों ने इस तथ्य का उल्लेख किया है । उदाहरण के लिए बिशप हेबर ने 1826 में लिखा :

> "मेरा ख़्याल है कि न तो देशी और न ही योरोपीय कृषक कराधान की वर्तमान दर पर समृद्ध बन सकता है । ज़मीन की आधी सकल पैदावार सरकार ले लेती है .... हिन्दुस्तान (उत्तर भारत) में मैंने शाही अफ़सरों में यह आम भावना पायी ...... कि देशी राज्यों की प्रजा की तुलना में कम्पनी के प्रान्तों के किसान, कुल मिलाकर बदतर, ग़रीब और पस्तहिम्मत है, और यहाँ मद्रास में जहाँ ज़मीन आमतौर से कम उपजाऊ है, विषमता और स्पष्ट है । तथ्य यह है कि कोई भी देशी राजा हमारे जितना लगान नहीं माँगता ।"

यद्यपि भूराजस्व की रक़म वर्ष-प्रति-वर्ष बढ़ती गयी (वह 1857-58 में 15.3 करोड़ रुपए थी जो बढ़कर 1936-37 में 35.8 करोड़ रुपए हो गयी,) तथापि क़ीमतों और उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ कुल उत्पादन के अनुपात के रूप में भूराजस्व की प्रवृति घटने की थी । भूराजस्व में कोई सानुपातिक वृद्धि नहीं की गयी क्योंकि अतिशय राजस्व वसूल करने के विनाशकारी परिणाम स्पष्ट हो गए । मगर अब तक कृषि पर जनसंख्या का दबाव इतना बढ़ गया था कि बाद के वर्षों में किसानों का अपेक्षाकृत कम भूराजस्व भी कम्पनी के प्रारम्भिक वर्षों के उच्च भूराजस्व के समान ही भारी सिद्ध हुआ ।

उच्च भूराजस्व निर्धारण इसलिए भी विनाशकारी साबित हुआ कि उसके बदले किसानों को कोई आर्थिक प्रतिफल नहीं मिला । कृषि-सुधार पर सरकार ने बहुत कम ख़र्च किया । उसने अपनी लगभग सारी आय ब्रिटिश भारत के प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करने, इंग्लैंड को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नज़राना भेजने, तथा ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के हितों को साधने में लगा दी । यहाँ तक कि क़ानून और व्यवस्था बनाए रखने से किसान की अपेक्षा सौदागर तथा महाजन को फ़ायदा पहुँचा ।

अत्यधिक भूराजस्व की रक़म के नुक़सानदेह परिणामों को उसको वसूल करने के कठोर तरीक़े ने और भी भयंकर बना दिया । भूराजस्व निर्धारित तारीख़ों पर तत्परता के साथ भुगतान करना पड़ता था । भले ही पैदावार सामान्य से कम रही हो या बिल्कुल ही न हुई हो । खराब फसल वाले वर्षों में किसानों के लिए भूराजस्व की अदायगी बड़ी कठिन थी, भले ही वह अच्छी फसल के सालों में भूराजस्व आसानी से दे पाए हों ।

जब भी किसान भूराजस्व अदा करने में असफल रहे, तब सरकार ने राजस्व की बकाया रक़म वसूल करने के लिए उसकी ज़मीन को नीलाम कर दिया। मगर अधिकतर स्थितियों में किसान ने अपनी ज़मीन का कुछ हिस्सा बेचकर भूराजस्व अदा किया। नीलाम की स्थिति में उसे अपनी ज़मीन से हाथ धोना पड़ा।

बहुधा राजस्व भुगतान करने में असमर्थता के कारण किसान को महाजन से ब्याज की ऊँची दरों पर क़र्ज़ लेना पड़ता था। ज़मीन से सदा के लिए हाथ धोने के बदले किसान अपनी ज़मीन किसी महाजन या अपने पड़ोसी धनी किसान के पास गिरवी रख कर क़र्ज़ लेना बेहतर समझते थे। जब भी उनका खर्च उनकी आय से नहीं चल पाता था तब उन्हें महाजन के पास जाना पड़ता था। मगर एक बार क़र्ज़ में फंसने के बाद उनके लिए उससे निकल पाना मुश्किल था। महाजन ऊँची दरों पर ब्याज लेता था और ग़लत हिसाब-किताब, जाली दस्तख़तों और क़र्ज़दार को क़र्ज़ की वास्तविक रक़मों से अधिक पर दस्तखत करने के लिए मजबूर करने जैसी धूर्ततापूर्ण कार्रवाइयों द्वारा किसानों को तब तक क़र्ज़ में फंसाता जाता था जब तक वह अपनी ज़मीन से हाथ नहीं धो बैठते।

महाजन को नयी क़ानून प्रणाली तथा नयी राजस्व नीति से बहुत मदद मिली। अंग्रेज़ी राज के पहले महाजन ग्राम समुदाय के अधीन होता था। वह ऐसा आचरण नहीं कर सकता था जिसे गाँव के बाक़ी लोग बिल्कुल ही पसन्द न करें। उदाहरण के लिए, वह बहुत अधिक दरों पर ब्याज नहीं ले सकता था। वस्तुतः ब्याज की दरों का निर्धारण चलन तथा जनमत द्वारा होता था। इसके अलावा, वह क़र्ज़दार की ज़मीन पर क़ब्ज़ा नहीं कर सकता था। अधिक से अधिक वह क़र्ज़दार की व्यक्तिगत चल सम्पति जैसे गहनों या खेतों में खड़ी फसलों के कुछ हिस्से ले सकता था। ज़मीन को हस्तान्तरण योग्य बना कर ब्रिटिश भूराजस्व व्यवस्था ने महाजन या धनी किसान को ज़मीन हथियाने में समर्थ बना दिया। यहाँ तक कि अंग्रेज़ों द्वारा अपनी क़ानून प्रणाली और पुलिस के फलस्वरूप स्थापित शान्ति और सुरक्षा के फ़ायदे महाजन को मिले जिसके हाथों में क़ानून ने अपार शक्ति दे दी थी; उसने पैसे की ताक़त का इस्तेमाल मुक़दमे की खर्चीली प्रक्रिया को अपने पक्ष में अपने हित को साधने के लिए कर लिया। इसके अतिरिक्त, साक्षर और चालाक महाजन ने आसानी से किसान की अज्ञानता तथा निरक्षरता का इस्तेमाल क़ानून की जटिल प्रक्रियाओं को तोड़मरोड़ कर अनुकूल न्यायिक निर्णय प्राप्त करने के लिए किया। धीरे-धीरे रैयतवारी और महालवारी क्षेत्रों के किसान क़र्ज़ में डूबते ही चले गए और अधिकाधिक ज़मीन महाजनों, सौदागरों, धनी किसानों और अन्य धनी वर्गों के हाथों में चली गयी। यही प्रक्रिया ज़मींदारी क्षेत्रों में भी हुई जहाँ किसान अपने काश्तकारी अधिकार खो बैठे और उन्हें ज़मीन से बेदखल कर दिया गया या वे महाजन के बटाईदार बन गए।

किसानों के हाथों से ज़मीन के हस्तान्तरण की प्रक्रिया अभाव तथा अकाल के कालों में तेज़ हो गयी। भारतीय किसान के पास संकट के समय के लिए शायद ही कोई बचत होती थी और जब भी फसल ख़राब हो जाती थी तब उसे महाजन का आश्रय लेना पड़ता था। उसे महाजन का सहारा न केवल भूराजस्व अदा करने बल्कि अपने तथा अपने परिवार के भोजन की व्यवस्था करने के लिए भी लेना पड़ता था।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक महाजन ग्रामीण क्षेत्र का मुख्य अभिशप तथा ग्रामीण जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता का एक महत्त्वपूर्ण कारण बन गया था। 1911 में कुल ग्रामीण ऋण तीन अरब रुपए आंका गया था। 1937 तक वह 18 अरब रुपए पर पहुँच गया। पूरी प्रक्रिया एक दुश्चक्र बन गयी थी। कराधान तथा बढ़ती हुई ग़रीबी के बोझ ने किसानों को क़र्ज़ में फंसा दिया था। क़र्ज़ के परिणामस्वरूप भी उनकी ग़रीबी बढ़ी। वस्तुतः किसान बहुधा यह नहीं समझ सके कि महाजन साम्राज्यवादी शोषण यंत्र में एक अवश्यम्भावी दाँता है और उन्होंने अपना गुस्सा उसी पर उतारा क्योंकि वही उन्हें अपनी दरिद्रता का स्पष्ट कारण लगा। उदाहरण के लिए, 1857 के विद्रोह के दौरान, जहाँ भी किसानों ने विद्रोह किया, वहाँ उनके हमले का पहला निशाना था महाजन और उसकी बहियाँ। किसानों की ये कार्रवाइयाँ आम बात हो गयीं।

कृषि के बढ़ते हुए वाणिज्यीकरण ने भी महाजन सह-सौदागर को किसान का शोषण करने में मदद दी। गरीब किसान को फ़सल तैयार होते ही जो भी क़ीमत मिले उस

पर अपनी पैदावार बेचने के लिए मजबूर कर दिया जाता था क्योंकि उसे सरकार, ज़मींदार तथा महाजन की माँगों को समय पर पूरा करना पड़ता था। इस कारण वह अनाज के व्यापारी की दया पर निर्भर हो जाता था। व्यापारी अपनी शर्तों पर अनाज ख़रीदता था। व्यापारी बाज़ार क़ीमत से कम पर अनाज खरीद लेता था इस प्रकार कृषि की पैदावारों के बढ़ते हुए व्यापार का अधिक लाभ व्यापारी को मिला, जो बहुधा गाँव का महाजन भी होता था।

ज़मीन हाथों से निकलने तथा अव-औद्योगिकरण और आधुनिक उद्योग के अभाव के कारण ज़मीन पर बढ़ते हुए बोझ ने भूमिहीन किसानों और तबाह दस्तकारों तथा हस्तशिल्पियों को काफ़ी ऊँचे लगान पर महाजनों तथा ज़मींदारों के रैयत या कम से कम मज़दूरी पर खेतिहर मज़दूर बनने के लिए मजबूर किया। इस प्रकार किसान वर्ग को सरकार, ज़मींदार या भूस्वामी और महाजन के तिहरे बोझ से कुचल दिया गया। इन तीनों द्वारा अपने हिस्से ले लेने के बाद इतना नहीं बचता था कि खेतिहर तथा उसके परिवार का निर्वाह हो सके। यह हिसाब लगाया गया कि 1950-51 में भूलगान तथा महाजन का ब्याज 14 अरब रुपए था यानी उस साल के कुल कृषि उत्पादन की लगभग एक तिहाई। परिणामस्वरूप किसान-वर्ग की ग़रीबी बढ़ती गयी। साथ ही अकालों की बारंबारता तथा भयंकरता भी बढ़ गयी। जब भी सूखे या बाढ़ के कारण फ़सलें ख़राब हो गयीं तथा अभाव की स्थिति आयी तब लाखों की संख्या में लोग मरे।

पुराने ज़मींदारों की तबाही तथा नयी ज़मींदारी व्यवस्था का उदय

ब्रिटिश शासन के पिछले कुछ दशकों में बंगाल तथा मद्रास के पुराने ज़मींदार तबाह हो गए। ऐसा खासकर सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को राजस्व वसूली के अधिकार नीलाम करने की वारेन हेस्टिंग्स की नीति के कारण हुआ। आरम्भ में 1793 के स्थायी बन्दोबस्त का ऐसा ही प्रभाव हुआ। भूराजस्व का भारी बोझ (सरकार कुल लगान का 10/11 ले लेती थी) और वसूली संबंधी सख्त क़ानून ने, जिसके तहत राजस्व की अदायगी में बिलम्ब होने पर ज़मींदारी संपत्तियाँ बड़ी कठोरता से नीलाम कर दी गयीं, शुरू के कुछ वर्षों के दौरान बड़ी ही विध्वंसकारी भूमिका अदा की। बंगाल के अनेक बड़े ज़मींदार बिल्कुल तबाह हो गए। 1815 तक बंगाल की लगभग आधी भू-सम्पत्ति पुराने ज़मींदारों के हाथों से निकलकर सौदागरों तथा अन्य धनी वर्गों के पास चली जा चुकी थी। पुराने ज़मींदार गाँवों में रहते आए थे और रैयतों के प्रति कुछ नरमी दिखाने की उनकी परम्परा रही थी। सौदागर तथा पैसे वाले अन्य वर्ग आमतौर से शहरों में रहते थे और कठिन परिस्थितियों का बिना ख्याल किए वे रैयत से पाई-पाई निष्ठुरता से वसूल करते थे। वे बिल्कुल बेईमान थे और रैयतों के प्रति उनके मन में कोई सहानुभूति नहीं थी। वे किसानों से बहुत अधिक लगान ऐंठते तथा जब भी चाहते उन्हें बेदखल कर देते थे।

उत्तर मद्रास में स्थायी बन्दोबस्त और शेष मद्रास में रैयतवारी बन्दोबस्त भी स्थानीय ज़मींदारों के लिए समान रूप से कठोर थे।

मगर ज़मींदारों की दशा में जल्द ही तेज़ी से सुधार हुआ। ज़मींदार भूराजस्व समय पर अदा कर सकें इसके लिए अधिकारियों ने रैयतों पर उनके अधिकार बढ़ा दिए फलस्वरूप रैयतों के परम्परागत अधिकार समाप्त हो गए। अब ज़मींदारों ने लगान को अधिकतम सीमा तक बढ़ाने के लिए कमर कस ली। फलस्वरूप, वे जल्द ही समृद्ध हो गए। रैयतवारी क्षेत्रों में भी ज़मींदार—रैयत संबंधों की प्रणाली धीरे-धीरे फेल हो गयी। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, अधिकाधिक ज़मीन महाजनों, सौदागरों और धनी किसानों के हाथों में चली गयी, जो रैयतों के द्वारा खेती करवाते थे। भारतीय धनी वर्गों द्वारा ज़मीन ख़रीदने और ज़मींदार बनने का एक कारण यह भी था कि उद्योग में पूंजी के निवेश की कोई ख़ास गुंजाइश नहीं थी। बटाईदारी एक अन्य प्रक्रिया थी, जिसके ज़रिए इस ज़मींदारी प्रथा का प्रसार हुआ। अनेक खुदमालिक किसानों तथा काश्तकारी अधिकार प्राप्त रैयतों ने जिनका ज़मीन पर स्थायी अधिकार था, स्वयं खेती करने के बदले ज़मीन के लिए उतावले रैयतों को अत्यधिक लगान पर पट्टे पर ज़मीन देना अधिक सुविधाजनक पाया। कालक्रम से ज़मींदारी प्रथा न सिर्फ़ ज़मींदारी क्षेत्रों में बल्कि रैयतवारी क्षेत्रों में भी कृषि की मुख्य विशेषता बन गयी।

ज़मींदारी प्रथा के प्रसार की एक उल्लेखनीय विशेषता थी बिचौलियों का उदय। चूंकि खेतिहर रैयतों को आमतौर से कोई सुरक्षा नहीं थी और ज़मीन पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव के कारण रैयतों में ज़मीन के लिए परस्पर प्रतियोगिता थी, इसलिए ज़मीन का लगान बढ़ता गया। ज़मींदारों और नए भूस्वामियों ने लगान वसूल करने के अपने अधिकार को लाभदायक शर्तों पर अन्य इच्छुक लोगों को दे दिया। मगर लगान बढ़ने के साथ-साथ भाड़े पर ज़मीन लेने वालों ने ज़मीन संबंधी अपने अधिकारों को भी किराए पर लगा दिया। अतः इस प्रक्रिया की एक शृंखला बन गयी जिससे वास्तविक किसान तथा सरकार के बीच लगान पाने वाले उनके बिचौलिए आ गए। बंगाल में कुछ स्थितियों में उनकी संख्या पचास तक पहुँच गयी। असहाय खेतिहर रैयतों की दशा, जिन्हें ही अन्ततोगत्वा उच्च ज़मींदारों के झुंड का असहनीय बोझ उठाना पड़ता था, इतनी खराब थी कि उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनमें से अनेक की हालत तो गुलामों जैसी थी।

ज़मींदारों तथा भूस्वामियों के उदय और फलने-फूलने का एक अत्यन्त नुक़सानदेह परिणाम था स्वतन्त्रता के लिए भारतीय संघर्ष के दौरान उनकी राजनीतिक भूमिका। संरक्षित राज्यों के राजाओं के साथ वे विदेशी शासकों के मुख्य राजनीतिक समर्थक बन गए तथा उन्होंने उदीयमान राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध किया। यह महसूस कर कि उनका अस्तित्व ब्रिटिश शासन के कारण है, उन्होंने ब्रिटिश सरकार को सदा बनाए रखने के लिए जीतोड़ कोशिश की।

कृषि की गतिहीनता और उसका अपकर्ष

कृषि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव, अत्यधिक भूराजस्व निर्धारण, ज़मींदारी प्रथा के पनपने, बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता और किसानों की बढ़ती हुई दरिद्रता के फलस्वरूप भारतीय कृषि गतिहीन होने लगी और यहाँ तक कि उसका अपकर्ष भी होने लगा। परिणामस्वरूप प्रति एकड़ पैदावार बहुत ही कम होने लगी।

कृषि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव तथा बिचौलियों की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण ज़मीन न सिर्फ़ छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गयी बल्कि उसका अपखण्डन भी हो गया। ज़मीन इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गयी कि उनमें से अधिकांश अपने जोतने वालों का भरण-पोषण भी नहीं कर सकते थे। बहुसंख्यक किसानों की अति दरिद्रता के कारण उनके पास इतने संसाधन नहीं होते थे जिनसे वे अच्छे मवेशी और बीजों, अधिक खाद तथा उर्वरकों और उत्पादन की उन्नत तकनीकों का इस्तेमाल कर कृषि में सुधार लाते। सरकार और ज़मींदार दोनों द्वारा चूसे जाने वाले किसान को कृषि में सुधार लाने के लिए कोई प्रेरणा नहीं होती थी। आख़िरकार, जिस ज़मीन पर वह खेती करता था वह विरले ही उसकी अपनी सम्पत्ति होती थी और कृषि में सुधारों के कारण जो भी फ़ायदा होता उस का अधिकांश दूरस्थ ज़मींदारों और महाजनों का गिरोह ले लेता। ज़मीन के उपविभाजन तथा अपखण्डन ने भी सुधारों को मुश्किल बना दिया था।

इंग्लैंड और अन्य योरोपीय देशों में धनी ज़मींदारों ने बहुधा ज़मीन में पूंजी लगायी जिससे उसकी उत्पादकता बढ़ सके और बढ़ी हुई आय में उनको हिस्सा मिल सके। मगर भारत में दूरस्थ ज़मींदारों ने, वे नए रहे हों या पुराने, कोई उपयोगी कार्य नहीं किया। वे केवल लगान प्राप्तकर्त्ता ही रहे। बहुधा ज़मीन में उनकी कोई जड़ें नहीं होती थीं और उन्होंने लगान वसूल करने के सिवाय उसमें कोई व्यक्तिगत दिलचस्पी भी नहीं ली। इसलिए, ज़मीन में उत्पादक निवेश करने की अपेक्षा अपने रैयतों को और भी चूस कर अपनी आय को बढ़ाना उन्होंने न सिर्फ़ सम्भव माना बल्कि श्रेयस्कर भी समझा।

सरकार कृषि के सुधार और आधुनिकीकरण में सहायता कर सकती थी। मगर सरकार ने अपने ऊपर इस प्रकार की कोई भी ज़िम्मेदारी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। ब्रिटिश भारत की वित्तीय व्यवस्था की एक विशेषता यह थी कि कराधान का मुख्य बोझ किसान के कंधों पर पड़ा, सरकार ने उस पर उसका एक छोटा हिस्सा ही खर्च किया। किसान और कृषि की अवहेलना का एक उदाहरण था, लोक कार्यों और कृषि सुधारों की उपेक्षा। भारत सरकार ने 1905 तक रेलवे पर 3 अरब 60 करोड़ रुपए से अधिक खर्च किए मगर उसी दौरान सिंचाई पर उसने 50 करोड़ रुपए से कम खर्च किए। रेलवे की माँग ब्रिटिश व्यवसायी कर रहे थे जब कि सिंचाई से करोड़ों भारतीय किसानों का भला होता। तो भी सिंचाई ही एक

ऐसा क्षेत्र थी जिसमें सरकार ने आगे की ओर कुछ क़दम बढ़ाए।

ऐसे समय जब सारे संसार में कृषि को आधुनिक बनाया जा रहा था तथा कृषि क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए जा रहे थे, भारतीय कृषि टेक्नोलोजी की दृष्टि से निश्चल बनी हुई थी, उसमें शायद ही किसी आधुनिक मशीन का इस्तेमाल हो रहा था। सबसे ख़राब बात यह थी कि साधारण उपकरण भी सदियों पुराने थे। उदाहरण के लिए, 1951 में केवल, 9,30,000 लोहे के हल इस्तेमाल किए जा रहे थे जबकि काठ के हलों की संख्या 3 करोड़ 18 लाख थी। अजैव उर्वरकों का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं होता था जबकि अधिकांश पशु खाद (उदाहरण के लिए गोबर, मल और मवेशियों की हड्डियाँ) बरबाद हो जाती थीं। 1922-23 में कुल फ़सल वाली ज़मीन के केवल 1.9 प्रतिशत में ही उन्नत बीज का प्रयोग होता था। 1938-39 तक यह प्रतिशत बढ़कर केवल 11 प्रतिशत पर ही पहुँच पाया था। इतना ही नहीं, कृषि शिक्षा पूर्णतया उपेक्षित थी। 1939 में सारे भारत में केवल छः कृषि कालेज थे जिनमें सिर्फ़ 1,306 विद्यार्थी पढ़ते थे। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और सिन्ध में एक भी कृषि कालेज नहीं था। स्वाध्याय के ज़रिए सुधार लाने में भी किसान समर्थ नहीं थे। ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा या यहाँ तक कि साक्षरता तक का कुछ प्रसार नहीं हुआ था।

आधुनिक उद्योगों का विकास

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की एक महत्त्वपूर्ण घटना मशीनों के बड़े पैमाने पर आधारित उद्योगों की स्थापना थी। भारत में मशीन युग का आरम्भ तब हुआ जब उन्नीसवीं सदी के छठे दशक में सूती कपड़ा, जूट और कोयला खान उद्योगों की स्थापना हुई। पहली कपड़ा मिल 1853 में कावसजी नाना भाई ने बम्बई में शुरू की, और पहली जूट मिल 1855 में रिशरा (बंगाल) में स्थापित की गयी। इन उद्योगों का विस्तार धीरे-धीरे मगर लगातार हुआ। 1879 में भारत में 56 सूती कपड़ा मिलें थीं जिनमें लगभग 43,000 लोग काम करते थे। 1882 में 20 जूट मिलें थीं, जो अधिकतर बंगाल में थीं और उनमें लगभग 20,000 लोग काम करते थे। 1905 तक भारत में 206 सूती मिलें हो गयीं थी जिनमें क़रीब 1,96,000 लोग काम करते थे। 1901 में 36 से थी अधिक जूट मिलें थीं जिनमें क़रीब 1,15,000 लोग काम पर लगे थे। कोयला खान उद्योगों में 1906 में क़रीब एक लाख लोगों को रोज़गार मिला हुआ था। अन्य यांत्रिक उद्योग जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के शुरू में विकसित हुए उनमें कपास की ओटाई तथा दबाने, चावल, आटे तथा इमारती लकड़ी की मिलें, चर्म शोधनालय, ऊनी कपड़े के कारखाने, काग़ज़ और चीनी की मिलें, लोहा और इस्पात के कारखाने, तथा नमक, अभरख और शोरे जैसे खनिज उद्योग थे। बीसवीं सदी के चौथे दशक में सीमेंट, काग़ज़, दियासलाई, चीनी और शीशा उद्योग विकसित हुए। मगर इन सब उद्योगों का अवरुद्ध विकास हुआ।

अधिकतर आधुनिक भारतीय उद्योगों पर ब्रिटिश पूँजी का स्वामित्व या नियंत्रण था। विदेशी पूँजीपति भारतीय उद्योग में ऊँचे मुनाफ़ों की सम्भावनाओं के कारण उसकी ओर आकर्षित हुए। श्रम अत्यन्त सस्ता था; कच्चे माल तुरन्त और सस्ती दरों पर उपलब्ध थे; और अनेक वस्तुओं के लिए भारत और उसके पड़ोसियों ने तैयार बाज़ार उपलब्ध कराया। चाय, जूट, और मैंगनीज जैसे अनेक भारतीय उत्पादनों के लिए सारे संसार में बना-बनाया बाज़ार था। दूसरी ओर, अपने देश में विदेशी पूँजीपतियों को लाभप्रद निवेश के अवसर कम मिल रहे थे। उस समय, औपनिवेशिक सरकार और उसके अधिकारी सभी प्रकार की सहायता तथा रियाअतें देने को तैयार थे।

विदेशी पूँजी ने अनेक उद्योगों में भारतीय पूँजी को दबा दिया। केवल सूती कपड़ा उद्योग में आरम्भ में भारतीयों का बहुत बड़ा हिस्सा था, और बीसवीं सदी के चौथे दशक में चीनी उद्योग का विकास, भारतीयों ने किया। भारतीय पूँजीपतियों को आरम्भ से ही ब्रिटिश मैनेजिंग एजेंसियों और ब्रिटिश बैंकों की ताक़त के खिलाफ़ संघर्ष करना पड़ा। किसी भी उद्यम के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए भारतीय व्यवसायियों को उस क्षेत्र में प्रबल ब्रिटिश मैनेजिंग एजेंसियों के सामने झुकना पड़ता था। अनेक स्थितियों में भारतीयों की कम्पनियों पर भी विदेशी स्वामित्व और नियंत्रण वाली मैनेजिंग एजेंसियों

का दबदबा होता था। भारतीयों को बैंकों से ऋण मिलने में भी कठिनाई होती थी। अधिकतर बैंकों पर ब्रिटिश अर्थपतियों का प्रभाव था। अगर उनको क़र्ज़ मिलते भी थे तो उन्हें ऊँची दरों पर ब्याज देने पड़ते थे जब कि विदेशी काफ़ी आसान शर्तों पर क़र्ज़ ले सकते थे। निःसंदेह, भारतीयों ने धीरे-धीरे अपने बैंक और बीमा कम्पनियाँ विकसित करनी शुरू कर दीं। 1914 में भारत की कुल बैंक जमा के 70 प्रतिशत से भी अधिक पर विदेशी बैंकों का अधिकार था; 1937 तक उनका हिस्सा घटकर 57 प्रतिशत हो गया।

भारतीय आर्थिक जीवन में अपना बोलबाला बनाए रखने के लिए भारत-स्थित ब्रिटिश उद्यम ने मशीन और उपकरण देने वाले ब्रिटिश संभरणकर्त्ताओं, जहाजरानी, बीमा कम्पनियों, विप्पणन संगठनों, सरकारी अधिकारियों तथा राजनीतिक नेताओं से भी घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखे। इसके अलावा, सरकार ने भारतीय पूँजी के विपरीत विदेशी पूँजी का पक्ष लेने की नीति जानबूझ कर अपनायी।

भारत सरकार की रेलवे नीति ने भी भारतीय उद्यम के प्रति भेदभाव किया; रेलवे भाड़े की दरों ने देशी उत्पादनों के मत्थे विदेशों से आयी वस्तुओं को प्रोत्साहन दिया। आयातित वस्तुओं की अपेक्षा भारतीय वस्तुओं का वितरण कठिन और खर्चीला था।

भारतीयों द्वारा उद्योग स्थापित करने में एक अन्य गम्भीर कठिनाई यह थी कि देश में भारी या पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों का लगभग पूरा अभाव था। इन उद्योगों के बिना अन्य उद्योगों का तेज और स्वतंत्र विकास नहीं हो सकता था। लोहा और इस्पात उत्पन्न करने या मशीन बनाने के लिए भारत के पास बड़े संयंत्र नहीं थे। इंजीनियरिंग उद्योगों के नाम पर कुछ छोटी-छोटी मरम्मती वाले वर्कशाप थे और धातु उद्योगों के नाम पर थोड़े से लोहा और पीतल की फाउन्ड्रियाँ थीं। भारत में इस्पात का उत्पादन सबसे पहले 1913 में हुआ। इस प्रकार भारत में इस्पात, धातुकर्म, मशीन, रसायन और तेल जैसे बुनियादी उद्योगों का अभाव था। विद्युतशक्ति के विकास में भी भारत पिछड़ा हुआ था।

मशीनों पर आधारित उद्योगों के अलावा, उन्नीसवीं सदी में नील, चाय और काफ़ी जैसे बाग़ान उद्योगों का भी विकास हुआ। उनपर पूरी तरह से योरोपीय स्वामित्व था। नील का इस्तेमाल सूती कपड़ा उद्योग में रंगाई के लिए होता था। नील से रंग बनाने का उद्योग भारत में अठारहवीं सदी के अन्त में शुरू किया गया। वह बंगाल और बिहार में फला-फूला। किसानों पर अत्याचार करने के कारण निलहे (Indigo Planters) बदनाम हो गए। उन्होंने नील की खेती करने के लिए किसानों को मजबूर किया। इस उत्पीड़न का सजीव चित्रण प्रसिद्ध बंगला लेखक दीनबंधु मित्र ने अपने नाटक 'नील दर्पण' में 1860 में किया। एक संश्लिष्ट रंग के आविष्कार से नील उद्योग को बड़ा धक्का लगा और उस का धीरे-धीरे ह्रास हो गया। चाय उद्योग का विकास 1850 के बाद असम, बंगाल, दक्षिण भारत तथा हिमाचल प्रदेश की पहाड़ियों में हुआ। चाय उद्योग पर विदेशी स्वामित्व होने के कारण सरकार ने लगान मुक्त जमीन तथा अन्य सुविधाएँ देकर उसकी सहायता की। कालक्रम से चाय का उपयोग सारे भारत में होने लगा। चाय निर्यात की एक महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गयी। इस दौरान काफी बाग़ानों का विकास दक्षिण भारत में हुआ।

बाग़ान तथा विदेशी स्वामित्व वाले अन्य उद्योगों से भारतीय जनता को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ। उनके वेतन और मुनाफ़े देश से बाहर जाते थे। उन्होंने अपने खर्च का एक बड़ा भाग विदेशियों पर लगाया। उन्होंने अपने अधिकांश उपकरण विदेशों में ख़रीदे। उनके अधिकतर तकनीकी कर्मचारी विदेशी थे। उनके अधिकांश उत्पादन विदेशी बाजारों में बिकते थे और बिक्री से प्राप्त विदेशी मुद्रा का इस्तेमाल ब्रिटेन करता था। इन उद्योगों से भारतीयों को एक ही फ़ायदा हुआ कि अकुशल लोगों के लिए रोजगार के अवसर पैदा हुए। मगर इन उद्योगों में अधिकांश मजदूरों को बहुत कम मजदूरी मिलती थी तथा उन्हें अत्यन्त कठिन स्थितियों में लम्बे समय तक काम करना पड़ता था। इसके अलावा, बाग़ानों में लगभग गुलामी की स्थिति थी।

कुल मिलाकर भारत में औद्योगिक प्रगति बड़ी धीमी और दुःखदायी रही। औद्योगिक प्रगति उन्नीसवीं सदी में सूती कपड़ा और जूट उद्योगों तथा चाय बाग़ानों तथा बीसवीं सदी के चौथे दशक में चीनी और सीमेंट तक ही सीमित रही। 1946 में भी, कारखानों में काम करने वाले 40 प्रतिशत मज़दूर सूती कपड़ा और जूट उद्योगों में लगे हुए थे। उत्पादन और रोज़गार दोनों दृष्टियों से भारत का आधुनिक औद्योगिक विकास अन्य देशों के आर्थिक विकास या भारत की आवश्यकताओं की तुलना में नगण्य था। वस्तुतः उसने देशी हस्तशिल्पों के ह्रास को भी पूरा नहीं किया। उसका ग़रीबी और ज़मीन पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव की समस्याओं पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा। भारत के औद्योगीकरण की नगण्यता इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि 1951 में 35 करोड़ 70 लाख की कुल जन-संख्या में से केवल 23 लाख लोग आधुनिक औद्योगिक उद्यमों में लगे थे। इसके अलावा, 1858 के बाद शहरी और ग्रामीण हस्तशिल्पों का ह्रास अनवरत जारी रहा। भारतीय योजना आयोग ने हिसाब लगाया है कि प्रोसेसिंग तथा विनिर्माण में लगे लोगों की संख्या 1901 में 1 करोड़ 3 लाख थी जो घटकर 1951 में 88 लाख हो गयी यद्यपि इस दौरान जनसंख्या में लगभग 40 प्रतिशत वृद्धि हुई। सरकार ने पुराने देशी उद्योगों के संरक्षण, पुनर्स्थापना, पुनःसंगठन तथा आधुनिक उद्योग आधुनिकीकरण के लिए कोई प्रयास नहीं किया।

इसके अलावा, आधुनिक उद्योग भी सरकारी सहायता के बिना और बहुधा ब्रिटिश नीति के विरुद्ध विकसित हुए। ब्रिटिश विनिर्माता भारतीय सूती कपड़ा उद्योग तथा अन्य उद्योगों को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते थे और उन्होंने सरकार पर दबाव डाला कि वह भारत में औद्योगिक विकास को न सिर्फ प्रोत्साहित करें बल्कि उसे सक्रिय रूप से अनुत्साहित करे। इस प्रकार ब्रिटिश नीति ने भारतीय उद्योगों के विकास को कृत्रिम रूप से प्रतिबंधित तथा धीमा किया।

इतना ही नहीं, भारतीय उद्योगों को अपने शैशव काल में संरक्षण की आवश्यकता थी। उनका विकास उस समय हुआ जब ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका ने शक्तिशाली उद्योग स्थापित कर लिए थे और इसलिए, भारतीय उद्योग उनकी प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिक सकते थे। वस्तुतः ब्रिटेन सहित सभी अन्य देशों ने विदेशी विनिर्मित वस्तुओं के आयात पर भारी आयात-शुल्क लगा कर अपने शिशु उद्योगों को संरक्षण दिया था। मगर भारत स्वतंत्र देश नहीं था। उसकी नीतियाँ ब्रिटेन निर्धारित करता था। नीति-निर्धारण ब्रिटिश उद्योगपतियों के हितों में किया जाता था। ब्रिटिश उद्योगपतियों ने अपने उपनिवेश पर मुक्त व्यापार की नीति लाद दी थी। इसी कारण भारत सरकार ने, जिस प्रकार यूरोप और जापान की सरकारें अपने शिशु-उद्योगों को सहायता दे रही थीं उस प्रकार नव-स्थापित भारतीय उद्योगों को वित्तीय तथा अन्य सहायता देने से इन्कार कर दिया। उसने तकनीकी शिक्षा के लिए पर्याप्त इन्तज़ाम नहीं किए। 1951 तक तकनीकी शिक्षा बहुत पिछड़ी रही। इससे देश का औद्योगिक पिछड़ापन और भी बढ़ गया। 1939 में देश भर में केवल 7 इंजीनियरिंग कालेज थे जिनमें 2,217 विद्यार्थी पढ़ते थे। अनेक भारतीय परियोजनाएँ उदाहरण के लिए, जहाज़ों, रेल इंजिनों, मोटर गाड़ियों, और हवाई जहाज़ों के निर्माण से संबंधित परियोजनाएँ इसलिए नहीं शुरू की जा सकीं कि सरकार ने कोई भी सहायता देने से इन्कार कर दिया।

अन्ततोगत्वा, बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशकों में, उदीयमान राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय पूंजीपति वर्ग के दबावों के कारण भारत सरकार को मजबूर होकर भारतीय उद्योगों को तटकर संबंधी कुछ संरक्षण देना पड़ा। मगर फिर यहाँ भी सरकार ने भारतीयों के उद्योगों के प्रति सौतेली मां जैसा व्यवहार किया। भारतीयों के, उद्योगों, जैसे सीमेंट, लोहा और इस्पात और शीशा को या तो संरक्षण ही नहीं दिया गया या दिया गया तो वह बहुत अपर्याप्त था। इसके अलावा, ब्रिटिश आयातित वस्तुओं को 'साम्राज्यी वरीयता' (Imperial Preferences) की प्रणाली के अन्तर्गत भारतीयों के जोरदार विरोध के बावजूद, विशेष रियाअतें दी गयीं।

भारतीय औद्योगिक विकास की एक ख़ास बात यह थी कि वह क्षेत्रीय दृष्टि से अत्यन्त असंतुलित था। भारतीय उद्योग देश के कुछ क्षेत्रों और शहरों में ही संकेंद्रित थे। देश के अधिकतर भाग बिल्कुल अर्ध-विकसित थे। इस असमान क्षेत्रीय आर्थिक विकास के कारण न केवल आय के वितरण में असमानता आयी बल्कि राष्ट्रीय

एकीकरण के स्तर पर भी प्रभाव पड़ा। इससे एक एकीकृत भारत के निर्माण का कार्य अधिक कठिन हो गया।

देश के सीमित औद्योगिक विकास का भी एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में दो नए सामाजिक वर्गों ने जन्म लिया और उनका विकास हुआ। ये वर्ग थे—औद्योगिक पूंजीपति वर्ग तथा आधुनिक मज़दूर वर्ग। ये दोनों वर्ग भारतीय इतिहास में बिल्कुल नए थे क्योंकि आधुनिक खानें, उद्योग, और परिवहन के साधन नए थे। यद्यपि वे वर्ग भारतीय जनसंख्या के अत्यन्त छोटे भाग थे तथापि उन्होंने नयी टेक्नोलोजी, आर्थिक संगठन की नयी प्रणाली, नए सामाजिक संबंधों, नए विचारों, और नए दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। वे नयी परम्पराओं, रीतिरिवाजों, जीवन के तौर-तरीक़ों से दबे हुए नहीं थे। सर्वोपरि बात यह थी कि उनका दृष्टिकोण अखिल भारतीय था। इसके अलावा देश के औद्योगिक विकास में दोनों की गहरी दिलचस्पी थी। इसलिए उनका आर्थिक और राजनीतिक महत्त्व तथा उनकी भूमिकाएँ उनकी संख्या के अनुपात में काफ़ी अधिक थीं।

दरिद्रता और अकाल

भारत में ब्रिटिश शासन की एक प्रमुख बात, तथा ब्रिटिश आर्थिक नीतियों का एक ख़ास परिणाम हुआ भारतीय जनता में अत्यन्त दरिद्रता का साम्राज्य। यद्यपि इतिहासकारों में इस बात को लेकर मतभेद है कि ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में ग़रीबी बढ़ती जा रही थी या नहीं; तथापि इस तथ्य पर कोई मतभेद नहीं है कि पूरे ब्रिटिश शासनकाल के दौरान अधिकतर भारतीय हमेशा भुखमरी के कगार पर रहते थे। समय बीतने के साथ-साथ भारतीयों के लिए रोज़गार या जीविका प्राप्त करना कठिन होता गया। ब्रिटिश आर्थिक शोषण, देशी उद्योगों का ह्रास, उनकी जगह लेने में आधुनिक उद्योगों की विफलता, करों की ऊँची दरें, भारत से धन ढोकर ब्रिटेन ले जाना, और कृषि का एक पिछड़ा हुआ ढाँचा तथा ग़रीब किसानों का ज़मींदारों, भूस्वामियों, राजाओं, महाजनों, व्यापारियों और राज्य द्वारा शोषण—इन सबने भारतीय जनता को अत्यन्त दरिद्र बना दिया तथा उसे प्रगति करने नहीं दिया। भारत की औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था एक निम्न आर्थिक स्तर पर निश्चल बनी रही।

जनता की दरिद्रता की पराकाष्ठा अकालों की एक श्रृंखला में हुई, जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत के सभी हिस्सों में अपनी विनाशकारी लीला दिखलायी। इनमें से पहला अकाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में 1860-61 में पड़ा जिसमें दो लाख आदमियों की जानें गयीं। 1865-66 में अकाल ने उड़ीसा, बंगाल, बिहार और मद्रास को धर दबोचा और 20 लाख लोगों की जानें ले लीं। केवल उड़ीसा में 10 लाख लोग मर गए। 1868-70 के अकाल में 14 लाख से अधिक लोग पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, बम्बई और पंजाब में मर गए। राजपूताना भी अकाल से प्रभावित था। वहाँ के अनेक राज्यों को अपनी एक चौथाई से एक तिहाई जनसंख्या तक से हाथ धोना पड़ा।

उस समय तक का शायद सबके भयंकर अकाल 1876-78 में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, महाराष्ट्र, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में पड़ा। महाराष्ट्र में 8 लाख लोग मरे। मद्रास में लगभग 35 लाख लोगों की जानें गयीं। मैसूर को अपनी क़रीब 20 प्रतिशत जनसंख्या से हाथ धोना पड़ा तथा उत्तर प्रदेश में 12 लाख से अधिक लोग मर गए। सूखे के कारण 1896-97 और फिर 1899-1900 में देशव्यापी अकाल पड़ा। 1896-97 के अकाल से साढ़े नौ करोड़ से अधिक लोग प्रभावित हुए जिनमें से करीब 45 लाख मर गए। 1899-1900 का अकाल उसके तुरन्त ही बाद आया और उससे व्यापक तबाही हुई। राहत कार्यों द्वारा लोगों की जानें बचाने में सरकारी प्रयत्नों के बावजूद 25 लाख से अधिक व्यक्ति मर गए। इन बड़े अकालों के अलावा अनेक स्थानीय अकाल पड़े तथा अभाव की स्थितियाँ आयीं। एक ब्रिटिश लेखक विलियम डिग्बी ने हिसाब लगाया है कि 1854 से 1901 तक कुल मिलाकर 2,88,25,000 से अधिक लोग अकाल से मरे। एक और अकाल 1943 में बंगाल में पड़ा जिसमें करीब 30 लाख लोग मर गए। ये अकाल और उनमें मरने वालों की भारी संख्या इस बात का संकेत देती है कि ग़रीबी और भुखमरी की जड़ें भारत में कितनी गहरी हो गई थीं।

भारत स्थित अनेक अंग्रेज़ अधिकारियों ने उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत की दरिद्रता की भयंकर वास्तविकता को स्वीकार किया। उदाहरण के लिए गवर्नर-जनरल की काउन्सिल के एक सदस्य चार्ल्स इलियट ने टिप्पणी की :

"मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है आधी कृषि जनसंख्या को एक साल के अन्त में से दूसरे साल के अन्त तक यह पता नहीं होता कि पेट भर खाना कैसा होता है।"

'इम्पीरियल गज़ेटियर' के संकलनकर्ता विलियम हंटर ने स्वीकार किया कि "भारत के 4 करोड़ लोगों को अपर्याप्त भोजन पर जीवन बिताने की आदत हो गयी है।" बीसवीं सदी में स्थिति और भी खराब हो गयी। एक भारतीय को उपलब्ध भोजन की मात्रा में 1911 और 1941 के बीच 30 वर्षों के दौरान 29 प्रतिशत तक की कमी हुई।

भारत के आर्थिक पिछड़ेपन और गरीबी के अनेक अन्य संकेत हैं। राष्ट्रीय आय संबंधी प्रसिद्ध विशेषज्ञ कोलिन कलर्क ने हिसाब लगाया है कि 1925-34 के दौरान संसार में सबसे कम प्रति व्यक्ति आय भारत और चीन की थी। एक अंग्रेज की आय एक भारतीय की आय से 5 गुनी थी। इसी प्रकार बीसवीं सदी के चौथे दशक के दौरान, आधुनिक चिकित्सा विज्ञानों तथा सफ़ाई के कारण हुई प्रगति के बावजूद एक भारतीय की औसत जीवन प्रत्याशा केवल 32 वर्ष थी। अधिकतर पश्चिम यूरोपीय और उत्तर अमरीकी देशों में औसत आयु 60 वर्ष से ऊपर थी।

भारत का आर्थिक पिछड़ापन और ग़रीबी प्रकृति की कंजूसी के कारण नहीं थी। उनका सृजन मनुष्य ने किया था। भारत के प्राकृतिक संसाधन अपार थे और समुचित रूप से प्रयोग करने पर उनसे जनता को काफी समृद्धि मिल सकती थी। मगर विदेशी शासन तथा शोषण के परिणामस्वरूप और एक पिछड़े हुए कृषि और औद्योगिक आर्थिक ढांचे (वस्तुतः उसके ऐतिहासिक और सामाजिक विकास के संपूर्ण परिणामस्वरूप) के कारण भारत यह विरोधाभास बन गया कि देश के समृद्ध होने के बावजूद उसके निवासी ग़रीब थे।

अभ्यास

1. ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत का रूपान्तरण एक आर्थिक उपनिवेश के रूप में किस प्रकार हुआ ?
2. भारतीय किसान पर ब्रिटिश नीतियों के प्रभाव की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। इसके कारण ज़मींदारी प्रथा का प्रसार कैसे हुआ ?
3. भारत में आधुनिक उद्योगों की मुख्य विशेषताओं की चर्चा कीजिए ?
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (क) पुराने ज़मींदारों की तबाही; (ख) कृषि की गतिहीनता; (ग) आधुनिक भारत में दरिद्रता और अकाल।

अध्याय 12

नये भारत का विकास—राष्ट्रीय आंदोलन 1858-1905

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के दौरान भारत में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना पूर्णरूपेण पुष्पित हुई और एक संगठित राष्ट्रीय आंदोलन का विकास हुआ। दिसम्बर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ जिसके नेतृत्व में भारतवासियों ने विदेशी शासन से स्वतन्त्रता के लिए लंबा और वीरतापूर्ण संघर्ष किया। अन्ततोगत्वा 15 अगस्त 1947 को भारत को आजादी मिल गयी।

विदेशी आधिपत्य का परिणाम

मूलतः, आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का उदय विदेशी आधिपत्य की चुनौती का सामना करने के लिए हुआ। ब्रिटिश शासन से उत्पन्न स्थितियों ने भारतीय जनता के बीच राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायता दी। ब्रिटिश शासन और उसके प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष परिणामों ने भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के विकास की भौतिक, नैतिक और बौद्धिक स्थितियाँ उत्पन्न कीं।

भारत में भारतीय जनता के हितों तथा ब्रिटिश हितों के बीच टकराव हुआ। अंग्रेज़ों ने भारत को अपने हितों को साधने के लिए जीता था और उन्होंने इसी उद्देश्य से भारत पर शासन किया। उन्होंने बहुधा ब्रिटिश फ़ायदे को भारतीय कल्याण के मुक़ाबले तरजीह दी। धीरे-धीरे भारतीयों ने महसूस किया कि उनके हितों की लंकाशायर के विनिर्माताओं के हितों के सामने बलि चढ़ायी जा रही है। उन्होंने विदेशी शासन के दुर्गुणों को पहचानना शुरू कर दिया। अनेक बुद्धिमान भारतीयों ने महसूस किया कि इनमें से अनेक दुर्गुणों को दूर रखा या उनका मुक़ाबला किया जा सकता था अगर विदेशी हितों के बदले भारतवासियों के हित भारतीय सरकार की नीतियों का पथ-प्रदर्शक होते।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के आधार इस तथ्य पर आधारित थे कि ब्रिटिश शासन भारत के आर्थिक पिछड़ेपन का उत्तरोत्तर प्रधान कारण बनता जा रहा है। वह भारत के भावी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और राजनीतिक विकास के मार्ग में मुख्य बाधा बन गया। इतना ही नहीं, उत्तरोत्तर बड़ी संख्या में भारतीयों ने इस तथ्य को स्वीकार करना शुरू कर दिया।

भारतीय समाज के हर वर्ग और हर श्रेणी ने धीरे-धीरे यह महसूस किया कि उसके हितों को विदेशी शासक हानि पहुँचा रहे हैं। किसानों ने देखा कि सरकार उनके उत्पादन का एक बड़ा भाग भूराजस्व के रूप में ले लेती है; सरकार तथा उसके शासनयंत्र—पुलिस, अदालत और अफ़सर—ज़मींदारों और भूस्वामियों का पक्ष लेते और उनकी रक्षा करते हैं। ज़मींदार और भूस्वामी किसानों से लगान की काफ़ी अधिक राशि ऐंठते हैं। व्यापारी

और महाजन उन्हें विविध प्रकार से ठगते हैं तथा उनका शोषण करते हैं। वे उनकी ज़मीन हड़प लेते हैं। जब भी किसान भूस्वामी तथा महाजन के उत्पीड़न के ख़िलाफ संघर्ष करते थे तब पुलिस और फ़ौज, कानून और व्यवस्था के नाम पर उनका दमन कर देती थीं।

दस्तकारों या हस्तशिल्पियों ने देखा कि विदेशी राज ने विदेशी प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ावा देकर उन्हें तबाह कर दिया और उनके पुनर्वास के लिए कुछ भी नहीं किया।

बाद में, बीसवीं शताब्दी में आधुनिक कारखानों, खानों और बाग़ानों के मज़दूरों ने पाया कि ऊपरी सहानुभूति के बावजूद सरकार पूंजीपतियों, विशेषकर विदेशी पूंजीपतियों का पक्ष लेती है। जब भी वे श्रमिक संघों का संगठन करते तथा हड़तालों, प्रदर्शनों और अन्य संघर्षों के ज़रिए अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करते थे, तब सरकारी यंत्र का इस्तेमाल उनके खिलाफ़ बेरोकटोक होता था। इसके अलावा उन्होंने जल्द ही यह भी महसूस किया कि बढ़ती हुई बेरोज़गारी को द्रुत औद्योगीकरण के ज़रिए ही रोका जा सकता है और द्रुत औद्योगीकरण एक स्वतन्त्र सरकार ही कर सकती है।

भारतीय समाज के इन तीनों वर्गों (किसानों, दस्तकारों, मज़दूरों, जो भारत में बहुमत में थे) ने पाया कि न तो उन्हें कोई राजनीतिक अधिकार है और न ही शक्तियां और उनके बौद्धिक या सांस्कृतिक विकास के लिए बिल्कुल कुछ नहीं किया जाता। शिक्षा रिसकर नीचे उन तक नहीं पहुँचती। गाँवों में शायद ही कहीं स्कूल थे। जो थोड़े से स्कूल थे भी, उनका इन्तज़ाम बहुत ख़राब था। व्यवहार में उच्चतर शिक्षा के दरवाज़े उनके लिए बन्द थे। इसके अलावा, उनमें से अनेक छोटी जातियों के थे। और उन्हें उस समय भी बड़ी जातियों के सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न का सामना करना पड़ता था।

भारतीय समाज की अन्य श्रेणियाँ कम असंतुष्ट नहीं थीं। उदीयमान बुद्धिजीवी वर्ग—शिक्षित भारतीयों—ने अपने नवप्राप्त ज्ञान का उपयोग अपने देश की बुरी आर्थिक और राजनीतिक स्थिति को समझने के लिए किया। जिन लोगों ने पहले, जैसे 1857 में, विदेशी शासन का समर्थन इस आशा से किया था कि विदेशी होने के बावजूद वह भारत का आधुनिकीकरण तथा औद्योगीकरण करेगा, वे धीरे-धीरे निराश हो गये। आर्थिक दृष्टि से उन्होंने आशा की थी कि ब्रिटिश पूंजीवादी भारत की उत्पादक शक्तियों की मदद वैसे ही करेगा जैसे उसने इंग्लैंड में किया था। मगर इसके विपरीत उन्होंने देखा कि इंग्लैंड स्थित ब्रिटिश पूंजीपतियों के निर्देशन में भारत में चलने वाली ब्रिटिश नीतियाँ देश को आर्थिक रूप से पिछड़ा या अर्द्ध-विकसित रख रही हैं और उसकी उत्पादक शक्तियों के विकास को रोक रही हैं। वस्तुतः ब्रिटेन द्वारा शोषण भारत की ग़रीबी को बढ़ा रहा था। वे भारतीय प्रशासन के अत्यन्त खर्चीलेपन, करों के, विशेषकर कृषक वर्ग पर, अत्यधिक बोझ, भारत के देशी उद्योगों के विनाश, ब्रिटिश-पक्षधर तटकर नीति द्वारा आधुनिक उद्योगों के विकास को रोकने के सरकारी प्रयत्नों तथा राष्ट्र-निर्माण और शिक्षा, सिंचाई, सफ़ाई तथा स्वास्थ्य सेवाओं जैसे कल्याण कार्यों की उपेक्षा के बारे में शिकायत करते थे। संक्षेप में, उन्होंने देखा कि ब्रिटेन भारत को एक आर्थिक उपनिवेश, ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे मालों का स्रोत, ब्रिटिश विनिर्मित वस्तुओं के लिए बाज़ार तथा ब्रिटिश पूंजी के निवेश के लिए क्षेत्र बना रहा है। फलतः, उन्होंने यह महसूस करना शुरू कर दिया कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर जब तक साम्राज्यवादी नियंत्रण बना रहेगा, तब तक उसका विकास करना संभव नहीं होगा। विशेषकर, उसका औद्योगीकरण नहीं हो पाएगा।

राजनीतिक दृष्टि से, शिक्षित भारतीयों ने पाया कि भारत का स्वशासन की दिशा में मार्गप्रदर्शन करने वे पहले वाले सारे दिखावे भी अंग्रेज़ों ने छोड़ दिये हैं। अधिकतर ब्रिटिश अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं ने खुलेआम घोषणा की कि अंग्रेज़ भारत में जमे रहने के लिए आए हैं। इसके अलावा, प्रेस तथा व्यक्ति की वाक् स्वतन्त्रता बढ़ाने के बदले सरकार ने उसे अधिकाधिक प्रतिबंधित किया। ब्रिटिश अधिकारियों और लेखकों ने भारतीयों को जनतंत्र या स्वशासन के लिए अयोग्य घोषित कर दिया। संस्कृति के क्षेत्र में, शासक उच्चतर शिक्षा और आधुनिक विचारों के प्रसार के प्रति उत्तरोत्तर नकारात्मक और यहाँ तक कि विरोध भाव अपना रहे थे।

इसके अलावा, भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग बढ़ती हुई बेरोज़गारी से पीड़ित था। जो थोड़े से भारतीय शिक्षित

थे वे रोज़गार पाने में समर्थ नहीं थे और जिन्हें रोज़गार मिल भी गये उन्होंने पाया कि अधिकतर अच्छे वेतन वाले काम अंग्रेज़ मध्यम और उच्च वर्गों के लिए सुरक्षित हैं। अंग्रेज़ मध्यम और उच्च वर्ग भारत को अपने पुत्रों के लिए एक विशेष 'चरागाह' के रूप में देखते रहे। इस प्रकार, शिक्षित भारतीयों ने पाया कि देश का आर्थिक और सांस्कृतिक विकास और विदेशी नियंत्रण से उसकी स्वतंत्रता ही उन्हें रोज़गार के बेहतर अवसर दे सकती है।

उदीयमान भारतीय पूंजीपति वर्ग में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना धीमी गति से विकसित हुई मगर उसने भी धीरे-धीरे यह महसूस किया कि साम्राज्यवाद से उसे भी क्षति पहुँच रही है। उसके विकास के मार्ग में व्यापार, तटकर, कराधान और परिवहन संबंधी सरकारी नीतियाँ बुरी तरह बाधा बन रही हैं। एक नए और कमज़ोर वर्ग के रूप में उसे सक्रिय सरकारी सहायता की आवश्यकता थी जिससे वह अपनी अनेक कमज़ोरियों को दूर कर सकते मगर ऐसी कोई सहायता नहीं दी गयी। इसके बदले, सरकार और अफ़सरशाही ने विदेशी पूंजीपतियों का पक्ष लिया, जो अपने अपार संसाधन लेकर भारत आए और जिन्होंने सीमित औद्योगिक क्षेत्र को हथिया लिया। भारतीय पूंजीपति विदेशी पूंजीपतियों की शक्तिशाली प्रतिस्पर्द्धा के विशेष रूप से विरोधी थे। बीसवीं सदी के पाँचवें दशक में अनेक भारतीय उद्योगपतियों ने माँग की कि "भारत में किए गए सारे ब्रिटिश निवेश वापस ब्रिटेन भेज दिये जाएँ।" इंडियन मर्चेंट्स चैम्बर के अध्यक्ष एम० ए० मास्टर ने 1945 में चेतावनी दी : "भारत इस देश में नयी ईस्ट इंडिया कम्पनियों की स्थापना करने देने की अपेक्षा औद्योगिक विकास के बिना ही रहना बेहतर समझता है, नयी ईस्ट इंडिया कम्पनियों की स्थापना न केवल भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता के प्रतिकूल पड़ती है बल्कि उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने से भी रोकेगी।" इसलिए भारतीय पूंजीपतियों ने भी महसूस किया कि साम्राज्यवाद और उनके अपने स्वतन्त्र विकास के बीच परस्पर विरोध है, और केवल एक राष्ट्रीय सरकार ही भारतीय व्यापार और उद्योग के द्रुत विकास के लिए स्थितियाँ पैदा कर सकती है।

हमने पहले के एक अध्याय में देखा है कि भारतीय समाज में ज़मींदारों, भूस्वामियों और राजाओं का एक ही वर्ग ऐसा था जिसके हित विदेशी शासकों के हित से मिलते थे और इसलिए इस वर्ग ने ही अन्त तक विदेशी शासन का समर्थन किया। मगर इसमें से भी अनेक व्यक्ति राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हो गये। तत्कालीन राष्ट्रीय वातावरण में देशभक्ति ने अनेक लोगों को आकर्षित किया। इसके अलावा, जातीय आधिपत्य और भेदभाव की नीतियों ने हर चिंतनशील और स्वाभिमानी भारतीय को भले ही वह किसी वर्ग का रहा हो, भयभीत किया और सचेत बनाया। सबसे अधिक, ब्रिटिश राज के विदेशी चरित्र ने राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया पैदा कर दी क्योंकि विदेशी आधिपत्य अधीनस्थ जनता के दिलों में भी अवश्यम्भावी रूप से देशभक्ति की भावनाएँ उत्पन्न कर देता है।

संक्षेप में, विदेशी साम्राज्यवाद के अन्तर्भूत चरित्र तथा भारतीय जनता के जीवन पर उसके नुक़सानदेह असर के परिणामस्वरूप ही एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन का भारत में उदय और विकास हुआ। वह एक राष्ट्रीय आंदोलन था क्योंकि उसने समाज के विभिन्न वर्गों और श्रेणियों के लोगों को एकसूत्रबद्ध किया, जिन्होंने अपने सामूहिक शत्रु के विरुद्ध एकजुट होने के लिए अपने पारस्परिक मतभेदों को भुला दिया।

देश का प्रशासन और आर्थिक एकीकरण

जनता के बीच राष्ट्रीय भावनाएँ इसलिए आसानी से पनपीं कि उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के दौरान भारत एक राष्ट्र के रूप में एकसूत्रबद्ध हो गया था। अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे सारे भारत में शासन की एक समरूप और आधुनिक प्रणाली लागू की थी और इस प्रकार उन्होंने देश को प्रशासनिक तौर पर एकसूत्रबद्ध किया। ग्रामीण और स्थानीय स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था के विनाश तथा अखिल भारतीय पैमाने पर आधुनिक व्यापार तथा उद्योगों की स्थापना में भारत के आर्थिक जीवन को एकसूत्रबद्ध किया तथा देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों की आर्थिक नियति को परस्पर सम्बद्ध कर दिया। उदाहरण के लिए अगर भारत के किसी एक भाग में अकाल या अभाव की स्थिति आती थी तो देश के अन्य भागों में भी खाद्य सामग्रियों की उपलब्धि और क़ीमतों पर असर पड़ता था। उन्नीसवीं सदी के पहले ऐसा आमतौर से नहीं होता

था। बम्बई के किसी कारखाने में बनी वस्तुएँ सुदूर उत्तर में लाहौर या पेशावर में बिकने लगीं। मद्रास, बम्बई या कलकत्ता के मज़दूरों और पूँजीपतियों का जीवन ग्रामीण भारत के अनगिनत किसानों की ज़िन्दगी से जुड़ गया। इतना ही नहीं, रेलवे, टेलीग्राफ़ तथा डाक-व्यवस्था की स्थापना से देश के विभिन्न भाग एक दूसरे से जुड़ गये और जनता, विशेषकर नेताओं के बीच परस्पर सम्पर्क को प्रोत्साहन मिला।

यहाँ भी, विदेशी शासन ने एक सूत्र में बांधने वाले कारक की भूमिका अदा की। सारे देश में लोगों ने देखा कि वे एक समान शत्रु—ब्रिटिश शासन—द्वारा उत्पीड़ित हैं। इस प्रकार साम्राज्यवाद विरोधी भावना स्वयं देश के एकीकरण तथा समान राष्ट्रीय दृष्टिकोण के उदय में एक कारक बनी।

पाश्चात्य चिंतन और शिक्षा

उन्नीसवीं सदी के दौरान आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और चिन्तन के प्रसार के परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में भारतीयों ने आधुनिक विवेकपूर्ण, धर्मनिरपेक्ष, जनतांत्रिक और राष्ट्रीय राजनीतिक दृष्टिकोण ग्रहण किया। उन्होंने योरोपीय राष्ट्रों के समसामयिक राष्ट्रीय आंदोलनों का अध्ययन और आदर किया तथा उत्साहपूर्वक उनका अनुकरण करने की कोशिश की। रुसो, पेन, जॉन स्टुअर्ट, मिल और अन्य पाश्चात्य चिन्तक उनके राजनीतिक पथ-प्रदर्शक बन गये, जबकि मेज़िनी, गैरिबाल्डी और आयरिश राष्ट्रवादी नेता उनके राजनीतिक नायक बन गये।

इन शिक्षित भारतीयों ने सबसे पहले विदेशी अधीनता के अपमान को महसूस किया। अपने चिंतन में आधुनिक बनने पर उन्होंने विदेशी शासन के कुपरिणामों के अध्ययन करने की योग्यता भी प्राप्त कर ली। वे एक आधुनिक, शक्तिशाली, समृद्ध और एकसूत्रबद्ध भारत के स्वप्न द्वारा अनुप्राणित थे। कालक्रम से, उनमें जो सर्वोत्तम थे वे राष्ट्रीय आंदोलन के नेता तथा संगठनकर्त्ता बन गये।

इस बात को साफ़ तौर पर समझ लेना चाहिए कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने राष्ट्रीय आंदोलन को जन्म नहीं दिया बल्कि वह ब्रिटेन तथा भारत के हितों के टकराव का परिणाम था। शिक्षा-प्रणाली ने शिक्षित भारतीयों को पाश्चात्य चिंतन को ग्रहण करने में ही सहायता की। इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण करने तथा उसे एक जनतांत्रिक और आधुनिक दिशा प्रदान करने में समर्थ बनाया। वस्तुतः स्कूलों और कालेजों में अधिकारियों ने विदेशी शासन के प्रति विनय तथा ताबेदारी की भावनाओं को विद्यार्थियों में भरने की कोशिश की। राष्ट्रवादी विचार आधुनिक विचारों के आम प्रसार के अंग थे। चीन और इंडोनेशिया जैसे अन्य एशियायी देशों, और सारे अफ़्रीका में छोटे पैमाने पर आधुनिक स्कूलों और कालेजों के होने के बावजूद आधुनिक राष्ट्रवादी विचार फैले।

आधुनिक शिक्षा के कारण शिक्षित भारतीयों के बीच दृष्टिकोण तथा हितों में कुछ समरूपता तथा समानता भी आई। इस संदर्भ में अंग्रेज़ी भाषा ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वह आधुनिक विचारों के प्रसार का माध्यम बन गयी। वह देश के विभिन्न भाषायी क्षेत्रों के शिक्षित भारतीयों के बीच विचारों के संचार तथा विनिमय का माध्यम भी बन गयी। मगर इस मुद्दे पर बहुत ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है। भूतकाल में भी संस्कृत और बाद में फ़ारसी शिक्षित भारतीयों की एक समान भाषा थी। आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा चिंतन की प्राप्ति के लिए भी अंग्रेज़ी आवश्यक नहीं थी। जापान और चीन जैसे एशियायी देश आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान तथा चिंतन को अपनी भाषाओं में अनुवाद के द्वारा प्राप्त कर सके। वस्तुतः अंग्रेज़ी जल्द ही सामान्य जनता के बीच आधुनिक ज्ञान के प्रसार में बाधक बन गयी। उसने शिक्षित शहरी जनता को आम जनता से, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, अलग करने वाली दीवार का काम किया। परिणामस्वरूप, भारत की अपेक्षा उन अनेक देशों में आधुनिक विचारों का प्रचार तेज़ी के साथ हुआ तथा उन्होंने गहरी जड़ें जमायीं जहाँ उनके प्रचार के लिए देशी भाषाओं का प्रयोग किया गया। भारत में अंग्रेज़ी पर ज़ोर होने के कारण वे थोड़े से शहरी लोगों तक ही सीमित रहे। इस तथ्य के महत्त्व को भारतीय राजनीतिक नेताओं ने पूरी तरह समझा। दादाभाई नौरोजी, सैयद अहमद खाँ, और जस्टिस रानाडे से लेकर तिलक और गाँधी जी तक सबने शिक्षा-प्रणाली में भारतीय भाषाओं को अपेक्षाकृत बड़ी भूमिका देने के लिए संघर्ष किया। वस्तुतः जहाँ तक आम जनता का सबंध था, आधुनिक विचारों का प्रसार विकासमान भारतीय भाषाओं

उनमें विकसित होने वाले साहित्य तथा सबसे अधिक भारतीय भाषा के लोकप्रिय प्रेस द्वारा हुआ। समान भाषा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य था कि आधुनिक शिक्षा ने सारे देश में एक ही प्रकार के पाठ्यक्रम लागू किये। नये स्कूलों और कालेजों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित पुस्तकों में छात्रों को एक समान राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण प्रदान करने की कोशिश की। फलस्वरूप शिक्षित भारतीय समान विचारों, भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों की ओर अग्रसर हुए।

प्रेस और साहित्य की भूमिका

प्रेस ही वह मुख्य माध्यम था जिसके जरिए राष्ट्रवादी विचारधारा वाले भारतीयों ने देशभक्ति के संदेश और आधुनिक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों को प्रसारित किया और अखिल भारतीय चेतना का सृजन किया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी समाचारपत्रों का प्रकाशन शुरू हुआ। उनके कालमों में सरकारी नीतियों की लगातार आलोचना की गयी; भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखा गया; जनता से आग्रह किया गया कि वह राष्ट्रीय कल्याण के लिए एकजुट होकर काम करे; और स्वशासन, जनतंत्र, औद्योगीकरण, आदि को जनता के बीच प्रचारित किया गया। प्रेस ने देश के विभिन्न भागों में रहने वाले राष्ट्रवादी कार्यकर्त्ताओं को परस्पर विचार-विनिमय में सहायता दी। उस समय के कुछ प्रमुख राष्ट्रवादी समाचार पत्र थे: बंगाल में 'हिन्दू पैट्रियट', 'अमृत बाज़ार पत्रिका', 'इंडियन मिरर', 'बंगाली', 'सोम प्रकाश' और 'संजीवनी'; बम्बई में 'रास्त गोफ्तार (Rast Goftar), 'नेटिव ओपीनियन', 'इंदु प्रकाश', 'मराठा' और 'केसरी'; मद्रास में 'हिन्दू' 'स्वदेशीमत्रन्', 'आंध्र-प्रकाशिका' और 'केरल पत्रिका'; यू॰ पी॰ में 'एडवोकेट', 'हिन्दुस्तानी' और 'आज़ाद' और पंजाब में 'ट्रिब्यून', 'अख़बारे आम', और 'कोहेनूर'।

राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में उपन्यासों, निबंधों और देश-भक्ति पूर्ण पद्य के रूप में राष्ट्रीय साहित्य ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। बंगला में बंकिम चंद्र चटर्जी और रवींद्रनाथ ठाकुर, असमिया में लक्ष्मीनाथ बेज़ बरूआ; मराठी में विष्णु शास्त्री चिपलंकर; तमिल में सुब्रह्मण्य भारती; हिंदी में भारतेंदु हरिश्चन्द्र; और उर्दू में अल्ताफ़ हुसैन हाली उस काल के कुछ प्रमुख राष्ट्रवादी लेखक थे।

भारत के अतीत का पुनर्न्वेषण

अनेक भारतीयों का इतना पतन हो गया था कि वे स्वशासन की अपनी क्षमता में आत्मविश्वास खो बैठे थे। इसके अलावा, उस समय के अनेक ब्रिटिश अधिकारियों तथा लेखकों ने यह दावा किया कि अतीत में भारतीय कभी अपने ऊपर शासन करने के योग्य नहीं थे, हिन्दू और मुसलमान हमेशा आपस में लड़ते रहते थे, भारतीयों के भाग्य में सदा विदेशियों के शासन में रहना लिखा है, तथा उनका धार्मिक और सामाजिक जीवन इतना गिरा हुआ तथा असभ्यतापूर्ण है कि वे जनतंत्र या यहाँ तक कि स्वशासन के लिए अयोग्य हैं। अनेक राष्ट्रवादी नेताओं ने इस प्रचार का खण्डन कर जनता में आत्मविश्वास तथा आत्मप्रतिष्ठा लाने की कोशिश की। उन्होंने गर्व से भारत की सांस्कृतिक विरासत की ओर संकेत किया तथा आलोचकों का ध्यान अशोक, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और अकबर जैसे शासकों की राजनीतिक उपलब्धियों की ओर दिलाया। इस कार्य में उन्हें योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों की कृतियों से सहायता तथा प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप भारतीयों ने कला, वास्तुशिल्प, साहित्य, दर्शन, विज्ञान और राजनीति के क्षेत्र में अपनी राष्ट्रीय विरासत को फिर से ढूंढ़ निकाला। दुर्भाग्यवश, कुछ राष्ट्रवादी दूसरे छोर पर चले गये और भारत के अतीत का, उसकी कमजोरी तथा पिछड़ेपन को नजरंदाज कर, आँख मूंद कर गौरवगान करने लगे। खासतौर से, केवल प्राचीन भारत की विरासत की ओर ही देखने से भारी हानि हुई। मध्यकाल की उतनी ही महान् उपलब्धियों की उपेक्षा कर दी गयी। इससे हिंदुओं में साम्प्रदायिक भावना के विकास को बढ़ावा मिला। इसके प्रतिकूल प्रवृत्ति मुसलमानों में पनपी जिन्होंने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रेरणा के लिए अरबों तथा तुर्कों के इतिहास की ओर देखना शुरू कर दिया। इसके अलावा, पश्चिम के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की चुनौती का सामना करते समय अनेक भारतीयों में इस तथ्य को नजरंदाज करने की प्रवृत्ति देखी गयी कि अनेक दृष्टियों से भारत की जनता सांस्कृतिक रूप से पिछड़ी हुई है। गर्व तथा आत्म-

संतुष्टि की एक झूठी भावना उत्पन्न हुई जिसने भारतीयों को अपने समाज पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने से रोका। इससे सामाजिक तथा सांस्कृतिक पिछड़ेपन के खिलाफ़ संघर्ष कमज़ोर पड़ गया, और परिणामस्वरूप अनेक भारतीयों ने अन्य जनगण से आने वाली स्वस्थ तथा ताज़ा प्रवृत्तियों और विचारों से मुँह मोड़ लिया।

शासकों का जातीय अहंकार

भारत में राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में एक महत्त्वपूर्ण मगर गौण कारक था भारतीयों के साथ अपने व्यवहार में अनेक अंग्रेज़ों द्वारा अपनायी गयी जातीय श्रेष्ठता का भाव। अनेक अंग्रेज़ों ने खुले आम शिक्षित भारतीयों को भी अपमानित किया और कभी-कभी उन पर प्रहार भी किया। जातीय अहंकार का एक खास घृणित तथा बार-बार सामने आने वाला रूप था—जब भी किसी अंग्रेज़ का किसी भारतीय से झगड़ा होता था तब न्याय का दिवालियापन। भारतीय समाचारपत्रों ने बहुधा ऐसे उदाहरण प्रकाशित किये जिनमें किसी अंग्रेज़ ने किसी भारतीय पर हमला कर उसे मार दिया मगर वह सस्ते ही छूट गया। बहुधा उसे थोड़ा-सा जुर्माना ही देना पड़ता था। ऐसा जजों तथा प्रशासकों द्वारा जानबूझ कर किये जाने वाले पक्षपात के कारण ही नहीं था बल्कि इससे कहीं अधिक जातीय पूर्वाग्रह के कारण था। जैसा जी० ओ० ट्रेवेलियन ने 1864 में बतलाया: "कचहरी में हमारे एक भी देशवासी के साक्ष्य का वजन असंख्य हिंदुओं के साक्ष्य से अधिक होता है। यह ऐसी परिस्थिति है जो एक बेईमान और लोभी अंग्रेज़ के हाथों में सत्ता का एक भयंकर उपकरण रख देती है।"

जातीय अहंकार ने सभी भारतीयों को उनकी जाति, धर्म, प्रान्त या वर्ग का बिना कोई ख़्याल किये हीन क़रार दिया। उन्हें केवल योरोपवासियों के लिए स्थापित क्लबों से अलग रखा जाता था और उन्हें बहुधा रेलगाड़ी के उन डिब्बों में जाने की इजाज़त नहीं होती थी जिनमें योरोपवासी यात्रा कर रहे होते थे। इससे भारतीय राष्ट्रीय अपमान के प्रति सजग हो गये, और इसके फलस्वरूप अंग्रेज़ों का मुक़ाबला करते समय वे अपने को एक राष्ट्र समझने लगे।

तात्कालिक कारक

उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक तक यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर एक प्रमुख शक्ति के रूप में आने के लिए भारतीय राष्ट्रवाद ने पर्याप्त ताकत तथा संवेग प्राप्त कर लिया है। मगर लॉर्ड लिटन के प्रतिक्रियावादी शासन ने उसे स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया। उस दौरान इल्बर्ट बिल को लेकर हुए विवाद ने भारतीय राष्ट्रवाद को संगठित रूप लेने में मदद दी।

लिटन 1876-80 के दौरान भारत का वायसराय था। उसके शासन काल में ब्रिटेन के कपड़ा विनिर्माताओं को खुश करने के लिए आयातित ब्रिटिश कपड़े पर से अधिकांश आयात-शुल्कों को हटा दिया गया। भारतीयों ने इस कार्रवाई को भारत के छोटे मगर विकासमान कपड़ा उद्योग को तबाह करने की ब्रिटिश इच्छा का प्रमाण माना। इससे देश में नाराज़गी की एक लहर फैल गयी और परिणामस्वरूप देश भर में राष्ट्रवादी आंदोलन हुआ। अफ़गानिस्तान के खिलाफ़ दूसरी लड़ाई का भारी खर्च भारतीय खज़ाने से पूरा किया गया। इससे साम्राज्यी युद्ध के भारी खर्च के विरुद्ध ज़ोरदार आंदोलन हुआ। 1878 के आर्म्स ऐक्ट ने लोगों को निहत्था बना दिया इसलिए भारतीयों को लगा कि वह सारे राष्ट्र को नपुंसक बनाने का एक प्रयास है। 1878 के वर्नेक्यूलर प्रेस ऐक्ट को राजनीतिक चेतना वाले भारतीयों ने विदेशी सरकार की बढ़ती हुई राष्ट्रवादी आलोचना को दबाने का एक प्रयास कहकर निंदा की। 1877 में दिल्ली में शाही दरबार का आयोजन हुआ। उस समय देश भयंकर अकाल से पीड़ित था। लोगों को लगा कि उनके शासक उनकी जान की परवाह तनिक भी नहीं करते। 1878 में सरकार ने नये विनियमों की घोषणा कर इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठने वाले उम्मीदवारों की अधिकतम आयु को 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दिया। परीक्षा के इंग्लैंड में और अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से होने के कारण भारतीय छात्र पहले से ही अंग्रेज़ लड़कों की प्रतियोगिता में नहीं ठहर पाते थे। नये विनियमों ने भारतीयों के नागरिक सेवा में प्रवेश करने की सम्भावनाओं को और भी घटा दिया। भारतीयों ने महसूस किया कि प्रशासन की उच्च वेतनमानों वाली सेवाओं पर

अपने लगभग पूरे एकाधिकार को कम करने का अंग्रेज़ों का कोई इरादा नहीं है।

इस प्रकार लिटन के शासन ने विदेशी शासन के विरुद्ध असंतोष को बढ़ाने में मदद की। इस संदर्भ में हम राष्ट्रीय आंदोलन के एक संस्थापक सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के शब्दों को उद्धृत कर सकते हैं :

"लार्ड लिटन के प्रतिक्रियावादी प्रशासन ने जनता को उसके उदासीनता के दृष्टिकोण से जगाया है और जनजीवन को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। राजनीतिक प्रगति के उद्भव में बहुधा खराब शासक छद्म आशीर्वाद होते हैं। वे समुदाय को जगाने में मदद देते हैं, जिसमें वर्षों का आंदोलन भी असफल हो जाता है।"

अगर लिटन ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ सुलगते हुए असंतोष को ज़िन्दा रखा तो इल्बर्ट बिल संबंधी विवाद ने चिंगारी का काम किया। 1883 में रिपन लिटन की जगह वायसराय बना। रिपन ने एक क़ानून बनाने की कोशिश की जिससे भारतीय ज़िला मैजिस्ट्रेट और सेशन जज फ़ौजदारी मुक़दमों में योरोपीय लोगों की सुनवाई कर सकें। जातीय भेदभाव के बिल्कुल ज्वलंत उदाहरण को खत्म करने का यह अत्यन्त मामूली प्रयास था। तत्कालीन क़ानून के तहत इंडियन सिविल सर्विस के भारतीय सदस्य भी अपनी अदालतों में योरोपीय लोगों के मुक़दमों की सुनवाई नहीं कर सकते थे। भारत-स्थित योरोपीय लोगों ने इस बिल के खिलाफ़ एक भारी आंदोलन छेड़ा। यह बिल तत्कालीन विधि सदस्य इल्बर्ट के नाम पर इल्बर्ट बिल कहलाया। अंग्रेज़ों ने भारतीयों और उनकी संस्कृति तथा चरित्र पर गालियों की बौछारें कीं। उन्होंने ऐलान किया कि अत्यन्त शिक्षित भारतीय भी किसी यूरोपवासी के मुक़दमे की सुनवाई करने में अयोग्य हैं। अन्ततः भारत सरकार योरोपीय लोगों के सामने झुक गयी और उसने उनकी माँगों को पूरा करने के लिए बिल में संशोधन कर दिया।

बिल के आलोचकों ने जिस जातीय कटुता का प्रदर्शन किया उसको देखकर भारतीय भयभीत हो गये। विदेशी शासन ने उन्हें पतन के जिस गर्त में गिरा दिया था उसके प्रति भी वे सचेत हो गए। उन्होंने बिल के पक्ष में एक अखिल भारतीय अभियान चलाया। और, सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्होंने यह उपयोगी पाठ पढ़ा कि सरकार द्वारा अपनी माँगों को मनवाने के लिए जरूरी है कि वे भी अपने को राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित करें तथा लगातार और एकजुट होकर आंदोलन चलायें।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पूववर्ती संस्थाएँ

दिसम्बर 1885 में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस संपूर्ण भारत के पैमाने पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रथम संगठित अभिव्यक्ति थी। मगर उसकी अनेक पूववर्ती संस्थाएँ थीं।

हम पहले के एक अध्याय में देख चुके हैं कि राजा राममोहन राय भारत में राजनीतिक सुधारों के लिए अभियान चलाने वाले प्रथम भारतीय नेता थे। आधुनिक भारत में सबसे पहली सार्वजनिक संस्था थी लैंड होल्डर्स सोसायटी। वह बंगाल, बिहार और उड़ीसा के ज़मींदारों की संस्था थी और उसकी स्थापना 1837 में हुई थी। उसका उद्देश्य ज़मींदारों के वर्ग हितों को साधना था। फिर 1843 में सामान्य सार्वजनिक हितों की रक्षा करने तथा साधने के लिए बंगाल ब्रिटिश इंडियन सोसायटी की स्थापना की गयी। इन दोनों संस्थाओं का विलयन 1851 में हुआ। फलस्वरूप 1852 में ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन की स्थापना हुई। इसी तरह के, मगर कम मशहूर क्लबों और एसोसियेशनों (जैसे सैयद अहमद खाँ द्वारा स्थापित साइंटिफिक सोसायटी) की स्थापना देश के विभिन्न शहरों और भागों में हुई। इन सब एसोसियेशनों में धनी और अभिजात तत्त्वों का बोलबाला था, जिन्हें उन दिनों 'प्रमुख व्यक्ति' कहा जाता था। इन संस्थाओं का चरित्र प्रान्तीय या स्थानीय था। इन संस्थाओं ने प्रशासन के सुधार, प्रशासन के साथ भारतीयों की सम्बद्धता, और शिक्षा के प्रसार के लिए काम किया, तथा ब्रिटिश संसद को लम्बी याचिकाएँ भेजीं जिनमें भारतीय माँगों को रखा गया।

1858 के बाद के काल में शिक्षित भारतीयों और ब्रिटिश भारत के प्रशासन के बीच की खाई बढ़ गयी। जैसे-जैसे शिक्षित भारतीयों ने ब्रिटिश शासन के चरित्र और भारतीयों के लिए उनके परिणामों का अध्ययन किया, वैसे-वैसे वे भारत में अपनायी गयी ब्रिटिश नीतियों के

अधिकाधिक आलोचक बनते गये। धीरे-धीरे असंतोष की अभिव्यक्ति राजनीतिक गतिविधियों के माध्यम से हुई। तत्कालीन संस्थाएँ राजनीतिक तौर पर जागरूक भारतीयों को अब अधिक संतुष्ट नहीं कर सकीं।

दादाभाई नौरोजी ने 1866 में ईस्ट इंडियन एसोसियेशन की लन्दन में स्थापना की। उसका उद्देश्य भारत के प्रश्न पर विचार विमर्श करना तथा भारत का भला करने के लिए ब्रिटिश सार्वजनिक व्यक्तियों को प्रभावित करना था। बाद में उन्होंने एसोसियेशन की शाखाएँ प्रमुख भारतीय शहरों में खोलीं। 1825 में जन्में दादाभाई ने अपना सारा जीवन राष्ट्रीय आंदोलन में लगा दिया और जल्द ही वे "ग्रैंड ओल्ड मैन आफ इंडिया" के नाम से पुकारे जाने लगे। वे भारत के प्रथम आर्थिक चिंतक भी थे।

दादा भाई नौरोजी, एनी बेसेंट आदि
नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से

अर्थशास्त्र संबंधी अपने लेखों में उन्होंने दिखलाया कि भारत की दरिद्रता के मूल में थे : भारत का ब्रिटिश शोषण और उसकी समृद्धि का निष्कासन। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने दादाभाई को अध्यक्ष पद पर तीन बार चुनकर उनका सम्मान किया। वस्तुतः भारत के जनप्रिय राष्ट्रवादी नेताओं की लम्बी कतार में उनका स्थान प्रथम था। उनका नाम लेते ही जनता का हृदय उछलने लगता था।

जस्टिस रानाडे तथा अन्य लोगों ने उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में पूना सार्वजनिक सभा की स्थापना की।

मद्रास महाजन सभा की स्थापना 1881 में हुई और बम्बई प्रेसिडेंसी एसोसियेशन 1885 में बनी। इन संगठनों का मुख्य काम महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक और विधायी कदमों की आलोचना करना था। पूना सार्वजनिक सभा ने जस्टिस रानाडे के मार्गदर्शन में एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली। यह पत्रिका नये भारत का, खासकर आर्थिक प्रश्नों पर, बौद्धिक मार्गदर्शक बन गयी।

कांग्रेस के पूर्ववर्ती राष्ट्रवादी संगठनों में सबसे प्रमुख संगठन था कलकत्ता का इंडियन एसोसिएशन। बंगाल के युवा राष्ट्रवादी का ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन की रूढ़िवादी तथा ज़मींदार-परस्त नीतियों के प्रति असंतोष धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था। वे चाहते थे कि व्यापक जनहित के मुद्दों पर लगातार राजनीतिक आंदोलन चलाया जाए। उन्हें सुरेंद्रनाथ बनर्जी के रूप में एक नेता मिला। वे एक तेजस्वी लेखक तथा वक्ता थे। उन्हें इंडियन सिविल सर्विस से अन्यायपूर्ण ढंग से निकाल दिया गया क्योंकि उनके वरिष्ठ अफसर इस सेवा के अन्तर्गत एक स्वतंत्र विचार वाले भारतीय को नहीं सहन कर सके। उन्होंने 1875 में कलकत्ता के छात्रों के बीच राष्ट्रीय विषयों पर भाषण कर अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया। बंगाल के युवा राष्ट्रवादियों ने सुरेंद्रनाथ और आनन्द मोहन बोस के नेतृत्त्व में जुलाई 1876 में इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की। इंडियन एसोसियेशन ने अपने सामने दो लक्ष्य रखे; राजनीतिक प्रश्नों पर देश में प्रबल जनमत तैयार करना तथा एक समान राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर भारतीय जनता को एकसूत्रबद्ध करना। अपने झंडे के नीचे लोगों को बड़ी संख्या में इकट्ठा करने के लिए उसने गरीब वर्गों के लिए कम सदस्यता शुल्क रखा।

उसने आंदोलन के लिए जो पहला प्रमुख मुद्दा चुना, वह था : सिविल सर्विस विनियमों का सुधार तथा उसकी परीक्षा के लिए उम्र की सीमा को बढ़ाना। इस सवाल पर अखिल भारतीय जनमत तैयार करने के प्रयास में सुरेंद्र नाथ बनर्जी ने 1877-78 के दौरान देश के विभिन्न भागों का दौरा किया। इंडियन एसोसिएशन ने आर्म्स ऐक्ट और वर्नेक्यूलर प्रेस ऐक्ट के ख़िलाफ़ तथा ज़मींदारों के अत्याचारों से रैयतों की सुरक्षा के लिए भी आंदोलन चलाया। उसने रेंट बिल में रैयतों के हित की दृष्टि से परिवर्तन के लिए 1883-85 के दौरान हज़ारों किसानों के जनप्रदर्शन कराए। अंग्रेज़ों के चाय बागानों में लगभग गुलामी की सी स्थिति थी। उसने इन बागानों के मज़दूरों के काम की दशाओं में सुधार के लिए भी आंदोलन किया। एसोसियेशन की अनेक शाखाएँ बंगाल के शहरों और गाँवों तथा बंगाल के बाहर के अनेक शहरों में भी स्थापित की गयीं।

उन राष्ट्रवादियों के एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन के निर्माण के लिए अब उचित समय आ गया था जिन्होंने सामूहिक शत्रु—विदेशी शासन और शोषण के विरुद्ध राजनीतिक तौर पर एकजुट होने की आवश्यकता महसूस की। तत्कालीन संगठनों ने एक लाभप्रद उद्देश्य को पूरा किया मगर उनका दायरा और काम बहुत ही संकुचित था। उन्होंने मुख्य रूप से स्थानीय प्रश्नों पर अपना ध्यान दिया तथा उनकी सदस्यता और नेतृत्त्व एक ही शहर या प्राप्त के कुछ लोगों तक ही सीमित था। यहाँ तक कि इंडियन एसोसिसेशन भी एक अखिल भारतीय सस्था बनने में सफल नहीं हो सकी थी।

इंडियन एसोसियेशन ने दिसम्बर 1883 में कलकत्ता में एक अखिल भारतीय नेशनल कांफ्रेंस (राष्ट्रीय सम्मेलन) आयोजित किया। कांफ्रेंस में बंगाल के बाहर के कई नेताओं ने भाग लिया। उसने उसी तरह का एक कार्यक्रम स्वीकार किया जिस तरह का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किया, जिसके साथ उसका विलयन 1886 में हो गया। मगर उसे देशव्यापी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं और नेताओं की प्रतिनिधि संस्था बनने में सफलता नहीं मिली।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

अनेक भारतीय राष्ट्रवादी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं का एक अखिल भारतीय संगठन बनाने की योजना बना रहे थे। मगर इस विचार को मूर्त और अन्तिम रूप देने का श्रेय एक सेवानिवृत सरकारी अंग्रेज़ अफ़सर ए० ओ० ह्यूम को है। उसने प्रमुख भारतीय नेताओं के साथ सम्पर्क क़ायम किया तथा उनके सहयोग से बम्बई में दिसम्बर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन

आयोजित किया। उसकी अध्यक्षता उमेशचंद्र बनर्जी (डब्लू० सी० बनर्जी) ने की और उसमें 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। राष्ट्रीय कांग्रेस के घोषित लक्ष्य थे : देश के विभिन्न भागों के राष्ट्रवादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों को बढ़ावा देना, जाति, धर्म या प्रांत के आधार पर बिना कोई भेदभाव किए राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास और सुदृढ़ीकरण, जनता की माँगों का सूत्रीकरण और सरकार के सामने उनका प्रस्तुतीकरण, और सबसे महत्त्वपूर्ण देश में जनमत का प्रशिक्षण तथा संगठन।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में ह्यूम ने जिन मुख्य लक्ष्यों को ध्यान में रखकर सहयोग दिया उनमें एक था : ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ बढ़ते हुए जन असंतोष के लिए निर्गम—'सुरक्षा-कपाट'—की व्यवस्था करना। 1879 में सेना-रसद विभाग के एक क्लर्क, वासुदेव बलवंत फड़के ने रामोशी किसानों का एक गिरोह इकट्ठा कर महाराष्ट्र में हथियारबंद विद्रोह किया था। यद्यपि उसके अपरिष्कृत और कुव्यवस्थित प्रयास को आसानी से कुचल दिया गया तथापि यह भविष्य के लिए अपशकुन था। ह्यूम तथा अन्य अंग्रेज अफ़सरों तथा राजनेताओं को डर था कि शिक्षित भारतीय जनता को नेतृत्व प्रदान करेंगे और विदेशी सरकार के खिलाफ़ एक शक्तिशाली विद्रोह आयोजित करेंगे। जैसा कि ह्यूम ने कहा : "हमारी अपनी कार्रवाई द्वारा पैदा की गयी महान् और उदीयमान शक्तियों के पलायन के लिए एक सुरक्षा-कपाट की अविलम्ब आवश्यकता थी।" उसका विश्वास था कि राष्ट्रीय कांग्रेस शिक्षित भारतीयों के असंतोष के लिए एक शान्तिपूर्ण और संवैधानिक निर्गम मार्ग की व्यवस्था करेगी। इस प्रकार वह जनविद्रोह नहीं भड़कने देगी।

मगर (सुरक्षा-कपाट) सिद्धान्त सत्य का एक छोटा भाग है। सर्वोपरि बात यह थी कि राष्ट्रीय कांग्रेस ने राजनीतिक रूप से जागृत भारतीयों की उस आकांक्षा का प्रतिनिधित्व किया कि अपने राजनीतिक और आर्थिक विकास के लिए काम करने के वास्ते एक राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाए। ऊपर हम देख चुके हैं कि शक्तिशाली कारकों के फलस्वरूप देश में एक राष्ट्रीय आंदोलन विकसित हो रहा था। इस आंदोलन के निर्माण का श्रेय किसी एक व्यक्ति या समूह को नहीं दिया जा सकता। यहाँ तक कि ह्यूम की भावनाएँ भी मिश्रित थीं। वह 'सुरक्षा-कपाट' के उद्देश्य से ही नहीं बल्कि उससे भी उदात्त उद्देश्यों से प्रेरित था। उसके मन में भारत तथा उसके ग़रीब किसानों के प्रति सच्चा प्रेम था। जो भी हो, राष्ट्रीय कांग्रेस को स्थापित करने में जिन भारतीय नेताओं ने ह्यूम के साथ सहयोग किया वे उच्च चरित्र वाले देशभक्त थे। उन्होंने स्वेच्छा से ह्यूम की सहायता स्वीकार कर ली क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि राजनीतिक गतिविधि के इतने प्रारम्भिक चरण में ही उनके प्रयासों के प्रति सरकार वैर-भाव अपनाए।

अतः 1885 में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ विदेशी शासन से भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष छोटे पैमाने पर मगर संगठित ढंग से शुरु हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन बढ़ा और देश तथा उसकी जनता ने तब तक राहत की सांस नहीं ली जब तक आज़ादी प्राप्त नहीं कर ली गयी।

सुरेंद्र नाथ बनर्जी तथा बंगाल के कई अन्य नेता राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में शामिल नहीं हो सके क्योंकि वे कलकत्ता में द्वितीय नेशनल कांफ्रेंस में व्यस्त थे। 1886 में उन्होंने अपनी शक्तियों का राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्तियों के साथ विलयन कर दिया। राष्ट्रीय कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में दिसम्बर 1886 में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन से राष्ट्रीय कांग्रेस 'सारे देश की कांग्रेस' बन गयी। उसके 436 प्रतिनिधि विभिन्न स्थानीय संगठनों और समूहों द्वारा चुने गए थे। इसके बाद से राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हर साल दिसम्बर में देश के अलग-अलग भाग में होने लगा। उसके प्रतिनिधियों की संख्या जल्द ही हज़ारों में पहुँच गयी। उसके प्रतिनिधियों में मुख्य रूप से वकील, पत्रकार, व्यापारी, उद्योगपति, शिक्षक और ज़मींदार होते थे। 1890 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रथम महिला स्नातक कादम्बिनी गांगुली ने कांग्रेस के अधिवेशन को सम्बोधित किया। यह इस तथ्य का प्रतीक था कि भारतीय स्वतंत्रता-संघर्ष भारतीय महिलाओं को उनकी अवनत अवस्था से ऊपर उठाएगा, जिसमें वे शताब्दियों से पड़ी हुई थीं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही राष्ट्रवाद का एकमात्र माध्यम नहीं थी। प्रान्तीय सम्मेलन, प्रांतीय और स्थानीय परिषदें, और राष्ट्रवादी समाचारपत्र बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य प्रमुख साधन थे। विशेषकर प्रेस राष्ट्रवादी जनमत और राष्ट्रवादी आंदोलन को विकसित करने में एक शक्तिशाली कारक था। प्रारम्भिक वर्षों में राष्ट्रीय कांग्रेस के कुछ महान् अध्यक्ष थे: दादाभाई नौरोजी,
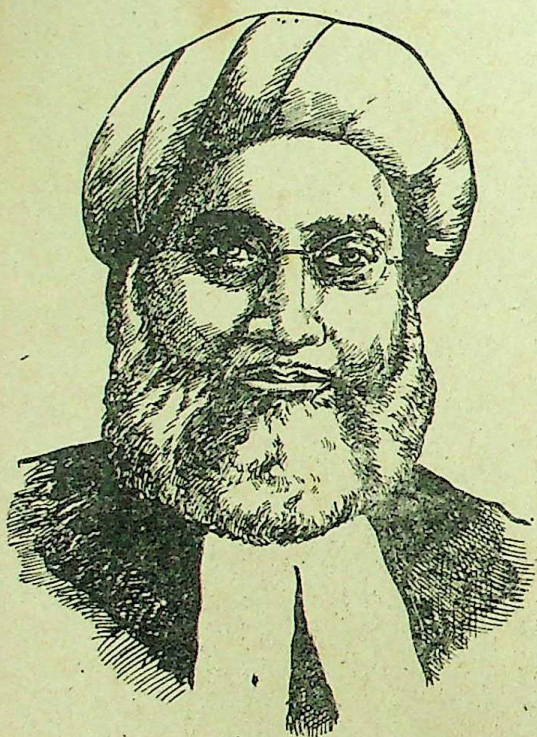
बदरूद्दीन तैयबजी

बदरुद्दीन तैयबजी, फ़िरोज़शाह मेहता, पी० आनन्द चार्लु, सुरेंद्र नाथ बनर्जी, रमेश चन्द्र दत्त, आनन्द मोहन बोस और गोपाल कृष्ण गोखले। इस काल के दौरान कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य प्रमुख नेता थे: महादेव गोविंद रानाडे, बाल गंगाधर तिलक, दो भाई शिशिर कुमार और मोतीलाल घोष, मदन मोहन मालवीय, जी० सुब्रह्मण्य अय्यर, सी० विजयराघवाचारियर और दिनशॉ इ० वाचा।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारम्भिक दौर (1885-1905) के उसके कार्यक्रमों का अध्ययन कई शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

संवैधानिक सुधार

प्रारम्भिक राष्ट्रवादी अपने देश की सरकार में अपेक्षाकृत अधिक हिस्सा चाहते थे और इसलिए उन्होंने जनतंत्र के सिद्धान्त की दुहाई दी। मगर उन्होंने अपने लक्ष्य की तात्कालिक पूर्ति के लिए नहीं कहा। उनकी आशा थी कि वे आज़ादी को धीरे-धीरे प्राप्त कर लेंगे। वे अत्यन्त सतर्क भी थे कि कहीं सरकार उनकी गतिविधियों को दबा न दे। 1885 से लेकर 1892 तक उन्होंने लेजिस्लेटिव काउन्सिलों के विस्तार और सुधार की माँग की। उन्होंने माँग की कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को ही काउन्सिलों की सदस्यता मिले और काउन्सिलों के अधिकारों को बढ़ाया जाए।

उनके आन्दोलन से मजबूर होकर ब्रिटिश सरकार ने 1892 का इंडियन काउन्सिल ऐक्ट पास किया। इस एक्ट के ज़रिए इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल तथा प्रान्तीय काउन्सिलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी। व्यवस्था की गयी कि कुछ सदस्य भारतीयों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाएँगे, मगर अफ़सरों का बहुमत बना रहा। काउन्सिलों को वार्षिक बजट पर विचार-विमर्श करने का अधिकार दिया गया मगर वे उन पर वोट नहीं दे सकते थे।

राष्ट्रवादी 1892 के एक्ट से बिल्कुल संतुष्ट नहीं थे और उन्होंने उसे धोकाधड़ी क़रार दिया। उन्होंने काउन्सिलों में भारतीयों को अपेक्षाकृत अधिक जगहें देने तथा व्यापक अधिकारों की भी माँग की। ख़ासतौर पर उन्होंने सार्वजनिक कोष पर भारतीय नियंत्रण की माँग की और उन्होंने नारा दिया: 'प्रतिनिधित्व के बिना कोई कर नहीं।' यह उल्लेखनीय है कि अपने स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान अमरीकी जनता का यही राष्ट्रीय नारा बन गया था।

बीसवीं सदी के आरम्भ तक राष्ट्रवादी नेता और आगे बढ़े और उन्होंने स्वराज्य यानी आस्ट्रेलिया तथा कनाडा जैसे उपनिवेशों की तरह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की माँग रखी। यह माँग कांग्रेस के

मंच से 1905 में गोखले तथा 1906 में दादाभाई नौरोजी ने रखीं।

आर्थिक सुधार

आर्थिक क्षेत्र में आरम्भिक राष्ट्रवादियों ने भारत की बढ़ती हुई ग़रीबी और आर्थिक पिछड़ेपन तथा आधुनिक उद्योग और कृषि द्वारा विकास करने में विफलता की शिकायत की; और उन्होंने ब्रिटिश शासकों की नीतियों को दोषी ठहराया। दादाभाई नौरोजी ने 1881 में ही कहा था कि ब्रिटिश शासन "एक निरन्तर, वर्धमान और प्रतिदिन वर्धमान विदेशी आक्रमण" है जो "देश को पूर्ण रूप से, मगर धीरे-धीरे, बरबाद कर रहा" है। राष्ट्रवादियों ने भारत के देशी उद्योगों के विनाश के लिए अंग्रेज़ों को दोषी ठहराया। भारत की ग़रीबी को हटाने के लिए उन्होंने जो प्रमुख उपाय सुझाया वह था : आधुनिक उद्योगों का तेज़ी से विकास। वे चाहते थे कि सरकार तटकर संरक्षण और प्रत्यक्ष सरकारी सहायता के द्वारा आधुनिक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करे। भारतीय उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने स्वदेशी या भारतीय वस्तुओं के इस्तेमाल और ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के विचार को जनप्रिय बनाया। उदाहरण के लिए, पुणे और महाराष्ट्र के अन्य शहरों में छात्रों ने एक बड़े स्वदेशी अभियान के भाग के रूप में 1896 में सार्वजनिक रूप से विदेशी वस्त्रों को जलाया।

राष्ट्रवादियों ने शिकायत की कि भारत की समृद्धि को ढोकर इंग्लैंड पहुँचाया जा रहा है और उन्होंने माँग की कि इसे रोका जाए। किसानों पर करों का बोझ कम करने के लिए उन्होंने भूराजस्व में कमी लाने के लिए लगातार आंदोलन चलाया। बाग़ानों के मजदूरों के काम की दशाओं में सुधार के लिए भी उन्होंने आंदोलन किया। उन्होंने ऊँचे कराधान को भारत की ग़रीबी का एक कारण बतलाया और उन्होंने नमक-कर समाप्त करने तथा भूराजस्व कम करने की माँग की। उन्होंने भारत सरकार के भारी सैनिक ख़र्च की निंदा की तथा उसमें कमी करने की माँग की। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे अधिकाधिक राष्ट्रवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विदेशी शासन के कुछ लाभप्रद पहलुओं की तुलना में देश का आर्थिक शोषण तथा दरिद्रता और विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा उसके आर्थिक पिछड़ेपन को बनाए रखने के हानिकारक परिणाम कहीं अधिक हैं। अतः, जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के परिणामों के बारे में दादाभाई नौरोजी ने टिप्पणी की :

> "कहानी यह कही जा रही है कि भारत में जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा है; वास्तविकता में ऐसी कोई चीज नहीं है। एक अर्थ में या एक तरीक़े से जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा है—यानी लोग एक दूसरे या देशी निरंकुश शासकों की किसी भी हिंसात्मक कारंवाई से सुरक्षित हैं मगर इंग्लैंड के चंगुल से सम्पत्ति की कोई सुरक्षा नहीं है, परिणामस्वरूप, जीवन की कोई सुरक्षा नहीं है। भारत की सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है। केवल इंग्लैंड ही पूरी तरह निरापद और सुरक्षित है, और वह पूरी सुरक्षा के साथ प्रतिवर्ष 30,000,000 या 40,000,000 पौंड की वर्तमान दर से भारत की सम्पति ले जाता है या उसका भारत में ही उपयोग करता है...इसलिए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि भारत को अपनी सम्पत्ति या जीवन की कोई सुरक्षा नहीं है...भारत के करोड़ों लोगों को "आधे पेट रहने, भुखमरी या अकाल और बीमारी के सिवाय और कुछ नहीं मिला है।"

क़ानून और व्यवस्था के बारे में दादाभाई ने कहा :

> "एक भारतीय कहावत है; 'पीठ पर लात मारो मगर पेट पर लात मत मारो।' देशी निरंकुश शासक के अधीन लोग जो भी उत्पन्न करते हैं उसे रखते और उसका उपभोग करते हैं, यद्यपि कभी-कभी उन्हें पीठ पर मार भी सहनी पड़ती है। ब्रिटिश भारत के निरंकुश शासक के अधीन आदमी शान्ति से रहता है, कोई मारपीट नहीं होती है; उसकी धन सम्पत्ति को अनदेखे, शान्तिपूर्वक और बारीकी से निष्कासित कर लिया जाता है—वह शान्ति से भूखा रहता है और शान्ति से मर जाता है, यह सब कानून और व्यवस्था के अनुसार होता है।"

प्रशासनिक और अन्य सुधार

उस समय भारतीयों ने जिस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार की कामना की वह था प्रशासनिक सेवाओं की उच्चतर श्रेणियों का भारतीयकरण। उन्होंने यह माँग आर्थिक, राजनीतिक और उच्चतर नैतिक आधारों पर रखी। आर्थिक दृष्टि से, उच्चतर सेवाओं पर योरोपीय एकाधिकार दो कारणों से नुक़सानदेह था :

(क) योरोपीय लोगों को बड़ी ऊँची दरों पर भुगतान किया जाता था और इससे भारतीय प्रशासन बड़ा

ख़र्चीला हो गया था—सामान्य योग्यताओं वाले भारतीयों को कम वेतनों पर रखा जाता था; (ख) योरोपीय लोग अपने वेतनों का एक बड़ा भाग भारत से बाहर भेज देते थे और उनकी पेंशनों का भुगतान भी इंग्लैंड में होता था। फलस्वरूप, भारत से धन के निष्कासन में वृद्धि होती थी। राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रवादियों को आशा थी कि इन सेवाओं का भारतीयकरण प्रशासन को भारतीय आवश्यकताओं के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण बनायेगा। इस प्रश्न के नैतिक पहलू पर गोपालकृष्ण गोखले ने 1897 में इस प्रकार लिखा :

"विदेशी एजेंसी का अत्यधिक ख़र्चीलापन ही उसका एकमात्र दुर्गुण नहीं है। एक नैतिक दुर्गुण भी है जो, कुछ भी हो, उससे बड़ा है। वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय नस्ल को एक तरह से बौना या अविकसित बनाया जा रहा है। इसका मतलब है कि हमें अपना सारा जीवन हीनता के वातावरण में बिताना चाहिए और हमारे बीच जो सबसे महान् हैं, उन्हें भी झुकना चाहिए ·····वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत हमारा पुरुषार्थ उस पूरी ऊँचाई तक कभी नहीं उठ सकता जहाँ तक उठने में वह सक्षम है जो नैतिक औदात्य प्रत्येक स्वशासित जनगण महसूस करता है वह हम कभी महसूस नहीं कर सकते। हमारी प्रशासनिक और सैनिक प्रतिभा केवल इसलिए लुप्त हो जाएगी कि उसका प्रयोग नहीं होता और अन्ततः हमारे भाग्य में अपने देश में केवल आज्ञाकारी घरेलू नौकर की तरह रहना अमिट रूप से लिख दिया जायेगा।"

राष्ट्रवादियों ने माँग की कि न्यायिक शक्तियों को कार्यपालिका की शक्तियों से अलग कर दिया जाय। उन्होंने जूरी के अधिकारों में कटौती का विरोध किया। उन्होंने लोगों को शस्त्रविहीन बनाने की सरकारी नीति का विरोध किया और सरकार से आग्रह किया कि वह लोगों पर विश्वास रखे तथा उन्हें हथियार रखने का अधिकार दे। इस तरह उन्होंने आग्रह किया कि सरकार लोगों को आवश्यकता पड़ने पर अपनी और देश की रक्षा करने का अधिकार दे।

उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि वह राज्य के कल्याणकारी कार्यों की ज़िम्मेदारी ले तथा उन्हें सम्पन्न करे। उन्होंने जनता के बीच प्राथमिक शिक्षा के प्रसार पर काफ़ी ज़ोर दिया। उन्होंने तकनीकी तथा उच्चतर शिक्षा के लिए अधिक सुविधाओं की भी माँग की थी।

किसानों को महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए उन्होंने कृषि बैंक विकसित करने का अनुरोध किया। वे चाहते थे कि सरकार कृषि के विकास, तथा देश को अकालों से बचाने के लिए सिंचाई की सुविधाओं के विस्तार का कार्यक्रम बड़े पैमाने पर शुरू करे। उन्होंने चिकित्सा और स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं के विस्तार तथा पुलिस प्रणाली में सुधार की माँग की जिससे उसे ईमानदार, कुशल, और जनप्रिय बनाया जा सके।

राष्ट्रवादी नेताओं ने भारतीय मजदूरों का पक्ष लिया जो अपनी दरिद्रता से मजबूर होकर रोज़गार की खोज में दक्षिण अफ्रीका, मलाया, मौरिशस, वेस्ट इंडीज और ब्रिटिश ग्याना जैसे अन्य देशों में चले जाते थे। इनमें से अनेक देशों में उन्हें घोर उत्पीड़न और जातीय भेदभाव का सामना करना पड़ता था। यह बात दक्षिण अफ्रीका के लिए विशेष रूप से सही थी जहाँ उस समय मोहन दास कर्मचन्द गाँधी भारतीयों के मूल मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए एक जनप्रिय संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे।

नागरिक अधिकारों की रक्षा

आरम्भिक राष्ट्रवादियों ने भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता के महत्त्व को अच्छी तरह पहचाना और उनमें कमी करने के सभी प्रयत्नों का विरोध किया। वस्तुतः इन स्वतंत्रताओं के लिए संघर्ष आज़ादी के राष्ट्रवादी संघर्ष का एक अभिन्न अंग बन गया। बम्बई सरकार ने 1897 में बाल गंगाधर तिलक और कई अन्य लोगों को गिरफ्तार कर लिया तथा उन पर अपने भाषणों तथा लेखों के द्वारा राजद्रोह फैलाने के अपराध में मुक़दमा चलाया। उन्हें जेल की लम्बी सजाएँ दे दी गयीं। साथ ही पुणे के दो नेताओं—नाटु बंधुओं—को बिना मुक़दमा चलाये देशनिकाला दे दिया गया। सारे देश ने जनता की स्वतंत्रताओं पर होने वाले इस प्रहार का विरोध किया। तिलक जो अब तक केवल महाराष्ट्र में ही जाने जाते थे, रातों रात अखिल भारतीय नेता बन गए। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने लिखा : "इस विशाल देश में शायद ही कोई घर है जहाँ श्री तिलक अभी विषादमय चर्चा के विषय नहीं हैं और उनकी क़ैद को पारिवारिक विपत्ति नहीं समझा जाता है।" वस्तुतः तिलक की गिरफ्तारी ने देश को उत्तेजित कर दिया और राष्ट्रवादी आंदोलन के नए दौर की शुरूआत का संकेत दिया।

राजनीतिक कार्य के तौर-तरीके

1905 तक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर जिन नेताओं का बोलबाला था उन्हें बहुधा नरम राष्ट्रवादी या नरम दलीय कहा जाता था। नरम दलीय लोगों के राजनीतिक तरीकों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है: कानून की परिधि में संवैधानिक आंदोलन, और धीरे-धीरे व्यवस्थित राजनीतिक प्रगति। उनका विश्वास था कि अगर जनमत को तैयार और संगठित किया जाय और जनता की माँगों को याचिकाओं, सभाओं, प्रस्तावों और भाषणों के जरिए अधिकारियों के पास पहुंचाया जाय तो अधिकारी उन माँगों को धीरे-धीरे मान लेंगे।

इसलिए उनका राजनीतिक कार्य एक साथ ही दो दिशाओं में चल रहा था। पहला, वे भारत में एक शक्तिशाली जनमत तैयार कर जनता की राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय भावना को जागृत करना, तथा उसे राजनीतिक प्रश्नों के ऊपर शिक्षित और एकजुट करना चाहते थे। मूलतः राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्तावों तथा याचिकाओं का भी यही लक्ष्य था। दूसरा, राष्ट्रवादियों द्वारा बतलायी गयी दिशाओं में सुधार करने के लिए ब्रिटिश सरकार को तैयार करना। नरमपंथी राष्ट्रवादियों की धारणा थी कि ब्रिटिश जनता और संसद भारत के प्रति न्यायपूर्ण रुख अपनाना चाहती थीं मगर उन्हें भारत की सही स्थितियों के बारे में कुछ पता नहीं था। इसलिए, भारतीय जनमत को शिक्षित करने के बाद राष्ट्रवादी ब्रिटिश जनमत को शिक्षित करने के लिए प्रयत्नशील थे। इस उद्देश्य से उन्होंने ब्रिटेन में सक्रिय प्रचार किया। अग्रणी भारतीयों का शिष्टमंडल भारतीय विचार का प्रचार करने के लिए ब्रिटेन भेजा गया। 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति स्थापित की गयी। 1890 में इस समिति ने इंडिया नाम की एक पत्रिका निकाली। दादाभाई नौरोजी ने अपने जीवन और आय का एक बहुत बड़ा भाग इंग्लैंड में वहाँ की जनता के सामने भारतीय पक्ष को रखने में लगाया।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का विद्यार्थी कभी-कभी प्रमुख नरम दलीय नेताओं द्वारा ब्रिटिश शासन के प्रति जोरदार रूप से निष्ठा के प्रदर्शन के बारे में पढ़कर उलझन में पड़ जाता है। निष्ठा-प्रदर्शन का यह मतलब नहीं है कि वे सच्चे देशभक्त नहीं थे या कायर लोग थे। उनका सच्चा विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ भारत के राजनीतिक संबंध का बने रहना इतिहास के तत्कालीन चरण में भारत के हित में है। इसलिए, उन्होंने योजना बनायी कि अंग्रेजों को नहीं निकाला जाय बल्कि ब्रिटिश शासन को इस तरह रूपान्तरित किया जाय कि वह लगभग राष्ट्रीय शासन बन जाय। बाद में, उन्होंने जब ब्रिटिश शासन के दुर्गुणों तथा सुधार की राष्ट्रवादी माँगों को मानने में सरकार की असमर्थता पर ध्यान दिया तब उनमें से अनेक ने ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा की बात बन्द कर दी तथा भारत के लिए स्वराज्य की माँग शुरू कर दी। इसके अलावा, उनमें से अनेक नरमपंथी थे क्योंकि वे महसूस करते थे कि विदेशी शासकों को सीधी चुनौती देने के लिए अभी समय अनुकूल नहीं है।

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि उस काल के सभी राष्ट्रवादी नरमदलीय विचारधारा के नहीं थे। उनमें से कुछ लोगों का आरम्भ से ही अंग्रेजों की सद्भावनाओं में कोई विश्वास नहीं था। वे भारतीय जनता की राजनीतिक कार्रवाई तथा शक्ति पर निर्भर रहने में विश्वास रखते थे। उन्होंने एक लड़ाकू राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम की वकालत की। तिलक और अन्य अनगिनत नेता तथा समाचार पत्र सम्पादक इस प्रवृत्ति का समर्थन करते थे। ये नेता बाद में चलकर गरमदलीय या उग्रवादी कहलाए। उनके कार्य तथा दृष्टिकोण की चर्चा आगे के एक अध्याय में की जायेगी।

राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति सरकार का दृष्टिकोण

आरम्भ से ही ब्रिटिश अधिकारी उदीयमान राष्ट्रवादी आंदोलन के विरोधी थे और वे राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति शंकालु थे। डफरिन से लेकर नीचे तक के ब्रिटिश अफ़सर राष्ट्रवादी नेताओं को "निष्टाहीन बाबू,' 'राजद्रोही ब्राह्मण', और 'खूंखार खलनायक' कहते थे। मगर शुरू में यह विरोधभाव खुलेआम नहीं व्यक्त किया गया। शायद यह आशा थी कि ह्यूम का नेतृत्व राष्ट्रीय आंदोलन तथा उसके माध्यम से, राष्ट्रीय कांग्रेस, को ब्रिटिश शासन के प्रति अहानिकार बनायेगा। दिसम्बर 1886 में वायसराय ने राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधियों को उद्यान-भोज के लिए भी आमं-

लित किया । मगर जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय कांग्रेस अधिकारियों के हाथों का औजार नहीं बनेगी और यह कि धीरे-धीरे वह भारतीय राष्ट्रवाद का केंद्रबिंदु बनने लगी है । तब ब्रिटिश अधिकारियों ने राष्ट्रीय कांग्रेस तथा अन्य राष्ट्रवादी प्रवक्ताओं की खुले आम आलोचना और निंदा शुरू कर दी । 1887 में डफरिन ने राष्ट्रीय कांग्रेस पर एक सार्वजनिक भाषण में प्रहार किया और 'जनता के अत्यन्त अल्पमत' का प्रतिनिधि कह कर उसका मजाक उड़ाया । 1900 में लॉर्ड कर्जन ने भारत मंत्री को लिखा कि "कांग्रेस धराशायी होने के लिए लड़खड़ा रही है, भारत में मैं जब तक हूँ तब तक मेरी एक बड़ी महत्त्वाकांक्षा यह है कि मैं उसके शान्तिपूर्ण निधन में सहायता दूं ।" ब्रिटिश अधिकारियों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को भी आगे बढ़ाया । उन्होंने सैयद अहमद खाँ, बनारस के शिव प्रसाद, तथा अन्य ब्रिटिश परस्त व्यक्तियों को कांग्रेस विरोधी आंदोलन शुरू करने के लिए बढ़ावा दिया । मगर राष्ट्रीय आंदोलन के विकास को रोकने के अधिकारियों के प्रयास विफल हो गये ।

आरम्भिक राष्ट्रीय आंदोलन का मूल्यांकन

कुछ आलोचकों के अनुसार राष्ट्रवादी आंदोलन और राष्ट्रीय कांग्रेस अपने आरम्भिक दौर में कोई भी उपलब्धि नहीं कर सकी । जिन सुधारों के लिए राष्ट्रवादियों ने आंदोलन किया उनमें से बहुत थोड़े ही सरकार ने व्यवहार में अपनाये । आलोचक यह भी बतलाते हैं कि उन वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन की जड़ें जनता में नहीं थीं ।

इस आलोचना में काफी सचाई है । मगर आरम्भिक राष्ट्रीय आंदोलन को असफल घोषित करना सही नहीं है । वह एक व्यापक राष्ट्रीय जागरण लाने, तथा लोगों में यह भावना भरने मे कि वे सब एक ही राष्ट्र—भारतीय राष्ट्र—के हैं, सफल रहा । उसने लोगों को राजनीतिक कार्य की कला में प्रशिक्षित किया, जनतंत्र और राष्ट्रवाद के विचारों को लोकप्रिय बनाया, उनके बीच आधुनिक दृष्टिकोण का प्रचार किया तथा ब्रिटिश शासन के दुर्गुणों का पर्दाफाश किया । सबसे बड़ी बात यह हुई कि उसने जनता को आर्थिक तत्व तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चरित्र (कि ब्रिटेन भारत को कच्चे मालों का सम्भरणकर्ता, तैयार ब्रिटिश माल के लिए बाजार तथा ब्रिटिश पूंजी के निवेश का क्षेत्र बना रहा है) को पहचानने में समर्थ बनाया । उसने एक समान राजनीतिक तथा आर्थिक कार्यक्रम विकसित किया । जिसके इर्द-गिर्द जमा होकर भारतीय जनता बाद में राजनीतिक संघर्ष चला सकी । उसने यह राजनीतिक सचाई प्रतिष्ठित की कि भारत का शासन भारतीयों के हित में हो । उसने राष्ट्रवाद के मुद्दे को भारतीय जीवन में प्रबल बनाया । उसकी कमजोरियों को बाद की पीढ़ियों में दूर कर दिया गया मगर उसकी उपलब्धियाँ बाद के वर्षों में एक जोरदार राष्ट्रीय आंदोलन का आधार बन गईं ।

अभ्यास

1. किस तरह से राष्ट्रीय आंदोलन भारतीय जनता के हितों तथा भारत में ब्रिटिश हितों के टकराव का परिणाम था ?
2. उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद के उदय के लिए उत्तरदायी महत्त्वपूर्ण कारकों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए । विदेशी आधिपत्य, देश के प्रशासनिक और आर्थिक एकीकरण, पाश्चात्य चिंतन और शिक्षा, प्रेस, सांस्कृतिक विरासत, शासकों के जातीय अहंकार, तथा लिटन और रिपन के प्रशासनों की भूमिका को स्पष्ट रूप से रखिए ।

3. राष्ट्रीय आंदोलन ने अपने आरम्भिक दौर (1885-1905) में क्या प्राप्त करने की कोशिश की? इस दौर को नरमपंथी दौर क्यों कहते हैं ? नरमदलीय नेताओं की क्या उपलब्धियाँ थीं ?

4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :

   (क) अतीत के पुनर्न्वेषण का राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता पर प्रभाव; (ख) इल्बर्ट बिल; (ग) दादाभाई नौरोजी; (घ) इंडियन एसोसियेशन; (च) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना; (छ) राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति सरकार का रुख ।

A.Singh

अध्याय 13

नए भारत का विकास

1858 के बाद धार्मिक और सामाजिक सुधार राष्ट्रवाद और जनतंत्र की उठती हुई लहर ने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष को जन्म दिया। उसकी अभिव्यक्ति सामाजिक संस्थानों तथा भारतीय जनता के धार्मिक दृष्टिकोण में सुधार लाने और उन्हें जनतांत्रिक बनाने के आंदोलनों में भी हुई। अनेक भारतीयों ने महसूस किया कि आधुनिक ढंग से देश के चतुर्दिक विकास और राष्ट्रीय एकता और एकजुटता के पनपने के लिए सामाजिक और धार्मिक सुधार एक आवश्यक स्थिति है। राष्ट्रीय भावनाओं के विकास, नयी आर्थिक शक्तियों के उदय, शिक्षा के प्रसार, आधुनिक पाश्चात्य विचारों और संस्कृति के प्रभाव, और संसार के प्रति अधिक जागरुकता ने भारतीय समाज के पिछड़ेपन तथा पतन के प्रति संचेतना को ही नहीं बढ़ाया बल्कि सुधार करने के संकल्प को भी मज़बूत किया। उदाहरण के लिए, केशव चन्द्र सेन ने कहा :

"आज हम अपने इर्द-गिर्द जो देखते हैं वह एक पराभूत राष्ट्र है—यह वह राष्ट्र है जिसकी आदिम महत्ता भग्नावशेषों में दबी पड़ी है। उसके राष्ट्रीय साहित्य और विज्ञान, उसके धर्म-शास्त्र और दर्शन उसके उद्योग और व्यापार, उसकी सामाजिक समृद्धि तथा घरेलू सादगी और मधुरता अतीत की बातें बन गयी हैं। जैसे-जैसे हम अपने चारों ओर फैले विध्वंस—आध्यात्मिक, सामाजिक और बौद्धिक—के दुखपूर्ण और मनहूस दृश्य का सर्वेक्षण करते हैं, वैसे-वैसे हम पाते हैं कि कालिदास की भूमि—काव्य, विज्ञान, और सभ्यता की भूमि को पहचानने की कोशिश निरर्थक है।"

इसी तरह स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय जनता की दशा का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया :

"यहाँ-वहाँ जीर्ण-शीर्ण चिथड़ों में छुपा लोगों तथा बूढ़ों की कृश आकृतियाँ घूमती हुई दिखाई पड़ती हैं, जिनके चेहरों पर सैकड़ों वर्षों की दरिद्रता और निराशा की गहरी झुर्रियाँ पड़ी हैं. गाय, बैल, भैंस हर जगह समान रूप से हैं—हाँ, उनकी आँखों में वही विषादमय दृष्टि वही दुर्बल शरीर, रास्तों के किनारे कूड़ा कर्कट और गंदगी—यही है हमारा वर्तमान भारत! महलों के बिल्कुल बराबर में टूटी-फूटी झोपड़ियाँ, मंदिरों के बिल्कुल क़रीब कूड़ों का ढेर, भड़कीले वस्त्रों से सज्जित लोगों के साथ चलते हुए लंगोटीधारी संयासी, अच्छे खाते-पीते समृद्ध लोगों पर केंद्रित भूखों की मलिन आँखों की तरसती टकटकी,—यही है हमारा अपना देश! भयंकर प्लेग और हैजे की विनाशलीला, राष्ट्र के मर्म स्थान को कुतरता हुआ मलेरिया, जीवन के अभिन्न अंग के रूप में भुखमरी और अर्द्ध भुखमरी, बहुधा तांडव करता मृत्युवत् अकाल···, केवल रूप-रंग में ही मनुष्य दीखने वाले तीस करोड़ जीवों का समूह,—अपने ही लोगों तथा बाहरी राष्ट्रों द्वारा कुचल कर निर्जीव बनाए गए—आशाविहीन अतीतविहीन, भविष्य विहीन··· गुलाम जैसे विद्वेषपूर्ण स्वभाव वाले जिनके लिए अपने संगी लोगों की सम्पत्ति असहनीय है;···ताक़तवर लोगों के पैरों की धूल चाटने के बावजूद जो कमज़ोर हैं उन पर सांघातिक प्रहार

करने वाले; ऐसे कुत्सित, क्रूर अंधविश्वासों से भरे हुए हैं जो उनमें सहज ही है जो कमज़ोर तथा भविष्य के प्रति निराश हैं, चरित्रबल के रूप में बिना कोई मानदण्ड वाले;—तीस करोड़ जीव भारत के शरीर पर इस प्रकार घूम रहे हैं जैसे किसी जानवर की सड़ी, बदबूदार लाश पर कीड़े हों; यह है हमसे संबंधित तस्वीर, जो सहज ही अंग्रेज अधिकारी के सामने अपने आप आ जाती है।"

इस प्रकार, 1858 के बाद, पहले की सुधार की प्रवृति व्यापक बनी। राजा राममोहन राय और पंडित विद्यासागर जैसे पहले के सुधारकों के कार्य को धार्मिक तथा सामाजिक सुधार के प्रमुख आंदोलनों ने आगे बढ़ाया।

धार्मिक सुधार

विज्ञान, जनतंत्र और राष्ट्रवाद के आधुनिक विश्व की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने समाज को बनाने की भावना से ओतप्रोत तथा मार्ग में किसी भी बाधा को नहीं आने देने के लिए कृतसंकल्प चिंतनशील भारतीयों ने अपने परम्परागत धर्मों को सुधारने का बीड़ा उठाया। अपने धर्मों की बुनयादी बातों और धारणाओं के प्रति निष्ठावान् रहते हुए उन्होंने उन्हें ऐसे ढाला कि वे भारतीय जनता की नयी आवश्यकताओं के अनुकूल हो सकें।

ब्रह्म समाज

राजा राममोहन राय की ब्रह्म परम्परा को 1843 के बाद देवेंद्र नाथ ठाकुर ने आगे बढ़ाया। उन्होंने इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि वैदिक धर्म ग्रंथ भ्रमों से परे हैं। ब्रह्म परम्परा को 1866 के बाद केशव चन्द्र सेन ने आगे बढ़ाया। कुरीतियों को दूर कर, एक ईश्वर की पूजा तथा वेदों और उपनिषदों की शिक्षाओं पर आधारित कर, तथा पाश्चात्य चिंतन के सर्वोत्कृष्ट पहलुओं को शामिल कर ब्रह्म समाज ने हिन्दू समाज में सुधार लाने का एक प्रयास किया। सर्वोपरि बात यह थी कि उसने अपने को मानवीय तर्कबुद्धि पर आधारित किया, जिसे यह परखने की अन्तिम कसौटी माना गया कि अतीत या वर्तमान धार्मिक सिद्धान्तों और प्रथाओं में से कौन उपयोगी और कौन निरर्थक हैं। इसी कारण ब्रह्म समाज ने धार्मिक कृतियों की व्याख्या करने के लिए पुरोहित वर्ग की आवश्यकता से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि की सहायता से यह निर्णय लेने का अधिकार और क्षमता है कि किसी धर्म ग्रन्थ या धार्मिक सिद्धान्त में क्या सही और क्या गलत है। इस प्रकार ब्रह्म समाजी मूर्ति पूजा और अंधविश्वास पर आधा[illegible] प्रथाओं तथा कृत्यों के मूलतः विरोधी थे। वस्तुतः वे सम्पूर्ण ब्राह्मणवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ थे। पुरोहितों के बीच-बचाव के बिना, वे एकेश्वरवाद के पक्षधर थे।

ब्रह्म समाजी महान् समाज सुधारक भी थे। उन्होंने जाति प्रथा तथा बालविवाह का सक्रिय विरोध तथा विधवा पुर्नविवाह सहित सामान्य महिला-उत्थान, और नर-नारियों के बीच आधुनिक शिक्षा के प्रसार का सक्रिय समर्थन किया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रह्म समाज आन्तरिक फूट के कारण कमज़ोर हो गया। इसके अलावा, उसका प्रभाव मुख्य रूप से शहरी शिक्षित समूहों तक ही सीमित रहा। फिर भी उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के दौरान बंगाल और शेष भारत के बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन पर उसका निर्णायक प्रभाव पड़ा।

महाराष्ट्र में धार्मिक सुधार

बम्बई में धार्मिक सुधार की शुरुआत 1840 में परमहंस मंडली ने की जिसका लक्ष्य मूर्ति-पूजा तथा जाति-प्रथा के विरुद्ध संघर्ष करना था। पश्चिम भारत के शायद सबसे पहले धार्मिक सुधारक गोपाल हरि देशमुख थे जो 'लोकहितवादी' के नाम से लोकप्रिय थे। उन्होंने मराठी में लिखा और हिन्दू रूढ़िवाद पर जोरदार तर्कबुद्धि परक प्रहार किए, तथा धार्मिक और सामाजिक समानता के उपदेश दिए। उदाहरण के लिए, उन्होंने उन्नीसवीं सदी के पांचवें दशक में लिखा :

> "पुरोहित बहुत ग़ैर-धार्मिक हैं क्योंकि वे बिना अर्थ समझे चीजों को दुहराते रहते हैं और अनादरपूर्वक ज्ञान को पुनरावृति मात्र बना देते हैं। पंडित पुरोहितों से भी गए गुजरे हैं क्योंकि वे उनसे अधिक मूर्ख तथा दम्भी हैं... ब्राह्मण कौन हैं और वे हमसे किन दृष्टियों से भिन्न हैं? क्या उनके बीस सिर हैं और हममें किसी चीज का अभाव है? अभी जब ये सवाल पूछे जा रहे हैं तब ब्राह्मणों को अपनी मूर्खतापूर्ण अवधारणाओं को त्याग देना चाहिए; उन्हें अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि सभी मनुष्य बराबर हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।"

आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में हिंदू धार्मिक चिंतन तथा प्रथा में सुधार लाने के लक्ष्य से, बाद में, प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। उसने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया तथा धर्म को जाति की रूढ़ि और पुरोहिती आधिपत्य से मुक्त करने की कोशिश की। उसके दो महान् नेता थे विख्यात संस्कृत विद्वान और इतिहासकार आर० जी० भंडारकर और महादेव गोबिन्द रानाडे (1842-1901)। प्रार्थना समाज ब्रह्म-समाज से अत्यन्त प्रभावित था। तेलुगु सुधारक विरेशलिंगम के प्रयासों के परिणामस्वरूप उसकी गतिविधियाँ दक्षिण भारत में भी फैलीं। आधुनिक भारत के एक सबसे महान् विवेकशील चिंतक, गोपाल गणेश अगारकर भी उस समय महाराष्ट्र में रहते और काम करते थे। अगारकर मानवीय तर्कबुद्धि की शक्ति के समर्थक थे। उन्होंने परम्परा पर अंधनिर्भता या भारत के अतीत के झूठे महिमागान की बड़ी तीखी आलोचना की।

रामकृष्ण और विवेकानन्द

रामकृष्ण परमहंस (1834-1886) एक संत पुरुष थे जिन्होंने संन्यास, चिन्तन तथा भक्ति के परम्परागत तरीकों से धार्मिक मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास किया। धार्मिक सत्य की खोज या भगवान् की प्राप्ति के लिए वे अन्य धर्मों के—मुसलमान और ईसाई—रहस्यवादियों के साथ रहे। उन्होंने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि ईश्वर और मुक्ति तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं, और मानव-सेवा ही ईश्वर की सेवा है क्योंकि मानव ईश्वर का मूर्त रूप है।

उनके महान् शिष्य, स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) ने उनके धार्मिक संदेश को लोकप्रिय बनाया तथा उसे ऐसे रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की जो समसामयिक भारतीय समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। सबसे अधिक, विवेकानन्द ने सामाजिक कर्म पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि अगर ज्ञान के साथ जिस वास्तविक संसार में हम रहते हैं उसमें कर्म न किया जाए तो ज्ञान निरर्थक है। अपने गुरु की तरह ही उन्होंने सर्वधर्म समभाव की घोषणा की तथा धार्मिक मामलों में किसी भी संकीर्णता की निंदा की। अतः उन्होंने 1898 में लिखाः "हमारी अपनी मातृभूमि के लिए दो महान् प्रणालियों—हिन्दू धर्म और इस्लाम का संगम—ही एक मात्र आशा है।" साथ ही, वे भारतीय दार्शनिक परम्परा के श्रेष्ठ दृष्टिकोण के क़ायल थे। वे स्वयं वेदान्त के समर्थक थे। उन्होंने वेदान्त को पूर्णरूपेण विवेकशील प्रणाली घोषित किया।

विवेकानन्द

विवेकानन्द ने शेष संसार से संपर्क तोड़ लेने तथा गतिहीन और संवेदनहीन बन जाने के कारण भारतीयों की आलोचना की। उन्होंने लिखा : "संसार के अन्य सब राष्ट्रों से हमारा अलगाव हमारे अधःपतन का कारण है और इसका एक ही प्रतिकार है : शेष संसार की धारा में फिर से प्रवाह। गति ही जीवन का चिह्न है।"

विवेकानंद ने जाति-प्रथा और कर्मकांड, समारोहों और अंधविश्वासों पर उस समय हिन्दुओं द्वारा दिए जा रहे ज़ोर की निंदा की तथा लोगों से स्वतंत्रता, समानता, तथा मुक्त-चिंतन की भावना आत्मसात् करने की अपील की। उन्होंने तीखे स्वर में कहा :

> "हमारे धर्म के हमारे रसोई घर में प्रवेश करने का ख़तरा है। हममें से अधिकतर अभी न वेदांती हैं न पुराणपंथी और न ही तांत्रिक हैं। हम केवल "छुओ नहीं वाले" (don't

touchists) हैं। हमारा धर्म रसोईघर में है। हमारा ईश्वर खाना पकाने के बर्तन में है और हमारा धर्म है मुझे छुओ मत मैं पवित्र हूँ।" अगर यह एक शताब्दी तक और चलता रहा तो हम सब पागलख़ाने में होंगे।"

विचार की स्वतंत्रता के बारे में उन्होंने कहा :

"विचार और कर्म की स्वतन्त्रता जीवन, विकास और कल्याण की एक मात्र शर्त है : जहाँ उसका अभाव होता है वहाँ मनुष्य, जाति, और राष्ट्र अवश्य अवनति की ओर जाता है।"

अपने गुरु की तरह ही विवेकानंद भी एक महान् मानवतावादी थे। देश के आम लोगों की ग़रीबी विपन्नता और कष्ट से उन्हें आघात पहुँचा और उन्होंने लिखा :

"एक मात्र भगवान् जिसमें मैं विश्वास करता हूँ वह है सभी आत्माओं का कुल योग, और, सबसे पहले मेरे भगवान् सभी जातियों के दुष्ट, पीड़ित, दरिद्र हैं।"

शिक्षित भारतीयों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा :

"जब तक करोड़ों लोग भूख और अज्ञान से पीड़ित हैं तब तक मैं उस हर व्यक्ति को देशद्रोही समझूंगा जो उनके ख़र्च से शिक्षित बन कर उनके प्रति तनिक भी ध्यान नहीं देता।"

मानवतावादी राहत तथा सामाजिक कार्य करने के लिए विवेकानंद ने 1896 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। देश के विभिन्न भागों में मिशन की अनेक शाखाएँ थीं और स्कूलों, अस्पतालों और दवाखानों, अनाथालयों पुस्तकालयों, आदि की स्थापना द्वारा उसने समाज सेवा की। इस प्रकार मिशन ने व्यक्तिगत मुक्ति पर नहीं बल्कि सामाजिक भलाई या समाज सेवा पर ज़ोर दिया।

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज

आर्य समाज ने उत्तर भारत में हिन्दू धर्म में सुधार लाने का बीड़ा उठाया। उसकी स्थापना 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) ने की। स्वामी दयानन्द का विचार था कि स्वार्थी और अज्ञानी पुरोहितों ने पुराणों की सहायता से हिन्दू धर्म को दूषित कर दिया है। उन्होंने कहा है कि पुराण झूठी शिक्षाओं से भरे हुए हैं। अपनी प्रेरणा के लिए स्वामी दयानन्द ने वेदों का सहारा लिया जिन्हें उन्होंने भ्रमों से परे बतलाया। उन्होंने कहा कि वेद भगवान् द्वारा प्रेरित हैं और सारे ज्ञान के स्रोत हैं। अगर बाद के धार्मिक विचार वेद के अनुकूल नहीं थे तो उन्होंने उन्हें ठुकरा दिया। वेदों के ऊपर इस पूर्ण निर्भरता तथा उनकी अटल सच्चाई का अर्थ था कि मानवीय तर्कबुद्धि अन्तिम निर्णायक कसौटी नहीं है। मगर

दयानन्द

उनके दृष्टिकोण का एक तर्कबुद्धिपरक पहलू भी था, वह यह कि वेदों के ईश्वरादिष्ट होने के बावजूद उनकी व्याख्या उन लोगों के द्वारा होनी थी जो मानवीय प्राणी थे। व्यक्ति की तर्कबुद्धि निर्णायक क़सौटी थी। उनका विश्वास था कि हर व्यक्ति की ईश्वर तक सीधी पहुँच है। इसके अतिरिक्त, हिन्दू रूढ़िवादिता का समर्थन करने के बदले उन्होने उस पर प्रहार किया और उसके ख़िलाफ़ विद्रोह किया। वेदों की अपनी व्याख्या से जो शिक्षाएँ उन्होंने प्राप्त कीं वे आश्चर्यजनक रूप से उन धार्मिक और सामाजिक सुधारों के क़रीब थीं जिनकी वकालत उस समय अन्य भारतीय सुधारक कर रहे थे। वे मूर्ति पूजा, कर्मकांड, और पुरोहिती और विशेषकर जाति-प्रथा और ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित प्रचलित हिन्दू धर्म के विरोधी थे। उन्होंने अपना ध्यान परलोक की बजाय इस वास्तविक संसार में रहने वाले मनुष्यों की समस्या पर दिया। उन्होंने पाश्चात्य

विज्ञानों के अध्ययन का भी समर्थन किया। दिलचस्प बात यह है कि स्वामी दयानन्द ने केशव चंद्र सेन, विद्यासागर, जस्टिस रानाडे, गोपाल हरि देशमुख और अन्य आधुनिक धर्म एवं समाज-सुधारकों से मुलाक़ात और विचार-विमर्श किया था। वस्तुतः आर्य समाज और उसकी रविवारीय सभाओं का विचार ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज के रिवाजों से मिलता-जुलता था।

बाद में स्वामी दयानंद के कुछ अनुयायियों ने पाश्चात्य पद्धति के अनुसार शिक्षा देने के लिए देश में स्कूलों और कालेजों की एक श्रृंखला आरम्भ की। इस प्रयास में लाला हंसराज ने एक अग्रणी भूमिका अदा की। दूसरी ओर, शिक्षा के अपेक्षाकृत परम्परागत आदर्शों के प्रचार के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने 1902 में हरिद्वार के निकट गुरुकुल की स्थापना की।

आर्य समाजी समाज-सुधार के ज़ोरदार प्रचारक थे। औरतों की दशा सुधारने तथा उनके बीच शिक्षा-प्रसार के लिए उन्होंने सक्रिय रूप से काम किया। उन्होंने अस्पृश्यता और वंशानुगत जाति-प्रथा के ख़िलाफ़ संघर्ष किया। इस प्रकार वे सामाजिक समानता के हिमायती थे और उन्होंने सामाजिक एकजुटता तथा समेकन को बढ़ावा दिया। उन्होंने जनता में आत्मप्रतिष्ठा और स्वावलम्बन की भावना भर दी। साथ ही, आर्य समाज का एक लक्ष्य यह भी था कि हिंदुओं का धर्म परिवर्तन नहीं होने दिया जाए। इसके कारण अन्य धर्मों के ख़िलाफ़ एक जेहाद शुरू हो गया। इस जेहाद ने बीसवीं सदी में भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में मदद दी। यद्यपि आर्य समाज के सुधारवादी कार्य की प्रवृति लोगों को एक सूत्रबद्ध करने की थी, तथापि उसके धार्मिक कार्य की प्रवृति, शायद अनजाने ही, हिंदुओं, मुसलमानों, पारसियों, सिक्खों और ईसाइयों के बीच बढ़ती हुई एकता को खण्डित करने की थी। उस समय यह स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सका कि भारत में राष्ट्रीय एकता को धर्म निरपेक्ष होना चाहिए जिससे वह सभी धर्मों के लोगों को अपने अन्दर समेट सके।

थियोसोफिकल सोसायटी

थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना संयुक्त राज्य अमरीका में मैडम एच० पी० ब्लावास्की और कर्नल एच० एस० ओलकाट ने की, जो बाद में भारत भी आए और सोसायटी का मुख्यालय 1886 में मद्रास के निकट अड्यार में बनाया। भारत में थियोसोफिस्ट आंदोलन जल्द ही श्रीमती एनीबेसेंट के नेतृत्व के कारण पनप गया। श्रीमती ऐनीबेसेंट 1893 में भारत आयीं। थियोसोफिस्टों ने हिन्दू धर्म, जरथुष्ट्र धर्म और बौद्ध धर्म जैसे प्राचीन धर्मों को पुनर्जीवित करने तथा मज़बूत बनाने की हिमायत की। उन्होंने आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना। उन्होंने मानव के व्यापक बंधुत्व की भी शिक्षा दी। धार्मिक पुनर्जागरणवादियों के रूप में थियोसोफिस्ट अधिक सफल नहीं रहे। मगर आधुनिक भारत की गतिविधियों में उन्होंने एक अनोखा योगदान किया। इस आंदोलन का नेतृत्व पश्चिम के निवासियों ने किया जिन्होंने भारतीय धर्मों तथा दार्शनिक परम्परा का गुणगान किया। इससे भारतवासियों को अपना आत्मविश्वास फिर प्राप्त करने में सहायता मिली यद्यपि इसके कारण अपनी विगत महानता के प्रति झूठे अभिमान की भावना भी जागृत हुई।

भारत में श्रीमती बेसेंट की अनेक उपलब्धियों में बनारस के सेंट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना भी थी। यही स्कूल बाद में मदन मोहन मालवीय ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया।

सैयद अहमद खाँ और 'अलीगढ़ स्कूल'

मुसलमानों के बीच धार्मिक सुधार के आंदोलन देर से प्रकट हुए। मुसलमान उच्च वर्गों की प्रवृति पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से सम्पर्क बनाने की नहीं थी, और मुख्यतः 1857 के विद्रोह के बाद ही धार्मिक सुधार के आधुनिक विचार सामने आने लगे। कलकत्ता में 1863 में मुहम्मडन लिटरेरी सोसायटी की स्थापना इस दिशा में एक शुरुआत थी। इस सोसायटी ने आधुनिक विचारों की रोशनी में धार्मिक, सामाजिक, और राजनीतिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श को बढ़ावा दिया तथा उच्च और मध्यमवर्गीय मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया।

मुसलमानों के बीच सबसे महत्त्वपूर्ण सुधारक सैयद अहमद खाँ (1817-1898) हुए। वे आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन से अत्यन्त प्रभावित थे और उन्होंने जीवन भर इस्लाम के साथ उनका सामंजस्य करने के लिए काम किया। ऐसा करने के लिए, सबसे पहले, उन्होंने घोषित किया कि केवल कुरान ही इस्लाम की एकमात्र अधिकृत

कृति है और अन्य सब इस्लामी रचनाएँ गौण है। कुरान की व्याख्या भी उन्होंने समसामयिक बुद्धिवाद और विज्ञान के प्रकाश में की। उनके विचार से कुरान की कोई भी व्याख्या जो माननीय तर्कबुद्धि विज्ञान या प्रकृति से मेल नहीं खाती वह वस्तुतः ग़लत व्याख्या है। जीवन भर उन्होंने परम्परा के अंधानुकरण, रिवाज पर निर्भरता, अज्ञान और अविवेकशीलता के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे आलोचनात्मक दृष्टिकोण और चिंतन की स्वतन्त्रता अपनाएँ। उन्होंने घोषणा की : "जब तक चिंतन की स्वतन्त्रता विकसित नहीं होती तब तक सभ्य जीवन सम्भव नहीं हो सकता।" उन्होने कठमुल्लापन, संकीर्णता और अनन्यता के विरुद्ध भी चेतावनी दी, और छात्रों तथा अन्य लोगों से आग्रह किया कि वे उदारमन तथा सहिष्णु बनें।

उन्होंने कहा कि दिमाग़ की खिड़कियों और दरवाज़ों को बन्द रखना सामाजिक तथा बौद्धिक पिछड़ेपन की निशानी है। विश्व के गौरवग्रंथों के अध्ययन की प्रशंसा करते हुए उन्होंने टिप्पणी की :

> "जिस मनःस्थिति से महान् प्रश्नों पर विचार करने के लिए महान् मस्तिक वाले लोग आगे बढ़ेंगे, विद्यार्थी उसकी सराहना करना सीखेंगे। वह पाएँगे कि सत्य बहुपक्षीय है तथा वह व्यक्तिगत राय से अभिन्न या उसकी सहविस्तारी नहीं है, और दुनिया उसके अपने सम्प्रदाय, समाज़, या वर्ग से बहुत बड़ी है।"

सैयद अहमद ख़ाँ की धारणा थी कि मुसलमानों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में केवल आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान और संस्कृति को ग्रहण कर ही सुधार लाया जा सकता है। इसलिए आधुनिक शिक्षा को बढ़ावा देना जीवन भर उनका सर्वप्रथम काम रहा। एक पदाधिकारी के रूप में उन्होंने अनेक शहरों में स्कूलों की स्थापना की तथा अनेक पाश्चात्य पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद कराया। 1875 में उन्होंने अलीगढ़ में पाश्चात्य विज्ञानों और संस्कृति के प्रसार के केन्द्र के रूप में मुहम्मडन एंग्लो-ओरियंटल कालेज की स्थापना की। बाद में यही कालेज अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नाम से विकसित हुआ।

सैयद अहमद ख़ाँ धार्मिक सहिष्णुता में अगाध विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि सभी धर्मों के अन्दर एकता का भाव छिपा है जिसे व्यावहारिक नैतिकता कहा जा सकता है। इस धारणा के आधार पर कि किसी व्यक्ति का धर्म उसका निजी मामला है, उन्होंने व्यक्तिगत संबंधों में धर्मांधता के लक्षणों की स्पष्ट रूप से निंदा की। वे साम्प्रदायिक वैमनस्य के भी विरोधी थे। हिंदुओं और मुसलमानों से एकजुट होने की अपील करते हुए, उन्होंने 1883 में लिखा :

> "तत्काल हम दोनों भारत की हवा पर जिन्दा हैं, हम गंगा और यमना का पवित्र जल पीते हैं। हम दोनों भारतीय भूमि की पैदावार खाकर जीवित हैं। हम जीवन-मरण में एक-दूसरे के साथ हैं; भारत में रहते हुए हम दोनों ने अपना खून परिवर्तित कर लिया है, हमारे शरीर का रंग एक जैसा हो गया है, हमारे नाक-नक्शे एक समान हो गए हैं; मुसलमानों ने अनगिनत हिन्दू रीतियों को अपना लिया है, हिंदुओं ने आचार संबंधी अनेक मुस्लिम विशेषताओं को ग्रहण कर लिया है, हम इतने घुलमिल गए हैं कि हमने नयी भाषा उर्दू को विकसित किया है जो न तो हमारी भाषा है और न हिंदुओं की। इसलिए, अगर हम अपने जीवन के उस हिस्से को छोड़ दें जिस पर भगवान् का अधिकार है, तो निःसदेह इस तथ्य के आधार पर कि हम दोनों एक ही देश के हैं, हम एक राष्ट्र हैं, और देश की प्रगति तथा भलाई, हमारी एकता, पारस्परिक सहानुभूति और प्रेम पर निर्भर है, जबकि हमारी पारस्परिक असहमति, ज़िद और विरोध तथा दुर्भावना हमारा विनाश निश्चित रूप से कर देगी।"

इसके अतिरिक्त हिंदुओं, पारसियों और ईसाइयों ने कालेज के कोष में उदारतापूर्वक धन दिया। कालेज के दरवाज़े सभी भारतीयों के लिए खुले हुए थे। उदाहरण के लिए, 1898 में कालेज में 64 हिंदू और 285 मुसलमान विद्यार्थी थे। सात भारतीय शिक्षकों में से दो हिंदू थे जिनमें से एक संस्कृत का प्रोफेसर था। मगर, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों के दौरान सैयद अहमद ख़ाँ अपने अनुयायियों को उदीयमान राष्ट्रवादी आंदोलन में शामिल होने से रोकने के लिए हिन्दू आधिपत्य की बात करने लगे। यह दुर्भाग्यपूर्ण था, क्योंकि वे मूलतः साम्प्रदायिक नहीं थे। वे केवल यह चाहते थे कि मुसलमान मध्यम और उच्च वर्गों का पिछड़ापन ख़त्म हो जाए। उनकी राजनीति उनके इस सुदृढ़ विश्वास का परिणाम थी कि तत्काल राजनीतिक प्रगति संभव नहीं है क्योंकि ब्रिटिश सरकार को आसानी से नहीं हटाया जा सकता। दूसरी ओर; अधि-

कारियों का विरोध भाव शिक्षा संबंधी प्रयास के लिए खतरनाक साबित हो सकता है। शिक्षा को वे उस समय की तात्कालिक आवश्यकता समझते थे। उनकी धारणा थी कि जब भारतीय अंग्रेज़ों के समान अपने चिंतन और कार्यों में आधुनिक हो जाएँगें सिर्फ तभी वे विदेशी शासन को सफलतापूर्वक चुनौती देने की आशा कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने सभी भारतीयों, विशेषकर शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए मुसलमानों, को कुछ समय तक के लिए राजनीति से दूर रहने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि राजनीति के लिए अभी समय नहीं आया है। वस्तुतः अपने कालेज और शिक्षा के प्रति वे इतने प्रतिबद्ध हो गए थे कि वे उनके लिए अपने सभी अन्य हितों की बलि चढ़ाने को तैयार थे। रूढ़िवादी मुसलमानों को अपने कालेज का विरोध करने से रोकने के लिए उन्होंने धार्मिक सुधार के पक्ष में आंदोलन करना बिल्कुल बन्द कर दिया। इसी कारण उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया जिससे सरकार नाराज़ हो जाए। दूसरी ओर, उन्होंने साम्प्रदायिकता और पृथकतावाद को बढ़ावा दिया। निःसन्देह, यह एक ऐसी गम्भीर राजनीतिक भूल थी, जिसके बाद के दिनों में नुक़सानदेह परिणाम हुए। इसके अतिरिक्त उनके कुछ अनुयायी उतने उदारमन नहीं रहे जितने सैयद अहमद खाँ थे और उन्होंने बाद में अन्य धर्मों की आलोचना की तथा इस्लाम और उसके अतीत का महिमागान करने की कोशिश की।

सैदय अहमद का सुधारवादी उत्साह सामाजिक क्षेत्र में भी देखा गया। उन्होंने मुसलमानों से मध्ययुगीन रीतियों और चिंतन तथा आचरण के तौर-तरीक़े त्याग देने के लिए आग्रह किया। ख़ासतौर पर उन्होंने समाज में औरतों का दर्जा ऊँचा उठाने के पक्ष में लिखा तथा पर्दा-प्रथा हटाने और औरतों के बीच शिक्षा के प्रसार की वकालत की। उन्होंने बहुविवाह तथा आसान तलाक़ की भी निंदा की।

सैयद अहमद को निष्ठावान् अनुयायियों के एक समूह से मदद मिली, जिन्हें सामूहिक रूप से 'अलीगढ़ स्कूल' कहा जाता है। 'अलीगढ़ स्कूल' के अन्य विशिष्ट नेता थे: चिराग़ अली, उर्दू कवि अल्ताफ हुसैन हाली, नज़ीर अहमद और मौलाना शिब्ली नूमानी।

मुहम्मद इक़बाल

मुहम्मद इक़बाल (1876-1938) आधुनिक भारत के महानतम कवियों में से थे। उन्होंने अपने काव्य के द्वारा युवा पीढ़ी के मुसलमानों तथा हिन्दूओं के दार्शनिक और धार्मिक दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव डाला। स्वामी विवेकानंद की तरह उन्होंने अनवरत परिवर्तन तथा अथक कर्म की आवश्यकता पर ज़ोर दिया और विरक्ति, ध्यान और मूक संतोष की निन्दा की। उन्होंने एक गतिशील दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह किया जिससे संसार को परिवर्तित करने में सहायता मिले। वे मूलतः एक बड़े मानवतावादी थे। वस्तुतः उन्होंने मानव कर्म को मुख्य सदगुण का स्थान दिया। उन्होंने कहा कि मनुष्य को प्रकृति या सत्ताधारियों के आगे आत्मसमर्पण नहीं करना चाहिए, बल्कि इस संसार को निरन्तर कर्म के द्वारा नियंत्रित करना चाहिए। उसकी निगाह में यथास्थिति को चुपचाप स्वीकार करने से बढ़कर कोई पाप नहीं हो सकता। उन्होंने कर्म-काण्ड, संन्यास, और परलोकवाद की निंदा की। उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे जिस संसार में रहते हैं उसी में सुख के लिए काम करें और उसे प्राप्त करें। उन्होंने अपने प्रारम्भिक काव्य में देशभक्ति का गुणगान किया यद्यपि बाद में उन्होंने मुस्लिम पृथकतावाद को प्रोत्साहित किया।

पारसियों के बीच धार्मिक सुधार

बम्बई के पारसियों के बीच धार्मिक सुधार उन्नीसवीं सदी के मध्य में शुरू हुआ। 1851 में रहनुमाई माज़दायासन सभा या धार्मिक सुधार परिषद् की स्थापना नौरोजी फरदोन जी, दादा भाई नौरोजी, एस०एस० बेंगाली, और अन्य लोगों ने की। उसने धार्मिक क्षेत्र में जमी हुई रूढ़िवादिता के ख़िलाफ़ अभियान चलाया और नारी-शिक्षा, विवाह तथा औरतों की सामान्य अवस्था संबंधी पारसी सामाजिक प्रथाओं के आधुनिकीकरण की शुरूआत की। कालक्रम से सामाजिक तौर पर पारसी भारतीय समाज के पश्चात्य रंग में सबसे अधिक रंगे हुए वर्ग हो गए।

सिक्खों में धार्मिक सुधार

सिक्खों में सुधार उन्नीसवीं सदी के अन्त में अमृतसर में ख़ालसा कालेज की स्थापना से आरम्भ

हुआ। मगर सुधार के प्रयास 1920 के बाद जब पंजाब में अकाली आंदोलन का उदय हुआ तब तेज़ हो गए। अकाली लोगों का मुख्य लक्ष्य गुरुद्वारों के प्रबंध को स्वच्छ बनाना था। धर्मपरायण सिक्खों ने इन गुरुद्वारों को दान में काफ़ी ज़मीन और पैसे दिए थे। मगर गुरुद्वारों का प्रबंध भ्रष्ट और स्वार्थी महंत निरंकुश रूप से करते थे। अकालियों के नेतृत्व में सिक्ख जनता ने 1921 में महन्तों और उनकी मददगार सरकार के ख़िलाफ़ एक शक्तिशाली आंदोलन छेड़ा। अकालियों ने सरकार को जल्द ही 1922 में एक नया सिक्ख गुरुद्वारा ऐक्ट पास करने के लिए मजबूर कर दिया। इस ऐक्ट को 1925 में संशोधित किया गया। कभी-कभी इस ऐक्ट की सहायता से लेकिन बहुधा सीधी कार्रवाई के द्वारा सिक्खों ने धीरे-धीरे भ्रष्ट महंतों को गुरुद्वरों से निकाल बाहर कर दिया हालांकि इस प्रक्रिया में सैकड़ों लोगों को अपने जीवन की बलि चढ़ानी पड़ी।

धार्मिक सुधार आंदोलनों का योगदान

ऊपर जिन सुधार आंदोलनों तथा सुधारकों की चर्चा की गयी है उनके अतिरिक्त भी उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में सुधार आंदोलन तथा सुधारक हुए।

आधुनिक युग के धार्मिक आंदोलनों में कुछ समान तत्व अर्न्तनिहित थे। उनमें से अधिकतर तर्कबुद्धि तथा मानवतावाद पर आधारित थे यद्यपि वे जनता तक पहुँचने के लिए आस्था और प्राचीन प्रमाण ग्रंथों और ग्रन्थकारों का भी सहारा लेते थे। इसके अतिरिक्त, उन्होंने मुख्यतः उदीयमान मध्यवर्गों से ही आग्रह किया जिनकी आकांक्षाओं को वे व्यक्त करते थे। उन्होंने बुद्धिवाद विरोधी धार्मिक मतवादों और अंधविश्वासों से मानव बुद्धि की सोचने तथा तर्क करने की शक्ति को मुक्त करने की कोशिश की। उन्होंने भारतीय धर्मों के कर्मकान्डी, अंधविश्वासी, विवेक-हीन और पोंगापंथी तत्वों का विरोध करने की कोशिश की। उनमें से अनेक ने (यद्यपि समान मात्राओं में नहीं) धर्म में सत्तावाद के सिद्धांत को त्याग दिया और किसी भी धर्म या उसकी धर्म-पुस्तकों की सत्यता का मूल्यांकन तर्क, बुद्धि या विज्ञान की दृष्टि से किया। स्वामी विवेकानंद ने कहा :

> "क्या धर्म के औचित्य को तर्कबुद्धि के अन्वेषणों द्वारा उसी तरह सिद्ध करना होगा जिस प्रकार हर विज्ञान करता है? क्या अनुसंधान की वे ही विधियाँ धर्म के विज्ञान में अपनायी जानी चाहिए जो विज्ञानों तथा बाह्य ज्ञान के प्रति लागू की जाती हैं? मेरी राय में ऐसा अवश्य होना चाहिए, और मेरा मत यह भी है कि ऐसा जितनी जल्दी हो उतना ही अच्छा है।"

इन धर्म सुधारकों में से कुछ ने परम्परा की दुहाई दी और दावा किया कि वे अतीत के विशुद्ध सिद्धांतों, धारणाओं, और चलनों को पुनर्जीवित भर कर रहे हैं। बहुधा अतीत कैसा था इसके संबंध में कोई सहमति नहीं थी। अतीत की दुहाई देने से बहुधा जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती थीं उनको जस्टिस रानाडे ने निम्नलिखित शब्दों में रखा यद्यपि रानाडे ने स्वयं लोगों से बहुधा अतीत की सर्वोत्तम परम्पराओं को पुनर्जीवित करने के लिए कहा था :

> "हम क्या पुनर्जीवित करें? क्या हमें अपने लोगों की पुरानी आदतों को पुनर्जीवित करें जब हमारी उच्च जातियां, जैसा कि हम अभी समझते हैं, पशु-भोजन और नशीले पेय पदार्थों के उपभोग जैसे घृणित कार्यों में लगी थीं? क्या हम पुत्रों के बारह प्रकारों या शादी के आठ प्रकारों को फिर से जीवित करें, जिनमें अपहरण; तथा मान्य मिश्रित और अवैध मैथुन शामिल थे?···क्या हम साल दर-साल पशुबलि के महायज्ञ को फिर से चालू करें, जिनमें ईश्वर को खुश करने के लिए मनुष्यों की भी बलि चढ़ायी जाती थी?···क्या हम सती और शिशु हत्या की प्रथाओं को फिर से जीवित करें?"

और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एक जीवित संगठन के रूप में समाज निरन्तर परिवर्तित होता रहा है और कभी अतीत की ओर नहीं लौट सकता। उन्होंने लिखा : "मृत और दफ़न या दाह किए गए व्यक्ति सदा के लिए मृत, दफ़न या जला दिए जाते हैं, और इसलिए मृत अतीत को फिर से जीवित नहीं किया जा सकता।" जिस सुधारक ने भी अतीत की दुहाई दी उसने उसकी व्याख्या इस प्रकार की कि वह उसके द्वारा सुझाए गए सुधारों के अनुकूल हो। बहुधा सुधार और दृष्टिकोण नए होते थे, केवल उन्हें तर्कसंगत ठहराने के लिए अतीत की दुहाई दी जाती थी। अनेक विचारों को जो आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से टकराए आमतौर से क्षेपक या ग़लत व्याख्या घोषित कर दिया गया और चूँकि रूढ़िवादी इस विचार को स्वीकार नहीं कर सके, इसलिए धर्म-सुधारकों का रूढ़िवादी वर्गों से टकराव हुआ और वे कम से कम शुरू में

धार्मिक और सामाजिक विद्रोही बन गए। उदाहरण के लिए, स्वामी दयानन्द के प्रति रूढ़िवादी विद्रोह के बारे में लाला लाजपतराय ने लिखा :

"स्वामी दयानन्द को अपने जीवन काल में जितनी बदनामी तथा उत्पाड़न का सामना करना पड़ा उसका अनुमान इसी तथ्य से लग जाता है कि उनकी हत्या करने के लिए रूढ़िवादी हिन्दूओं ने असंख्य प्रयत्न किए, उनकी जान लेने के लिए हत्यारों को भाड़े पर लगाया गया, उनके भाषणों तथा शास्त्रार्थों के दौरान पत्थर फेंके गए, उन्हें ईसाइयों का भाड़े का दूत, धर्मत्यागी, नास्तिक और न जाने क्या-क्या कह कर पुकारा गया।"

इसी प्रकार सैयद अहमद ख़ाँ से परम्परावादी ख़फ़ा थे। उन्होंने उन्हें गालियाँ दीं, उनके ख़िलाफ़ फ़तवे जारी किए तथा उन्हें जान से मारने की धमकी भी दी।

धर्म-सुधार आंदोलनों का मानवतावादी पक्ष पुरोहितवाद तथा कर्मकाण्ड के ऊपर आम हमले तथा मानवीय तर्कबुद्धि और मानव-कल्याण के प्रकाश में धर्मग्रंथों की व्याख्या के अधिकार पर ज़ोर देने में व्यक्त हुआ। मानवतावाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता एक नयी मानवतावादी नैतिकता के रूप में व्यक्त हुई जिसमें यह धारणा भी शामिल थी कि मानवता प्रगति कर सकती है और उसने प्रगति की है और अन्ततोगत्वा नैतिक मूल्य वही हैं जो मानव-प्रगति का पक्ष लें। समाज-सुधार आंदोलन इस नयी मानवतावादी नैतिकता के मूर्त रूप थे।

विशुद्ध धार्मिक बातों के अलावा इन धर्म-सुधार आंदोलनों ने भारतीयों के बीच अपेक्षाकृत अधिक आत्म-सम्मान, आत्मविश्वास और देशाभिमान के भाव भरे। अपने धार्मिक अतीत की व्याख्या आधुनिक तर्कबुद्धि संगत शब्दों में कर और उन्नीसवीं शताब्दी की धार्मिक धारणाओं तथा प्रथाओं से अनेक भ्रष्ट करने वाले और विववेकहीन तत्वों को चुन-चुन कर निकाल कर सुधारकों ने इस सरकारी कटाक्ष का मुक़ाबला करने में कि उनके धर्म और समाज पतनशील और निकृष्ट हैं, अपने अनुयायियों को समर्थ बनाया। जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है :

"उदीयमान मध्यम वर्गों की रुझान राजनीतिक थी और वे धर्म की खोज में बहुत नहीं लगे हुए थे, मगर वे चाहते थे कि सहारे के लिए उन्हें कुछ सांस्कृतिक जड़ें मिलें—ऐसा कुछ जिससे उन्हें अपनी योग्यता पर भरोसा हो सके तथा विदेशी विजय और शासन द्वारा उत्पन्न निराशा तथा अपमान की भावना कम हो सके।"

धार्मिक सुधार आंदोलनों ने अनेक भारतीयों को आधुनिक संसार से समझौता करने में सहायता दी। वस्तुतः नए सामाजिक समूहों की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने के लिए वे पुराने धर्मों को नए आधुनिक साँचे में ढालने के लिए तत्पर हुए। अतः अतीत के प्रति गर्व ने भारतीयों को सामान्यतया आधुनिक संसार और विशेषतया आधुनिक विज्ञान की मूलभूत श्रेष्ठता स्वीकार करने से नहीं रोका। निःसंदेह, कुछ लोगों ने ज़ोर दिया कि वे केवल मूल, अत्यन्त प्राचीन धर्म ग्रंथों की ओर लौट रहे हैं जिससे उनकी उपयुक्त व्याख्या हो सके। सुधरे हुए दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप अनेक भारतीयों ने जाति और धर्म के विचारों पर आधारित संकुचित दृष्टिकोण के स्थान पर एक आधुनिक इहलौकिक, धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाना आरम्भ कर दिया, यद्यपि जाति और धर्म के विचारों से प्रेरित संकुचित दृष्टिकोण किसी भी तरह खत्म नहीं हुआ। इसके अलावा, चुपचाप अपनी क़िस्मत को मान लेने तथा पुनर्जन्म में अपनी तक़दीर में सुधार के लिए प्रतीक्षा करने के बदले अधिकाधिक लोगों ने इसी दुनिया में अपने भौतिक तथा सांस्कृतिक कल्याण को बढ़ाने के लिए सोचना शुरू कर दिया। इन आंदोलनों ने कुछ हद तक शेष संसार से भारत के सांस्कृतिक और बौद्धिक अलगाव को खत्म कर दिया तथा भारतीयों को विश्व की विचारधारा में हिस्सा लेने में समर्थ बनाया। साथ ही, वे पश्चिम की प्रत्येक चीज़ पर लट्टू नहीं थे। वस्तुतः जिन लोगों ने पश्चिम का अंधानुकरण किया उन्हें उत्तरोत्तर हेय समझा जाने लगा।

धार्मिक सुधार आंदोलनों के दो नकारात्मक पहलू उल्लेखनीय हैं। प्रथमत उनमें से सब ने जनसंख्या के एक अत्यन्त छोटे भाग—शहरी मध्यम और उच्च वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा किया। उनमें से कोई भी कृषक तथा शहरी गरीब जनसमुदाय तक नहीं पहुँच पाया। किसान तथा शहर के ग़रीब लोग अपना जीवन परम्परागत, रीति-रिवाजों से जकड़े हुए तरीक़ों से बिताते रहे। इन आंदोलनों ने मूलतः भारतीय शिक्षित और शहरी श्रेणियों को ही वाणी प्रदान की।

द्वितीय सीमा (जो बाद में एक प्रमुख नकारात्मक कारक बन गयी) पीछे देखने, अतीत की महानता की दुहाई देने तथा धर्मग्रंथों के प्रमाण पर निर्भरता की प्रवृत्ति थी। ये चीज़ें स्वयं सुधार आंदोलनों की सकारात्मक शिक्षाओं के विपरीत पड़ती थीं। उन्होंने, कुछ हद तक, मानवीय तर्कबुद्धि और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की श्रेष्ठता की जड़ें खोदीं। उन्होंने नए रूपों में रहस्यवाद को बढ़ावा दिया तथा छद्म वैज्ञानिक चिंतन का पोषण किया। अतीत की महानता के प्रति आग्रह नें मिथ्याभिमान तथा आत्म-संतुष्टि की भावना को जन्म दिया। अतीत में एक 'स्वर्णयुग' ढूंढने की आदत आधुनिक विज्ञान को पूरी तरह स्वीकार करने में बाधक सिद्ध हुई तथा इसने वर्तमान को सुधारने के प्रयास में रोड़े अटकाए। मगर, सबसे अधिक, इन सब प्रवृत्तियों ने हिन्दुओं मुसलमानों, सिक्खों, और पारसियों को विभाजित करने तथा उच्च जाति के हिन्दुओं को नीची जाति के हिन्दुओं से अलग करने की कोशिश की। अनेक धर्मोंवाले किसी देश में धर्म के ऊपर अधिक ज़ोर देने से विभाजक प्रभाव होना जरूरी है। इसके अलावा, सुधारकों ने सांस्कृतिक विरासत के धार्मिक तथा दार्शनिक पहलुओं पर एकांगी ज़ोर दिया। ये पहलू सभी लोगों की समान विरासत नहीं थे। दूसरी ओर, कला और वास्तुकला, साहित्य, संगीत, विज्ञान, टेक्नोलॉजी आदि पर, जिनमें सभी श्रेणियों के लोगों ने समान भूमिका अदा की थी, पर्याप्त रूप से ज़ोर नहीं दिया गया। इतना ही नहीं, हिन्दू सुधारकों ने भारतीय अतीत की अपनी प्रशंसा को प्राचीन काल तक ही सीमित रखा। स्वामी विवेकानन्द जैसे उदारचेत्ता ने भी भारतीय आत्मा या भारत की विगत उपलब्धियों की चर्चा केवल इसी अर्थ में की। इन सुधारकों ने भारतीय इतिहास के मध्यकाल को मूलतः अवनति के युग के रूप में देखा। ऐसा करना केवल ग़ैर-ऐतिहासिक ही नहीं था बल्कि सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि स भी हानिकारक था। इससे दो पृथक जनगणों की धारणा को जन्म देने की प्रवृत्ति देखने में आयी। इसी प्रकार प्राचीनकाल तथा धर्मों की अंधप्रशंसा निम्न जातियों के लोगों को स्वीकार नहीं हो सकती थी जो मूलतः प्राचीनकाल में विकसित अत्यन्त विनाशकारी जाति अत्याचार से शताब्दियों से उत्पीड़ित रहे थे। इन सब कारकों का परिणाम यह हुआ कि अपने अतीत की भौतिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों को न सभी भारतीयों ने समान रूप से गर्व से देखा और न ही उनसे समान रूप से प्रेरणा ग्रहण की। अतीत कुछ लोगों की ही पैतृक धरोहर बन गया। इसके अलावा, अतीत की प्रवृति भी पक्षगत आधार पर अलग-अलग भागों में बंटने की देखी गयी। मुस्लिम मध्यम वर्गों के अनेक व्यक्ति अपनी परम्पराओं तथा आत्मगौरव के क्षणों के लिए पश्चिम एशिया के इतिहास की ओर देखने लगे। उत्तरोत्तर हिन्दू, मुसलमान सिक्ख और पारसी तथा निम्नजातियों के हिन्दू, जो सुधार आंदोलनों से प्रभावित हुए थे, एक दूसरे से अलग होने लगे। दूसरी ओर, हिन्दू और मुसलमान जनसमूह, जो सुधार-आंदोलनों से अछूते परम्परागत तौर-तरीक़ों को अपनाते रहे, अपने विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों व्यवहार में अनुसरण करते हुए भी मेल-जोल से रहते रहे। कुछ हद तक शताब्दियों से चल रही संयुक्त संस्कृति विकसित करने की प्रक्रिया में रुकावट पड़ी यद्यपि अन्य क्षेत्रों में भारतीय जनता के राष्ट्रीय एकीकरण की गति तेज़ हो गयी। इस चीज के बुरे पहलू तब स्पष्ट हुए जब पाया गया कि राष्ट्रीय चेतना के तीव्र गति से उदय के साथ-साथ एक अन्य चेतना—सांप्रदायिक चेतना—भी मध्यम वर्गों के बीच उदय होने लगी थी। आधुनिक काल में सांप्रदायिकता के जन्म के लिए अनेक अन्य कारक भी निश्चित रूप से ज़िम्मेदार थे, मगर निःसंदेह धार्मिक सुधार आंदोलनों के स्वरूप ने भी उसमें योगदान दिया।

समाज-सुधार

उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीय जागरण का प्रमुख प्रभाव समाज-सुधार के क्षेत्र में देखा गया। नवशिक्षित व्यक्तियों ने उत्तरोत्तर कठोर सामाजिक परम्पराओं तथा घिसी-पिटी प्रथाओं के खिलाफ़ विद्रोह किया। वे विवेकहीन और अमानवीय सामाजिक प्रथाओं को नहीं सहन कर सकते थे। इस विद्रोह के लिए उन्हें सामाजिक समानता तथा सभी व्यक्तियों के समान महत्त्व के मानवतावादी आदर्शों से प्रेरणा मिली।

लगभग सभी धार्मिक सुधारकों ने समाज सुधार के आंदोलनों में योगदान दिया। ऐसा इसलिए हुआ कि भारतीय समाज के पिछड़ेपन के लक्षण, जैसे जाति-प्रथा या

नर-नारी में असमानता को अतीत में धार्मिक समर्थन प्राप्त था। इसके अलावा, कुछ अन्य संगठनों—जैसे सोशल कांफ्रेंस, सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी तथा ईसाई धर्म प्रचारकों ने समाज सुधार के लिए सक्रिय रूप से काम किया। अनेक प्रमुख व्यक्तियों—जोतिबा गोविंद फुले, गोपाल हरि देशमुख, जस्टिस रानाडे, के० टी० तेलंग, बी० एम० मालाबारी, डी० के० कर्वे, शशिपद बनर्जी, बी० सी० पाल विरेशलिंगम् और भीम राव अम्बेडकर, तथा कई अन्य लोगों ने भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। बीसवीं शताब्दी में, विशेषकर 1919 के बाद, राष्ट्रीय आंदोलन समाज-सुधार का मुख्य प्रचारक हो गया उत्तरोत्तर, सुधारकों ने आम जनता तक पहुँचने के लिए भारतीय भाषाओं के जरिए प्रचार का सहारा लिया। उन्होंने अपने विचारों का प्रसार करने के लिए उपन्यासों, नाटकों, काव्य, लघु कहानियों, प्रेस और चौथे दशक में फिल्मों का भी सहारा लिया।

उन्नीसवीं सदी के दौरान कुछ स्थितियों में समाज-सुधार धार्मिक सुधार से जुड़ा हुआ था। बाद में उसका दृष्टिकोण अधिकाधिक धर्म-निरपेक्ष होता चला गया। इसके अलावा, अनेक लोग जो अपने धार्मिक दृष्टिकोण में रूढ़िवादी थे, समाज-सुधार आंदोलन में शामिल हुए। आरम्भ में समाज-सुधार मुख्य रूप से उच्च जातियों के नव शिक्षित भारतीयों के अपने सामाजिक आचरण को आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति और मूल्यों के अनुकूल ढालने के प्रयास का परिणाम था। मगर धीरे-धीरे समाज सुधार की लहर समाज की निम्नतर श्रेणियों तक भी पहुँची और उसने सामाजिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना तथा उसका पुनर्निर्माण करना आरम्भ कर दिया। कालक्रम से सुधारकों के विचारों तथा आदर्शों को व्यापक रूप से स्वीकार कर लिया गया और आज वे भारतीय संविधान में प्रतिष्ठापित हैं।

समाज-सुधार के आंदोलनों ने मुख्यतः दो उद्देश्य प्राप्त करने की कोशिश की : (क) नारियों की मुक्ति और उनको भी समान अधिकार देना, और (ख) जाति की रूढ़ियों को हटाना और, विशेषकर, अस्पृश्यता का उन्मूलन।

नारी मुक्ति

अगणित सदियों से भारत में नारी पुरुषों के अधीन तथा सामाजिक तौर पर उत्पीड़ित रही है। भारत में प्रचलित विभिन्न धर्मों तथा उन पर आधारित विधियों ने नारियों को पुरुषों से नीचा दर्जा दिया। इस दृष्टि से उच्च जातियों की औरतों की दशा कृषक औरतों की अपेक्षा अधिक खराब रही। चूंकि कृषक औरतें पुरुषों के साथ खेतों में काम करती रहीं, इसलिए उन्हें घूमने-फिरने की अपेक्षाकृत अधिक आज़ादी तथा कुछ दृष्टियों से उच्च जातियों की औरतों से परिवार में अधिक ऊँचा दर्जा मिला। उदाहरण के लिए, उन्हें शायद ही पर्दा-प्रथा का पालन करना पड़ा और उनमें से अनेक को पुनर्विवाह का अधिकार था। परम्परागत दृष्टिकोण से बहुधा पत्नियों और माताओं की भूमिका में नारी की प्रशंसा की गयी मगर व्यक्ति विशेष के रूप में उन्हें समाज में बहुधा नीचा दर्जा दिया गया। अपने पति से अलग औरत का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं माना गया। गृहिणी के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में वे अपनी जन्मजात प्रतिभाओं या इच्छाओं को नहीं व्यक्त कर सकती थीं, वस्तुतः उन्हें केवल पुरुषों के सहायक के रूप में देखा जाता था। उदाहरण के लिए हिंदुओं में कोई औरत एक ही बार शादी कर सकती थी यद्यपि पुरुष को एक से अधिक पत्नी रखने का अधिकार था। मुसलमानों में भी बहुविवाह की यह प्रथा प्रचलित थी। देश के अधिकतर भागों में औरतों को पर्दे में रहना पड़ता था। बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, और आठ-नौ साल के बच्चों की भी शादी कर दी जाती थी। विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं और उन्हें तपस्विनी का जीवन बिताना पड़ता था। उनका जीवन प्रतिबंधों में जकड़ा होता था। देश के अनेक भागों में भयंकर सती प्रथा प्रचलित थी। हिन्दू औरतों को संपत्ति के उत्तराधिकार नहीं थे, न ही वे किसी अवांछित विवाह के बंधन को तोड़ सकती थीं। मुसलमान औरतें सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो सकती थीं मगर एक औरत को पुरुष की तुलना में आधी सम्पति मिलती थी। तलाक़ के मामले में भी सैद्धान्तिक तौर पर पति-पत्नी के बीच समानता नहीं थी। दरअसल, मुसलमान औरतें तलाक़ से भयंकर रूप में डरती थीं। हिन्दू और मुसलमान औरतों की सामाजिक स्थिति तथा उनके मूल्य एक ही

जैसे थे। इसके अलावा, दोनों आर्थिक और सामाजिक तौर पर पुरुषों पर पूरी तरह निर्भर थीं। अन्ततः उनमें से अनेक को शिक्षा के फ़ायदे से वंचित रखा गया। इसके अलावा औरतों को सिखलाया गया कि वे अपनी परवशता की अवस्था को स्वीकार करें और यहां तक कि प्रतिष्ठा की निशानी समझ कर उनका स्वागत करें। यह सही है कि यदा-कदा रजिया सुलताना, चाँद बीबी या आहल्याबाई होल्कर जैसे चरित्र और व्यक्तित्व वाली औरतें भारत में हुईं। मगर वे अपवाद मात्र थीं और उनके कारण औरतों की दशा का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी तथा समानवादी आवेगों से प्रेरित होकर समाज सुधारकों ने औरतों की अवस्था को सुधारने के लिए एक शक्तिशाली आंदोलन आरम्भ किया। कुछ सुधारकों ने व्यक्तिवाद तथा समानता के सिद्धान्तों की दुहाई दी तो अन्य लोगों ने घोषणा की कि हिन्दू धर्म, इस्लाम या जरथुष्ट्र धर्म औरतों की निकृष्ट अवस्था के लिए मंजूरी नहीं देता तथा सच्चा धर्म उनको ऊँचा सामाजिक स्थान देता है।

अनगिनत व्यक्तियों, सुधारवादी संस्थाओं, धार्मिक संगठनों ने औरतों के बीच शिक्षा प्रसार, विधवा-पुनर्विवाह, विधवाओं की जीवन दशा सुधारने, बाल-विवाह को रोकने औरतों को पर्दे से बाहर लाने, एक विवाह लागू करने, और मध्यम वर्ग की औरतों को व्यवसाय या सार्वजनिक रोजगार अपनाने में सक्षम बनाने के लिए कठिन परिश्रम किया। उन्नीसवीं सदी के नौवें दशक के बाद वायसराय डफरिन की पत्नी के नाम पर डफरिन अस्पताल स्थापित किए गए। उनके द्वारा प्रयास किया गया कि भारतीय औरतों को आधुनिक दवाएँ और बच्चा जनने के तकनीक उपलब्ध हों।

नारी-मुक्ति आंदोलन को बीसवीं सदी में लड़ाकू राष्ट्रीय आंदोलन के उदय से काफी प्रोत्साहन मिला। औरतों ने स्वतंत्रता-संग्राम में सक्रिय और महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने बड़ी संख्या में बंग-भंग के ख़िलाफ़ आंदोलन तथा होम रूल आंदोलन में भाग लिया। 1918 के बाद वे राजनीतिक जलूसों में शामिल हुईं। उन्होंने विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर धरना दिया, चर्खे चलाए और खादी का प्रचार किया, असहयोग आंदोलनों में जेल गयीं, सार्वजनिक प्रदर्शनों के दौरान लाठियों, आंसू गैस, और गोलियों का सामना किया, तथा क्रान्तिकारी आतंकवादी आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया, और विधान मंडलों के चुनाव में मतदान किया तथा उम्मीदवारों के रूप में भी खड़ी हुईं। प्रसिद्ध कवयित्री सरोजिनी नायडू राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष बनीं। 1937 के लोकप्रिय मंत्रिमंडलों में कई औरतें मंत्री या संसदीय सचिव बनीं। सैकड़ों औरतें नगर-पालिकाओं और स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की सदस्य बनीं। जब बीसवीं सदी के तीसरे दशक में ट्रेड यूनियन और किसान आंदोलनों का उदय हुआ तब औरतें बहुधा इन आंदोलनों में सबसे आगे थीं। किसी भी अन्य कारक की अपेक्षा राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने से भारतीय नारियों को अपने जागरण और मुक्ति में योगदान मिला। जिन्होंने ब्रिटिश जेलों और गोलियों का बहादुरी से सामना किया उन्हें हीन कैसे कहा जा सकता था? उन्हें अब कैसे अधिक समय तक घर में बन्द रखा जा सकता था तथा वे कब तक 'गुड़िया या गुलाम लड़की' का जीवन व्यतीत कर सकती थीं? मानव प्राणियों के रूप में उन्हें अपने अधिकारों का दावा करना ही था।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना थी देश में एक नारी आंदोलन का जन्म। बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक प्रबुद्ध पुरुषों ने औरतों के उत्थान के लिए काम किया था। अब आत्मचेतन और आत्मविश्वासी औरतों ने इस काम को अपने हाथों में लिया। उन्होंने इस काम के लिए अनेक संगठनों तथा संस्थानों की स्थापना की, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था थी 1927 में स्थापित ऑल इंडिया वीमेंस कांफ्रेंस।

स्वतंत्रता मिलने के बाद समानता के लिए नारी-संघर्ष ने आगे एक बड़ा लम्बा कदम बढ़ाया। भारतीय संविधान (1950) के अनुच्छेदों 14 और 15 ने पुरुषों और स्त्रियों की पूर्ण समानता की गारंटी दी। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 ने लड़की को लड़के के साथ समान सह-उत्तराधिकारी बना दिया। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 ने विशेष आधारों पर विवाह के सम्बन्ध को खत्म करने यानी तलाक़ की अनुमति दी। पुरुषों और औरतों, दोनों

के लिए एक विवाह अनिवार्य बना दिया गया। यद्यपि दहेज मांगने पर प्रतिबंध लगा दिया गया है तथापि दहेज की कुप्रथा चल रही है। संविधान ने औरतों को कार्य तथा सरकारी एजेंसियों में रोजगार पाने के समान अधिकार दिए हैं। संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों ने पुरुषों और स्त्रियों, दोनों के सिलसिले में समान कार्य के लिए समान वेतन की व्यवस्था की है। बेशक, नर-नारी की समानता के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने में अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बाधाएँ अब भी वर्तमान हैं। एक उचित सामाजिक वातावरण का निर्माण करना बाक़ी है। समाज-सुधार आंदोलन स्वतंत्रता संघर्ष, औरतों के अपने आंदोलन तथा स्वतंत्र भारत के संविधान ने इस दिशा में भारी योगदान दिया है।

जाति प्रथा के विरुद्ध संघर्ष

जाति प्रथा समाज-सुधार आंदोलन के प्रहार का एक अन्य प्रमुख लक्ष्य थी। उस समय हिन्दू असंख्य जातियों में बंटे हुए थे। जिस जाति में मनुष्य का जन्म होता था उससे बहुत कुछ उसका जीवन-क्रम निर्धारित हो जाता था। जाति यह निर्धारित कर देती थी कि उस व्यक्ति की शादी किससे होगी और उसका खान-पान किसके साथ चलेगा। वह बहुत हद तक उसके व्यवसाय तथा सामाजिक वफ़ादारी को तय कर देती थी। इसके अलावा, जातियों को बड़ी सावधानी से श्रेणीबद्ध किया गया था। सामाजिक सीढ़ी में सबसे नीचे अछूत या अनुसूचित जातियाँ (जैसा कि उन्हें बाद में कहा गया) आती थीं। उनकी जनसंख्या हिन्दुओं की जनसंख्या की 20 प्रतिशत थी। अछूतों को असंख्य और कठोर निर्योग्यताओं तथा प्रतिबंधों के कारण कष्ट भोगना पड़ा, जो अलग-अलग जगहों में अलग-अलग थे। उनके स्पर्श को अशुद्ध माना जाता था और उसे प्रदूषण का स्रोत समझा जाता था। देश के कुछ भागों, ख़ासकर दक्षिण, में अछूतों की छाया भी नहीं पड़ने दी जाती थी, इसलिए किसी ब्राह्मण को आते हुए देख या सुन कर उन्हें दूर हट जाना पड़ता था। अछूतों के पोशाक, भोजन, निवास-स्थान सभी कुछ बड़ी सावधानीपूर्वक नियमों द्वारा निर्धारित होते थे। वे उच्च जातियों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले कुओं और तलाबों से पानी नहीं ले सकते थे। वे केवल अछूतों के लिए विशेष रूप से आरक्षित कुओं और तालाबों से ही पानी ले सकते थे। जहाँ इस प्रकार का कुआँ या तालाब नहीं होता था उन्हें पोखरों और सिंचाई की नहरों का गंदा पानी पीना पड़ता था। वे न तो हिन्दू मंदिरों में प्रवेश कर सकते थे और न ही शास्त्रों का अध्ययन कर सकते थे। बहुधा उनके बच्चे ऐसे स्कूलों में नहीं जा सकते थे जहाँ सवर्ण लोगों के बच्चे पढ़ते थे। पुलिस और फौज जैसी सार्वजनिक सेवाएँ उनके लिए बन्द थीं। अछूतों को दासोचित तथा ऐसे अन्य काम जिन्हें 'अपवित्र' समझा जाता था, करने के लिए मजबूर किया जाता था। इन कामों में झाड़ू लगाना, जूता बनाना, मुर्दों को हटाना, मरे हुए जानवरों की खाल उतारना, तथा चमड़े और खाल को कमाना-सिझाना शामिल थे। ज़मीन पर मिल्कियत न होने के कारण उनमें से अनेक को असुरक्षित किसानों तथा खेतिहर मज़दूरों के रूप में काम करना पड़ता था।

एक अन्य दृष्टि से भी जाति-प्रथा की एक और कुरीति थी। वह यह कि जाति-प्रथा न केवल अपमान जनक और अमानवीय तथा जन्म के कारण असमानता के जनतंत्र विरोधी सिद्धांत पर आधारित थी बल्कि सामाजिक विघटन का भी कारण बनी। उसने लोगों को असंख्य समूहों में विभाजित कर दिया। आधुनिक काल में वह संयुक्त राष्ट्रीय भावना के विकास तथा जनतंत्र के प्रसार में एक प्रधान बाधा बन गयी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जाति-चेतना ख़ासकर शादी के संदर्भ में मुसलमानों, ईसाइयों और सिक्खों में भी थी मगर उन्होंने अस्पृश्यता को अपेक्षाकृत कम विषाक्त रूप में अपनाया।

ब्रिटिश शासन ने ऐसी अनेक शक्तियाँ उत्पन्न कीं जिन्होंने धीरे-धीरे जाति-प्रथा को कमज़ोर बना दिया। आधुनिक उद्योगों और रेलवे तथा बसों के चल जाने और बढ़ते हुए शहरीकरण ने विभिन्न जातियों के व्यक्तियों के बीच, विशेषकर शहरों में, जनसंपर्क को रोकना कठिन बना दिया। आधुनिक वाणिज्य और उद्योग ने आर्थिक गतिविधि के नए क्षेत्रों को सबके लिए खोल दिया। उदाहरण के लिए, कोई ब्राह्मण या उच्च जाति का सौदागर चमड़े या जूते के व्यापार का अवसर शायद ही छोड़ सकता था या डाक्टर अथवा सैनिक बनने के अवसर से अपने आप को शायद ही बंचित रख सकता था। ज़मीन की मुक्त-

बिक्री ने अनेक गाँवों में जाति-संतुलन को बिगाड़ दिया। जाति और व्यवसाय के बीच घनिष्ठ संबंध शायद ही एक आधुनिक औद्योगिक समाज में जिसमें मुनाफ़े की भावना अधिकाधिक प्रबल होती जा रही हो, बने रह सकते थे।

प्रशासन के क्षेत्र में अंग्रेज़ों ने 'क़ानून के सम्मुख समानता' स्थापित की, जाति पंचायतों के न्यायिक कार्य ले लिए, और प्रशासनिक सेवाओं के दरवाज़े धीरे-धीरे सभी जातियों के लिए खोल दिए गए। इसके अलावा, नयी शिक्षा-प्रणाली बिल्कुल धर्म निरपेक्ष थी और इसलिए बुनियादी तौर पर जाति-विभेदों और जाति-दृष्टिकोण के विरुद्ध थी।

भारतीयों के बीच आधुनिक जनतांत्रिक और तर्कबुद्धि संगत विचारों का प्रसार होते ही जाति-प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठानी शुरू हो गई। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिस्टों, सोशल कांफ्रेंस और उन्नीसवीं सदी के लगभग सभी महान् सुधारकों ने जाति-प्रथा पर प्रहार किया। उनमें से अनेक ने चतुर्वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हुए भी जाति-प्रथा की आलोचना की। उन्होंने विशेष रूप से अस्पृश्यता की अमानवीय प्रथा की निंदा की। उन्होंने महसूस किया कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय प्रगति तब तक प्राप्त नहीं की जा सकती जब तक करोड़ों लोग मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा के साथ ज़िन्दा रहने के अधिकार से वंचित हैं।

राष्ट्रीय आंदोलन के विकास ने जाति-प्रथा को कमज़ोर बनाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। राष्ट्रीय आंदोलन उन सब संस्थानों के ख़िलाफ़ था जिनकी प्रवृति भारतीय जनता को विभाजित करने की थी। सार्वजनिक प्रदर्शनों, विशाल जनसभाओं और सत्याग्रह-संघर्षों में सामूहिक रूप से भाग लेने से जाति-चेतना कमज़ोर पड़ गयी। जो भी हो, जो लोग स्वतंत्रता और समानता के नाम पर विदेशी शासन से आज़ादी के लिए लड़ रहे थे वे जाति-प्रथा का कैसे समर्थन कर सकते थे क्योंकि जाति-प्रथा इन सिद्धांतों के पूरी तरह विरुद्ध पड़ती थी? इस प्रकार, आरम्भ से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और वस्तुतः सम्पूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन जातिगत विशेषाधिकारों का विरोधी था। उसने जाति, लिंग या धर्म के भेदभाव के बिना व्यक्ति के विकास के लिए समान नागरिक अधिकारों तथा समान स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया।

जीवन भर गाँधी जी ने अस्पृश्यता के उन्मूलन को अपनी सार्वजनिक गतिविधियों में सबसे प्रमुख स्थान दिया। इस कार्य के लिए 1932 में उन्होंने अखिल भारतीय हरिजन संघ की स्थापना की।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही अनगिनत व्यक्तियों और संगठनों के अछूतों (या दलित वर्गों जैसा बाद में कहा गया, अनुसूचित जातियों) के बीच शिक्षा-प्रसार, उनके लिए स्कूलों और मंदिरों के दरवाज़े खोलने, सार्वजनिक कुओं और तालाबों से पानी लेने, तथा उन अन्य सामाजिक निर्योग्यताओं तथा विभेदों को हटाने के लिए जिनसे वे उत्पीड़ित थे, अथक परिश्रम किया।

शिक्षा और जागरण बढ़ने से निम्न जातियाँ स्वयं आंदोलन करने लगीं। वे अपने बुनियादी मानवीय अधिकारों के प्रति जागरूक हो गयीं और इन अधिकारों की रक्षा के लिए उठ खड़ी हुईं। उन्होंने धीरे-धीरे उच्चतर जातियों के परम्परागत उत्पीड़न के विरुद्ध एक शक्तिशाली आंदोलन खड़ा किया। डा० भीम राव अम्बेडकर ने, जो स्वयं एक अनुसूचित जाति के थे, अपना सारा जीवन जातिगत जुल्म के खिलाफ़ लड़ने में लगा दिया। उन्होंने अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ (All-India Depressed Classes Federation) की स्थापना इसी उद्देश्य से की। अनुसूचित जातियों के कई अन्य नेताओं ने अखिल भारतीय दलित वर्ग परिषद् (All-India Depressed Classes Association) की स्थापना की। दक्षिण भारत में गैर-ब्राह्मणों ने बीसवीं सदी के तीसरे दशक के दौरान ब्राह्मणों द्वारा अपने ऊपर लादी गयी निर्योग्यताओं के खिलाफ़ संघर्ष करने के लिए स्वाभिमान आंदोलन (सेल्फ रिस्पेक्ट मूवमेंट) चलाया। सारे भारत में मंदिर-प्रवेश पर रोक तथा इसी तरह के अन्य प्रतिबंधों के विरोध में दलित जातियों ने अनेक सत्याग्रह आंदोलन चलाए।

मगर विदेशी शासन के दौरान अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष पूरी तरह सफल नहीं हो सका। विदेशी सरकार को डर था कि समाज के रूढ़िवादी लोगों का विरोध कहीं भड़क न उठे। सिर्फ स्वतंत्र भारत की सरकार ही समाज के आमूल परिवर्तन का कार्य कर सकती थी। इसके अलावा,

सामाजिक उत्थान की समस्या राजनीतिक और आर्थिक उत्थान की समस्या से घनिष्ठ रूप में जुड़ी हुई थी। उदाहरण के लिए, दलित जातियों के सामाजिक दर्जे को ऊँचा उठाने के लिए आर्थिक प्रगति अनिवार्य थी, इसी प्रकार शिक्षा प्रसार और राजनीतिक अधिकार आवश्यक थे। उदाहरण के लिए, डा० अम्बेडकर ने कहा :

> "कोई भी व्यक्ति तुम्हारी शिकायत को उतनी अच्छी तरह दूर नहीं कर सकता जितनी अच्छी तरह तुम दूर सकते हो और तुम अपनी शिकायतों को तब तक दूर नहीं कर सकते जब तक तुम्हारे हाथों में रानीतिक सत्ता न हो - हमें ऐसी सरकार जरूर चाहिए जिसमें सतारुढ़ व्यक्ति सामाजिक और आर्थिक जीवन-संहिता को सँशोधित करने में नहीं डरें, यह न्याय और औचित्य का बड़ा जरूरी तक़ाजा है। यह भूमिका ब्रिटिश सरकार कभी अदा नहीं कर पाएगी। केवल एसी सरकार ही जो जनता की, जनता के द्वारा हो, दूसरे शब्दों में, सिर्फ स्वराज सरकार ही इसे संभव बना सकती है।"

भारत के संविधान ने अस्पृश्यता के अंतिम तौर पर उन्मूलन के लिए क़ानूनी चौखटा दिया है। उसने घोषणा की है कि "अस्पृश्यता" का अन्त क्रिया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। "अस्पृश्यता" से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा।"

संविधान ने कुओं, तालाबों और स्नान के घाटों के इस्तेमाल तथा दूकानों, रेस्तरों, होटलों और सिनेमा घरों में प्रवेश पर कोई भी प्रतिबंध लगाने की मनाही की है। इतना ही नहीं भावी सरकारों के मार्गदर्शन के लिए राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों में से एक में व्यवस्था की गयी है "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य साधक रूप में स्थापना और संरक्षण कर के लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।" परन्तु जाति-प्रथा की कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष अब भी भारतीय जनता के सम्मुख, ख़ासकर ग्रामीण क्षेत्रों में, एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है।

अभ्यास

1. उन्नीसवीं सदी के धर्म-सुधार-आंदोलनों के तर्कबुद्धिसंगत और मानवतावादी सारतत्त्व की विवेचना कीजिए। आधुनिक भारत के निर्माण में उनकी भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
2. वे कुछ कौनसी निर्योग्यताएँ थीं जिनसे परम्परागत भारतीय समाज में नारी पीड़ित थी ? उनकी मुक्ति के लिए आधुनिक सुधार आंदोलन द्वारा उठाए गए क़दमों की चर्चा कीजिए।
3. आधुनिक समाज-सुधारकों ने जाति-प्रथा पर प्रहार करना क्यों आवश्यक समझा ? अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में होने वाले परिवर्तनों तथा सुधार-आंदोलनों ने जाति-प्रथा को किस प्रकार कमज़ोर बनाया ?
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

   (क) ब्रह्म समाज; (ख) महाराष्ट्र में धर्म-सुधार; (ग) रामकृष्ण; (घ) स्वामी दयानन्द और आर्य समाज; (च) सैयद अहमद ख़ाँ; (छ) अकाली आंदोलन।

अध्याय 14

राष्ट्रवादी आंदोलन 1905-1918

जुझारू राष्ट्रवाद का विकास

देश में वर्षों से धीरे-धीरे जुझारू राष्ट्रवाद (जिसे गर्मदलीय राजनीति भी कहा जाता है) की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। उसकी अभिव्यक्ति 1905 में बंगभंग के विरुद्ध आन्दोलन में हुई।

आरम्भिक दिनों में भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने बड़ी संख्या में लोगों को उत्तरोत्तर विदेशी आधिपत्य के दुर्गुणों तथा देशभक्ति को बढ़ावा देने की आवश्यकता के प्रति जागरूक बनाया था। उसने शिक्षित भारतीयों को आवश्यक राजनीति प्रशिक्षण भी दिया था। वस्तुतः उसने जनता के मनोभाव को बदल दिया था तथा देश में एक नए जीवन का सर्जन किया था।

साथ ही, राष्ट्रवादियों की किसी भी महत्त्वपूर्ण माँग को ब्रिटिश सरकार द्वारा नहीं माने जाने से राजनीतिक रूप से जागरूक लोगों के बीच प्रबल नरमपंथी नेतृत्व के सिद्धान्तों और तौर-तरीक़ों के प्रति मोह भंग हो गया। सभाओं, याचिकाओं, स्मरणपत्रों विधान परिषदों में भाषणों की अपेक्षा अधिक ज़ोरदार कार्रवाई तथा तरीक़ों के लिए भारी माँग की गई।

ब्रिटिश शासन के सही स्वरूप की पहचान

नरमपंथी राष्ट्रवादियों की राजनीति इस धारणा पर आधारित थी कि ब्रिटिश शासन को उसके अधीन रहकर भी सुधारा जा सकता है। मगर राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों के संबंध में ज्ञान के प्रसार ने इस धारणा को धीरे-धीरे कमज़ोर कर दिया। नरमपंथियों का राजनीतिक आदोलन भी इसके लिए बहुत हद तक जिम्मेदार था। राष्ट्रवादी लेखकों और आंदोलनकारियों ने जनता की दरिद्रता के लिए ब्रिटिश शासन को जिम्मेदार ठहराया। राजनीतिक तौर पर जागरूक भारतीयों को इस बात का पूरी तौर पर विश्वास हो गया था कि ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना है यानी भारत के मत्थे इंग्लैंड को समृद्ध बनाना है। भारत आर्थिक क्षेत्र में तब तक शायद ही प्रगति कर सकता है जब तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जगह भारतीय जनता द्वारा नियंत्रित और संचालित सरकार न ले ले। विशेष रूप से, राष्ट्रवादियों ने यह महसूस किया कि ऐसी भारतीय सरकार के अधीन ही भारतीय उद्योग प्रगति कर सकते हैं जो उनकी रक्षा करे और उन्हें प्रोत्साहन दे। जनता की नज़रों में विदेशी शासन के आर्थिक कुपरिणामों के प्रतीक के रूप में विध्वंसकारी अकाल जिन्होंने 1896 से 1900

तक भारत में अपनी विनाश-लीला दिखायी और 90 लाख लोगों की जानें ली।

1892 से लेकर 1905 तक के वर्षों की राजनीतिक घटनाओं ने भी राष्ट्रवादियों को निराश किया तथा उन्हें अधिक क्रान्तिकारी राजनीति के बारे में सोचने के लिए मजबूर किया। इंडियन काउन्सिल्स ऐक्ट, 1892, से जिसकी चर्चा बारहवें अध्याय में की जा चुकी है, भारतीय जनता को बड़ी निराशा हुई। दूसरी ओर, लोगों के तत्कालीन अधिकारों पर भी प्रहार किया गया। विदेशी सरकार के विरुद्ध "असंतोष की भावनाएँ" उभारने को 1898 में एक क़ानून बना कर अपराध घोषित कर दिया गया। 1899 में कलकत्ता नगर निगम में भारतीय सदस्यों की संख्या घटा दी गई। 1904 में "इंडियन ऑफ़िशियल सिक्रेट्स ऐक्ट (Indian Official Secrets Act) पास कर प्रेस की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित कर दिया गया। नाटु बन्धुओं को 1897 में बिना मुक़दमा चलाए देशनिकाला दे दिया गया। उनके ख़िलाफ़ लगाए गए अभियोगों को सार्वजनिक रूप से नहीं बतलाया गया। उसी साल जनता को विदेशी सरकार के ख़िलाफ़ भड़काने के अपराध में लोकमान्य तिलक और अन्य समाचार संपादकों को जेल की लम्बी सज़ाएँ दीं गयीं। इस प्रकार, लोगों ने पाया कि लोगों को व्यापक राजनीतिक अधिकार देने के बदले शासक उनके कुछ तत्कालीन अधिकारों को भी छीन रहे हैं। लॉर्ड कर्ज़न के कांग्रेस विरोधी रुख ने लोगों को अधिकाधिक विश्वास दिला दिया कि जब तक भारत पर अंग्रेज़ों का शासन है तब तक किसी राजनीतिक और आर्थिक प्रगति की आशा करना व्यर्थ है। नरमपंथी नेता गोखले तक ने भी कहा कि "अफ़सरशाही स्पष्ट रूप से स्वार्थी है, तथा राष्ट्रीय आकांक्षाओं की खुलेआम विरोधी बनती जा रही है।"

सामाजिक और सांस्कृतिक तौर पर भी ब्रिटिश शासन प्रगतिशील नहीं रह गया था। साथ ही, अफ़सर उच्च शिक्षा को सन्देह की नज़र से देखने लगे थे और उन्होंने देश में उसके प्रसार को रोकने की भी कोशिश की। राष्ट्रवादियों ने इण्डियन युनिवर्सिटीज़ ऐक्ट, 1904, को भारतीय विश्वविद्यालयों को सख्त सरकारी नियंत्रण में लाने तथा उच्च शिक्षा के विकास को रोकने के प्रयास के रूप में देखा।

अतः अधिकाधिक भारतीयों को यह विश्वास होता जा रहा था कि देश की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति के लिए स्वराज्य आवश्यक है। राजनीतिक गुलामी का अर्थ था : भारतीय जनता के विकास को अवरुद्ध करना।

आत्मसम्मान और आत्मविश्वास का विकास

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारतीय राष्ट्रवादियों में आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की भावना आ गयी थी। उन्होंने अपना शासन आप करने की अपनी क्षमता तथा अपने देश के भावी विकास में विश्वास प्राप्त कर लिया था। तिलक और विपिन चन्द्र पाल जैसे नेताओं ने आत्म-सम्मान का संदेश दिया और राष्ट्रवादियों से कहा कि वे भारतीय जनता के चरित्र और क्षमताओं पर भरोसा रखें। उन्होंने जनता को सिखाया कि उनकी बुरी अवस्था को दूर करने का उपाय उनके अपने ही हाथों में है। इसके लिए उन्हें निडर और मजबूत बनना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द हालाँकि राजनीतिक नेता नहीं थे तब भी उन्होंने यह संदेश बार-बार लोगों तक पहुँचाया :

> "अगर संसार में कोई पाप है तो वह कमज़ोरी है, सभी तरह की कमज़ोरियों से दूर रहो, कमज़ोरी पाप है, कमज़ोरी मौत है···और सत्य की कसौटी यह है कि जो भी तुम्हें शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक तौर पर कमज़ोर बनाए उसे विष की तरह ठुकरा दो, उसमें कोई जीवन नहीं हैं, वह सत्य नहीं हो सकता।"

उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे विगत गरिमा पर जीना छोड़ दें तथा जवांमर्द की तरह भविष्य का निर्माण करें उन्होंने लिखा : "हे भगवान्! क्या हमारा देश अतीत की शाश्वत स्तुति से मुक्त हो सकेगा ?"

आत्म-प्रयास में विश्वास ने राष्ट्रीय आंदोलन का विस्तार करने की प्रेरणा को भी जन्म दिया। राष्ट्रवादी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अब बहुत दिनों तक थोड़े से उच्चवर्गीय शिक्षित भारतीयों पर निर्भर रहना उचित नहीं है, अपितु जनसाधारण की राजनीतिक चेतना को जगाना चाहिए। अतः उदाहरण के लिए, स्वामी विवेकानन्द ने लिखा : "भारत की एकमात्र आशा जनसाधारण से ही है। उच्चवर्ग भौतिक और नैतिक, दोनों दृष्टियों से मृत है।" यह अहसास भी था कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए

अपेक्षित बलिदान केवल जनसाधारण ही कर सकते हैं। इसके अलावा, राष्ट्रवादी नेताओं ने महसूस किया कि राजनीतिक गतिविधि उन कुछ दिनों तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए जब राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन हो या प्रान्तीय सम्मेलन, बल्कि निरन्तर चलती रहनी चाहिए।

शिक्षा और बेरोजगारी की वृद्धि

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक शिक्षित भारतीयों की संख्या काफ़ी बढ़ गई थी। वे बड़ी संख्या में प्रशासन में बहुत कम वेतन पर काम करने लगे थे। जबकि उनमें से अनेक को बेरोजगारी का सामना करना पड़ रहा था। अपनी आर्थिक दशा से मजबूर होकर उन्होंने ब्रिटिश शासन के स्वरूप पर आलोचनात्मक दृष्टि से देखना शुरू कर दिया। उनमें से अनेक आमूल परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी राजनीति की ओर आकर्षित हुए।

शिक्षा-प्रसार का वैचारिक पहलू अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण था। शिक्षित भारतीयों की संख्या बढ़ने के साथ ही जनतंत्र, राष्ट्रवाद और आमूल परिवर्तन से संबंधित पाश्चात्य विचारों का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ता गया। शिक्षित भारतीय जुझारू राष्ट्रवाद के सबसे अच्छे प्रचारक और अपनाने वाले हो गए क्योंकि उनका वेतन बहुत कम था या वे बेरोजगार थे और उन्होंने आधुनिक चिंतन और राजनीति तथा यूरोप एवं विश्व के इतिहास का अध्ययन किया था।

अन्तराष्ट्रीय प्रभाव

इस काल की कई विदेशी घटनाओं ने भारत में जुझारू राष्ट्रवाद के विकास को बढ़ावा दिया। 1868 के बाद जापान के उदय ने स्पष्ट कर दिया कि एक पिछड़ा हुआ एशियाई देश भी अपने आप को पश्चिमी नियंत्रण के बिना विकसित कर सकता है। कुछ ही दशकों में जापानी नेताओं ने अपने देश को एक प्रथम कोटि का औद्योगिक और सैनिक शक्ति बना दिया, सब जगह प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था कर दी, और एक कुशल, आधुनिक प्रशासन का विकास किया। 1896 में इटली की फ़ौज की इथोपिया के हाथों हार तथा 1905 में जापान द्वारा रूस की पराजय ने योरोपीय कल्पित श्रेष्ठता को खत्म कर दिया। एशिया में हर जगह लोगों ने यूरोप की सबसे बड़ी सैनिक शक्ति को एक छोटे एशियाई देश द्वारा हराए जाने की खबर बड़े उत्साह से सुनी। उदाहरण के लिए, तिलक द्वारा सम्पादित मराठी साप्ताहिक पत्र 'केसरी' के 6 दिसम्बर 1904 के अंक में निम्नलिखित टिप्पणी छपी :

> "इस समय तक यह माना जाता रहा कि एशियावासियों में राष्ट्रीयता की भावना का अभाव है और, इसलिए, अपनी व्यक्तिगत हिम्मत और बहादुरी के बावजूद वे योरोपीय राष्ट्रों के सामने नहीं टिक पाते। इसके अलावा विश्वास किया जाता था कि एशिया, अफ्रीका और अमरीका महाद्वीपों को विधाता ने योरोपीय राष्ट्रों द्वारा उन पर राज करने के लिए बनाया है" रूस-जापान युद्ध ने इन धारणाओं पर गहरी चोट की है, और इन धारणाओं पर विश्वास करने वाले अब देखने लगे हैं कि "एशियावासियों में ऐसी कोई अन्तर्निहित असंभाव्य चीज नहीं है जिससे वे अपने को स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में संगठित न कर सकते हों और अपने योरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों के साथ बराबरी का दर्जा हासिल न कर सकें।"

एक अन्य समाचार पत्र 'करांची क्रोनिकल' ने 18 जून 1905 को निम्नलिखित प्रकार से जनभावना व्यक्त की :

> "एक एशियाई राष्ट्र ने जो कर दिखाया है वह दूसरे भी कर सकते हैं" अगर जापान रूस को हरा सकता है तो भारत भी इंग्लैंड को उतनी ही आसानी से पराजित कर सकता है... आइए, अंग्रेजों को उठाकर समुद्र में डाल दें और जापान के साथ-साथ हम भी संसार की महान् शक्तियां के बीच अपना स्थान ग्रहण करें।"

आयरलैंड, रूस, मिस्र, तुर्की और चीन के क्रान्तिकारी आंदोलनों तथा दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध ने भारतीयों को विश्वास दिला दिया कि बलिदान करने के लिए तैयार कोई भी एकजुट राष्ट्र अत्यन्त शक्तिशाली निरंकुश शासकों को भी चुनौती दे सकता है। सबसे आवश्यक चीज है देश-भक्ति और आत्म-बलिदान की भावना।

एक जुझारू राष्ट्रवादी चिंतनधारा

राष्ट्रीय आंदोलन के आरम्भ से ही देश में जुझारू राष्ट्रवादी विचारधारा मौजूद थी। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व बंगाल में राजनारायण बोस और अश्विनी कुमार दत्त तथा महाराष्ट्र में विष्णु शास्त्री चिपलंकर जैसे लोगों ने किया। इस विचारधारा के सबसे विशिष्ट प्रति-

निधि थे बाल गंगाधर तिलक जो बाद में लोकमान्य तिलक के नाम से लोकप्रिय हुए। उनका जन्म 1856 में हुआ था। बम्बई विश्वविद्यालय का स्नातक होने के दिन से ही उन्होंने अपना सारा जीवन देश की सेवा में लगा दिया। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के नौवें दशक के दौरान न्यू इंगलिश स्कूल (जो बाद में चलकर फर्गुसन कालेज बन गया) तथा समाचार पत्रों—'मराठा' (अंग्रेज़ी) और 'केशरी' (मराठी) की स्थापना में सहायता दी। उन्होंने 1889 से 'केसरी' का संपादन किया और उसके कालमों के ज़रिए राष्ट्रवाद की शिक्षा दी तथा लोगों को भारत की स्वतंत्रता के लिए दिलेर, आत्मनिर्भर, और निःस्वार्थ योद्धा बनना सिखलाया। उन्होंने 1893 में पारम्परिक धार्मिक गणपति समारोह का

दिसम्बर 1919 में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल प्रतिनिधि। कुर्सी पर बैठें (दायें से बायें) : मदनमोहन मालवीय, एनी बेसेंट, स्वामी श्रद्धानन्द, मोतीलाल नेहरू, बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द के पीछे खड़े हैं। नीचे जमीन पर बैठे हुए (बायें से दायें) : जवाहर लाल नेहरू, एस॰ सत्यमूर्ति।

नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से

प्रयोग गीतों और भाषणों के द्वारा राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार करने के लिए शुरू किया, और युवा महाराष्ट्र वासियों के बीच अनुकरण के लिए शिवाजी का उदाहरण रख कर राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित करने के लिए 1895 में शिवाजी समारोह आरम्भ किया। उन्होंने 1896-97 में महाराष्ट्र में करबंदी अभियान आरम्भ किया। उन्होंने महाराष्ट्र के अकालग्रस्त किसानों से फसल खराब हो जाने के समय भूराजस्व न देने के लिए कहा। जब 1897 में

अधिकारियों ने उन्हें सरकार के ख़िलाफ़ घृणा और असंतोष फैलाने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया तब उन्होंने बहादुरी और त्याग का एक सच्चा उदाहरण पेश किया। उन्होंने सरकार से माफी मांगने से इन्कार कर दिया और उन्हें 18 महीने की सज़ा दी गयी। इस प्रकार वे आत्म-बलिदान की नयी राष्ट्रीय भावना के ज़ीवित प्रतीक बन गए।

बीसवीं सदी के आरम्भ होते ही लड़ाकू राष्ट्रवादियों की विचारधारा को एक अनुकूल राजनीतिक वातावरण मिला और उसके अनुयायी राष्ट्रीय आंदोलन के द्वितीय चरण का नेतृत्व करने के लिए सामने आए। लोकमान्य तिलक के अलावा, जुझारू राष्ट्रवाद के अन्य विशिष्ट नेता थे, बिपिन चंद्र पाल, अरविन्द घोष और लाला लाजपत राय। लड़ाकू राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम के विशिष्ट राजनीतिक पहलू यों थे :

उनका विश्वास था कि भारतीयों को अपनी मुक्ति के लिए स्वयं काम करना चाहिए और अपनी अवनत अवस्था से ऊपर उठने के लिए प्रयास करना चाहिए। उन्होंने घोषणा की कि इस काम के लिए महान् बलिदान करने होंगे और यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। उनके भाषण, लेखन, और राजनीतिक कार्य निडरता तथा आत्मविश्वास से परिपूर्ण थे और देश की भलाई के लिए वे कोई भी आत्मत्याग अधिक नहीं समझते थे।

उन्होंने इस बात का खण्डन किया कि अंग्रेजों के "हितैषी मार्गदर्शन" तथा नियंत्रण में भारत प्रगति कर सकता है। वे विदेशी शासन से घोर घृणा करते थे, और उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य स्वराज्य है।

उनको जनसाधारण की शक्ति में अगाध विश्वास था और उन्होंने जन-कार्रवाई के ज़रिए स्वराज्य प्राप्त करने की योजना बनायी। इसलिए उन्होंने जनसाधारण के बीच राजनीतिक कार्य तथा जनता द्वारा सीधी राजनीतिक कार्रवाई पर ज़ोर दिया।

एक प्रशिक्षित नेतत्व

1905 तक भारत में बड़ी संख्या में ऐसे नेता हो गए थे जिन्होंने विगत काल के दौरान राजनीतिक आंदोलनों का मार्गदर्शन और राजनीतिक संघर्षों का नेतृत्व करने में मूल्यवान् अनुभव प्राप्त कर लिया था। राजनीतिक कार्यकर्ताओं के एक प्रशिक्षित समूह के बिना राष्ट्रीय आंदोलन को एक उच्चतर राजनीतिक अवस्था में ले जाना मुश्किल होता।

बंगभंग

अतः जब 1905 में बंगभंग की घोषणा की गयी और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने अपने दूसरे चरण में प्रवेश किया तब जुझारू राष्ट्रवाद के उदय की स्थितियाँ विकसित हो गयी थीं। लॉर्ड कर्ज़न ने 20 जुलाई 1905 को बंगाल को दो भागों में विभाजित करने के लिए एक आदेश जारी किया। एक हिस्से में पूर्वी बंगाल और असम को रखा गया। इस भाग की जनसंख्या 3 करोड़ 10 लाख थी। दूसरे भाग में शेष बंगाल को रखा गया। इस भाग की जनसंख्या 5 करोड़ 40 लाख थी जिसमें एक करोड़ 80 लाख बंगाली और 3 करोड़ 60 लाख बिहारी और उड़िया थे। कहा गया कि तत्कालीन बंगाल प्रांत इतना बड़ा था कि एक ही प्रान्तीय सरकार उसका प्रशासन कुशलतापूर्वक नहीं चला सकती। मगर जिन अफ़सरों ने योजना बनायी उनके ध्येय कुछ और ही थे। उन्हें उम्मीद थी कि बंगभंग के द्वारा वे बंगाल में राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई लहर को शान्त कर सकेंगे। भारत सरकार के गृहसचिव रिस्ले ने 6 दिसम्बर 1904 को एक सरकारी नोट में लिखा :

> "संयुक्त बंगाल एक शक्ति है। विभाजित बंगाल में कई भिन्न दिशाओं में खींचातानी की प्रवृति होगी। कांग्रेस नेता यही महसूस करते हैं; उनकी आशंकाएं बिल्कुल सही हैं और यह ही इस परियोजना की एक महान् अच्छाई है⋯ मध्य प्रदेश के साथ बरार के एकीकरण की तरह ही हमारा एक उद्देश्य विभाजित करके अपने शासन के विरोधियों के एक सुदृढ़ समूह को कमजोर बनाना है।"

स्वयं कर्ज़न ने फ़रवरी 1905 में समान स्वर में लिखा :

> "कलकत्ता ही वह केंद्र है जहाँ से सारे बंगाल और, बेशक, सम्पूर्ण भारत में कांग्रेस दल को परिचालित किया जाता है⋯ किसी भी ऐसे कदम का जिसके फलस्वरूप बंगला भाषा-भाषी जनता विभाजित हो जायेगी; गतिविधि तथा प्रभाव के स्वतंत्र

केंद्र विकसित होंगे; कलकत्ता सफल षड्यंत्र का केंद्र नहीं रह पायेगा···वे घोर विरोध करेंगे।"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और बंगाल के लिए राष्ट्रवादियों ने विभाजन का दृढ़ता से विरोध किया। अपने प्रान्त के विभाजन के स्वयंस्फूर्त विरोध में बंगाल के अन्दर जनसंख्या की विभिन्न श्रेणियां जमींदार, सौदागर, वकील, विद्यार्थी, शहरी ग़रीब और यहां तक की औरतें—उठ खड़ी हुईं।

राष्ट्रवादियों ने विभाजन की कार्रवाई को एक प्रशासनिक कदम के रूप में ही नहीं बल्कि भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति चुनौती के रूप में देखा। उन्होंने देखा कि वह बंगालियों को विभाजित करने तथा बंगाल में राष्ट्रवाद को छिन्नभिन्न और कमज़ोर करने के लिए जानबूझकर किया गया प्रयास था। उन्होंने महसूस किया कि बंगाल के विभाजन से बंगला भाषा और संस्कृति के विकास को गहरा धक्का लगेगा। उन्होंने बतलाया कि हिन्दी भाषी बिहार तथा उड़िया भाषी उड़ीसा को प्रान्त के बंगला भाषी भाग से अलग करने से प्रशासनिक कार्यकुशलता अधिक अच्छी तरह बढ़ सकती है। इसके अलावा, सरकारी कदम जनमत की बिल्कुल उपेक्षा कर उठाया गया है। अतः बंगाल के विरोध की तीव्रता का कारण इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि बंगभंग एक अत्यन्त संवेदनशील और साहसी जनगण पर प्रहार था।

बंगभंग-विरोधी आंदोलन या स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन

बंगभंग विरोधी आंदोलन किसी एक हिस्से का नहीं बल्कि बंगाल के संपूर्ण राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रयास का परिणाम था। आरम्भिक चरण में उसके अत्यन्त प्रमुख नेता सुरेंद्रनाथ बनर्जी और कृष्ण कुमार मित्र जैसे चरमपंथी थे, लड़ाकू और क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों ने उसका नेतृत्व बाद के चरणों में सम्भाला। वस्तुतः, आंदोलन के दौरान नरमपंथी और गरमपंथी, दोनों प्रकार के, राष्ट्रवादियो ने एक दूसरे के साथ सहयोग किया।

बंगभंग विरोधी आंदोलन 7 अगस्त 1905 को आरम्भ किया गया। उस दिन बंगभंग के विरुद्ध कलकत्ता के टाउन हाल में एक विशाल प्रदर्शन का आयोजन किया गया। इस सभा से प्रतिनिधि शेष प्रांत में आंदोलन फैलाने के लिए गए।

विभाजन 16 अक्तूबर 1905 को लागू हो गया। विरोधी आंदोलन के नेताओं ने इस दिन को सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक दिवस घोषित कर दिया। उस दिन लोगों ने उपवास रखे। कलकत्ता में हड़ताल रही। लोग नंगे पांव घूमे और उन्होंने अत्यन्त प्रातःकाल गंगा में स्नान किया। रवींद्र नाथ ठाकुर ने इस अवसर के लिए एक राष्ट्रीय गीत की रचना की जिसे सड़कों पर घूमते हुए भारी जनसमुदाय ने गाया। कलकत्ता की गलियां बंदेमातरम् से गूंज उठीं। बंदेमातरम् रातोंरात राष्ट्रीय आंदोलन का मूल गीत बन गया। रक्षाबंधन के अवसर का इस्तेमाल नयी तरह से किया गया। उस दिन बंगालियों तथा बंगाल के दोनों हिस्सों की अटूट एकता के प्रतीक के रूप में बंगाल की जनता ने एक दूसरे की कलाइयों पर राखी बांधी।

अपराह्न में एक विशाल प्रदर्शन हुआ जब वयोवृद्ध नेता आनन्दमोहन बोस ने बंगाल को अक्षय एकता के प्रतीक के रूप में फेडरेशन हाल का शिलान्यास किया। उन्होंने पचास हज़ार से बड़ी भीड़ को संबोधित किया। सभा ने बंगाल की एकता को बनाए रखने की शपथ लेने का एक प्रस्ताव पारित किया।

स्वदेशी और बहिष्कार

बंगाल के नेताओं ने महसूस किया कि केवल प्रदर्शनों, सार्वजनिक सभाओं, और प्रस्तावों से शासकों पर बहुत प्रभाव नहीं पड़ने वाला है। अपेक्षाकृत अधिक सुनिश्चित कार्रवाई की ज़रूरत थी जो जनभावनाओं की तीव्रता को व्यक्त कर सके और उनको अधिक अच्छी तरह प्रदर्शित कर सके। इस ज़रूरत की पूर्ति स्वदेशी और बहिष्कार ने की। सारे बंगाल में जनसभाएँ हुई जहां स्वदेशी या भारतीय वस्तुओं के इस्तेमाल तथा ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार की घोषणा की गयी और शपथ ली गयी। अनेक स्थानों पर विदेशी कपड़े को खुले आम जलाया गया तथा विदेशी वस्त्र बेचने वाली दूकानों पर धरना दिया गया। स्वदेशी आंदोलन को अपार सफलता मिली। सुरेंद्रनाथ बनर्जी के अनुसार :

"अपने उत्कर्ष के दिनों के दौरान स्वदेशीवाद ने हमारे सामाजिक और घरेलू जीवन की सरचना को रंग दिया था। शादी के उपहारों में मिली ऐसी विदेशी वस्तुएं वापस कर दी जाती थीं, जिनके समान वस्तुएँ देश के अन्दर तैयार की जाती थीं। पुरोहित ऐसे यज्ञों को कराने से इन्कार कर देते थे जिनमें नैवेद्य के रूप में विदेशी वस्तुएँ चढ़ायी जाती थीं। अतिथि उन आनन्दोत्सवों में भाग लेने से इन्कार कर देते थे जिनमें विदेशी नमक या विदेशी चीनी का इस्तेमाल होता था।"

स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय उद्योगों को काफ़ी बढ़ावा दिया। अनेक कपड़ा मिलें, साबुन और दियासलाई के कारखाने, हस्तकरघा कम्पनियाँ, राष्ट्रीय बैंक, और बीमा कम्पनियाँ खोलीं गयीं। आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने अपना प्रसिद्ध बंगाल केमिकल स्वदेशी स्टोर्स खोला। यहाँ तक कि महान् कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी एक स्वदेशी भंडार खोलने में सहायता दी।

संस्कृति के क्षेत्र में स्वदेशी आदोलन के कई परिणाम हुए। राष्ट्रवादी काव्य, गद्य और पत्रकारिता की धारा प्रवाहित होने लगी। उस समय रवींद्रनाथ ठाकुर, रजनीकांत सेन और मुकुन्द दास जैसे कवियों द्वारा लिखे गए गीत आज तक बंगाल में गाए जाते हैं। उस समय एक अन्य रचनात्मक कार्य था राष्ट्रीय शिक्षा का। राष्ट्रीय शैक्षणिक संस्थान जहाँ साहित्यिक, तकनीकी, या शारीरिक शिक्षा दी जाती थी राष्ट्रवादियों द्वारा खोले गए जो तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली को विराष्ट्रीकरण करने वाली मानते थे और उसे हर हालत में अपर्याप्त समझते थे। 15 अगस्त 1906 को नेशनल काउन्सिल ऑफ़ एजुकेशन की स्थापना हुई। एक नेशनल कालेज कलकत्ता में खोला गया जिसके प्रिंसिपल अरविंद घोष थे।

छात्रों, औरतों, मुसलमानों, और जनता की भूमिका

स्वदेशी आंदोलन में एक प्रमुख भूमिका बंगाल के छात्रों की रही। उन्होंने स्वदेशी को व्यवहार में अपनाया और उसका प्रचार किया तथा विदेशी वस्त्र बेचने वाली दुकानों के सामने धरना आयोजित करने में अग्रणी भूमिका निभायी। छात्रों का दमन करने के लिए सरकार ने हर प्रयास किया। उन स्कूलों और कालेजों को दण्डित करने के लिए आदेश जारी किये गए जहाँ के छात्रों ने स्वदेशी आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। दण्ड के रूप में उनके सहायक अनुदानों तथा अन्य विशेषाधिकारों को वापस लिया जाना था; उनकी सम्बंधता ख़त्म की जाने वाली थी, उनके छात्रों को छात्रवृत्तियों के लिए प्रतिद्वन्द्विता में भाग नहीं लेने दिया जाने वाला था तथा उन्हें सरकारी नौकरियों से वंचित करना था। राष्ट्रवादी आंदोलन में भाग लेने के दोषी पाए गए छात्रों के ख़िलाफ़ अनुशासन की कार्रवाई की जाने वाली थी। उनमें से अनेक छात्रों पर जुर्माना किया गया, स्कूलों और कालेजों से निकाल दिया गया, गिरफ़्तार कर लिया गया और कहीं-कहीं पर पुलिस ने उन्हें लाठियों से पीटा। मगर छात्रों ने घुटने टेकने से इन्कार कर दिया।

स्वदेशी आंदोलन का एक उल्लेखनीय पहलू था इसमें महिलाओं का सक्रिय रूप से भाग लेना। परम्परागत रूप से घरों में रहने वाली शहरी मध्यम वर्गों की औरतें जलूसों और धरनों में शामिल हो गयीं। यह राष्ट्रवादी आंदोलन में उनके सक्रिय रूप से भाग लेने की शुरुआत थी।

प्रसिद्ध बैरिस्टर अबुल रसूल, लोकप्रिय आंदोलन-कर्त्ता लियाक़त हुसैन, और व्यवसायी गज़नवी सहित अनेक प्रमुख मुसलमानों ने स्वदेशी आंदोलन में भाग लिया। मगर अनेक अन्य मध्यम और उच्चवर्गीय मुसलमान तटस्थ रहे या ढाका के नवाब (जिसे भारत सरकार ने 14 लाख रुपए का कर्ज़ दिया था) के नेतृत्व में इस आधार पर विभाजन का समर्थन किया कि पूर्व बंगाल में मुस्लिम बहुमत रहेगा। ढाका के नवाब तथा अन्य लोगों के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को अधिकारियों ने बढ़ावा दिया। ढाका में लॉर्ड कर्ज़न ने घोषणा की कि विभाजन का एक कारण यह भी था कि "पूर्वी बंगाल के मुसलमानों के बीच ऐसी एकता लायी जाए जैसी पुराने मुसलमान नवाबों और राजाओं के ज़माने के बाद कभी नहीं देखी गयी।"

बंगभंग विरोधी आंदोलन के जनप्रिय चरित्र और राष्ट्रीय आंदोलन को जनता तक ले जाने की लड़ाकू राष्ट्रवादियों की इच्छा के बावजूद, आंदोलन बंगाल के किसानों को वस्तुतः न तो प्रभावित कर सका और न ही अपने साथ

ला सका। कुल मिला कर आंदोलन शहरों तथा प्रांत के उच्च और मध्यम वर्गों तक ही सीमित रहा।

आंदोलन का अखिल भारतीय चरित्र

स्वदेशी और स्वराज्य के नारे को भारत के अन्य प्रान्तों ने भी अपनाया। बंगाल की एकता के समर्थन तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के लिए बम्बई, मद्रास और उत्तरी भारत में भी आंदोलन चलाए गए। देश के शेष भागों में स्वदेशी आंदोलन के प्रसार में अग्रणी भूमिका तिलक की रही। तिलक ने तुरन्त ही देखा कि बंगाल में इस आंदोलन की शुरुआत के साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हो गया है। यह एक चुनौती तथा ब्रिटिश राज के खिलाफ़ जनसंघर्ष चलाने तथा सारे देश को समान सहानुभूति के बंधन में बांधने के अवसर के रूप में सामने आया।

लड़ाकू प्रवृत्ति का विकास

वंगभंग विरोधी आंदोलन का नेतृत्व जल्द ही तिलक, विपिन चंद्र पाल, और अरविंद घोष जैसे लड़ाकू राष्ट्रवादियों के हाथों में चला गया। ऐसा अनेक कारणों से हुआ।

प्रथमतः नरमपंथियों द्वारा चलाए गए आरंभिक विरोधी आंदोलन के कोई परिणाम नहीं निकले। लिबरल दल के भारत मंत्री जॉन मॉर्ले ने भी, जिससे नरमपंथियों को काफी उम्मीदें थीं, विभाजन को स्थायी घोषित कर दिया। द्वितीयतः, दोनों बंगालों की सरकारों, विशेषकर पूर्व बंगाल की सरकार, ने हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालने के लिए सक्रिय प्रयत्न किया। बंगाल की राजनीति में हिन्दू-मुस्लिम फूट के बीज इसी समय बोये गए। इससे राष्ट्रवादियों में कटुता की भावना भर गयी। मगर सबसे बड़ी बात यह हुई कि सरकार की दमनकारी नीति के फलस्वरूप लोगों ने जुझारू और क्रांतिकारी राजनीति अपनायी। पूर्व बंगाल की सरकार ने राष्ट्रवादी आंदोलन को कुचलने के लिए विशेष रूप से कोशिश की। छात्रों को स्वदेशी आंदोलन में भाग लेने से रोकने के लिए किए गए सरकारी प्रयत्नों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। पूर्व बंगाल की सार्वजनिक सड़कों पर वंदेमातरम् का नारा लगाने की मनाही कर दी गयी। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए और कभी-कभी उनके लिए इजाजत नहीं दी गयी। प्रेस को नियंत्रित करने के लिए कानून बनाए गए। स्वदेशी आंदोलन के कार्यकर्त्ताओं पर मुकदमे चलाए गए और उन्हें जेल की लम्बी सजाएँ दी गयीं। अनेक छात्रों को शारीरिक दण्ड भी दिया गया। 1906 से लेकर 1909 तक बंगाल की अदालतों में 550 राजनीतिक मुकदमे आए। अनेक राष्ट्रवादी समाचार पत्रों के खिलाफ मुकदमे चलाए गए और प्रेस की स्वतन्त्रता को पूरी तरह छीन लिया गया। अनेक शहरों में मिलिटरी पुलिस रखी गयी, जहां उसका संघर्ष लोगों के साथ हुआ। दमन का एक अत्यन्त कुख्यात उदाहरण था अप्रैल 1906 में बरिसाल में बंगाल प्रांतीय सम्मेलन के शांतिप्रिय प्रतिनिधियों पर हमला। अनेक युवा स्वयंसेवकों को बुरी तरह पीटा गया और सम्मेलन को बलात् तितर-बितर कर दिया गया। दिसम्बर 1908 में श्रद्धेय कृष्णकुमार मित्र और अश्विनी कुमार दत्त सहित नौ बंगाली नेताओं को देश निकाला दे दिया गया। पहले, 1907 में, लाला लाजपत राय और अजित सिंह को पंजाब की नहरी बस्तियों में दंगों के बाद देश से निर्वासित कर दिया गया था। 1908 में महान तिलक को फिर गिरफ्तार कर लिया गया तथा छः साल जेल की बर्बर सजा दे दी गयी। मद्रास में चिदम्बरम् पिलै और आंध्र प्रदेश में हरिसर्वोत्तम राव तथा अन्य लोगों को जेल में बन्द कर दिया गया।

लड़ाकू राष्ट्रवादियों ने अगुआ बनते ही स्वदेशी और बहिष्कार के अलावा सविनय अवज्ञा के लिए आह्वान किया। उन्होंने लोगों से सरकार के साथ सहयोग करने से इन्कार करने तथा सरकारी सेवा, अदालतों और सरकारी स्कूलों तथा कालिजों का बहिष्कार करने के लिए कहा। अरविंद घोष के शब्दों में, उनका कार्यक्रम था "जब तक संगठित रूप से ऐसा हर कुछ करने से इन्कार कर देना जिससे ब्रिटिश वाणिज्य को देश के शोषण या ब्रिटिश अफसरशाही को देश के प्रशासन को चलाने में सहायता मिले और इस तरह वर्तमान स्थितियों के अन्तर्गत प्रशासन को असम्भव बना देना।" लड़ाकू राष्ट्रवादियों ने जनता को राजनीतिक तौर पर जागृत करने तथा विदेशी शासन से स्वतन्त्रता का नारा देने के लिए स्वदेशी और बंग-भंग विरोधी आंदोलन का इस्तेमाल किया। अरविंद घोष ने खुलेआम घोषणा की :

"राजनीतिक स्वतन्त्रता राष्ट्र की प्राणवायु है।" इस प्रकार भारतीय राजनीति में बंगभंग का प्रश्न गौण तथा भारत की स्वतन्त्रता का प्रश्न केन्द्रीय बन गया। लड़ाकू राष्ट्रवादियों ने आत्म-बलिदान के लिए भी आह्वान किया, जिसके बिना कोई भी महान लक्ष्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। इस आह्वान पर भारत का युवा वर्ग जोशखरोश के साथ आगे बढ़ा। जवाहरलाल नेहरू ने, जो उस समय इंग्लैंड में पढ़ रहे थे, युवा भारत की प्रतिक्रिया का वर्णन अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'ऑटोबायोग्राफी' (जिसका अनुवाद हिन्दी में 'मेरी कहानी' के नाम से हुआ है) में निम्नलिखित शब्दों में किया :

> "1907 से लेकर आगे कई वर्षों तक भारत असंतोष और अशांति से उबलता रहा। 1857 के विद्रोह के बाद पहली बार भारत विदेशी शासन के सामने विनीत बनकर घुटने टेकने के बदले लड़ने को तत्पर था। तिलक की गतिविधियों और सजा के तथा अरविंद के समाचार और जिस प्रकार बंगाल की जनता स्वदेशी और बहिष्कार की शपथ ले रही थी उसकी खबरों ने इंग्लैंड स्थित हम सब भारतीयों को उद्वेलित कर दिया। बिना किसी अपवाद के हम तिलकवादी या गरमपंथी बन गए थे। भारत में नए दल को गरमपंथी नाम से पुकारा जाता था।"

मगर यह याद रखना चाहिए कि लड़ाकू राष्ट्रवादी भी जनता को सुस्पष्ट नेतृत्व देने में असफल रहे। वे न तो प्रभावकारी नेतृत्व दे सके और न ही अपने आंदोलन का मार्गदर्शन करने के लिए सुदृढ़ संगठन ही बना सके। उन्होंने लोगों को जागृत कर दिया मगर उन्हें यह मालूम नहीं था कि जनता की नयी उत्पन्न शक्तियों को कैसे संगठित किया जाए और प्रयोग में लाया जाय। इसके अलावा, अपने राष्ट्रवादी विचारों में क्रांतिकारी होते हुए भी व्यवहार में वे संविधानवादी रहे। वे देश की असली जनता—किसानों—तक पहुँचने में असफल रहे। उनका आंदोलन शहरी निम्न और मध्यम वर्गों तक ही सीमित रहा। उनके बीच भी वे एक प्रभावकारी दल नहीं संगठित कर सके। फलस्वरूप, सरकार उनको दबाने में बहुत हद तक सफल हो गयी। उनका आंदोलन अपने मुख्य नेता तिलक की गिरफ्तारी तथा सक्रिय राजनीति से बिपिन चंद्र पाल और अरविंद घोष के अलग हो जाने के बाद जिन्दा नहीं रह सका।

परन्तु राष्ट्रवादी भावनाओं की लहर शान्त नहीं हो सकी। लोगों को शताब्दियों की निद्रा से जगा दिया गया था; उन्होंने राजनीति में एक दिलेर तथा निडर रुख अपनाना सीख लिया था। अब वे एक नए आंदोलन के उदय की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसके अलावा, उन्होंने अपने अनुभव से मूल्यवान सबक सीखे थे। बाद में गांधी जी ने लिखा 'बंगभंग के बाद लोगों ने समझ लिया कि याचिकाओं के पीछे शक्ति होनी चाहिए, और उन्हें तकलीफ उठाने के योग्य होना चाहिए।" वस्तुतः बंगभंग विरोधी आंदोलन भारतीय राष्ट्रवाद के लिए एक महान क्रांतिकारी छलांग थी।

क्रांतिकारी आतंकवाद का विकास

राजनीतिक संघर्ष की विफलता से उत्पन्न सरकारी दमन, और निराशा का परिणाम अंततः क्रांतिकारी आतंकवाद हुआ। बंगाल के युवक सरकारी दंभ और दमन के कारण गुस्से में आ गए थे। उनमें विदेशी शासन के प्रति घृणा भर गयी थी। उन्होंने देखा कि शांतिपूर्ण विरोध और राजनीतिक कार्रवाई के सारे रास्ते बन्द हो गये हैं और निराश होकर उन्होंने बम का पंथ अपनाया। वे अब यह विश्वास नहीं करते थे कि सविनय अवज्ञा राष्ट्रवादी लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। इसलिए अंग्रेजों को बोरिया बिस्तर सहित भारत से निकाल बाहर करना होगा। बारिसाल कांफ्रेंस के बाद 22 अप्रैल 1906 को 'युगान्तर' ने लिखा : "उपाय तो स्वयं लोगों के ही पास है। उत्पीड़न के इस अभिशाप को रोकने के लिए भारत में रहने वाले 30 करोड़ लोगों को अपने 60 करोड़ हाथ खड़े करने होंगे। बल को बल द्वारा रोका जाना चाहिए।" मगर क्रांतिकारी युवक जनक्रांति को जन्म नहीं दे सके। उन्होंने आयरिश आतंकवादियों तथा रूसी निहिलिस्टों के तरीकों की नकल करने का निर्णय किया, यानी बदनाम अफसरों की हत्या करने का फैसला किया। इस दिशा में शुरुआत 1897 में तब हुई जब चापेकर बंधुओं ने पूना में बदनाम ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या कर दी। विनायक दामोदर सावरकर ने 1904 में अभिनव भारत नामक क्रांतिकारियों की एक गुप्त संस्था की स्थापना की। 1905 के बाद कई समाचार पत्रों ने क्रांतिकारी आतंकवाद का प्रचार शुरु कर दिया। उनमें प्रमुख नाम थे बंगाल की 'संध्या' और 'युगान्तर' तथा महाराष्ट्र का 'काल'।

दिसम्बर 1907 में बंगाल के लेफ्टिनेंट-गवर्नर की हत्या का प्रयास किया गया, तथा अप्रैल 1908 में खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने एक बग्घी पर बम फेंका, जिसमें मुजफ्फरपुर के बदनाम किंग्सफोर्ड के होने की उम्मीद थी। प्रफुल्ल चाकी ने अपने आपको गोली मार ली और खुदीराम बोस पर मुकदमा चलाकर फांसी की सजा दे दी गयी। क्रांतिकारी आतंकवाद का युग आरम्भ हो गया था। आतंकवादी युवकों की अनेक गुप्त संस्थाएं बनीं। उनमें सबसे प्रसिद्ध थी अनुशालन समिति जिसके ढाका अनुभाग की ही 500 शाखायें थीं। जल्द ही आतंकवादी संस्थायें देश के शेष भाग में भी सक्रिय हो गयीं। आतंकवादी इतने दिलेर हो गए कि उन्होंने दिल्ली में एक राजकीय जलूस में हाथी पर जाते हुए वायसराय लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंका। वायसराय घायल हो गया।

आतंकवादियों ने अपनी गतिविधियों के केन्द्र विदेश में भी स्थापित किए। लंदन में नेतृत्व श्यामजी कृष्णवर्मा विनायक दामोदर सावरकर, और हरदयाल ने सम्भाला जब कि यूरोप में उनके प्रमुख नेता थे: मैडम कामा और अजीत सिंह।

आतंकवाद भी धीरे-धीरे क्षीण होता गया। वस्तुतः एक राजनीतिक हथियार के रूप में आतंकवाद का विफल लाजिमी था। वह अंग्रेजों को निकाल बाहर करने का अपना घोषित लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता था। मगर भारत में राष्ट्रवाद के विकास में आतंकवादियों ने एक बहुमूल्य योगदान दिया। एक इतिहासकार ने लिखा है, "उन्होंने हमें पुरुषत्व का अभिमान वापस दे दिया"। अपनी वीरता के कारण आतंकवादी अपने हमवतनों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हो गए यद्यपि राजनीतिक रूप से जागृत अधिकतर लोग उनके राजनीतिक दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1905-1914

बंगभंग विरोधी आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर गहरा प्रभाव डाला। राष्ट्रीय कांग्रेस के सभी हिस्से बंगभंग के विरोध में एक जुट हो गए। कांग्रेस के 1905 के अधिवेशन में अध्यक्ष गोखले ने बंगभंग और कर्जन के प्रतिक्रियावादी राज की घोर निंदा की। राष्ट्रीय कांग्रेस ने बंगाल के स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन का भी समर्थन किया।

नरमपंथी और लड़ाकू राष्ट्रवादियों के बीच काफ़ी सार्वजनिक बहस चली और उनमें असहमति रही। लड़ाकू राष्ट्रवादी चाहते थे कि जन आंदोलन का बंगाल तथा देश के अन्य भागों में भी विस्तार किया जाए मगर नरमपंथी आंदोलन को बंगाल तक और, वहाँ भी, स्वदेशी और बहिष्कार तक सीमित रखना चाहते थे। उस साल दोनों गुटों के बीच राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षता को लेकर खींचा-तानी रही। अन्त में, दादाभाई नौरोजी को, जिन्हें एक महान् देशभक्त के रूप में सभी राष्ट्रवादी सम्मान की दृष्टि से देखते थे, कांग्रेस अध्यक्ष बनाने के लिए समझौता हो गया। दादाभाई ने अपने अध्यक्षीय भाषण में खुलेआम यह घोषणा कर कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य ब्रिटेन या उपनिवेशों की तरह ही स्वराज्य प्राप्त करना है, राष्ट्रवादी जमात में एक नया जोश भर दिया।

मगर राष्ट्रवादी आंदोलन के दोनों पक्षों को विभाजित करने वाले मतभेदों को बहुत दिनों तक नियंत्रण में नहीं रखा जा सका। अनेक नरमपंथी राष्ट्रवादी घटनाक्रम के साथ आगे नहीं बढ़ सके। वे इस बात को नहीं समझ पाए कि उनके दृष्टिकोण और तौर-तरीके जिन्होंने अतीत में एक वास्तविक उद्देश्य को पूरा किया, अब पर्याप्त नहीं रहे। वे राष्ट्रीय आंदोलन के नए चरण की ओर बढ़ने में विफल रहे। दूसरी ओर, लड़ाकू राष्ट्रवादी खूंटे से बंधे रहने के लिए तैयार नहीं थे। दिसम्बर, 1907, में राष्ट्रीय कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में दोनों एक दूसरे से अलग हो गए। नरमपंथी नेताओं ने कांग्रेस के संगठन पर क़ब्ज़ा कर लिया और लड़ाकू तत्वों को उससे अलग रखा।

किन्तु, दीर्घकाल में फूट किसी भी पक्ष के लिए फ़ायदेमंद साबित नहीं हुई। नरमपंथी नेताओं का राष्ट्रवादियों की युवा पीढ़ी के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहा। ब्रिटिश सरकार ने 'फूट डालो और शासन करो' का खेल खेला तथा नरमपंथी राष्ट्रवादी जनमत को अपनी ओर करने की कोशिश की जिससे लड़ाकू राष्ट्रवादियों को अलग-थलग कर कुचला जा सके। नरमपंथी राष्ट्रवादियों को तुष्ट करने के लिए इंडियन काउन्सिलस ऐक्ट 1909 के

ज़रिए संवैधानिक रियायतों की घोषणा की गयी। इन रियायतों को 1909 के मॉर्ले-मिन्टो सुधार के नाम से भी जाना जाता है। 1911 में सरकार ने बंगभंग को रद्द करने की भी घोषणा की। पश्चिमी और पूर्वी बंगाल को फिर से एक करने तथा बिहार और उड़ीसा नाम के एक नए प्रान्त के निर्माण की घोषणा हुई। साथ ही केंद्रीय सरकार के मुख्यालय को कलकत्ता से दिल्ली लाने का भी फैसला हुआ।

मॉर्ले-मिन्टो सुधार ने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल और प्रान्तीय काउन्सिलों में चुने हुए सदस्यों की संख्या बढ़ा दी। मगर अधिकतर सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से करने की व्यवस्था की गई। इम्पीरियल काउन्सिल के सदस्य प्रान्तीय काउन्सिलों, तथा प्रान्तीय काउन्सिल के सदस्य म्युनिसिपल कमेटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों द्वारा चुने जाने वाले थे। चुनी जाने वाली कुछ जगहें ज़मींदारों तथा भारत स्थित पूँजीपतियों के लिए आरक्षित कर दी गयीं। उदाहरण के लिए, इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल के 68 सदस्यों में से 36 अफ़सर थे और 5 नामज़द गैर अफ़सर थे। चुने गए 27 सदस्यों में 6 बड़े ज़मीदारों तथा दो ब्रिटिश पूँजीपतियों के प्रतिनिधि थे। इसके अलावा, सुधार के बाद भी काउन्सिलों को कोई वास्तविक अख्तियार नहीं थे। वे केवल सलाह देने वाली संस्थाएँ थीं। सुधारों ने किसी भी प्रकार ब्रिटिश शासन के अजनतांत्रिक और विदेशी चरित्र को या देश के विदेशी आर्थिक शोषण के तथ्य को नहीं बदला। वस्तुतः भारतीय प्रशासन को जनतांत्रिक बनाना उनका उद्देश्य भी नहीं था। मॉर्ले ने उस समय खुलेआम घोषणा की : "अगर यह कहा जाय कि सुधारों के इस अध्याय के फलस्वरूप प्रत्यक्षतः या अवश्यम्भावी रूप से भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना होगी तो कम से कम मेरा इससे कोई वास्ता नहीं होगा।" भारत मंत्री के रूप में उसके उत्तराधिकारी ने 1912 में स्थिति को और साफ़ कर दिया : "भारत में एक ऐसा जनसमुदाय है जो स्वशासन के एक ऐसे कदम की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा है जो बहुत कुछ वैसा ही होगा जैसा उपनिवेशों को दिया गया है। मैं इस दिशा में भारत का कोई भविष्य नहीं देखता।" 1909 के सुधारों का वास्तविक उद्देश्य नरमपंथी राष्ट्रवादियों को उलझन में डालना, राष्ट्रवादी जमात में फूट डालना तथा भारतीयों के बीच एकता न होने देना था।

इन सुधारों ने पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की प्रणाली भी लागू की, जिसके तहत सभी मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों में रखा गया जिनसे केवल मुसलमान ही चुने जा सकते थे। यह मुस्लिम अल्पसंख्यक समुदाय के हितों की रक्षा करने के नाम पर किया गया। मगर, वस्तुतः यह हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालने और इस प्रकार भारत में ब्रिटिश आधिपत्य बनाए रखने की नीति का ही भाग था। पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की प्रणाली इस धारणा पर आधारित थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों के राजनीतिक तथा आर्थिक हित पृथक् हैं। यह धारणा अवैज्ञानिक थी क्योंकि धर्म राजनीतिक और आर्थिक हितों या राजनीतिक समूहीकरण के आधार पर नहीं बन सकते। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह प्रणाली व्यवहार में अत्यन्त नुकसानदेह साबित हुई। इसने भारत के एकीकरण की प्रगति को रोका। भारत का एकीकरण एक अनवरत ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। यह प्रणाली साम्प्रदायिकता—हिन्दू और मुस्लिम दोनों—के बढ़ने में एक शक्तिशाली कारक बन गयी। मध्यवर्गीय मुसलमानों के शैक्षिक और आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने तथा इस प्रकार उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्य धारा में शामिल कर देने के बदले पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की प्रणाली की प्रवृत्ति विकासमान राष्ट्रवादी आंदोलन से उनके अलगाव को स्थायी बनाने की रही। उसने पृथकतावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। उसने लोगों का ध्यान उन आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर नहीं केंद्रित होने दिया जो, हिन्दू हों या मुसलमान, सभी भारतीयों की सामूहिक समस्याएं थीं।

नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने मॉर्ले—मिन्टो सुधारों का पूरी तरह समर्थन नहीं किया। उन्होंने तुरन्त ही महसूस किया कि सुधारों से उन्हें वस्तुतः कुछ खास नहीं मिला है। मगर सुधारों को लागू करने में उन्होंने सरकार का साथ देने का फैसला किया। सरकार के साथ यह सहयोग और लड़ाकू राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम का विरोध उनके लिए बहुत महंगा पड़ा। उन्होंने जनता का सम्मान और समर्थन खो दिया और वे एक छोटे से राजनीतिक समूह के रूप में रह गए। राजनीतिक रूप से जागरूक

भारतीयों का विशाल बहुमत, निष्क्रिय रूप से ही सही, लोकमान्य तिलक और लड़ाकू राष्ट्रवादियों का समर्थन करता रहा।

मुस्लिम लीग और साम्प्रदायिकता की वृद्धि

आधुनिक राजनीतिक चेतना मुसलमानों के बीच देर से विकसित हुई। जितनी तेज़ी के साथ राष्ट्रवाद का प्रसार हिंदू और पारसी निम्न-मध्यम वर्ग के बीच हुआ उतनी तेज़ी के साथ उसका विकास निम्न-मध्यमवर्गीय मुसलमानों के बीच नहीं हुआ।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, हिन्दू और मुसलमान 1857 के विद्रोह में कंधे से कंधा मिलाकर लड़े थे। दर-असल, विद्रोह के दबा दिऐ जाने के बाद ब्रिटिश अधिकारियों ने मुसलमानों के प्रति विशेष रूप से प्रतिशोधात्मक रुख अपनाया और केवल दिल्ली में ही 27,000 मुसलमानों को फांसी पर लटका दिया गया। उस समय से अंग्रेज मुसलमानों को आमतौर से संदेह की नजर से देखने लगे। मगर यह रुख उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में बदल गया। राष्ट्रवादी आंदोलन के उदय के बाद ब्रिटिश राजनेता भारत स्थित अपने साम्राज्य की सुरक्षा और स्थिरता के बारे में भयभीत हो गए। देश में एक संयुक्त राष्ट्रीय भावना के विकास को रोकने के लिए उन्होंने सक्रिय रूप से 'फूट डालो और शासन करो' तथा लोगों को धार्मिक आधारों पर बांटने की नीति का अनुसरण करने का निर्णय किया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिक तथा पृथकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने का निर्णय लिया। इस उद्देश्य से उन्होंने मुसलमानों के 'हिमायती' के रूप में आने तथा मुसलमान ज़मींदारों, भूस्वामियों और नवशिक्षितों को अपनी ओर करने का फ़ैसला किया। उन्होंने भारत में अन्य फूटों को भी बढ़ावा दिया। उन्होंने बंगाली आधिपत्य की बात कर प्रान्तवाद को प्रोत्साहित किया। उन्होंने जाति के ढांचे का इस्तेमाल कर ग़ैर ब्राह्मणों को ब्राह्मणों तथा छोटी जातियों को बड़ी जातियों के खिलाफ़ भिड़ाने की कोशिश की। उन्होंने यू० पी० और बिहार में, जहाँ हिन्दू और मुसलमान सदा शान्तिपूर्वक रहते आए थे, कचहरी की भाषा के रूप में उर्दू की जगह हिंदी को रखने के आंदोलन को सक्रिय रूप से प्रोत्साहित किया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने भारतीय जनता में फूट डालने के लिए भारतीय समाज के विभिन्न हिस्सों की न्यायोचित माँगों का इस्तेमाल करने की भी कोशिश की।

साम्प्रदायिक आधार पर पृथकतावादी प्रवृत्ति के उदय में सैयद अहमद खाँ ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। एक महान् शिक्षाशास्त्री और समाज-सुधारक होते हुए भी सैयद अहमद खाँ अपने जीवन के अन्तिम दिनों में राजनीति में अनुदारवादी हो गए। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के नौवें दशक में अपने पहले के विचारों को त्याग दिया और घोषणा की कि हिन्दुओं और मुसलमानों के राजनीतिक हित एक समान नहीं बल्कि भिन्न और एक दूसरे के विपरीत हैं। इस प्रकार उन्होंने मुस्लिम साम्प्रदायिकता की नींव रखी। उन्होंने मुसलमानों को ब्रिटिश शासन का पूरी तरह आज्ञापालक बनने का भी उपदेश दिया। जब 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तब उन्होंने उसका विरोध करने का फ़ैसला किया और वाराणसी के राजा शिव प्रसाद के साथ ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा रखने का एक आंदोलन शुरू करने की कोशिश की। उन्होंने यह प्रचार करना भी शुरू कर दिया कि चूँकि हिन्दू भारतीय जनसंख्या में बहुमत में हैं इसलिए ब्रिटिश शासन के कमज़ोर होने या समाप्त हो जाने की स्थिति में हिन्दुओं का मुसलमानों पर दबदबा हो जायेगा। उन्होंने मुसलमानों से कहा कि वे राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होने की बदरुद्दीन तैयबजी की अपील पर ध्यान न दें।

बेशक, ये विचार अवैज्ञानिक थे और वास्तविकता से कोसों दूर थे। यद्यपि हिन्दू और मुसलमान भिन्न धर्मों के अनुयायी थे तथापि उनके आर्थिक और राजनीतिक हित एक जैसे थे। सामाजिक और सांस्कृतिक तौर पर भी हिंदू और मुसलमान जनता तथा वर्गों ने जीवन के समान तौर-तरीके विकसित किए थे। एक बंगाली मुसलमान और एक बंगाली हिन्दू के बीच जितनी समानताएँ थीं उतनी एक बंगाली मुसलमान और एक पंजाबी मुसलमान के बीच नहीं थीं। इसके अलावा, हिन्दू और मुसलमान समान तथा सम्मिलित रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा शोषित किए जा रहे थे। सैयद अहमद खाँ ने भी 1844 में कहा था :

"क्या आप लोग एक ही देश में नहीं बसते हैं ? क्या आप लोगों को एक ही जमीन पर जलाया और दफ़नाया नहीं जाता ? याद रखिए हिन्दू और मुसलमान शब्द केवल धार्मिक विभेद बतलाने के लिए हैं—अन्यथा सभी व्यक्ति, वे हिन्दू हों या मुसलमान, यहाँ तक कि ईसाई भी जो इस देश में रहते हैं। इस विशेष संदर्भ में एक और एक ही राष्ट्र के हैं। इन सब भिन्न पंथों को एक ही राष्ट्र कहा जा सकता है, इन सब को देश की भलाई के लिए एकसूत्रबद्ध होना चाहिए। देश की भलाई सब की भलाई है।"

अब प्रश्न उठता है कि मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक और पृथकतावादी चिन्तन-प्रवृत्ति कैसे पनपी।

कुछ हद तक इसका कारण शिक्षा और वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्र में मुसलमानों का अपेक्षाकृत पिछड़ापन था। मुस्लिम उच्च वर्गों में अधिकतर ज़मींदार और सामंत थे। चूंकि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक 70 वर्षों के दौरान मुसलमान बहुत ही ब्रिटिश विरोधी, रूढ़िवादी तथा आधुनिक शिक्षा के विरोधी थे, इसलिए देश में शिक्षित मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। फलस्वरूप, विज्ञान, जनतंत्र और राष्ट्रवाद को महत्त्व देने वाला आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन मुस्लिम बुद्धिजीवियों के बीच नहीं फैल सका। मुस्लिम बुद्धिजीवी परम्परागत और पिछड़े बने रहे। बाद में, सैयद अहमद ख़ाँ, नवाब अब्दुल लतीफ़, बदरुद्दीन तैयबजी तथा अन्य लोगों के प्रयास से आधुनिक शिक्षा का प्रसार मुसलमानों के बीच हुआ। मगर हिन्दुओं, पारसियों या ईसाइयों की तुलना में शिक्षित लोगों का अनुपात मुसलमानों के बीच काफी कम था। इसी प्रकार, मुसलमानों ने व्यापार और उद्योग के विकास में भी काफी कम दिलचस्पी दिखलायी थी। मुसलमानों के बीच शिक्षित लोगों तथा उद्योग और व्यापार में लगे लोगों की संख्या कम होने के कारण प्रतिक्रियावादी बड़े भूस्वामियों को मुस्लिम जनता के ऊपर अपना दबदबा बनाए रखने में आसानी हुई। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भूस्वामियों और ज़मींदारों ने, वे मुसलमान रहे हों या हिन्दू, अपने स्वार्थ के कारण ब्रिटिश शासन का समर्थन किया। परन्तु, हिंदुओं के बीच, आधुनिक बुद्धिजीवियों और उदीयमान व्यापारी तथा औद्योगिक वर्ग ने भूस्वामियों को नेतृत्व से अपदस्थ कर दिया। दुर्भाग्यवश, मुसलमानों के बीच इसकी उल्टी स्थिति रही।

मुसलमानों में शैक्षणिक पिछड़ेपन का एक और नुकसानदेह असर हुआ। चूंकि सरकारी सेवा या पेशों में प्रवेश के लिए आधुनिक शिक्षा अनिवार्य थी इसलिए उनमें मुसलमान ग़ैर-मुसलमानों से पीछे रह गए। इसके अलावा, सरकार ने मुसलमानों को 1857 के विद्रोह के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार मानकर उनके साथ 1858 के बाद जान-बूझ कर भेदभाव किया। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के बाद शिक्षित मुसलमानों ने पाया कि व्यवसाय या पेशों में उनके लिए बहुत ही कम अवसर हैं। शिक्षित मुसलमान सरकारी नौकरियाँ ढूंढने लगे। कुछ भी हो, एक पिछड़ा हुआ उपनिवेश होने के कारण भारत में उसकी अपनी जनता के लिए रोज़गार के बहुत कम अवसर थे। इन परिस्थितियों में ब्रिटिश अधिकारियों तथा उनके वफ़ादार मुसलमान नेताओं के लिए शिक्षित मुसलमानों को शिक्षित हिन्दुओं के खिलाफ़ उकसाना आसान था। सैयद अहमद ख़ाँ तथा अन्य लोगों ने सरकारी सेवा में मुसलमानों के साथ विशेष व्यवहार करने की माँग की। उन्होंने कहा कि अगर शिक्षित मुसलमान अंग्रेज़ों के प्रति निष्ठावान रहे हैं तो उन्हें सरकारी नौकरियाँ तथा अन्य विशेष सहायताएँ देकर पुरस्कृत किया जाए। कुछ निष्ठावान् हिन्दुओं और पारसियों ने भी इसी तरह तर्क करने की कोशिश की, मगर वे संख्या की दृष्टि से बहुत ही थोड़े थे। परिणाम यह हुआ कि जब सारे देश में स्वतंत्र और राष्ट्रवादी वकील, पत्रकार, छात्र, व्यापारी और उद्योगपति राजनीतिक नेता बन रहे थे तब भी मुसलमानों के बीच निष्ठावान् भूस्वामी तथा सेवानिवृत्त सरकारी कर्मचारी राजनीतिक विचार को प्रभावित कर रहे थे। बम्बई ही एक ऐसा प्रान्त था जहाँ काफ़ी पहले मुसलमानों ने वाणिज्य और शिक्षा को अपनाया था। वहाँ राष्ट्रीय कांग्रेस में बदरुद्दीन तैयबजी, आर० एम० सयानी, ए० भीमजी, और युवा बैरिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना जैसे मेधावी मुसलमान शामिल थे। समस्या के इस पहलू का समाहार हम जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' से एक उद्धरण देकर कर सकते हैं :

"हिन्दू और मुस्लिम मध्यम वर्गों के विकास में एक पीढ़ी या उससे अधिक का अन्तर रहा है, और यह अन्तर अनेक दिशाओं, राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य में प्रकट होता रहता है। यह

पिछड़ना ही मुसलमानों के बीच भय की मनःस्थिति पैदा करता है।"

इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते हमें यह भी जानना चाहिए कि जिस तरह उन दिनों स्कूलों और कालेजों में भारतीय इतिहास की पढ़ाई होती थी उससे भी शिक्षित हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक भावनाओं के पनपने में योगदान मिला। ब्रिटिश इतिहासकारों और उनका अनुसरण करते हुए भारतीय इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के मध्यकाल को मुस्लिम काल कहा। तुर्क, अफ़गान, और मुग़ल शासकों के शासन को मुस्लिम शासन कहा गया। यद्यपि मुस्लिम जनता हिन्दू जनता की तरह ही गरीब तथा करों से उत्पीड़ित थी, और दोनों को शासक, सामन्त, सरदार, और जमींदार, भले ही वे मुसलमान हों या हिन्दू, तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे तथा निकृष्ट प्राणी समझते थे, तथापि इन शासकों ने घोषित कर दिया कि मध्यकालीन भारत में सभी मुस्लिम शासक थे तथा सभी गैर मुस्लिम शासित थे। वे इस तथ्य को सामने नहीं ला सके कि हर अन्य जगह की राजनीति की तरह ही प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय राजनीति धार्मिक आधारों पर नहीं बल्कि आर्थिक और सामाजिक हितों पर आधारित थी। शासकों और विद्रोहियों, दोनों ने अपने भौतिक हितों और महत्त्वाकांक्षाओं को छिपाने के लिए धर्म का सहारा लिया। इसके अलावा, अंग्रेज और साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने भारत में मिली-जुली संस्कृति की धारणा पर प्रहार किया। बेशक, भारत में विभिन्न संस्कृतियां थीं। मगर यह विभिन्नता धार्मिक आधार पर नहीं थी। एक क्षेत्र के लोगों तथा एक ही क्षेत्र के उच्च और मध्यम वर्गों के सांस्कृतिक ढाँचे समान थे। फिर भी साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने दावा किया कि भारत में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियां भिन्न-भिन्न थीं।

यद्यपि राजनीति और संस्कृति संबन्धी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अवैज्ञानिक, तथा मुख्य रूप से प्रतिक्रियावादी चिन्तन और ब्रिटिश कार्यनीति की उपज था, तथापि उसने एक अल्पसंख्यक समुदाय के मन में होने वाले सहज भय को उभार दिया। ऐसी स्थिति में विवेक का तकाजा था कि अल्पसंख्यक समुदाय के इन वास्तविक डरों को दूर करने के लिए हर संभव कदम उठाये जायें जिनका बहुसंख्यक समुदाय अपनी तादाद की ताकत का इस्तेमाल उसको नुकसान पहुँचाने के लिए कर सकता है। यहां पर सर्वोत्तम प्रतिकार बहुसंख्यक धार्मिक समुदाय का दृष्टिकोण और आचरण होता। उसे अपनी कार्रवाइयों से अल्पसंख्यक समुदाय को दो चीजों का अहसास कराने में सहायता देनी चाहिए थी कि (1) अल्पसंख्यक समुदाय के धार्मिक और खास सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषतायें सुरक्षित रहेंगी; और (2) आर्थिक एवं राजनीतिक नीतियों के निर्धारण में धर्म को न कोई कारक बनना चाहिए और न हीं वह होगा। भारतीय राष्ट्रवाद के प्रवर्त्तकों को इसका पूरी तरह अहसास था। उन्होंने महसूस किया कि भारतीयों को एक ही राष्ट्र के रूप में सूत्रबद्ध करने का काम धीरे-धीरे ही होगा और उसके लिए बड़े परिश्रम तथा जनता की अनवरत राजनीतिक शिक्षा की आवश्यकता होगी। इसलिए उन्होंने अल्पसंख्यकों को यह विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि सब भारतीयों को उनके समान राष्ट्रीय, आर्थिक और राजनीतिक हितों की दृष्टि से एक सूत्रबद्ध करते हुए राष्ट्रवादी आंदोलन अल्पसंख्यकों के धार्मिक और सामाजिक हितों की पूरी सुरक्षा करेगा। राष्ट्रीय कांग्रेस के 1886 के अधिवेशन में दिए गए अपने अध्यक्षीय भाषण में दादाभाई ने यह स्पष्ट आश्वासन दिया था कि कांग्रेस केवल राष्ट्रीय सवालों को उठाएगी। वह धार्मिक तथा सामाजिक मामलों में अपना हाथ नहीं डालेगी। कांग्रेस ने 1889 में यह सिद्धांत अपनाया कि वह ऐसा कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं करेगी जिसे बहुसंख्यक मुस्लिम प्रतिनिधि मुसलमानों के लिए नुकसानदेह समझें। अनेक मुसलमान कांग्रेस में उसके प्रारम्भिक वर्षों में शामिल हुए। दूसरे शब्दों में, आरंभिक राष्ट्रवादियों ने यह सिखाकर कि राजनीति को धर्म और सम्प्रदाय पर आधारित नहीं होना चाहिए, लोगों के राजनीतिक दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने की कोशिश की।

दुर्भाग्यवश, यद्यपि हर अन्य दृष्टि से जुझारु राष्ट्रवाद प्रगतिशील था तथापि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से वह पीछे की ओर हटा। कुछ लड़ाकू राष्ट्रवादियों के भाषणों और लेखों में पुरजोर धार्मिक और हिन्दू पुट था। उन्होंने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को दरकनार

कर प्राचीन भारतीय संस्कृति पर ज़ोर दिया। उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा भारतीय राष्ट्र का हिन्दू धर्म तथा हिन्दुओं के साथ तादात्म्य कर दिया। उन्होंने मिली-जुली संस्कृति के तत्वों को त्याग देने की कोशिश की। उदाहरण के लिए तिलक द्वारा शिवाजी और गणपति उत्सवों का प्रचार, भारत माता तथा राष्ट्रवाद की, धर्म के रूप में, अरविंद घोष की अर्थरहस्यवादी अवधारणायें, देवी काली के सम्मुख आतंकवादियों द्वारा शपथ ग्रहण, और गंगा स्नान के बाद बंगभंग विरोधी आंदोलन की शुरुआत किसी मुसलमान को शायद ही पसन्द आ सकती थी। वस्तुतः ये सब कार्रवाइयां इस्लाम धर्म की भावना के प्रतिकूल थीं और मुसलमानों से यह आशा नहीं की जा सकती थीं कि वे इन कार्यों तथा इन्हीं के समान अन्य कार्यों के साथ अपने को सम्बद्ध करें। न ही उस हालत में मुसलमानों से किसी उत्साह की आशा की जा सकती थी जब शिवाजी या प्रताप का गुणगान उनकी ऐतिहासिक भूमिकाओं के कारण ही नहीं बल्कि इसलिए भी किया जा रहा था कि वे ऐसे 'राष्ट्रीय' नेता थे जो 'विदेशियों' के खिलाफ लड़े। किसी भी परिभाषा के अनुसार अकबर या औरंगजेब को विदेशी घोषित नहीं किया जा सकता था। यह तभी हो सकता था जब कि मुसलमान होना किसी को विदेशी कहने का आधार मान लिया जाय। वस्तुतः प्रताप और अकबर या शिवाजी और औरंगजेब के परस्पर संघर्ष को एक विशेष ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में राजनीतिक संघर्ष के रूप में देखना चाहिए था। अकबर या औरंगजेब को 'विदेशी' तथा प्रताप या शिवाजी को एक 'राष्ट्रीय नायक घोषित करना विगत इतिहास में बीसवीं सदी के भारत का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण घुसेड़ना था। यह न केवल गलत इतिहास था बल्कि राष्ट्रीय एकता के ऊपर चोट भी था।

इसका यह मतलब नहीं है कि जुझारू राष्ट्रवादी मुसलमान विरोधी या पूरी तरह साम्प्रदायिक थे। वे मुसलमान-विरोध या साम्प्रदायिकता से कोसों दूर थे। तिलक तथा उनमें से अधिकतर हिन्दू-मुस्लिम एकता के हिमायती थे। उनमें से अधिकांश के लिए मातृभूमि या भारत माता एक आधुनिक धारणा थी जो किसी तरह धर्म से सम्बद्ध नहीं थी। उनमें से अधिकतर अपने राजनीतिक चिंतन में आधुनिक थे, पश्चगामी नहीं। उनके राजनीतिक संगठन की तरह ही उनका मुख्य राजनीतिक अस्त्र आर्थिक बहिष्कार निश्चित रूप से अत्यन्त आधुनिक था। यहां तक कि क्रांतिकारी आतंकवादी भी काली या भवानी पंथों की अपेक्षा योरोपीय क्रांतिकारी आंदोलनों, जैसे आयरलैंड, रूस और इटली के आंदोलनों, से प्रेरित थे। परन्तु, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, लडाकू राष्ट्रवादियों के राजनीतिक कार्य तथा विचारों में एक निश्चित हिन्दू पुट था। यह खास तौर पर नुकसानदेह साबित हुआ क्योंकि चालाक और ब्रिटिश परस्त प्रचारकों ने उसका फ़ायदा मुसलमानों के दिमाग में जहर घोलने के लिए किया। परिणाम यह हुआ कि बड़ी संख्या में शिक्षित मुसलमानों ने अपने को उदीयमान राष्ट्रवादी आंदोलन से अलग रखा या उसके विरोधी बन गए। इस प्रकार वे पृथकतावादी दृष्टिकोण के शिकार हो गए। फिर भी, बड़ी संख्या में प्रगतिशील मुसलमानों, जैसे बैरिस्टर अब्दुल रसूल और हसरत मोहानी, ने स्वदेशी आंदोलन का साथ दिया और मुहम्मद अली जिन्ना राष्ट्रीय कांग्रेस के अग्रणी युवा नेताओं में हो गए।

देश के आर्थिक पिछड़ेपन ने भी साम्प्रदायिकता के उदय में योगदान दिया। आधुनिक औद्योगिक विकास के अभाव में, भारत में, विशेषकर शिक्षित लोगों के लिए, बेरोजगारी एक गम्भीर समस्या बन गयी। फलस्वरूप तत्कालीन नौकरियों के लिए एक तीव्र प्रतियोगिता का जन्म हुआ। दूरदर्शी भारतीयों ने इस रोग का निदान किया और वे एक ऐसी आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए काम करने लगे जिसमें देश आर्थिक रूप से विकसित हो ताकि रोजगार के अवसर प्रचुर मात्रा में हों। किन्तु, अन्य अनेक लोगों ने नौकरियों में साम्प्रदायिक, प्रान्तीय या जातिगत आरक्षण जैसे अदूरदर्शितापूर्ण तथा अल्पकालीन उपाय सुझाए। उन्होंने साम्प्रदायिक और धार्मिक तथा बाद में, जातिगत और प्रान्तीय भावनायें उभारीं जिससे तत्कालीन सीमित रोजगार के अवसरों में अपेक्षाकृत बड़ा हिस्सा प्राप्त किया जाए। जो लोग बड़ी परेशानी से रोज़गार ढूंढ़ रहे थे उन्हें इस संकीर्ण अपील ने तुरन्त अपनी ओर आकर्षित किया। इस स्थिति में हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं, जाति-नेताओं तथा 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का अनुसरण करने वाले अफसरों को कुछ सफलता मिली। अनेक

हिन्दुओं ने हिन्दू राष्ट्रवाद तथा अनेक मुसलमानों ने मुस्लिम राष्ट्रवाद की बात करनी शुरू कर दी। राजनीतिक रूप से अधकचरे लोग इस बात को महसूस करने में असफल रहे कि उनकी आर्थिक, शैक्षिक, और सांस्कृतिक कठिनाइयां विदेशी शासन की सामूहिक अधीनता तथा आर्थिक पिछड़ेपन का परिणाम हैं और सामूहिक प्रयास के द्वारा ही वे अपने देश को स्वतन्त्र तथा आर्थिक दृष्टि से विकसित कर पायेंगे, और इस प्रकार बेरोजगारी जैसी आधारभूत समस्याओं का हल कर पायेंगे।

शिक्षित मुसलमानों और बड़े मुस्लिम नवाबों तथा भूस्वामियों के बीच पृथकतावादी तथा निष्ठावादी प्रवृत्तियाँ 1906 में पराकाष्ठा पर पहुँच गयीं और आग़ा ख़ाँ, ढाका के नवाब, तथा नवाब मोहसिन-उल-मुल्क के नेतृत्व में ऑल इंडिया मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। मुस्लिम लीग ने बंगभंग का समर्थन किया तथा सरकारी सेवाओं में मुसलमानों के लिए विशेष सुरक्षा की माँग की। बाद में, वायसराय लॉर्ड मिंटो की सहायता से उसने पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की माँग रखी और उसे स्वीकार करा लिया। अतः, जब राष्ट्रीय कांग्रेस साम्राज्यवाद विरोधी आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों को उठा रही थी तब मुस्लिम लीग और उसके प्रतिक्रियावादी नेता यह प्रचार कर रहे थे कि मुसलमानों के हित हिन्दुओं के हितों से भिन्न हैं। मुस्लिम लीग की राजनीतिक गतिविधियों का निशाना विदेशी शासकों को नहीं बल्कि हिन्दुओं और राष्ट्रीय कांग्रेस को बनाया गया। इसके बाद लीग ने कांग्रेस की हर राष्ट्रवादी और जनतांत्रिक माँग का विरोध करना शुरू कर दिया। इस प्रकार वह अंग्रेज़ों के हाथों की कठपुतली बन गयी। अंग्रेज़ों ने घोषणा की कि वे मुसलमानों के 'विशेष हितों' की रक्षा करेंगे। जल्द ही लीग एक प्रमुख हथियार बन गयी जिससे अंग्रेज़ों ने उदीयमान राष्ट्रवादी आंदोलन से लड़ने की कोशिश की।

उसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए अंग्रेज़ों ने मुस्लिम लीग को मुसलमान जनता तक पहुँचने तथा उनका नेतृत्व ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया। यह सही है कि उस समय राष्ट्रवादी आंदोलन पर शिक्षित शहरी लोगों का दबदबा था, मगर, अपने साम्राज्यवाद-विरोध में वह सभी भारतीयों—धनी-ग़रीब, हिन्दू-मुसलमान—के हितों का प्रतिनिधित्व करता था। दूसरी ओर, मुस्लिम लीग और उसके उच्चवर्गीय नेताओं का मुस्लिम जनता के साथ कोई हित-साम्य नहीं था। मुस्लिम जनता भी विदेशी साम्राज्य से उतनी ही पीड़ित थी जितनी हिन्दू जनता।

लीग की बुनियादी कमज़ोरी का अधिकाधिक अहसास देशभक्त मुसलमानों को होने लगा। विशेष रूप से शिक्षित मुसलमान युवक आमूल परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी विचारों की ओर आकर्षित हुए। उसी समय जुझारू राष्ट्रवादी एहरार आंदोलन की स्थापना मौलाना मोहम्मद अली, हकीम अजमल ख़ाँ, हसन इमाम, मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ, और मज़हरुल हक के नेतृत्व में हुई। ये युवक 'अलीगढ़ स्कूल' और बड़े नवाबों तथा ज़मींदारों की निष्ठावादी राजनीति को नापसंद करते थे। स्वराज्य के आधुनिक विचारों से प्रेरित होने के कारण उन्होंने जुझारू राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लेने की हिमायत की।

इसी प्रकार की राष्ट्रवादी भावनाएँ 'देवबंद स्कूल' के नेतृत्व में मुस्लिम विद्वानों के एक हिस्से में जाग रही थीं। इन विद्वानों में सबसे प्रमुख थे युवा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद। उनकी शिक्षा काहिरा स्थित मशहूर अल अज़हर युनिवर्सिटी में हुई थी। उन्होंने 24 वर्ष की उम्र में 1912 में अपना समाचार पत्र 'अल हिलाल' निकाला। उसके जरिए उन्होंने अपने तर्कबुद्धिसंगत और राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार किया। मौलाना मोहम्मद अली आज़ाद तथा अन्य नौजवानों ने साहस और निडरता का संदेश फैलाया और कहा कि इस्लाम और राष्ट्रवाद के बीच कोई टकराव नहीं है।

1911 में ऑटोमन साम्राज्य (तुर्की) और इटली के बीच लड़ाई छिड़ गयी और 1912 तथा 1913 के दौरान तुर्की को बल्कान शक्तियों से लड़ना पड़ा। उस समय तुर्की के शासक का दावा था कि वह सभी मुसलमानों का ख़लीफ़ा या धार्मिक प्रधान है; इसके अलावा, लगभग सारे मुस्लिम तीर्थस्थान तुर्की साम्राज्य के अन्दर थे। तुर्की के प्रति सहानुभूति की लहर सारे भारत में उठने लगी। डा० एम०ए० अंसारी के नेतृत्व में एक मेडिकल दल तुर्की की सहायता के लिए भेजा गया। चूँकि बल्कान युद्ध के दौरान ब्रिटेन की नीति तुर्की के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं थी, इसलिए तुर्की और ख़लीफ़ा की हिमायती या ख़िलाफ़त

की भावनाओं की प्रवृत्ति साम्राज्यवाद-विरोधी बनने की हो गयी। वस्तुतः 1912 से लेकर 1924 तक कई वर्षों तक वफ़ादार मुस्लिम लीग वालों को राष्ट्रवादी नौजवानों ने पूरी तरह निष्प्रभ कर दिया था।

दुर्भाग्यवश, आज़ाद जैसे कुछ लोगों को छोड़कर जो अपने चिंतन में तर्कबुद्धिपरक थे, अधिकतर राष्ट्रवादी मुस्लिम नौजवानों ने राजनीति के प्रति आधुनिक धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि जो सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा उन्होंने उठाया वह देश की राजनीतिक आज़ादी का नहीं बल्कि तीर्थस्थानों और तुर्की साम्राज्य का था। साम्राज्यवाद के आर्थिक और राजनीतिक परिणामों को समझने तथा उनका विरोध करने के बदले उन्होंने साम्राज्य के ख़िलाफ़ इस आधार पर संघर्ष किया कि उसने ख़लीफ़ा तथा तीर्थस्थानों के लिए ख़तरा पैदा कर दिया है। तुर्की के प्रति उनकी सहानुभूति भी धार्मिक आधार पर थी। उन्होंने धार्मिक भावनाओं के सहारे राजनीतिक समर्थन प्राप्त किया। इसके अलावा, उन्होंने जिन वीरों, और मिथकों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का सहारा लिया उनका संबंध प्राचीन या मध्यकालीन इतिहास से नहीं बल्कि पश्चिम एशिया के इतिहास से था। यह सही है कि इस दृष्टिकोण का भारतीय राष्ट्रवाद के साथ तुरन्त टकराव नहीं हुआ बल्कि उसने अपने अनुयायियों और समर्थकों को साम्राज्यवाद विरोधी बनाया तथा शहरी मुसलमानों के बीच राष्ट्रवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। मगर दीर्घकाल में यह दृष्टिकोण भी नुकसानदेह साबित हुआ, क्योंकि उसने राजनीतिक प्रश्नों को धार्मिक नज़रिए से देखने की आदत को बढ़ावा दिया। किसी भी हालत में इस प्रकार की राजनीतिक गतिविधि ने मुस्लिम जनता के बीच राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों के प्रति एक आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को बढ़ावा नहीं दिया।

यद्यपि इस दौरान हिन्दू सम्प्रदायवादियों की कोई संगठित संस्था नहीं बनी तथापि हिन्दू साम्प्रदायिक विचार पनपे। अनेक हिन्दू लेखकों और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं ने मुस्लिम लीग के ही विचारों और कार्यक्रम को दुहराया। उन्होंने हिन्दू राष्ट्रवाद की बात की। उन्होंने घोषित किया कि भारत में मुसलमान विदेशी हैं। उन्होंने विधान मंडलों और नगर पालिकाओं तथा सरकारी नौकरियों में हिन्दुओं के लिए जगहें आरक्षित करने के लिए लगातार आंदोलन किए।

राष्ट्रवादी और प्रथम विश्व युद्ध

जून 1914 में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ गया। उसमें एक ओर ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, इटली, रूस, जापान और संयुक्त राज्य अमरीका, तथा दूसरी ओर जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की थे। हम दसवें अध्याय में देख चुके हैं कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विश्व के औद्योगिक रूप से विकसित पूंजीवादी देशों के बीच विशिष्ट बाज़ारों तथा उपनिवेशों के लिए होड़ और संघर्ष शुरू हो गया था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक यह संघर्ष तीव्र और कटु हो गया था क्योंकि विजय के लिए संसार में उपलब्ध क्षेत्र काफ़ी कम हो गया था। जर्मनी और इटली जैसी शक्तियाँ विश्व रंगमंच पर देर से आयी थीं। इसलिए वे उतने बाज़ार और उपनिवेश नहीं हथिया सकी थीं जितने आरंभ में आने वाले ब्रिटेन और फ़्रांस जैसे देशों ने हथिया लिए थे। इसलिए उन्होंने उपनिवेशों के पुनर्विभाजन की माँग की। वे पुनर्विभाजन कराने के लिए शक्ति का इस्तेमाल करने को तैयार थे। फलस्वरूप संसार के हर प्रमुख देश ने अब अपने उपनिवेशों और बाज़ारों को अपने अधिकार में बनाए रखने या नए उपनिवेशों और बाज़ारों को हथियाने के लिए संभावित युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों के दौरान संसार की बड़ी शक्तियों के बीच हथियारों की एक भयंकर होड़ शुरू हुई। इन देशों के जनगण उपनिवेशों के लिए संघर्ष में भावनात्मक दृष्टि से आ गए क्योंकि उनके शासकों ने कहा कि किसी राष्ट्र की प्रतिष्ठा, शक्ति और प्रसिद्धि इस बात पर निर्भर है कि उसके पास कितने बड़े उपनिवेश हैं। उद्धत राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने इस प्रचार के मुख्य माध्यम के रूप में काम किया। अतः, उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ इस बात पर गर्व अनुभव करते थे कि 'ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी नहीं डूबता' दूसरी ओर जर्मनों ने 'धरती पर एक स्थान' लेने के लिए होहल्ला मचाया। अपने प्रतिद्वन्दियों द्वारा राजनीतिक और सैनिक तौर पर अलग-थलग किए जाने के डर से हर देश ने दूसरे देशों के साथ गठजोड़ करने की कोशिश की। जल्द ही, विश्वशक्तियाँ परस्पर-विरोधी

गठजोड़ों या शक्ति समूहों में बंट गयीं। आखिरकार, अगस्त 1914 में युद्ध आरम्भ हो गया। अब विश्वराजनीति तेज़ी से बदलने लगी। भारत में विश्वयुद्ध के वर्षों के दौरान राष्ट्रवाद परिपक्व हो गया।

आरम्भ में, जून 1914 में जेल से रिहा किए गए लोकमान्य तिलक सहित भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने सरकार के युद्ध-प्रयासों का समर्थन करने का निर्णय किया। ऐसा ब्रिटिश उद्देश्य के प्रति निष्ठा या सहानुभूति की भावना के कारण किया गया। जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'ऑटोबॉयोग्राफ़ी' में बतलाया है :

> "निष्ठा को जोरदार घोषणा के बावजूद अंग्रेजों के प्रति कोई ख़ास सहानुभूति नहीं थी। जर्मन जीतों को सुनकर नरमपंथी और गरमपंथी समान रूप से ख़ुश हुए। बेशक, जर्मनी के लिए कोई प्रेमभावना नहीं थी बल्कि उनके मन में अपने शासकों को धूल चाटते हुए देखने की इच्छा थी।"

राष्ट्रवादियों ने मुख्य रूप से इस ग़लत धारणा के कारण सक्रिय रूप से ब्रिटिश-समर्थक रुख अपनाया कि कृतज्ञ ब्रिटेन भारत की निष्ठा का बदला एहसानमंदी से चुकायेगा और भारत को स्वराज्य के रास्ते पर डग भरने में सहायता देगा। उनको इस बात का पूरा अहसास नहीं था कि विभिन्न शक्तियाँ इसलिए लड़ रही हैं कि वे अपने तत्कालीन उपनिवेशों की रक्षा कर सकें।

होम रूल लीग

साथ ही, अनेक भारतीय नेताओं ने साफ़ तौर पर देखा कि तब तक सरकार द्वारा कोई वास्तविक रियाअतें देने की सम्भावना नहीं है जब तक इस पर जनता का दबाव नहीं बढ़ाया जाए। इसलिए, एक वास्तविक राजनीतिक जन-आंदोलन ज़रूरी था। कुछ अन्य कारक भी राष्ट्रवादी आंदोलन को इसी दिशा में जाने के लिए प्रेरित कर रहे थे। विश्व युद्ध के दौरान यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों में परस्पर संघर्ष हुए और उसने एशियाई जनगण की तुलना में पश्चिमी देशों की जातीय श्रेष्ठता के मिथक को ख़त्म कर दिया। इसके अलावा, युद्ध के फलस्वरूप भारत के अधिकं ग़रीब वर्गों की विपन्नता बढ़ गयी। उनके लिए युद्ध का मतलब था करों का भारी बोझ तथा जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं क़ी बेलगाम बढ़ती हुई कीमतें। वे किसी भी जुझारू विरोध-आंदोलन में शामिल होने के लिए तत्पर हो रहे थे। फलस्वरूप, युद्ध के वर्ष तीव्र राष्ट्रवादी राजनीतिक आंदोलन के भी वर्ष थे।

परन्तु यह जन-आदोलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में नहीं चलाया जा सका, जो नरमपंथियों के नेतृत्व में एक निष्क्रिय और गतिहीन राजनीतिक संगठन बन गयी थी और उसने जनता के बीच कोई सराहनीय राजनीतिक कार्य नहीं किया था। इसलिए, 1915-16 में दो होम रूल लीगों की स्थापना हुई। एक के नेता लोकमान्य तिलक थे और दूसरी का नेतृत्व एनी बेसेंट, और एस० सुब्रह्माण्य अय्यर ने किया। दोनों होम रूल लीगों ने युद्ध के बाद भारत को होम रूल या स्वराज्य देने की मांग के पक्ष में सारे भारत में ज़ोरदार प्रचार किया। इसी आंदोलन के दौरान तिलक ने यह लोकप्रिय नारा दिया : "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, और मैं इसे लेकर रहूँगा।" दोनों लोगों ने तेज़ी से प्रगति की और स्वराज्य का नारा सारे भारत में गूँज उठा।

युद्ध काल के दौरान क्रान्तिकारी आंदोलन का भी विकास हुआ। बंगाल और आतंकवादी दल सारे उत्तर भारत में फैल गए। अनेक भारतीयों ने अंग्रेज़ी राज का तख्ता उलटने के लिए हिंसात्मक विद्रोह की योजना बनानी आरम्भ कर दी। संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा में रहने वाले भारतीय क्रान्तिकारियों ने 1913 में ग़दर पार्टी की स्थापना की थी। पार्टी के अधिकांश सदस्य सिक्ख किसान और सैनिक थे मगर उनके नेता अधिकतर शिक्षित हिन्दू या मुसलमान थे। मेक्सिको, जापान, फ़िलिपाइंस, मलाया, सिंगापुर, थाईलैंड, इन्डोचीन और पूर्व तथा दक्षिण अफ्रीका जैसे अन्य देशों में भी पार्टी के सक्रिय सदस्य थे।

ग़दर पार्टी ने भारत में अंग्रेज़ों के खिलाफ़ क्रान्तिकारी युद्ध करने की शपथ ली थी। 1914 में विश्व युद्ध के आरम्भ होते ही ग़दर पार्टी वालों ने तय किया कि हथियार और आदमी भारत भेजे जाएँ जिससे सैनिकों तथा स्थानीय क्रान्तिकारियों की सहायता से विद्रोह शुरू किया जाए। कई हज़ार लोग भारत वापस जाने के लिए आगे आए। उनके खर्च को पूरा करने के लिए लाखों

डालर की रकम चन्दे में मिली। अनेक लोगों ने अपनी जीवन भर की बचतें दे दीं और अपनी ज़मीन-जायदाद बेचकर धन लगा दिया। ग़दर पार्टी वालों ने सुदूर-पूर्व, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा सारे भारत में भारतीय सैनिकों से सम्पर्क स्थापित किया तथा कई रेजिमेंटों को विद्रोह करने के लिए तैयार कर लिया। अन्ततः, 21 फ़रवरी 1915 को पंजाब में हथियारबंद बगावत का दिन तय किया गया। दुर्भाग्यवश, अधिकारियों को इन योजनाओं का पता चल गया और उन्होंने तुरंत कार्रवाई की। विद्रोह के लिए तत्पर रेजिमेंटों को विघटित कर दिया गया तथा नेताओं को जेल में बंद कर दिया गया या फांसी पर लटका दिया गया। उदाहरण के लिए, 23वें रिसाले के बारह आदमियों को मौत की सज़ा दी गयी। पंजाब में ग़दर पार्टी के नेताओं और सदस्यों की बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारी हुई तथा उन पर मुकदमा चलाया गया। उन में से 42 को फांसी पर लटका दिया गया 114 को आजन्म काले पानी तथा 93 को कैद की लम्बी सजा दी गयी। उनमें से अनेक ने रिहा होने के बाद पंजाब में कीर्ति और कम्युनिस्ट आंदोलनों की नींव रखी। ग़दर पार्टी के कुछ प्रमुख नेता थे : बाबा गुरुमुख सिंह, कर्तार सिंह सराभा, सोहन सिंह भकना, रहमत अली शाह, भाई परमानन्द और मोहम्मद बरकतुल्ला।

ग़दर पार्टी से प्रेरित होकर सिंगापुर स्थित पांचवीं लाइट इन्फ़ेंट्री के 700 सैनिकों ने जमादार चिस्ती खाँ और सूबेदार डंडे खाँ के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। उन्हें एक कटु लड़ाई के बाद कुचल दिया गया, जिसमें कई लोग मरे। सैंतीस अन्य सैनिकों को सार्वजनिक रूप से फ़ांसी पर लटका दिया गया जबकि 41 को आजन्म कारावास की सज़ा दे दी गयी।

अन्य क्रांतिकारी भारत तथा विदेशों में सक्रिय थे। एक असफल क्रान्तिकारी प्रयास के दौरान 1915 में जतीन मुकर्जी ने, जो 'बाघा जतीन' के नाम से लोकप्रिय थे, बालासोर में पुलिस से लड़ते हुए अपनी जान दे दी। रासबिहारी बोस, राजा महेंद्र प्रताप, लाला हरदयाल, अब्दुल रहमान, मौलाना ओबैदउल्ला सिंधी, चम्पक रमण पिल्ले, सरदार सिंह राणा, और मैडम कामा के नाम उन कुछ भारतीयों में थे जिन्होंने भारत के बाहर क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चलायीं और प्रचार कार्य किए।

कांग्रेस का लखनऊ अधिवेशन (1916)

राष्ट्रवादियों ने देखा कि उनके बीच फूट के कारण उनके उद्देश्य को धक्का लग रहा है और उन्हें सरकार के ख़िलाफ़ एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करना चाहिए। देश में बढ़ती हुई राष्ट्रवादी भावना तथा राष्ट्रीय एकता की ललक ने 1916 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में दो ऐतिहासिक घटनाओं को जन्म दिया। प्रथम, कांग्रेस के दोनों पक्ष फिर एक हो गए। पुराने विवाद अर्थहीन हो गए थे और कांग्रेस की फूट से किसी भी पक्ष को फ़ायदा नहीं पहुँचा था। मगर, सबसे अधिक, राष्ट्रवाद के उठते हुए ज्वार ने कांग्रेस के पुराने नेताओं को लोकमान्य तिलक तथा अन्य लड़ाकू राष्ट्रवादियों को फिर से आदर सहित कांग्रेस में वापस लाने के लिए मजबूर किया। लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन 1907 के बाद पहला संयुक्त अधिवेशन था।

द्वितीय, लखनऊ में कांग्रेस और ऑल इंडिया मुस्लिम लीग ने अपने पुराने मतभेदों को भुला दिया और सरकार के सामने एक ही तरह की राजनीतिक माँगें रखीं। जब युद्ध और दो होम रूल लीगें देश में एक नयी मनोभावना उत्पन्न कर रही थीं और कांग्रेस के चरित्र को बदल रही थीं, उसी समय मुस्लिम लीग में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था। हम पहले इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि नौजवान शिक्षित मुस्लिम निर्भीक राष्ट्रवादी राजनीति की ओर जा रहे थे। युद्ध के दौरान इस दिशा में और घटनाएं हुईं। फलस्वरूप, 1914 में सरकार ने अबुल कलाम आज़ाद के अख़बार 'अल हिलाल' और मौलाना मोहम्मद अली के 'कामरेड' को बन्द कर दिया। उसने अली बंधुओं मौलाना मोहम्मद अली और शौकत अली—हसरत मोहानी, और अबुल कलाम आज़ाद को नज़रबन्द कर दिया। आंशिक तौर पर ही सही, लीग ने अपने युवा सदस्यों में बढ़ते हुए राजनीतिक जुझारूपन को प्रकट किया वह धीरे-धीरे अलीगढ़ स्कूल की विचारधारा के संकुचित राजनीतिक दृष्टिकोण से बाहर निकलने और कांग्रेस की नीतियों के नज़दीक आने लगी।

कांग्रेस और लीग के बीच एकता कांग्रेस-लीग समझौते पर हस्ताक्षर के फलस्वरूप स्थापित हुई, जो लखनऊ समझौते के नाम से जाना जाने लगा। दोनों को एक साथ

लाने में लोकमान्य तिलक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा दी। दोनों संगठनों ने अपने अधिवेशनों में एक ही प्रस्ताव पास किए, पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों पर आधारित राजनीतिक सुधारों की एक संयुक्त योजना रखी, तथा माँग की कि ब्रिटिश सरकार घोषणा करे कि वह जल्द ही भारत को स्वराज्य दे देगी। लखनऊ समझौता हिन्दू-मुस्लिम एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। दुर्भाग्यवश, यह शिक्षित हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक् इकाईयों के रूप में एक साथ लाने की धारणा पर आधारित था; दूसरे शब्दों में उनके राजनीतिक दृष्टिकोण को बिना धर्मनिरपेक्ष बनाए एकता की कोशिश की गयी। अगर उनके दृष्टिकोण को धर्मनिरपेक्ष बनाया जाता तो उनको अहसास हो जाता कि हिन्दू या मुसलमान के रूप में उनके कोई पृथक् स्वार्थ नहीं हैं। इसलिए, लखनऊ समझौते ने भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के फिर से सिर उठाने के लिए दरवाज़े खुले छोड़ दिए।

परन्तु लखनऊ की घटनाओं का तात्कालिक असर काफ़ी गहरा हुआ। नरमपंथी और जुझारू राष्ट्रवादियों, तथा राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एकता ने देश में महान् उत्साह पैदा कर दिया। यहाँ तक कि ब्रिटिश सरकार ने भी राष्ट्रवादियों को तुष्ट करना आवश्यक समझा। राष्ट्रवादी आंदोलन को शान्त करने के लिए अब तक ब्रिटिश सरकार ने दमन का ही भारी सहारा लिया था। कुख्यात भारत रक्षा अधिनियम तथा अन्य समान विनियमों के तहत बड़ी संख्या में आमूल परिवर्तनवादी राष्ट्रवादियों तथा क्रान्तिकारियों को जेल में डाल दिया गया था या नज़रबन्द कर दिया गया था। अब उसने राष्ट्रवादी मत को तुष्ट करने का निर्णय किया तथा 20 अगस्त 1917 को घोषणा की कि भारत में उसकी नीति थी : "ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न भाग के रूप में ज़िम्मेदार भारत सरकार की उत्तरोत्तर स्थापना की दृष्टि से स्वायत्त संस्थानों का क्रमिक विकास।" और जुलाई 1918 में मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों की घोषणा की गयी। मगर भारतीय राष्ट्रवाद तुष्ट नहीं हुआ। वस्तुतः, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अपने तीसरे और आखिरी दौर—संघर्ष के युग या गाँधीवादी युग—में प्रवेश करने के लिए तत्पर था।

अभ्यास

1. बीसवीं सदी के आरम्भ में जुझारू राष्ट्रवाद या गरम पंथ के विकास के ऊपर प्रकाश डालिए।
2. लड़ाकू राष्ट्रवादी नरमपंथियों से कैसे भिन्न थे ? अपने राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में वे कहाँ तक सफल हुए ?
3. स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन के विकास-क्रम पर प्रकाश डालिए।
4. बीसवीं सदी के आरम्भिक भाग में भारत में साम्प्रदायिकता के बढ़ने के लिए जिम्मेदार महत्त्वपूर्ण कारकों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

   'फूट डालो और शासन करो' की ब्रिटिश नीति, मुस्लिम उच्च और मध्यम वर्गों के शैक्षणिक और आर्थिक पिछड़ेपन, भारतीय इतिहास के अध्यापन, जुझारू राष्ट्रवाद और देश के आर्थिक पिछड़ेपन पर प्रकाश डालिए।

5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

(क) लोकमान्य तिलक; (ख) क्रान्तिकारी आतंकवाद; (ग) सूरत में कांग्रेस का विभाजन; (घ) मॉर्ले-मिंटो सुधार; (च) मुस्लिम लीग; (छ) मुसलमानों के बीच जुझारू राष्ट्रवाद का विकास; (ज) प्रथम विश्व युद्ध; (झ) होम रूल लीग (ट) ग़दर पार्टी; (ठ) लखनऊ समझौता ।

अध्याय 15

स्वराज्य के लिए संघर्ष

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि युद्धकाल (1914-18) के दौरान एक नयी राजनीतिक स्थिति परिपक्व हो रही थी। राष्ट्रवाद शक्तिशाली हो गया था और राष्ट्रवादी, युद्ध के बाद, महत्त्वपूर्ण राजनीतिक उपलब्धियों की आशा कर रहे थे; और अपनी उम्मीदों पर पानी फिर जाने की स्थिति में वे संघर्ष करने के लिए भी तैयार थे। युद्ध के बाद के वर्षों दौरान आर्थिक स्थिति बदतर हो गयी। पहले क़ीमतों में वृद्धि हुई और बाद में मंदी आ गयी। तैयार विदेशी माल का आयात बन्द हो जाने के कारण भारतीय उद्योग युद्ध के दौरान फूले-फले थे। युद्ध के बाद उन्हें घाटों तथा कारखाना-बन्दी का सामना करना पड़ा। भारतीय उद्योगपतियों ने ऊँची दरों पर आयातित माल पर सीमा-शुल्क, तथा सरकारी सहायता के जरिए अपने उद्योगों का संरक्षण चाहा। उन्हें अहसास हुआ कि एक शक्तिशाली राष्ट्रवादी और स्वतंत्र भारत सरकार के जरिए ही ये दोनों चीज़ें सम्भव हैं। उस समय मजदूरों को बेरोज़गारी और ऊँची क़ीमतों का सामना करना पड़ रहा था तथा वे अत्यन्त ग़रीबी की ज़िन्दगी गुज़ार रहे थे। वे भी राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय रूप से आ गए। अफ्रीका, एशिया और यूरोप में लड़ी गई लड़ाइयों में फ़तह के बाद लौटे भारतीय सैनिकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ आत्मविश्वास जगाया तथा दुनिया संबंधी अपनी जानकारी से परिचित कराया। कृषक वर्ग बढ़ती हुई ग़रीबी तथा ऊँचे करों के भार से कराह रहा था। वह प्रतीक्षा कर रहा था कि कोई उसे नेतृत्व प्रदान करे। शहरी, शिक्षित भारतीयों को बढ़ती हुई बेरोज़गारी का सामना करना पड़ रहा था। इस प्रकार भारतीय समाज के सभी हिस्से आर्थिक मुसीबतों से पीड़ित थे।

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान के लिए अनुकूल थी। प्रथम विश्व युद्ध ने सारे एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवाद को भारी प्रोत्साहन दिया। अपने युद्ध संबंधी प्रयासों के लिए जनसमर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से मित्रराष्ट्रों ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, इटली, और जापान—ने संसार के सभी जनगण को जनतंत्र और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का एक नया युग लाने का वचन दिया। मगर अपनी विजय के बाद उन्होंने उपनिवेश व्यवस्था ख़त्म करने में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखलायी। इसके विपरीत, पेरिस शान्ति सम्मेलन, तथा विभिन्ध शान्ति समझौतों में युद्धकालीन वादों को भुला ही नहीं दिया गया बल्कि विश्वासघात किया गया। पराजित शक्तियों—जर्मनी और तुर्की—के अफ्रीका, पश्चिम एशिया और पूर्व एशिया स्थित उपनिवेशों को विजयी शक्तियों ने अपने बीच बांट लिया। एशिया और अफ्रीका की जनता की आशाएँ एकाएक घोर निराशा में बदल

गयी। जुझारू, भ्रमजाल से मुक्त राष्ट्रवाद की लहरें उठनें लगीं।

विश्वयुद्ध का एक और मुख्य परिणाम हुआ गोरों की प्रतिष्ठा में कमी। अपने साम्राज्यवाद के आरम्भ से ही योरोपीय शक्तियों ने अपना आधिपत्य बनाए रखने के लिए जातीय और सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना को इस्तेमाल किया। परन्तु लड़ाई के दौरान दोनों पक्षों में एक दूसरे के खिलाफ़ घोर प्रचार किया और प्रचार के द्वारा उनमें से प्रत्येक अपने विरोधी के बर्बर तथा असभ्यतापूर्ण औपनिवेशिक कारगुज़ारियों का कच्चा चिट्ठा खोलना चाहता था। स्वभावतया, उपनिवेशों की जनता की प्रवृत्ति दोनों पक्षों के प्रचार को सही मानने की थी। भारत के लोग गोरों की श्रेष्ठता से भयभीत होना छोड़ने लगे।

राष्ट्रीय आंदोलनों को रूसी क्रांति ने काफ़ी प्रोत्साहन दिया। व्लादीमिर इलिच लेनिन के नेतृत्व में 7 नवम्बर 1917 को बोल्शेविक (कम्युनिस्ट) पार्टी ने रूस में ज़ारशाही शासन का तख्ता उलट दिया और संसार के इतिहास में प्रथम समाजवादी राज्य, सोवियत संघ, की स्थापना की घोषणा की। नए सोवियत शासन ने चीन तथा एशिया के अन्य भागों में अपने साम्राज्यवादी अधिकारों को त्याग कर, एशिया से ज़ार के पुराने उपनिवेशों को आत्मनिर्णय का अधिकार देकर, और अपनी सीमाओं के अन्दर रहनेवाले उन एशियाई जनगणों को बराबर का दर्जा देकर जिन्हें पूर्ववर्त्ती शासन के निकृष्ट तथा विजित मानकर सताया था, उपनिवेशों में एक नया जोश भर दिया। रूसी क्रांति ने उपनिवेशों की जनता को यह महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ाया कि आम जनता के अन्दर विशाल शक्ति छिपी होती है। आम जनता ने न केवल अत्यन्त निरंकुश तथा सैनिक दृष्टि से एक अत्यन्त शक्तिशाली शासन—ताक़तवर ज़ारशाही सरकार—को उखाड़ फेंका, बल्कि उसके बाद क्रांति के खिलाफ़ ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमरीका तथा जापान के हस्तक्षेप को भी नाकाम बना दिया। अगर रूसी ज़ार को धराशायी किया जा सकता था तो कोई भी शासन अजेय नहीं हो सकता। अगर निहत्थे किसान और मजदूर अपने देशी निरंकुश शासकों के खिलाफ़ क्रांति कर सकते थे तो गुलाम राष्ट्रों की जनता को हताश होने की जरूरत नहीं थी; वह भी अपनी आज़ादी के लिए लड़ सकती थी मगर शर्त यह थी कि वह भी रूसी जनता की तरह ही एकजुट, सुसंगठित, और स्वतंत्रता के लिए लड़ने के वास्ते दृढ़प्रतिज्ञ हो।

इस प्रकार रूसी क्रांति ने लोगों में आत्मविश्वास भर दिया और राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं को बतलाया कि वे आम जनता की शक्ति पर निर्भर रहें। उदाहरण के लिए, विपिन चन्द्र पाल ने 1919 में लिखा :

> "आज: जर्मन सैन्यवाद के पतन, और ज़ार के निरंकुशतंत्र के विध्वंस के बाद, सारे संसार में एक नयी शक्ति विकसित हुई है। यह है : अपने न्यायोचित अधिकारों—अधिक समृद्ध और तथाकथित उच्चतर वर्गों द्वारा बिना शोषित और सताए हुए स्वतंत्रता तथा सुख से रहने का अधिकार—को बचाए रखने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ जनता की शक्ति।"

युद्ध के बाद राष्ट्रवादी आंदोलन शेष अफ्रो-एशियायी संसार को भी उद्वेलित करने लगे थे। इससे भारत का राष्ट्रवादी आंदोलन प्रभावित हुआ। राष्ट्रवाद न सिर्फ़ भारत में बल्कि तुर्की, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिम एशिया के अरब देशों, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, बर्मा, मलाया, इंडोनेशिया, इंडोचीन, फिलीपीन्स, चीन और कोरिया में भी आगे की ओर हिलोरें मारने लगा।

राष्ट्रवादी, तथा सरकार विरोधी भावनाओं की उठती हुई लहर को देखकर सरकार ने एक बार फिर रियायतों और दमन की नीति अपनायी।

मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार

भारत मंत्री एडविन मांटेग्यू और वायसराय लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड ने 1918 में संवैधानिक सुधारों की अपनी परियोजना प्रस्तुत की जिसके फलस्वरूप गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1919 बना। प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउन्सिलों का विस्तार किया गया तथा उनके बहुसंख्यक सदस्यों के चुनाव की व्यवस्था की गयी। द्वैध शासन (Dyarchy) की प्रणाली के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को अधिक अधिकार दिए गए। इस प्रणाली के तहत कुछ विषयों, जैसे वित्त और क़ानून तथा व्यवस्था, को 'आरक्षित' विषय कहा गया और वे गवर्नर के सीधे नियंत्रण में रहे; शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्थानीय स्वायत्त शासन जैसे विषयों को 'हस्तान्तरित' विषय कहा गया तथा उन्हें

विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के अधिकार में दे दिया गया। इसका यह भी मतलब था कि यद्यपि कुछ ख़र्च वाले विभागों को हस्तान्तरित कर दिया गया तथापि गवर्नर का वित्त के ऊपर पूरा नियंत्रण बना रहा। इसके अलावा, गवर्नर अपने मंत्रियों के निर्णयों को किसी भी ऐसे कारण से जिसे वह 'विशेष' समझे, रद्द कर सकता था। केंद्र स्तर पर विधानमंडल के दो सदनों की व्यवस्था की गयी। निचले सदन को लेजिस्लेटिव असेम्बली कहा गया जिसके कुल 144 सदस्यों में से 41 नामज़द किए जाने वाले थे। ऊपर के सदन, काउन्सिल ऑफ़ स्टेट, में 26 नामज़द और 34 निर्वाचित सदस्यों की व्यवस्था की गयी। विधानमंडल का गवर्नर-जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) पर वस्तुतः कोई नियंत्रण नहीं था। दूसरी ओर, केंद्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर अप्रतिबंधित नियंत्रण था। इसके अलावा, मतदान के अधिकार को काफ़ी सीमित कर दिया गया था। 1920 में निचले सदन के लिए मतदाताओं की कुल संख्या 9,09,874 तथा ऊपरी सदन के लिए मतदाताओं की कुल संख्या 17,364 थी।

मगर भारतीय राष्ट्रवादी ऐसी रुक-रुक कर दी जाने वाली रियायतों से काफ़ी आगे निकल चुके थे। वे अब किसी विदेशी सरकार को यह अधिकार देने को तैयार नहीं थे कि वह यह फ़ैसला करे कि वे स्वराज्य के लिए योग्य हैं या नहीं। न ही वे राजनीति सत्ता के आभासमात्र से संतुष्ट होने वाले थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विशेष अधिवेशन अगस्त 1918 में सुधार संबंधी प्रस्तावों पर विचार करने के लिए हसन इमाम की अध्यक्षता में बम्बई में हुआ। अधिवेशन ने "निराशाजनक और असंतोषप्रद" कहकर उन सुधारों की निंदा की। उसने प्रस्तावित सुधारों के बदले प्रभावकारी स्वराज्य की मांग की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में कुछ वयोवृद्ध कांग्रेस नेता सरकारी प्रस्तावों को स्वीकार करने के पक्ष में थे। उन्होंने उसी समय कांग्रेस को छोड़ दिया। उन्होंने बम्बई अधिवेशन में भाग लेने से इन्कार कर दिया जहाँ वे महत्त्वहीन अल्पमत में होते। उन्होंने इंडियन लिबरल फेडरेशन की स्थापना की। वे लिबरल (उदारवादियों) के नाम से जाने गए और इसके बाद भारतीय राजनीति में उनकी भूमिका बहुत गौण रही।

रौलट ऐक्ट

भारतीयों को तुष्ट करने की कोशिश के साथ ही भारत सरकार उनका दमन करने के लिए भी तैयार थी। युद्ध के दौरान राष्ट्रवादियों का दमन जारी रहा। आतंकवादियों और क्रांतिकारियों को पकड़ा गया, फांसी पर लटकाया गया या जेल में बन्द कर दिया गया। अबुल कलाम आज़ाद जैसे अनेक अन्य राष्ट्रवादियों को को भी जेल में बन्द कर दिया गया। सरकार ने उन राष्ट्रवादियों को कुचलने के लिए काफ़ी दूरगामी शक्तियाँ लेने का निर्णय किया, जो सरकारी सुधारों से संतुष्ट नहीं थे। यह कार्रवाई विधि-शासन के मान्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ी। मार्च 1919 में सरकार ने सेंट्रल लेजिस्लेटिव काउन्सिल के प्रत्येक भारतीय सदस्य के विरोध के बावजूद, रौलट ऐक्ट पास किया। तीन भारतीय सदस्यों—मुहम्मद अली जिन्ना, मदन मोहन मालवीय, और मज़हरूल हक़—ने काउन्सिल से इस्तीफ़ा दे दिया। इस ऐक्ट ने सरकार को अधिकार दिया कि वह किसी भी व्यक्ति को उस पर अदालत में बिना मुकदमा चलाए तथा दोषी साबित किए जेल में बंद कर सकती है।

इस ऐक्ट के अनुसार सरकार को यह भी अधिकार दिया गया कि वह बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) के अधिकार को स्थगित कर दे। बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिकार ब्रिटेन में नागरिक स्वतंत्रताओं का आधार माना जाता था।

महात्मा गाँधी का नेतृत्व

रौलट एक्ट एक आकस्मिक झटके के रूप में आया। यह भारतीय जनता के साथ बड़ा क्रूर मज़ाक था क्योंकि युद्ध के दौरान उसे वचन दिया गया था कि सरकार जनतंत्र का विस्तार करेगी। यह वैसे ही था जैसे किसी भूखे आदमी को पत्थर के टुकड़े परोसे जाएँ। जनतंत्र की दिशा में प्रगति के बदले नागरिक स्वतंत्रताओं पर अधिक प्रतिबंध लगा दिए गए। लोगों ने अपने को अपमानित महसूस किया और उनमें गुस्से की लहर दौड़ गई। देश में अशांति फैल गयी और ऐक्ट के ख़िलाफ़ एक शक्तिशाली आंदोलन खड़ा हो गया। इस आंदोलन के दौरान एक नए नेता—

मोहन दास कर्मचन्द गाँधी—ने राष्ट्रवादी आंदोलन का नेतृत्व सम्भाला। भारतीय राष्ट्रवाद का तीसरा और निर्णायक दौर अब शुरू हो गया।

गाँधीजी

गाँधीजी और उनके विचार

मोहन दास कर्मचन्द गाँधी का जन्म 2 अक्तूबर 1869 को गुजरात के पोरबंदर नामक स्थान पर हुआ था। ब्रिटेन में क़ानूनी शिक्षा पाने के बाद वे वकालत करने के लिए दक्षिण अफ्रीका चले गए। न्याय की उदात्त भावना से अनुप्राणित होने के कारण दक्षिण अफ्रीकी उपनिवेशों में भारतीयों को जिस अन्याय, भेदभाव तथा अधोगति को सहना पड़ रहा था उसको देखकर उनका मन विद्रोह कर बैठा। दक्षिण अफ्रीका में गए भारतीय मज़दूरों तथा उनके बाद जाने वाले व्यापारियों को मतदान के अधिकार से वंचित रखा गया था। उन्हें अपना पंजीकरण कराना तथा व्यक्ति-कर देना पड़ता था। वे निर्धारित स्थानों के सिवा अन्य जगहों पर निवास नहीं कर सकते थे। उनके रहने के लिए निर्धारित स्थान अस्वास्थ्यकर तथा अत्यन्त भीड़-भाड़ वाले थे। कुछ दक्षिण अफ्रीकी उपनिवेशों में एशियाई तथा अफ्रीकी लोग रात में 9 बजे के बाद घरों से बाहर नहीं रह सकते थे; न ही वे सार्वजनिक फुटपाथों का इस्तेमाल कर सकते थे। गाँधीजी बहुत जल्द ही इन हालात के खिलाफ़ चलने वाले संघर्ष के नेता बन गए और 1893-94 के दौरान वे दक्षिण अफ्रीका के नस्लवादी अधिकारियों के खिलाफ़ वीरतापूर्ण, असमान, संघर्ष में लग गए। लगभग दो दशकों तक चलने वाले इस लम्बे संघर्ष के दौरान ही उन्होंने सत्य और अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह की तकनीक को विकसित किया। आदर्श सत्याग्रही से अपेक्षा की गयी कि वह सत्यनिष्ठ तथा पूर्णतया शान्तिमय हो, परन्तु साथ ही वह जिस चीज़ को ग़लत समझे उसको स्वीकार नहीं करे। वह अन्यायी के खिलाफ़ संघर्ष के क्रम में यातनाएँ सहने के लिए तैयार रहे। उसका संघर्ष उसके सत्यप्रेम का भाग हो। मगर बुराई के खिलाफ़ लड़ते हुए भी वह बुरा करने वाले को प्यार करे। घृणा एक सच्चे सत्याग्रही के स्वभाव के विपरीत होनी चाहिए। इसके अलावा, वह बिल्कुल निडर हो। वह बुराई के आगे कभी नहीं झुके और इसके परिणाम की कोई परवाह न करे। गाँधीजी की नज़रों में अहिंसा कमजोर तथा कायर व्यक्तियों का हथियार नहीं है। सिर्फ़ शक्तिशाली और बहादुर लोग ही अहिंसा को अपना सकते हैं। उनके अनुसार कायरता से हिंसा श्रेयस्कर है। अपने साप्ताहिक पत्र 'यंग इंडिया' में 1920 में उन्होंने एक लेख में लिखा : "अहिंसा उसी प्रकार मानव-जाति का नियम है जैसे हिंसा पशु जाति का," मगर "जहाँ केवल कायरता और हिंसा के बीच चुनाव करना हो····· वहाँ मैं चाहूँगा कि अपनी बेइज्ज़ती को असहाय नज़रों से देखते रहने के बदले भारत अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए हथियारों का सहारा ले।" एक बार उन्होंने अपना जीवन-दर्शन संक्षेप में यों रखा :

> "मैं एक ही सदगुण जिसका दावा करना चाहूँगा वह सत्य और अहिंसा है। मैं अलौकिक शक्तियों का दावा नहीं करता : न ही मैं उनमें से कोई चाहता हूँ।"

गाँधीजी के दृष्टिकोण का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी था कि वे व्यवहार को सिद्धान्त से, तथा कर्म को विश्वास से अलग नहीं करते थे। उनके सत्य और अहिंसा

केवल गुंजायमान भाषणों और लेखों के लिए नहीं अपितु दैनिक जीवन के लिए थे।

गांधीजी 46 साल की उम्र में 1915 में भारत लौटे। वे अपने देश और जनता की सेवा के लिए उत्सुक थे। अपने कार्यक्षेत्र के बारे में निर्णय करने के पहले उन्होंने भारतीय स्थितियों का अध्ययन करने का फैसला किया। उन्होंने 1916 में अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की जहाँ उनके मित्र और अनुयायी सत्य और अहिंसा के आदर्शों को सीख और व्यवहार में ला सकें।

चम्पारन सत्याग्रह (1971) 1917

गांधीजी ने सत्याग्रह सम्बन्धी अपना पहला प्रयोग 1917 में बिहार के चम्पारन जिले में किया। नील की खेती करने वाले किसानों पर योरोपीय बागान मालिक बड़ा अत्याचार करते थे। उन्हें अपनी ज़मीन के कम से कम 3/20 भाग पर नील की खेती करने तथा पैदावार को निलहों द्वारा निश्चित दरों पर बेचने के लिए मजबूर किया जाता था। पहले इसी प्रकार की स्थितियाँ बंगाल में भी थीं मगर वहाँ किसानों ने 1859-61 के दौरान निलहों से अपने आप को आज़ाद कर लिया था।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के अभियानों के बारे में सुनकर कई किसानों ने उन्हें चम्पारन आकर किसानों की सहायता करने के लिए आमंत्रित किया। गांधीजी 1917 में चम्पारन पहुँचे। उनके साथ राजेंद्र प्रसाद, मज़हरुल हक, जे बी० कृपलानी और महादेव देसाई भी चम्पारन गए। वहाँ उन्होंने किसानों की दशा के बारे में जानने के लिए ब्यौरेवार जाँच शुरू की। क्रोधित जिला अधिकारियों ने उन्हें चम्पारन छोड़ने का आदेश दिया, मगर उन्होंने आदेश की अवहेलना की तथा वे मुकदमे और सज़ा का सामना करने को तैयार हो गए। मजबूर होकर सरकार को अपना आदेश रद्द करना पड़ा। सरकार ने विवश होकर एक समिति नियुक्त की और गांधीजी को उसका सदस्य बनाया। अन्ततः किसानों की शिकायतों को दूर करने के लिए कदम उठाए गए और इस प्रकार भारत में गांधीजी का प्रथम सविनय अवज्ञा आंदोलन सफल रहा। उन्हें उस दरिद्रता की झलक भी मिली जिसमें भारत के किसान अपना जीवन बिता रहे थे।

अहमदाबाद में मिल-मज़दूरों की हड़ताल

महात्मा गांधी ने 1918 में अहमदाबाद के मज़दूरों और मिल मालिकों को झगड़े में हस्तक्षेप किया। उन्होंने समझौता करने के लिए आमरण अनशन किया। अनशन के चौथे दिन मिल मालिक नरम पड़ गए और मज़दूरी में 35 प्रतिशत वृद्धि करने के लिए तैयार हो गए। फसल खराब हो जाने पर भी भूराजस्व वसूल किए जाने के ख़िलाफ़ गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों द्वारा चलाए जाने वाले आंदोलन का भी गांधीजी ने समर्थन किया। उस समय सरदार वलभभाई पटेल अपनी खूब कमाई वाली वकालत छोड़कर गांधी जी की सहायता के लिए आ गए।

इन अनुभवों से गांधीजी जनता के घनिष्ट सम्पर्क में आ गए और उन्होंने जीवन भर सक्रिय रूप से जनता के हितों का समर्थन किया। वस्तुतः वे भारत के पहले राष्ट्रवादी नेता थे जिन्होंने अपना जीवन तथा जीनेकाढंग आम जनता के जैसा बनाया। कालक्रम से वे ग़रीब भारत, राष्ट्रवादी भारत और विद्रोही भारत के प्रतीक बन गए। तीन अन्य उद्देश्य भी गांधीजी को दिल से प्यारे थे। पहला था, हिन्दू-मुस्लिम एकता; दूसरा था, अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष; और तीसरा था, देश में महिलाओं की सामाजिक अवस्था को ऊँचा उठाना। उन्होंने अपने लक्ष्यों को संक्षेप में एक बार यों रखा :

> "मैं ऐसे भारत के लिए काम करूँगा जिसमें सबसे दरिद्र व्यक्ति भी महसूस कर सके कि यह उनका देश है और उसके निर्माण में उनकी प्रभावकारी आवाज़ है। यह ऐसा भारत होगा जिसमें न उच्च वर्ग होगा और न निम्न वर्ग। यह ऐसा भारत होगा जिसमें सारे समुदाय पूर्ण मेलजोल के साथ रहेंगे ऐसे भारत में अस्पृश्यता के अभिशाप के लिए कोई जगह नहीं हो सकती ···महिलाओं को पुरुषों की तरह ही समान अधिकार होंगे··· यही है मेरे सपनों का भारत।"

एक निष्ठावान् हिंदू होते हुए भी गांधीजी के सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टिकोण व्यापक थे संकुचित नहीं। उन्होंने लिखा : "भारतीय संस्कृति पूरी तरह न हिंदू है, न इस्लामी और न ही कुछ अन्य। वह सबका संयोजन है।" वे चाहते थे कि भारतीयों की अपनी संस्कृति में गहरी जड़ें हों मगर साथ ही वे संसार की अन्य

संस्कृतियों में जो कुछ सर्वोत्तम है उसे ग्रहण करें। उन्होंने कहा :

"मैं चाहता हूँ कि सब देशों की संस्कृति मेरे घर के इर्द-गिर्द आज़ादी से फले-फूले। मगर मैं उनमें से किसी के भी द्वारा बहा लिए जाने के लिए तैयार नहीं हूँ। मैं अन्य जनगण के घर में दस्तंदाज, भिखमंगे या गुलाम के रूप में रहने को तैयार नहीं हूँ।"

रौलट ऐक्ट के ख़िलाफ़ सत्याग्रह

अन्य राष्ट्रवादियों की तरह ही गाँधीजी भी रौलट ऐक्ट से उत्तेजित हो गए थे। फ़रवरी 1919 में उन्होंने सत्याग्रह सभा की स्थापना की जिसके सदस्यों ने ऐक्ट की अवहेलना करने तथा, इस प्रकार, गिरफ़्तार होने और जेल जाने की शपथ ली। यह था संघर्ष का नया तरीक़ा। अब तक राष्ट्रवादी—वे नरमपंथी नेतृत्व के अन्तर्गत हों या गरमपंथी—अपने संघर्ष को आंदोलन तक ही सीमित किए हुए थे। राजनीतिक कार्य के जो तरीक़े राष्ट्रवादियों को मालूम थे उनमें केवल बड़ी सभाएँ और प्रदर्शन, सरकार के साथ असहयोग, विदेशी कपड़े तथा स्कूलों का बहिष्कार और व्यक्तिगत आतंकवादी कार्य ही शामिल थे। सत्याग्रह ने आंदोलन को एक नए, अधिक ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। अपने असंतोष और गुस्से की केवल 'मौखिक' अभिव्यक्ति के बदले राष्ट्रवादी अब 'सक्रिय' हो सकते थे। राष्ट्रीय कांग्रेस अब राजनीतिक रूप से सक्रिय होने के लिए तत्पर थी।

इसके अलावा, राष्ट्रीय कांग्रेस उत्तरोत्तर ग़रीबों के राजनीतिक समर्थन पर निर्भर होने की दिशा में बढ़ी। गाँधीजी ने राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं को गाँवों में जाने के लिए कहा। उन्होंने कहा कि भारत गाँवों में बसता है। उन्होंने राष्ट्रवाद को आम आदमी की ओर उन्मुख किया। इस रूपान्तरण का प्रतीक खादी यानी हाथ-कता, हाथ बुना कपड़ा हो गया। जल्द ही खादी राष्ट्रवादियों की पोशाक बन गयी। श्रम की प्रतिष्ठा तथा स्वावलम्बन के महत्त्व पर ज़ोर देने के लिए गाँधीजी रोज़ सूत कातते थे। उन्होंने कहा कि भारत की मुक्ति तभी होगी जब जनता को नींद से जगाया जायेगा और वह राजनीति में सक्रिय होगी। गाँधीजी के आह्वान पर जनता बड़े शानदार रूप में आगे आयी।

मार्च और अप्रैल 1919 में भारत में बड़ी उल्लेखनीय राजनीतिक जागृति आई। हड़तालों और प्रदर्शनों का तांता लग गया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के नारों से वायुमंडल भर गया। सारे देश में बिजली दौड़ गयी। भारतीय जनता अब विदेशी शासन जैसी अधोगति को स्वीकार करने के लिए क़तई तैयार नहीं थी।

जलियाँवाला बाग़ हत्याकाण्ड

सरकार जन-आंदोलन का दमन करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थी। बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता, दिल्ली और अन्य शहरों में निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर लाठियों और गोलियों की बौछार हुई। गाँधीजी ने 6 अप्रैल 1919 को एक ज़ोरदार हड़ताल करने का आह्वान किया। जनता ने अभूतपूर्व उत्साह से हड़ताल को सफल बनाया। सरकार ने, ख़ासकर पंजाब में, जनविरोध को कुचलने का निर्णय किया। उसी समय सरकार ने आधुनिक इतिहास का एक सबसे नृशंस राजनीतिक अपराध किया। अपने लोकप्रिय नेताओं, डा० सैफ़उद्दीन किचलू और डा० सत्यपाल की गिरफ़्तारी के ख़िलाफ़ विरोध प्रकट करने के लिए अमृतसर (पंजाब) के जलियाँवाला बाग़ में एक निहत्थी मगर भारी भीड़ 13 अप्रैल 1919 को जमा हुई थी। अमृतसर के सैनिक कमांडर जनरल डायर ने लोगों को घुटने टेकने के लिए मजबूर करने के उद्देश्य से उन्हें आतंकित करने का निश्चय किया। जलियाँवाला बाग एक बड़ा खुला हुआ स्थान था जो तीन ओर इमारतों से घिरा हुआ था। उसमें एक ही निकास था। उसने बाग़ को अपनी फ़ौजी इकाई के ज़रिए घेर लिया, निकलने के रास्ते पर अपने सैनिकों को खड़ा कर उसे बन्द कर दिया। इस प्रकार बीच में घिरी हुई भीड़ पर राइफ़लों तथा मशीनगनों से गोलियाँ चलाने का आदेश दिया। वे तब तक गोलियाँ चलाते रहे जब तक उनके पास गोलियाँ ख़त्म नहीं हो गयीं। हज़ारों लोग मरे और घायल हुए। इस हत्याकांड के बाद सारे पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया और जनता पर अत्यन्त बर्बरतापूर्ण जुल्म ढाए गए। एक उदारपंथी वकील शिवस्वामी अय्यर ने, जिसे सरकार से 'नाइट' का ख़िताब मिला था, पंजाब की नृशंसता के बारे में यों लिखा :

"भीड़ को तितर-बितर होने का अवसर दिये बिना जलियांवाला बाग़ में सैंकड़ों निहत्थे लोगों की अंधाधुध हत्या, गोली कांड में घायल सैंकड़ों लोगों की हालत के प्रति जनरल डायर की उदासीनता, तितर-बितर हो रही और भागती हुई भीड़ पर मशीनगनों से गोलियों की बौछार, सार्वजनिक तौर पर लोगों को कोड़े लगाना, हाज़िरी के लिए हर रोज हजारों छात्रों के 16 मील पैदल चलकर जाने के लिए मजबूर करने वाला आदेश, 500 छात्रों और प्रोफ़ेसरों की गिरफ़्तारी और नज़रबन्दी, 5 से 7 वर्ष के स्कूल के बच्चों को झंडे की सलामी की परेड में हाजिर होने के लिए मजबूर करने वाला आदेश ··एक बारात की कोड़े से पिटायी, चिट्ठियों की सेंसर-व्यवस्था, बादशाही मस्जिद को छः दिन के लिए बन्द करना, बिना कोई ठोस कारण के लोगों की गिरफ़्तारी और नज़रबन्दी···इस्लामिया स्कूल में छः सबसे बड़े लड़कों की कोड़ों से सिर्फ इसलिए पिटायी कि वे
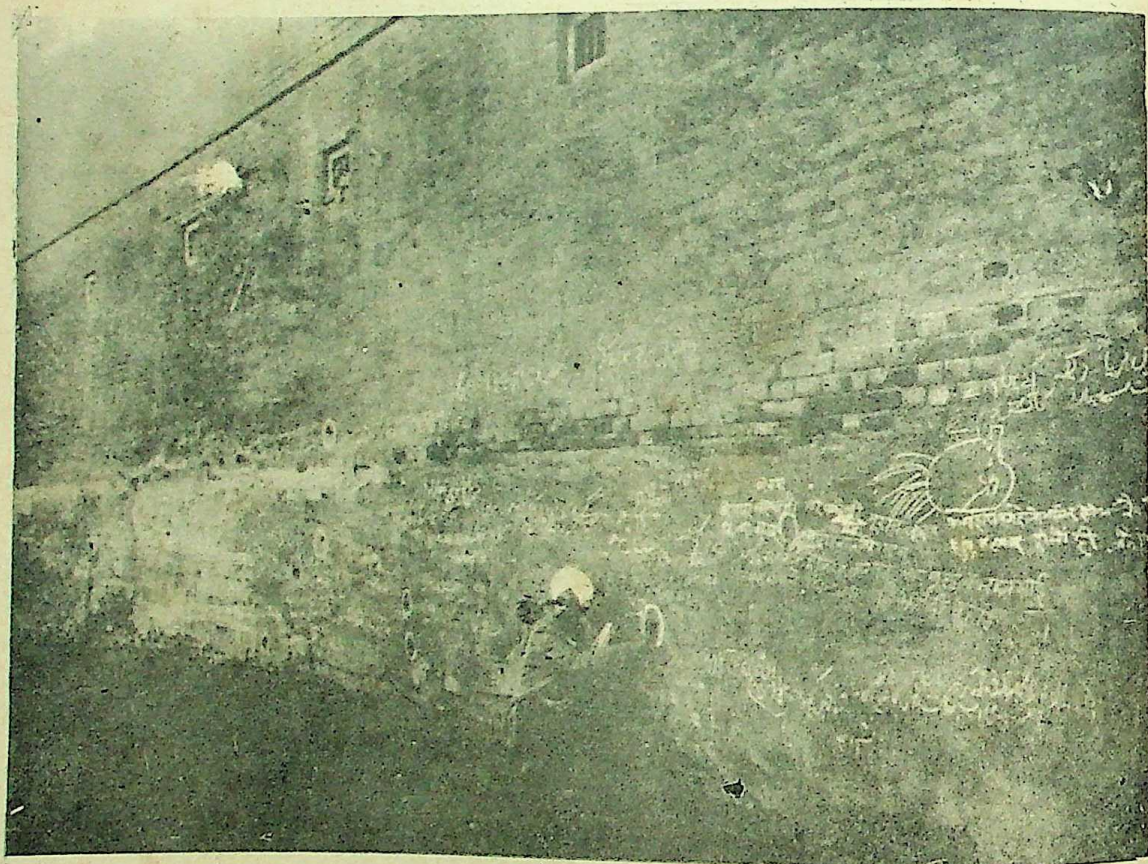
जलियांवाला बाग़
नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से

स्कूल के लड़के थे और आयु में बड़े थे, गिरफ़्तार लोगों को रखने के लिए एक बिना छप्पर के खुले पिंजरे का निर्माण, नए प्रकार के दण्डों आविष्कार, जैसे रेंगने का आदेश, कूदने-फांदने का आदेश तथा अन्य दंड जो किसी भी नागरिक या सैनिक-क़ानून प्रणाली में नहीं हैं, लोगों को हथकड़ी लगाकर तथा रस्सी से बांधकर खुले ट्रकों में पन्द्रह घंटों तक रखना, निहत्थे नागरिकों के ख़िलाफ़ हवाई जहाज़ों और लुइस बन्दूकों तथा वैज्ञानिक युद्ध के आधुनिकतम साज़-सामान का इस्तेमाल, गैरहाजिर व्यक्तियों को हाजिर होने के लिए मजबूर करने के उद्देश्य से लोगों को बंधक बनाना तथा सम्पत्ति छीन लेना और उसे बर्बाद कर देना, हिन्दु-मुस्लिम एकता के परिणामों को दर्शाने के उद्देश्य से हिन्दुओं और मुसलमानों की जोड़ियां बना कर उन्हे हथकड़ी डालना, भारतीयों के घरों में बिजली और पानी की आपूर्त्ति को बन्द करना, भारतीय घरों से पंखों को

हटाकर योरोपीय लोगों को इस्तेमाल के लिए देना, भारतीयों की सभी सवारियों को लेकर योरोपीय लोगों को इस्तेमाल के लिए देना मार्शल लॉ के प्रशासन के दौरान हुई अनेक घटनाओं में से कुछ हैं, जिन्होंने पंजाब में आतंक का राज्य स्थापित किया तथा लोगों का दिल दहला दिया।"

पंजाब की घटनाओं की खबर फैलते ही देश में हाहाकार मच गया। लोगों ने मानो एक कौंध में ही उस सारी कुरूपता तथा पाशविकता को देख लिया जो सभ्यता के उस अग्रमात्र के पीछे पड़ी थी, जिसका साम्राज्यवाद दावा करता था। जन-आघात को महान् कवि और मानवतावादी रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने व्यक्त किया। उन्होंने विरोध प्रकट करने के लिए अपना खिताब वापस कर दिया। उन्होंने घोषणा की :

"समय आ गया है जब सम्मान के तमगे अपमान के बेतुके संदर्भ में हमारे कलंक को सुस्पष्ट कर देते हैं, और जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं सभी विशेष उपाधियों से रहित होकर अपने देशवासियों के साथ खड़ा होना चाहता हूँ, जो अपनी तथाकथित तुच्छता के कारण ऐसी अप्रतिष्ठा सहने को मजबूर किए जा सकते हैं जो मानवप्राणियों के लिए मुनासिब नहीं है।"

ख़िलाफ़त और असहयोग आंदोलन (1919-22)

ख़िलाफ़त आंदोलन के साथ ही राष्ट्रवादी आंदोलन में एक नयी धारा आयी। हम पहले देख चुके हैं कि शिक्षित मुसलमानों की युवा पीढ़ी और परम्परागत धर्मतत्त्वज्ञ अधिकाधिक आमूल परिवर्तनवादी तथा राष्ट्रवादी होते जा रहे थे। लखनऊ समझौता हिन्दुओं और मुसलमानों की सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई के लिए आधार तैयार कर चुका था। रौलट ऐक्ट विरोधी राष्ट्रवादी आंदोलन ने सम्पूर्ण भारतीय जनता को समान रूप से प्रभावित किया था तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को राजनीतिक आंदोलन में एक साथ ला दिया था।

उदाहरणार्थ, संसार के सामने मानो राजनीतिक कार्रवाही में हिन्दू-मुस्लिम एकता के सिद्धान्त की घोषणा के लिए एक कट्टर आर्यसमाजी नेता स्वामी श्रद्धानन्द से मुसलमानों ने दिल्ली स्थित जामा मस्जिद के प्रवचन-मंच से उपदेश देने के लिए आग्रह किया जब कि मुसलमान डा० किचलू को अमृतसर में सिक्खों के पवित्र स्थान स्वर्ण मंदिर की चाभियाँ दे दी गयीं। अमृतसर में ऐसी राजनीतिक एकता सरकारी दमन के कारण स्थापित हो गयी थी। हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ हथकड़ी लगायी गयी और उन्हें साथ-साथ पेट के बल रेंगने के लिए मजबूर किया गया। हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ पानी पीने के लिए विवश किया गया जब कि आमतौर से कोई हिन्दू किसी मुसलमान के हाथ का पानी नहीं पीता था। इसी वातावरण में मुसलमानों के बीच राष्ट्रवादी प्रवृत्ति ने ख़िलाफ़त आंदोलन का रूप लिया। राजनीतिक रूप से जागरूक मुसलमान ऑटोमन (तुर्की) साम्राज्य के प्रति ब्रिटेन और उसके साथ संधिबद्ध राष्ट्रों के व्यवहार के आलोचक थे। ब्रिटेन और उसके साथ संधिबद्ध राष्ट्रों ने ऑटोमन साम्राज्य का बंटवारा कर दिया था और खास तुर्की से थ्रेस का इलाक़ा ले लिया था। यह ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज के पहले दिए गए वचन के विपरीत था, जिसने घोषणा की थी; "हम तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस की समृद्ध और प्रसिद्ध भूमि से वंचित नहीं करना चाहते, जहाँ मुख्यतः तुर्क जाति बसती है।" मुसलमानों ने यह भी महसूस किया कि तुर्की के सुलतान की स्थिति को, जिसे अनेक लोग खलीफ़ा या मुसलमानों का धार्मिक प्रधान कहते थे, कमज़ोर नहीं बनाया जाना चाहिए। जल्द ही अली बंधुओं, मौलाना आज़ाद, हकीम अजमल ख़ाँ, और हसरत मोहानी के नेतृत्व में एक ख़िलाफ़त कमिटी बनी, और देशव्यापी आंदोलन का आयोजन किया गया।

ऑल इंडिया ख़िलाफ़त कांफ्रेंस नवम्बर 1919 में दिल्ली में हुई जिसमें निर्णय किया गया कि जब तक सरकार उसकी माँगों को न मान ले तब तक सरकार के साथ कोई सहयोग नहीं किया जाए। उस समय मुस्लिम लीग राष्ट्रवादियों के नेतृत्व में काम कर रही थी। उसने कांग्रेस तथा राजनीतिक प्रश्नों पर उसके आंदोलनों का पूरा समर्थन किया। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने भी ख़िलाफत आंदोलन को हिन्दू-मुस्लिम एकता को मजबूत बनाने और मुस्लिम जनता को राष्ट्रीय आंदोलन में लाने का सुनहरा मौक़ा समझा। उन्होंने पूरी तरह समझ लिया कि ज़नता के विभिन्न हिस्से—हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई, पूंजीपति और मज़दूर, किसान और दस्तकार, महिलाएँ और युवक, तथा विभिन्न क्षेत्रों के क़बीले और

जनगण—अपनी विभिन्न माँगों के लिए संघर्ष के अनुभव से तथा यह देखकर कि विदेशी शासन उनके विरोध में खड़ा है, राष्ट्रीय आंदोलन में आयेंगे। गाँधीजी ने खिलाफ़त आंदोलन को "हिन्दुओं और मुसलमानों को एक सूत्रबद्ध करने के ऐसे अवसर के रूप में देखा जो सौ वर्षों में भी नहीं आयेगा।" उन्होंने 1920 के आरम्भ में ही घोषणा की कि खिलाफ़त का प्रश्न संवैधानिक सुधारों तथा पंजाब के जुल्मों के प्रश्नों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है और अगर तुर्की के साथ शान्ति स्थापित करने की शर्तें भारतीय मुसलमानों को संतुष्ट नहीं कर पायेंगी तो वे असहयोग आंदोलन शुरू करेंगे। वस्तुतः, गाँधीजी जल्द ही खिलाफ़त आंदोलन के एक नेता बन गए।

इस बीच सरकार ने रौलट ऐक्ट को रद्द करने, पंजाब की नृशंसताओं के लिए क्षतिपूर्ति करने, या स्वराज्य की लालसा को पूरा करने से इन्कार कर दिया। जून 1920 में इलाहाबाद में एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ जिसने

चित्तरंजन दास, एन० सी० केलकर, सत्यमूर्ति आदि 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के समय
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

स्कूलों, कालेजों और अदालतों का बहिष्कार करने का एक कार्यक्रम स्वीकृत किया। खिलाफ़त कमेटी ने 31 अगस्त 1920 को असहयोग आंदोलन शुरू किया। सबसे पहले उसमें गाँधीजी शामिल हुए। उन्होंने युद्ध के दौरान अपनी सेवाओं के लिए दिया गया क़ैसरे हिन्द पदक लौटा दिया।

कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सितम्बर 1920 में कलकत्ता में हुआ। इसके कुछ ही हफ्तों पहले कांग्रेस को घोर क्षति सहनी पड़ी थी—पहली अगस्त को 64 वर्ष की उम्र में लोकमान्य तिलक का देहान्त हो गया था। मगर उनका स्थान जल्द ही गाँधीजी, चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू ने ले लिया। कांग्रेस ने सरकार के

साथ तब तक असहयोग करने की गाँधीजी की योजना का समर्थन देने का निर्णय किया जब तक पंजाब और ख़िलाफ़त सम्बन्धी अन्यायों का निराकरण तथा स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। लोगों से सरकारी शिक्षा संस्थानों, अदालतों और विधान मण्डलों का बहिष्कार करने तथा खादी के उत्पादन के लिए चरखा-तकली चलाने तथा हाथ करघे का अभ्यास करने को कहा गया। सरकार और उसके क़ानूनों की अत्यन्त शान्तिपूर्ण ढंग से अवहेलना करने के इस निर्णय की पुष्टि दिसम्बर 1920 में नागपुर में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में की गयी। गाँधीजी ने नागपुर में घोषणा की : "ब्रिटिश जनता को इस बात के प्रति सतर्क रहना होगा कि अगर वह न्याय करना नहीं चाहती तो प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य होगा कि वह साम्राज्य को नष्ट कर दे।" नागपुर अधिवेशन ने कांग्रेस के संविधान में भी परिवर्तन किए। प्रान्तीय कांग्रेस समितियों को भाषायी क्षेत्रों के आधार पर पुनर्गठित किया गया। कांग्रेस का नेतृत्व एक कार्यकारिणी समिति के हाथों में दे दिया गया जिसमें अध्यक्ष और मंत्रियों सहित 15 सदस्यों की व्यवस्था की गई। उम्मीद की गयी कि इससे कांग्रेस को एक निरन्तर राजनीतिक संगठन के रूप में काम करने में सहायता मिलेगी और कार्यकारिणी समिति उसके प्रस्तावों को कार्यान्वित करने वाला यंत्र होगी। कांग्रेस की सदस्यता उन सब पुरुष-स्त्रियों के लिए खोल दी गयी जिनकी उम्र 21 वर्ष या उससे अधिक हो और जो वार्षिक चंदे के रूप में चार आने देने को तैयार हों। सदस्यता के लिए उम्र की सीमा को 1921 में घटा कर 18 कर दिया गया।

अब कांग्रेस ने अपना चरित्र बदल दिया। विदेशी शासन से आज़ादी के लिए जनता के राष्ट्रीय संघर्ष में वह जनता का संगठन तथा नेतृत्व करने लगी। चारों ओर उल्लास की लहर फैल गयी। राजनीतिक आजादी भले ही वर्षों बाद आए मगर जनता ने अपनी गुलामी की मनोवृत्ति को त्यागना शुरू कर दिया। लगा कि भारत जिस हवा में साँस ले रहा था वह हवा ही बदल गयी है। उन दिनों उल्लास और उत्साह कुछ विशेष प्रकार का था क्योंकि विशाल भारत जगने लगा था। इसके अलावा, हिन्दू और मुसलमान एक साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ने लगे थे। उसी समय कुछ पुराने नेताओं ने कांग्रेस को छोड़ दिया। वे राष्ट्रीय आंदोलन की नयी दिशा को नापसंद करते थे। वे तब भी आंदोलन और राजनीतिक कार्य के परम्परागत तरीक़ों को ही पसंद करते थे जो क़ानून की चारदीवारी के अन्दर ही सीमित थे। वे जनता को संगठित करने हड़तालों, सत्याग्रह, क़ानूनों को तोड़ने, जेल जाने तथा जुझारू संघर्ष के अन्य रूपों के विरोधी थे। उस अवधि के दौरान कांग्रेस छोड़ने वाले प्रमुख नेताओं में थे : मुहम्मद अली जिन्ना, जी० एस० खापर्डे, बिपिन चंद्र पाल, और एनी बेसेंट।

1921 और 1922 के दौरान भारतीय जनता का एक अभूतपूर्व आंदोलन हुआ। हज़ारों छात्रों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों को छोड़कर राष्ट्रीय स्कूलों और कालेजों में प्रवेश लिया। इसी समय जामिया मिल्लिया इस्लामिया (अलीगढ़), बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ का जन्म हुआ। जामिया मिल्लिया को बाद में दिल्ली में ले जाया गया। इन राष्ट्रीय कालेजों और विश्वविद्यालयों के अनेक विशिष्ट शिक्षकों में आचार्य नरेन्द्र देव, डा० ज़ाकिर हुसैन और लाला लाजपतराय भी थे। चितरंजन दास जो देशबन्धु के नाम से लोकप्रिय थे, मोतीलाल नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद सहित सैकड़ों वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। असहयोग आंदोलन का ख़र्च चलाने के लिए तिलक स्वराज्य फंड शुरू किया गया जिस

PUBLIC MEETING

AND

BONFIRE OF FOREIGN CLOTHES

Will take place at the Maidan near Elphinstone Mills
Opp. Elphinstone Road Station . . .

On SUNDAY the 9th Inst. at 6-30 P. M.

When the Resolution of the Karachi Khilafat Conference and another Congratulating Ali Brothers and others will be passed.

All are requested to attend in Swadeshi Clothes of Khadi. Those who have not yet given away their Foreign Clothes are requested to send them to their respective Ward Congress Committees for inclusion in the

GREAT BONFIRE.

बॉम्बे क्रोनिकल के 6 अक्तूबर 1921 के अंक में प्रचार के लिए प्रकाशित एक पोस्टर
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

में छः महीने के अन्दर ही एक करोड़ रुपए से अधिक की राशि जमा हो गयी। महिलाओं ने बड़ा उत्साह दिखलाया और उन्होंने उदारतापूर्वक अपने गहने दिए। सारे देश में विदेशी कपड़े की होली जलायी गयी। खादी जल्द ही आज़ादी का प्रतीक बन गयी। जुलाई 1921 में ऑल इंडिया खिलाफ़त कमेटी ने एक प्रस्ताव पास कर घोषित किया कि किसी भी मुसलमान को ब्रिटिश भारत की फ़ौज में नहीं काम करना चाहिए। सितम्बर में अली बंधुओं को 'राजद्रोह' के अभियोग में गिरफ़्तार कर लिया गया। तुरन्त ही, गाँधीजी ने इस प्रस्ताव को सैकड़ों सभाओं में दुहराने का आह्वान किया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के पचास सदस्यों ने इसी तरह की घोषणा की कि किसी भी भारतीय को ऐसी सरकार की सेवा नहीं करनी चाहिए जो भारत को सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक दृष्टि से पतन की ओर ले जा रही हो। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने भी इसी तरह का वक्तव्य दिया।

अब कांग्रेस ने आंदोलन को ऊँचे स्तर पर ले जाने का निर्णय किया। उसने किसी भी प्रान्तीय कांग्रेस समिति को सविनय अवज्ञा या करबंदी सहित, ब्रिटिश क़ानूनों की अवज्ञा करने की अनुमति दे दी बशर्ते कि उसके विचार में वहाँ की जनता उस कार्रवाई के लिए तैयार हो।

सरकार ने फिर दमन का सहारा लिया। कांग्रेस और खिलाफ़त के स्वयंसेवक एक साथ क़वायद करने तथा इस प्रकार नीचे के स्तरों पर हिन्दू और मुस्लिम राजनीतिक कार्यकर्ताओं को एक जुट करने लगे थे। सरकार ने दोनों संस्थाओं को ग़ैरकानूनी क़रार दिया। गाँधीजी को छोड़कर बाकी सारे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रवादी नेता 3,000 अन्य लोगों के साथ 1921 के अन्त तक जेल में बन्द कर दिए गए थे। नवम्बर 1921 में ब्रिटिश राजसिंहासन के उत्तराधिकारी प्रिन्स ऑफ़ वेल्स के सामने भारत के उसके दौरे के क्रम में विशाल प्रदर्शन हुए। उनसे सरकार ने भारत आकर जनता और राजाओं के बीच निष्ठा जागृत करने का अनुरोध किया था। बम्बई में सरकार ने प्रदर्शन को दबाने की कोशिश की जिसमें 53 व्यक्तियों की जानें गयीं तथा करीब 400 से अधिक लोग घायल हो गए। दिसम्बर 1921 में अहमदाबाद में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें "जब तक पंजाब और खिलाफ़त संबंधी अन्यायों का निराकरण तथा स्वराज्य की स्थापना नहीं हो जाती तब तक अपेक्षाकृत अधिक उत्साह के साथ अहिंसक असहयोग के कार्यक्रम को चलाने के कांग्रेस के अटल इरादे" की दृढ़तापूर्वक पुष्टि की गयी। प्रस्ताव ने सभी भारतीयों विशेषकर छात्रों से "स्वयंसेवी संगठनों में शामिल होकर चुपचाप और बिना किसी प्रदर्शन के अपने आपको गिरफ़्तारी के लिए प्रस्तुत करने" का आग्रह किया। ऐसे सभी सत्याग्रहियों को "कथनी और करनी में अहिंसक रहने," हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, पारसियों, ईसाइयों और यहूदियों के बीच एकता को बढ़ावा देने और स्वदेशी को व्यवहार में अपनाने तथा केवल खादी पहनने की प्रतिज्ञा करनी थी। एक हिन्दू स्वयंसेवक को अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ सक्रिय रूप से संघर्ष करना था। प्रस्ताव ने जनता से, जब भी सम्भव हो तब, अहिंसक रूप से व्यक्तिगत या जन सविज्ञा आंदोलन चलाने का भी आह्वान किया।

लोग अब अगले संघर्ष के लिए आह्वान की अधीरतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। आंदोलन ने जनता के बीच गहरी जड़ें जमा ली थीं। यू० पी० और बंगाल में हज़ारों किसान असहयोग आंदोलन के आह्वान पर आगे आए थे। पंजाब में गुरुद्वारों से भ्रष्ट महंतों को निकाल बाहर करने के लिए सिक्ख अकाली आंदोलन चला रहे थे। मालाबार (उत्तरी केरल) में मोपला (मुसलमान किसान) एक शक्तिशाली ज़मींदार विरोधी आंदोलन में लगे हुए थे। फ़रवरी 1919 में वायसराय ने भारत मंत्री को लिखा: "शहरों में निम्न वर्ग असहयोग आंदोलन से गम्भीर रूप में प्रभावित हुए हैं ···· कतिपय क्षेत्रों, विशेषकर असम घाटी के हिस्सों, संयुक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा तथा बंगाल में किसान प्रभावित हुए हैं।" महात्मा गाँधी ने पहली फ़रवरी 1922 को घोषणा की कि अगर सात दिनों के अन्दर राजनीतिक बंदी नहीं छोड़े जाते और प्रेस को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त नहीं किया जाता तो वे करबंदी सहित सविनय अवज्ञा आंदोलन बड़े पैमाने पर शुरू करेंगे।

मगर संघर्ष की मनोदशा जल्द ही पीछे हटने की मनोदशा में बदल गयी। यू० पी० के देवरिया ज़िले के

चौरी चौरा गाँव में 5 फ़रवरी को 3,000 किसानों के कांग्रेस के जलूस पर पुलिस ने गोलियाँ चलायीं। क्रुद्ध भीड़ ने थाने पर हमला किया। जिसमें 22 पुलिस वालों की जानें गयीं। गाँधीजी ने इस घटना को बड़े गम्भीर रूप में लिया। इस घटना ने उन्हें विश्वास दिला दिया कि राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं ने अहिंसा को न ठीक तरह से समझा है और न ही उसे व्यवहार में लाना सीखा है। उनका विश्वास था कि इसके बिना सविनय अवज्ञा आंदोलन सफल नहीं हो सकता। इस बात के अलावा कि उनका हिंसा से कोई वास्ता नहीं होगा, उनका विश्वास था कि
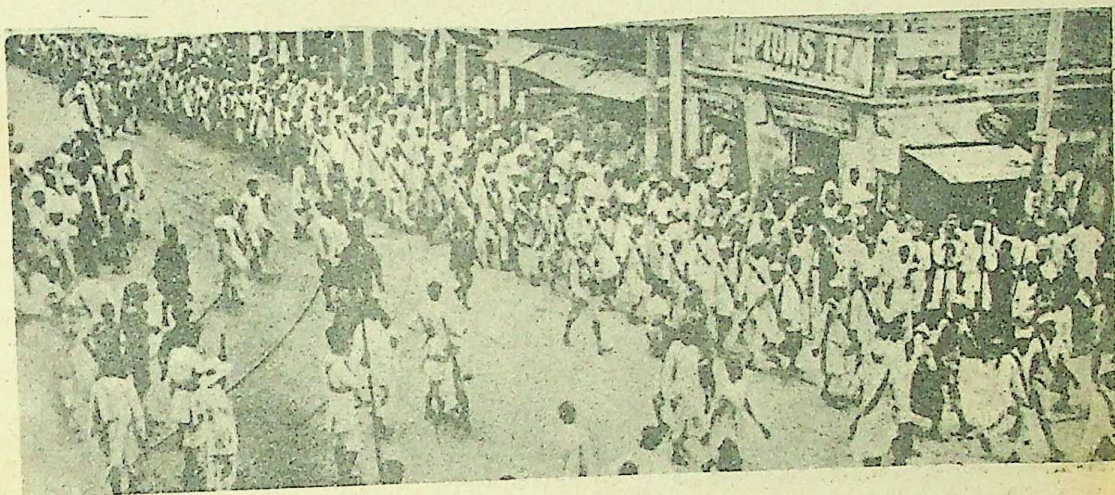
क़लकत्ता की सड़कों पर असहयोग आंदोलन के स्वयंसेवक
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

अंग्रेज़ बड़ी आसानी से किसी हिंसक आंदोलन को कुचल देंगे क्योंकि जनता ने सरकारी दमन का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त शक्ति और दम अपने अन्दर पैदा नहीं किया है। इसलिए उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन को स्थगित करने का निर्णय किया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक गुजरात के बारदौली में 12 फ़रवरी को हुई जिसमें प्रस्ताव पास कर उन सभी कार्यों को बन्द कर दिया गया जिनके फलस्वरूप क़ानूनों को तोड़ा जा सकता था। कांग्रेस, वालों से आग्रह किया गया कि वे अपना समय रचनात्मक कार्यक्रम—चर्खा, राष्ट्रीय स्कूलों तथा आत्मसंय में लगायें।

बारदौली प्रस्ताव ने देश को हक्का-बक्का कर दिया और राष्ट्रवादियों के बीच उसपर मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई। कुछ लोगों में गाँधीजी में अन्तर्निहित आस्था थी मगर अन्य लोगों ने पीछे हटने के इस निर्णय को नापसन्द किया। कांग्रेस के एक लोकप्रिय और युवा नेता सुभाष बोस ने अपनी आत्मकथा 'दि इंडियन स्ट्रगल' में लिखा है:

"ठीक उस समय जब जन उत्साह अपनी पराकाष्ठा पर, था पीछे हटने का आदेश देना राष्ट्रीय विपत्ति से कुछ भी कम नहीं था। महात्मा के प्रधान सहयोगी देशबन्धु दास, पंडित मोती लाल नेहरू और लाला लाजपत राय जो सब जेल में थे, जनता की नाराज़गी में हिस्सेदार थे। मैं उस समय देशबन्धु के साथ था और मैंने देखा कि महात्मा गाँधी ने जिस तरह बार-बार चपला किया है उस पर वे गुस्से तथा दुःख के कारण आपे से बाहर थे।"

जवाहरलाल नेहरू जैसे अनेक अन्य लोगों को भी इसी तरह की प्रतिक्रिया हुई। मगर जनता तथा नेताओं का गाँधीजी में विश्वास था और वे उनका खुलेआम विरोध नहीं करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने बिना किसी खुले विरोध के उनका निर्णय मान लिया। प्रथम असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन वास्तविक रूप से ख़त्म हो गया।

नाटक का आख़िरी अंक तब प्रदर्शित किया गया जब सरकार ने स्थति का पूरा फ़ायदा उठाने तथा करारी चोट

करने का फ़ैसला किया। उसने 10 मार्च 1922 को महात्मा गाँधी को गिरफ़्तार कर लिया तथा उनपर राजद्रोह फैलाने का अभियोग लगाया। गाँधीजी को छः साल की सज़ा दे दी गयी। गाँधीजी ने अदालत में जो बयान दिया उसने उनके मुकदमें को ऐतिहासिक बना दिया। उन्होंने अपने ऊपर लगाए गए अभियोगों को स्वीकार करते हुए, अदालत से निवेदन किया कि उन्हें "उस अपराध के लिए सबसे बड़ी सज़ा दी जाय जो कानून के अनुसार जानबूझ कर किया गया अपराध है और मुझे वह अपराध किसी नागरिक का परम कर्तव्य जान पड़ता है।" उन्होंने विस्तार से उस प्रक्रिया का वर्णन किया जिसके अनुसार वे स्वयं ब्रिटिश शासन के एक समर्थक से उसके सबसे बड़े कटु आलोचक बन गए। उन्होंने कहा :

> "मैं अनिच्छापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध ने भारत को पहले की अपेक्षा राजनीतिक और आर्थिक तौर पर अधिक लाचार बना दिया है। निहत्थे भारत में किसी भी आक्रमण का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं है··· वह इतना ग़रीब हो गया है कि अकालों का मुकाबला करने की शक्ति उसके पास नहीं है···शहरवासियों को कुछ भी पता नहीं है कि आधा पेट खाने वाली भारतीय जनता किस प्रकार धीरे-धीरे निर्जीव होती जा रही है। वे शायद ही जानते हैं कि जो तुच्छ आराम उन्हें मिला है वह उस दलाली के रूप में है जो विदेशी शासक के लिए काम करने का पुरस्कार है। उनका काम है विदेशी शासक के लिए मुनाफ़ा और अपने लिए दलाली जनता को चूस कर प्राप्त की जाय। वे शायद ही इस बात को महसूस कर पाते हैं कि ब्रिटिश भारत में क़ानून द्वारा स्थापित सरकार को जनता के शोषण के लिए चलाया जा रहा है। कोई भी कुतर्क आँकड़े संबंधी कोई भी बाज़ीगरी उस तथ्य पर पर्दा नहीं डाल सकती जो अनेक गाँवों में हमारी अपनी आँखों के सामने नरकंकाल पेश करते हैं······ हमारी राय में, इस प्रकार, कानून के प्रशासन का, जाने अनजाने, शोषक के फ़ायदे के लिए दुरुपयोग हो रहा है। सबसे दुर्भाग्य की बात यह है कि देश के प्रशासन में लगे अंग्रेज और उनके भारतीय सहयोगी यह नहीं जानते कि जिस अपराध का वर्णन करने का मैंने प्रयास किया है वे उसे करने में लगे हुए हैं। मुझे विश्वास है कि अनेक अंग्रेज और भारतीय अफ़सर ईमानदारीपूर्वक यह समझते हैं कि वे संसार की एक सर्वोत्तम प्रणाली को लागू कर रहे है, और भारत लगातार भले ही धीमी गति से ही सही, प्रगति कर रहा है। वे यह नहीं जानते कि एक ओर आतंकवाद की जटिल मगर प्रभावकारी प्रणाली तथा संगठित रूप से बल-प्रदर्शन और दूसरी ओर बदला लेने या आत्मरक्षा की सब शक्तियों के अपहरण ने जनता को नपुंसक बना दिया है तथा उसे नकलची बनने के लिए प्रेरित किया है।"

निष्कर्ष रूप में, गाँधीजी ने यह धारणा व्यक्त की कि "बुराई के साथ असहयोग उतना ही बड़ा कर्तव्य है जितना अच्छाई के साथ सहयोग।" जज ने उल्लेख किया कि वह गाँधीजी को वही सज़ा दे रहा है जो 1908 में लोकमान्य तिलक को दी गयी थी।

जल्द ही खिलाफ़त के प्रश्न की प्रासंगिकता भी समाप्त हो गयी। तुर्की के लोगों ने मुस्तफ़ा कमाल पाशा के नेतृत्व में नवम्बर 1922 में विद्रोह कर दिया और सुलतान से राजनीतिक सत्ता छीन ली। कमाल पाशा ने तुर्की को आधुनिक तथा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने के लिए कई कदम उठाए। उसने ख़लीफ़ा का पद खत्म कर दिया और संविधान से इस्लाम को निकाल कर राज्य को धर्म से अलग कर दिया। उसने शिक्षा का राष्ट्रीयकरण किया, औरतों को काफ़ी अधिकार दिए, यूरोप की जैसी कानूनी संहिताएं लागू कीं और कृषि के विकास तथा आधुनिक उद्योगों की स्थापना के लिए कदम उठाए। इन सब कदमों ने खिलाफ़त आंदोलन की रीढ़ तोड़ दी।

खिलाफ़त आंदोलन ने असहयोग आंदोलन में एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। वह शहरी मुसलमानों को राष्ट्रवादी आंदोलन में ले आया था तथा, इस प्रकार वह उन दिनों देश में व्याप्त राष्ट्रवादी उत्साह और उल्लास के लिए अंशतः ज़िम्मेदार था। कुछ इतिहासकारों ने राजनीति को धर्म के साथ मिलाने के कारण उसकी आलोचना की है। उनका कहना है कि इसी कारण राजनीति में धार्मिक चेतना आयी और आगे चलकर साम्प्रदायिकता की ताकतें मज़बूत हुईं। यह कुछ हद तक सही है। निःसंदेह राष्ट्रवादी आंदोलन ने एक ऐसी माँग उठाकर कोई बुरा काम नहीं किया जिससे केवल मुसलमान ही प्रभावित थे। यह अवश्यम्भावी था कि समाज के विभिन्न भाग अपनी ख़ास माँगों और अनुभव के ज़रिए स्वतंत्रता की आवश्यकता को समझ पायेंगे। मगर राष्ट्रवादी नेतृत्व मुसलमानों की धार्मिक-राजनीतिक चेतना को धर्मनिरपेक्ष चेतना के अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर तक उठाने में कुछ हद तक असफल रहा। साथ ही इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि खिलाफ़त आंदोलन खलीफ़ा के प्रति चिन्ता की अपेक्षा मुसलमानों की अधिक व्यापक भावनाओं का प्रतीक था। दरअसल, खिलाफ़त आंदोलन मुसलमानों के

बीच साम्राज्यवाद विरोधी भावनाओं के सामान्य प्रसार का एक पहलू था। ख़िलाफ़त के प्रश्न पर इन भावनाओं की अभिव्यक्ति मूर्त रूप में हुई। आख़िरकार भारत में तब कोई विरोध नहीं हुआ जब 1924 में कमाल पाशा ने ख़लीफ़ा का पद ख़त्म कर दिया।

यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन असफल हो गया था तथापि इससे राष्ट्रीय आंदोलन कई तरह से मज़बूत बन गया था। राष्ट्रवादी भावनाएँ और राष्ट्रीय आंदोलन अब देश के सुदूर भागों में भी फैल गए थे। शिक्षित भारतीयों ने अपनी जनता पर भरोसा रखना सीख लिया था। भारतीय जनता में भय की भावना अब नहीं रह गयी थी—भारत में ब्रिटिश सत्ता की पाशविक शक्ति अब उन्हें नहीं डरा सकती थी। उन्होंने अपार आत्मविश्वास तथा आत्म
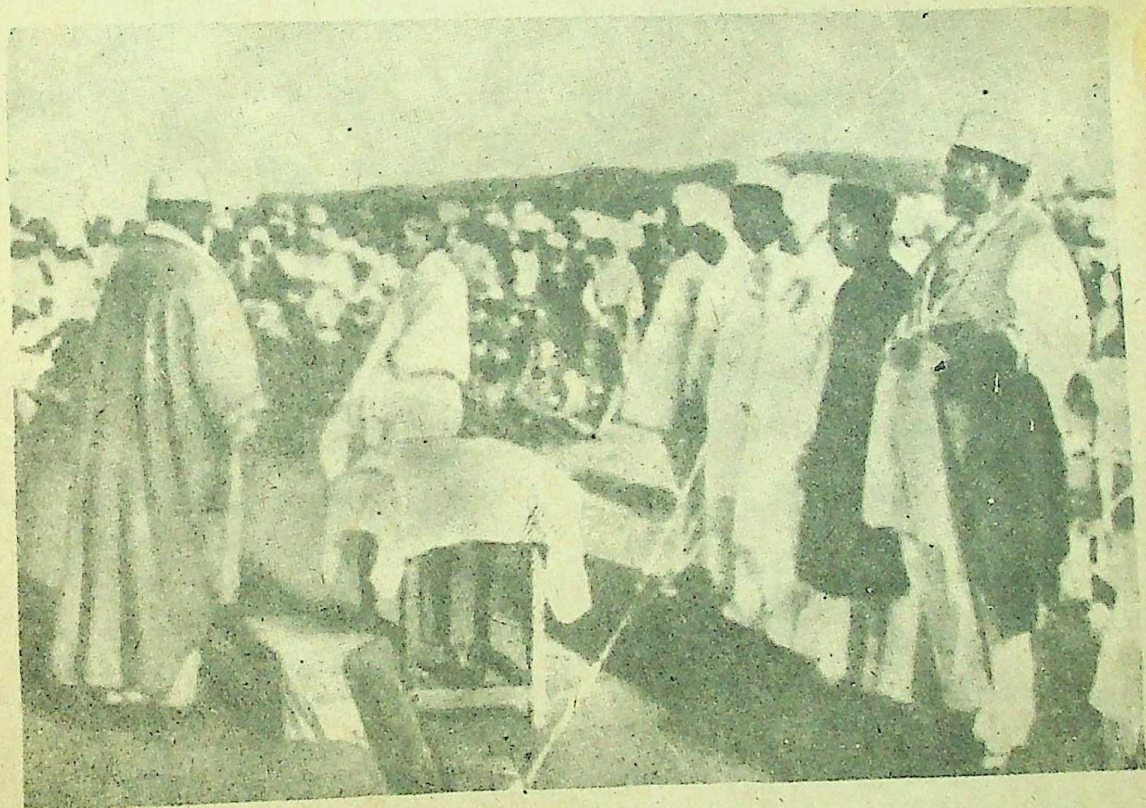
कांग्रेस के बेलगाँव अधिवेशन (1924) में अली बंधुओं के साथ गाँधीजी
(फोटो अनुभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार के सौजन्य से)

सम्मान प्राप्त कर लिया था, जो न किसी पराजय से और न कभी पीछे हटने के कारण हिलाए जा सकते थे। इस की अभिव्यक्ति गाँधीजी ने इस घोषणा के ज़रिए की कि "1920 में जो लड़ाई शुरू हुई वह करो या मरो की लड़ाई है, भले ही वह एक महीने या एक साल या कई महीने या कई साल चले।"

स्वराज्यवादी

सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लिए जाने के बाद विघटन और अव्यवस्था का बोलबाला होने लगा। उत्साह काफ़ूर हो गया और कांग्रेस पार्टी के सदस्यों के बीच

निराशा और अनुत्साह व्याप्त हो गया। इसके अलावा, नेताओं के बीच गम्भीर मतभेद पैदा हो गए।

अब चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू ने एक नया मार्ग दर्शन दिया। उन्होंने बदली हुई स्थितियों में राजनीतिक गतिविधि की एक नयी दिशा की वकालत की। उन्होंने कहा राष्ट्रवादियों को लेजिस्लेटिव काउन्सिलों का बहिष्कार समाप्त करना चाहिए। उनमें प्रवेश कर सरकारी योजनाओं के अनुसार उन्हें काम करने नहीं देना चाहिए तथा उनकी कमजोरियों का पर्दाफ़ाश करना चाहिए और उनका इस्तेमाल सार्वजनिक उत्साह बढ़ाने के लिए करना चाहिए। सरदार वल्लभ भाई पटेल, डा० अन्सारी, बाबू राजेन्द्र प्रसाद तथा अन्य लोगों ने, जिन्हें "अपरिवर्तनवादी" कहा जाता था, काउन्सिल प्रवेश का विरोध किया। उन्होंने चेतावनी दी कि विधायी राजनीति राष्ट्रवादी जोश को कमज़ोर बनायेगी तथा नेताओं के बीच प्रतिद्वन्द्विता पैदा करेगी। इसलिए वे चर्खा कातने, संयम, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा अस्पृश्यता-निवारण के रचनात्मक कार्यक्रम पर ज़ोर देते रहे।

दिसम्बर 1922 में दास और मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस-खिलाफ़त स्वराज्य पार्टी बनायी। दास उसके अध्यक्ष और मोतीलाल नेहरू उसके एक सचिव बने। उस ने एक मुद्दे यानी काउन्सिल चुनावों में भाग लेने के अलावा कांग्रेस के कार्यक्रम को पूरी तरह स्वीकार कर लिया।

स्वराज्यवादी और "अपरिवर्तनवादी" अब भयंकर राजनीतिक विवाद में पिल पड़े। उनका मतभेद इतना गहरा था कि गांधीजी भी जो 5 फ़रवरी 1924 को स्वास्थ्य संबंधी कारणों से रिहा कर दिए गए थे, उनको एक सूत्रबद्ध करने के अपने प्रयासों में विफल रहे। मगर उनकी सलाह मानकर दोनों गुटों ने कांग्रेस में रहना स्वीकार कर लिया यद्यपि उन्हें अपने अलग-अलग तरीकों से काम करने की छूट दे दी गयी।

यद्यपि स्वराज्यवादियों को तैयारी करने का बहुत कम मौका मिला तथापि उन्होंने नवम्बर 1923 के चुनाव में बहुत अच्छी विजय प्राप्त की। सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली के 101 निर्वाचित स्थानों में से उन्हें 42 स्थान मिले। अन्य भारतीय गुटों के सहयोग से उन्होंने सेंट्रल असेम्बली तथा कई प्रान्तीय काउन्सिलों में सरकार को बार-बार हराया। मार्च 1925 में वे एक अग्रणी राष्ट्रवादी नेता विट्ठलभाई पटेल को सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली का स्पीकर निर्वाचित कराने में सफल हो गए। मगर वे सत्तावादी भारत सरकार की नीतियों को बदलने में विफल रहे और मार्च 1926 में उन्होंने सेंट्रल असेम्बली से बाहर आ जाना आवश्यक समझा। इससे भी बदतर बात यह हुई कि वे जनता या मध्यम वर्गों को सक्रिय राजनीति में लाने में असफल रहे। परन्तु "अपरिवर्तनवादी" भी इस दिशा में सफल नहीं हुए। वस्तुतः दोनों गुट फैलते हुए राजनीतिक क्षय को नहीं रोक सके। मगर चूंकि दोनों पक्षों के बीच कोई बुनियादी मतभेद नहीं था और आपस में सौहार्द था एक दूसरे के साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र को मानते थे इसलिए बाद में जब एक नए राष्ट्रीय संघर्ष के लिए स्थितियाँ अनुकूल हो गयीं तब वे तुरन्त एक सूत्रबद्ध हो सके। इस बीच, जून 1925 में देशबंधु चितरंजन दास की मृत्यु से राष्ट्रवादी आंदोलन तथा स्वराज्यवादियों को दुःखद धक्का लगा।

जैसे-जैसे असहयोग आंदोलन क्षीण होता गया तथा जनता निराशा महसूस करने लगी, वैसे-वैसे साम्प्रदायिकता उभरने लगी। अपने विचारों का प्रचार करने के लिए साम्प्रदायिक तत्वों ने स्थिति का फ़ायदा उठाया और 1923 के बाद देश बार-बार साम्प्रदायिक दंगों में उलझने लगा। मुस्लिम लीग और 1917 में स्थापित हिन्दू महासभा फिर सक्रिय हो गयीं। परिणामस्वरूप इस बढ़ते हुए विचार को गहरा धक्का लगा कि सम्पूर्ण जनता सबसे पहले भारतीय है। यहाँ तक कि स्वराज्य पार्टी, जिसके मुख्य नेता मोतीलाल नेहरू और दास थे साम्प्रदायिकता के कारण विभाजित हो गयी। 'अनुक्रियाशीलवादी' (Responsivists) नामक एक नया गुट आया। इस गुट ने सरकार को सहयोग देने का वचन दिया जिससे तथाकथित हिन्दू-हितों की रक्षा हो सके। इस गुट में मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय और एन० सी० केलकर थे। उन्होंने मोतीलाल नेहरू पर हिन्दुओं को धोखा देने, हिन्दू-विरोधी होने, गोहत्या का समर्थन करने तथा गोमांस खाने का अभियोग लगाया। मुस्लिम साम्प्रदायवादी भी नौकरियों के लिए

झगड़ने में पीछे नहीं रहे। गाँधीजी ने बार-बार ज़ोर देकर कहा कि "हिन्दू-मुस्लिम एकता को हमेशा और सब स्थितियों में बनाए रखना हमारा ध्येय होना चाहिए।" उन्होंने हस्तक्षेप कर स्थिति में सुधार लाने की कोशिश की। सितम्बर 1924 में उन्होंने मौलाना मोहम्मद अली के दिल्ली स्थित मकान में साम्प्रदायिक दंगों द्वारा प्रकट अमानवीयता के लिए प्रायश्चितस्वरूप 21 दिनों का अनशन किया। मगर उनके प्रयास परिणामहीन रहे।

निःसंदेह देश की स्थिति बड़ी अंधकारमय लगी। देश में आम राजनीतिक उदासीनता थी, गाँधीजी एकान्तवास कर रहे थे, स्वराज्यवादियों में फूट पड़ गयी थी तथा साम्प्रदायिकता फल-फूल रही थी। गाँधीजी ने मई 1927 में लिखा : "मेरी एकमात्र आशा प्रार्थना तथा प्रार्थना के प्रति उत्तर में निहित है।" मगर इस बीच राष्ट्रीयता की लहर उठ रही थी। नवम्बर 1927 में साइमन कमीशन की स्थापना की घोषणा होते ही भारत फिर अंधकार से बाहर निकल आया और उसने राजनीतिक संघर्ष के एक नए युग में प्रवेश किया।

द्वितीय असहयोग आंदोलन

राष्ट्रीय समुत्थान के अनेक लक्षण 1927 में दिखायी देने लगे और इस बात के प्रमाण मिलने लगे कि जनता मार्गदर्शन की प्रतीक्षा कर रही है। राजनीतिक तौर पर इस शक्ति तथा ऊर्जा की अभिव्यक्ति कांग्रेस के अन्दर जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस के नेतृत्व में एक नए वामपक्ष के उदय के रूप में हुई। दोनों ने जल्द ही देश का दौरा किया और समाजवाद की नयी विचारधारा का प्रचार किया। उन्होंने साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और ज़मींदारी प्रथा पर प्रहार किया तथा जनता से कहा कि अगर उसे आज़ादी चाहिए तो वह ब्रिटिश संसद से उपहार के रूप में नहीं मिलेगी। जल्द ही छात्र और अन्य युवा लोग उनकी पूजा करने लगे।

भारतीय नौजवान सक्रिय हो रहे थे। सारे देश में युवा लीगों की स्थापना होने लगी तथा छात्र सम्मेलन हुए। छात्रों का पहला अखिल बंगाल सम्मेलन अगस्त 1928 में हुआ जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की। इसके बाद देश में अनेक छात्र-संस्थाएँ बनीं। पहली ऑल इंडिया यूथ कांग्रेस दिसम्बर में हुई। इसके अलावा, युवा भारतीय राष्ट्रवादी धीरे-धीरे समाजवाद की ओर झुकने लगे और देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक बुराइयों के लिए आमूल परिवर्तनकारी हल
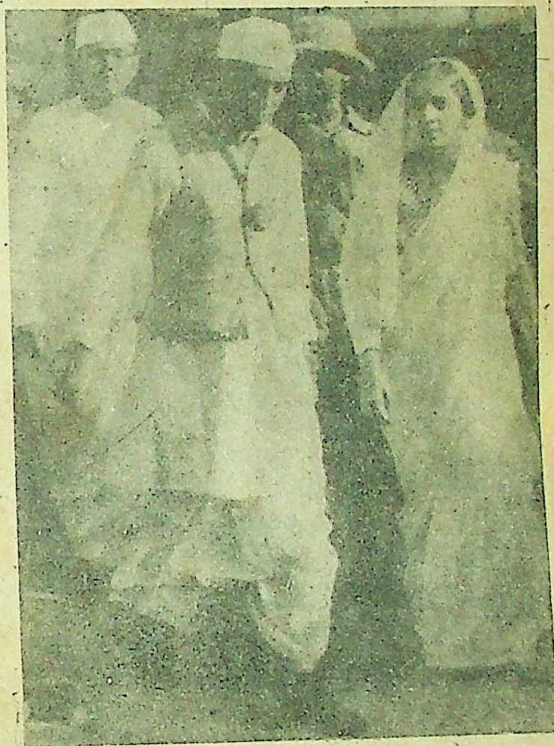
कांग्रेस की एक सभा में भाग लेने के लिए जाते हुए जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

सुझाने लगे। उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता का कार्यक्रम रखा और उसका जनता के बीच प्रचार किया। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट गुटों का जन्म हुआ। रूसी क्रान्ति के उदाहरण ने अनेक युवा राष्ट्रवादियों में दिलचस्पी पैदा कर दी। उनमें से अनेक गाँधीवादी राजनीतिक आदर्शों और कार्यक्रमों से असंतुष्ट थे। वे मार्गदर्शन के लिए समाजवादी विचारधारा की ओर झुके। कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल के नेतृत्व में चुने जाने वाले पहले भारतीय मानवेन्द्र नाथ राय थे। सरकार ने 1924 में

मुजफ़्फ़र अहमद और श्रीपाद अमृत डांगे को गिरफ्तार कर लिया और उन पर कम्युनिस्ट विचारों के प्रचार का अभियोग लगाया। उन पर अन्य लोगों के साथ कानपुर षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया गया। 1925 में कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इसके अलावा, देश के विभिन्न भागों में कई मज़दूर और किसान पार्टियों की स्थापना हुई। इन पार्टियों और गुटों ने मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट विचारों का प्रचार किया।

किसान और मज़दूर भी एक बार फिर उद्वेलित हो रहे थे। उत्तर प्रदेश में काश्तकारी कानूनों में संशोधन के लिए किसानों के बीच बड़े पैमाने पर आंदोलन चल रहा था। किसान कम लगान, बेदखली से सुरक्षा और ऋणग्रस्तता से राहत की मांग कर रहे थे। गुजरात में किसानों ने भूराजस्व बढ़ाने के सरकारी प्रयासों का विरोध किया। प्रसिद्ध बारदोली सत्याग्रह इसी समय हुआ। सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में किसानों ने कर-बंदी आंदोलन किया और अंत में, वे अपनी मांग को मनवाने में सफल हुए। ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन आंदोलन का विकास तेज़ी से हुआ। 1928 के दौरान अनेक हड़तालें हुईं। खड़गपुर की रेलवे वर्कशॉप में दो महीने लम्बी हड़ताल चली। साउथ इंडियन रेलवे मज़दूरों ने भी हड़ताल की। जमशेदपुर स्थित टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी में हड़ताल हुई। इस हड़ताल को समाप्त करने में सुभाष चंद्र बोस ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण हड़ताल बम्बई की कपड़ा मिलों में हुई। लगभग 1,50,000 मज़दूर पाँच महीने से भी अधिक तक हड़ताल पर रहे। इस हड़ताल का नेतृत्व कम्युनिस्टों ने किया। पाँच लाख से अधिक मज़दूरों ने 1928 के दौरान हुई हड़तालों में भाग लिया।

नयी मनोभावना की एक अन्य अभिव्यक्ति क्रान्तिकारी आतंकवादी आंदोलन की बढ़ती हुई गतिविधियों के माध्यम से हुई। यह आंदोलन धीरे-धीरे समाजवादी मोड़ लेता जा रहा था। प्रथम असहयोग आंदोलन की असफलता ने आतंकवादी आंदोलन को फिर से जीवित कर दिया था। एक अखिल भारतीय सम्मेलन के बाद अक्तूबर 1924 में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन की स्थापना एक सशस्त्र क्रान्ति आयोजित करने के लिए हुई। बड़ी संख्या में आतंकवादी युवकों को गिरफ़्तार कर तथा उन पर काकोरी षड्यन्त्र का मुकदमा (1925) चलाकर इस नयी संस्था पर चोट करने की कोशिश की गई। उनमें से 17 को लम्बी सज़ाएँ, चार को आजन्म कारावास तथा रामप्रसाद बिस्मिल और अशफ़ाकुल्ला सहित चार को फाँसी दे दी गयी। आतंकवादी जल्द ही समाजवादी विचारों से प्रभावित हुए और 1928 में चन्द्रशेखर आज़ाद के नेतृत्व में उन्होंने अपने संगठन का नाम बदलकर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन कर दिया।

क्रान्तिकारी आतंकवादी गतिविधि का प्रदर्शन भगत सिंह, आज़ाद और राजगुरु द्वारा एक अंग्रेज पुलिस अफ़सर की हत्या के रूप में हुआ। इस अफ़सर ने कुछ दिन पहले लाला लाजपतराय के नेतृत्व में होने वाले एर प्रदर्शन पर लाठी चलाने का आदेश दिया था। इसके परिणामस्वरूप पंजाब के महान् नेता लाला लाजपत राय को सांघातिक चोट आयी थी। लाला जी शेरे पंजाब के नाम से मशहूर थे। क्रान्तिकारी युवकों ने पुलिस अफ़सर की हत्या को इस प्रकार उचित ठहराया :

> "करोड़ों लोगों के एक पूज्य नेता की एक साधारण पुलिस अफसर के नालायक हाथों द्वारा हत्या··· राष्ट्र का अपमान था। इस कलंक को मिटाना भारत के युवकों का एक महान् कर्तव्य था ···हमें दुःख है कि हमने एक व्यक्ति को मारा है किन्तु वह उस अमानवीय और अन्यायपूर्ण व्यवस्था का अभिन्न अंग था जिसे नष्ट करना है। उसके रूप में ब्रिटिश शासन के एक एजेन्ट का खात्मा कर दिया गया है। मानव रक्त बहाने से हमें दुःख होता है मगर क्रान्ति की वेदी पर रक्तपात अपरिहार्य है। हमारा उद्देश्य एक ऐसी क्रान्ति के लिए काम करना है जो मानव द्वारा मानव के शोषण को समाप्त कर देगी।"

इसी प्रकार भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने 8 अप्रैल 1929 को सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में बम फेंका। वे पब्लिक सेफ़्टी बिल पास किए जाने का विरोध कर रहे थे। इस बिल के पास होने पर नागरिक स्वतंत्रताएँ घट जातीं। बम से किसी को भी नुकसान नहीं पहुँचा क्योंकि उसे अहानिकारक बनाया गया था। उनका

लक्ष्य हत्या करना नहीं बल्कि (जैसा कि एक आतंकवादी पर्चे में लिखा था) 'बहरे को सुनाना" था। बम फेंकने के बाद भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त आसानी से भाग सकते थे परन्तु उन्होंने जानबूझ कर अपने को गिरफ़्तार करा दिया क्योंकि वे चाहते थे कि अदालत को क्रान्तिकारी प्रचार का मंच बनाया जाय।

भगत सिंह
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

बंगाल में भी क्रान्तिकारी आतंकवादी गतिविधियों को फिर आरम्भ किया गया। अप्रैल 1930 में उन्होंने चटगाँव सरकारी शस्त्रागर पर सूर्य सेन के नेतृत्व में आक्रमण किया। यह बदनाम सरकारी अफ़सरों पर किए गए अनेक हमलों में से एक था। बंगाल के आतंकवादी आंदोलन का एक उल्लेखनीय पहलू था, युवा महिलाओं का उसमें भाग लेना।

सरकार ने क्रांतिकारी आतंकवादियों पर जोरदार प्रहार किया। उनमें से अनेक को गिरफ़्तार कर लिया गया तथा उन पर मुकदमे चलाए गए। भगत सिंह और कुछ अन्य लोगों पर पुलिस अफ़सरों की हत्या करने के भी मुकदमें चलाए गए। अदालतों में युवा क्रांतिकारियों के बयानों तथा निर्भीक और विद्रोही रुख के कारण जनता की सहानुभूति उनके साथ हो गयी। जेलों की भयंकर दुर्व्यवस्था के विरूद्ध उनके अनशन से जनता विशेष रूप से अनुप्राणित हुई। उन्होंने माँग की कि राजनीतिक कैदी होने के कारण उनके साथ सम्मानपूर्ण तथा शालीन व्यवहार किया जाय। अनशन के दौरान एक दुबला-पतला युवक जतीन दास 63 दिनों के बहादुरीपूर्ण अनशन के बाद शहीद हो गया। जनविरोध के बावजूद 23 मार्च 1931 को भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी दे दी गयी। अपनी फाँसी के चन्द दिनों पहले जेल सुपरिंटेंडेंट के नाम एक पत्र में तीनों ने दुहराया : "बहुत जल्द अन्तिम लड़ाई शुरू होगी। उसका परिणाम निर्णायक होगा। हमने इस संघर्ष में भाग लिया और हमें इसका गर्व है।"

अपने दो आखिरी खतों में भगत सिंह ने क्रान्तिकारी आतंकवादियों की समाजवाद में आस्था को दुहराया। उन्होंने लिखा : "किसानों को अपने को न सिर्फ़ विदेशी गुलामी से बल्कि भूस्वामियों और पूंजीपतियों की भी गुलामी से मुक्त करना होगा।" अपने 3 मार्च 1931 के आखिरी संदेश में उन्होंने घोषणा की कि भारत में संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक 'मुट्ठीभर शोषक आम जनता के श्रम का शोषण अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करते रहेंगे। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वे शोषक विशुद्ध रूप से ब्रिटिश पूंजीपति हैं, या गंठबंधन किये हुए अंग्रेज और भारतीय, या विशुद्ध भारतीय।"

उनकी फाँसी की सजा को आजन्म कारावास में बदलने से इन्कार करने के निर्मम निर्णय से जनता का क्रोध और भी बढ़ गया जब कि युवा क्रांतिकारियों द्वारा प्रदर्शित गहरी देशभक्ति, अजेय उत्साह और दृढ़प्रतिज्ञा

और बलिदान की भावना ने भारतीय जनता को उद्वेलित कर दिया। क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन जिसने राष्ट्रवादी और समाजवादी चेतना को फैलाने में एक अहम् भूमिका अदा की, जल्द ही ठंडा पड़ गया यद्यपि छुट-पुट गतिविधियाँ कई वर्षों तक चलती रहीं। चंद्रशेखर आज़ाद पुलिस के साथ हुई गोलीबारी में इलाहाबाद के एक पार्क में फरवरी 1931 में मारे गए। बाद में उस पार्क का नाम बदल कर आज़ाद पार्क कर दिया गया। सूर्य सेन को फरवरी 1933 में गिरफ़्तार कर जल्दी फांसी दे दी गयी। सैकड़ों अन्य क्रांतिकारियों को गिरफ़्तार कर जेल की अलग-अलग सजाएँ दी गयीं।

इस प्रकार बीसवीं सदी के तीसरे दशक के अन्त तक एक नयी राजनीतिक स्थिति का उदय हो रहा था। इन वर्षों को याद करते हुए वायसराय लॉर्ड इरविन ने बाद में लिखा कि "कोई नयी शक्ति काम कर रही थी जिसका पूरा महत्त्व वे लोग भी नहीं समझ सके जो भारत के बारे में 20-30 साल से जानते आ रहे थे।" सरकार इस नयी प्रवृत्ति को दबाने के लिए कृतसंकल्प थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, आतंकवादियों को बड़ी क्रूरता से दबा दिया गया। बढ़ते हुए ट्रेड यूनियन आंदोलन और कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रति भी इसी प्रकार का व्यवहार किया गया। मार्च 1929 में 31 प्रमुख ट्रेड यूनियन और कम्युनिस्ट नेताओं (जिनमें तीन अंग्रेज़ भी शामिल थे) को गिरफ़्तार कर लिया गया और उन पर मेरठ षड्यंत्र का मुकदमा चलाया गया। यह मुकदमा चार वर्षों तक चला जिसके बाद उन्हें जेल की लम्बी सजाएँ दी गयीं।

साइमन कमीशन का बहिष्कार

नवम्बर 1927 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय संवैधानिक आयोग (Indian Statutory Commission) की नियुक्ति की जो अपने अध्यक्ष के नाम पर साइमन कमीशन के नाम से मशहूर हुआ। इस कमीशन को भावी संवैधानिक सुधार के बारे में विचार करने के लिए कहा गया। इस कमीशन के सारे सदस्य अंग्रेज़ थे। कमीशन की नियुक्ति का सारे भारतवासियों ने एक स्वर से विरोध किया। उनको क्रोध कमीशन की सदस्यता से भारतीयों को अलग रखने तथा इस आधारभूत धारणा के कारण हुआ कि विदेशी इस बात पर विचार करेंगे कि भारत स्वराज्य के लायक है या नहीं। दूसरे शब्दों में, इस ब्रिटिश कार्यवाही को आत्मनिर्णय के अधिकार की अवहेलना तथा भारतीयों के आत्मसम्मान का जानबूझकर किया गया अपमान समझा गया। राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने मद्रास अधिवेशन (1927) में डा० अंसारी की अध्यक्षता में "हर चरण में और हर रूप में" कमीशन के बहिष्कार का निर्णय किया। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा ने कांग्रेस के निर्णय का समर्थन करने का फ़ैसला किया। वस्तुतः साइमन कमीशन ने, अस्थायी तौर पर ही सही, देश के विभिन्न समूहों और दलों को एकजुट कर दिया। राष्ट्रवादियों के साथ एकजुटता के संकेत-रूप में मुस्लिम लीग ने इस शर्त पर संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया कि मुसलमानों के लिए जगहें आरक्षित रहें।

सभी महत्त्वपूर्ण भारतीय नेताओं और दलों ने भारत का एक सर्वसम्मत संविधान बना कर ब्रिटिश चुनौती का सामना करने का निर्णय किया। इस उद्देश्य से एक सर्व-दलीय सम्मेलन पहले दिल्ली और बाद में पुणे में हुआ। सम्मेलन ने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक उप-समिति गठित की जिसके सदस्यों में अली इमाम, तेज बहादुर सप्रू और सुभाष बोस थे। उपसमिति ने अगस्त 1928 में अपनी रिपोर्ट पेश की जिसे नेहरू रिपोर्ट कहा जाता है। रिपोर्ट ने सिफ़ारिश की कि औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति को "अगला तात्कालिक कदम" माना जाय, भारत भाषीय प्रांतों तथा प्रान्तीय स्वायत्तता पर आधारित एक संघीय इकाई हो, कार्यकारिणी विधानमंडल के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी हो, तथा विधानमंडलों में 10 सालों की अवधि के लिए धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए स्थानों का आरक्षण हो। दुर्भाग्यवश, दिसम्बर 1928 में कलकत्ता में हुए सर्वदलीय सम्मेलन ने नेहरू रिपोर्ट को मंजूर नहीं किया। मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तथा सिक्ख लीग के कुछ साम्प्रदायिक मनोवृत्ति वाले लोगों ने आपत्तियाँ उठायीं। मुस्लिम लीग भी इस मुद्दे पर राष्ट्र-वादी तथा साम्प्रदायिक आधारों पर बंट गयी। इसी समय मुहम्मद अली जिन्ना ने अपनी "चौदह सूत्री" माँगें पेश

कीं। जिन्ना ने अन्य बातों के अलावा पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों, केंद्रीय विधानमंडल में मुसलमानों के लिए एक तिहाई स्थानों के आरक्षण, बंगाल और पंजाब के विधान-मंडलों में जनसंख्या के अनुपात में मुसलमानों के लिए स्थानों का आरक्षण तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों को देने की माँग की। हिन्दू महासभा ने रिपोर्ट को मुस्लिम-परस्त कह कर उसकी निंदा की। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की सम्भावनाओं को साम्प्रदायिक गुटों ने समाप्त कर दिया।

मद्रास में साइमन कमीशन के ख़िलाफ़ प्रदर्शन
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

जहाँ तक केवल संवैधानिक प्रश्नों का संबंध था, उस समय राष्ट्रवादियों और सम्प्रदायवादियों के बीच की खाई वस्तुतः बहुत बड़ी नहीं थी। राष्ट्रवादियों ने राज़ीखुशी अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए संरक्षण प्रदान किए थे। व्यक्तियों के साथ-साथ अल्पसंख्यकों के धर्म, संस्कृति, भाषा और मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी थी। दुर्भाग्यवश, ये नेता उस समय अल्पसंख्यकों की मनोभावना को पूरी तरह नहीं समझ सके। अल्पसंख्यकों, विशेषकर मुसलमानों को बहुसंख्यकों का बेबुनियाद डर सता रहा था। आधुनिक राजनीति के व्यावहारिक अनुभव के बाद ही वे धीरे-धीरे इस डर को छोड़ पाते और प्रतिक्रियावादी नेताओं या विदेशी सरकार द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इस्तेमाल नहीं किए जाते। अनेक राष्ट्रवादी नेताओं को इसका अहसास बाद में चलकर हुआ। उदाहरण के लिए, जवाहरलाल नेहरू ने 1933 में लिखा कि :

"कुछ हद तक यह डर उचित है, या किसी अल्पसंख्यक समुदाय में इसका होना समझ में आ सकता है······भारत में हिन्दुओं के ऊपर एक विशेष जिम्मेदारी है क्योंकि वे बहुसंख्यक समुदाय हैं और आर्थिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से वे अधिक उन्नत हैं। (हिन्दू) महासभा ने इस जिम्मेदारी को पूरा करने के बदले इस तरह काम किया है जिससे मुसलमानों में साम्प्रदायिकता निश्चित रूप से बढ़ गयी है और वे हिन्दुओं पर पहले से भी अधिक अविश्वास करने लगे हैं······एक साम्प्रदायिकता दूसरी साम्प्रदायिकता को खत्म नहीं करती; वे एक दूसरे का पोषण करते हैं तथा दोनों मोटे-तगड़े होते जाते हैं।"

उन्होंने 1934 में लिखे गए एक अन्य लेख में सलाह दी : "इसलिए हमें इस डर की भावना को दूर कर देना चाहिए और मुस्लिम जनता को यह अहसास कराना चाहिए कि वे वस्तुत: जो भी संरक्षण चाहेंगे वह उन्हें मिलेगा।" जिन्ना ने भी इस बात को उस समय स्वीकार किया। जिन्ना ने 1931 में एक भाषण में कहा :

मेरा कथन यह है कि मैं पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर भी समझौता कर सकता हूँ। मैं ऐसा इस आशा और विश्वास से करूँगा कि जब हम नया संविधान बनायें और जब हिन्दू और मुसलमान, दोनों, अविश्वास, सन्देह और भयों से मुक्त हो जायें तथा जब दोनों को उनकी आज़ादी मिल जाए तब हम उस समय के लायक अपने को सिद्ध करेंगे और सम्भवत: पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र हममें से अधिकांश जैसा सोचते हैं उससे भी अधिक जल्द समाप्त हो जाएगा।"

मगर अधिकांश राष्ट्रवादी नेताओं ने इस विचार को स्वीकार नहीं किया या, कुछ भी हो, वे उसको उस समय व्यवहार में लाने में असफल रहे। एक ओर, उन पर हिन्दू सम्प्रदायवादी दबाव डाल रहे थे और दूसरी ओर उन्होंने महसूस किया कि चूँकि अल्पसंख्यकों के भय अवास्तविक हैं तथा साम्प्रदायिक नेताओं को कोई समर्थन नहीं है इसलिए उनकी माँगों को निरापद रूप से ठुकराया जा सकता है। यह उनकी गलती थी। परिणामस्वरूप मौलाना मुहम्मद अली जैसे राष्ट्रवादी नेता ने भी शिकायत की कि राष्ट्रवादी नेता ब्रिटिश सरकार से पूर्ण आज़ादी के प्रश्न पर समझौता करने को तैयार हैं मगर अपने सम्प्रदायवादियों से मेल-मिलाप करने से इन्कार करते हैं। मौलाना आज़ाद ने उस समय टिप्पणी की : "मुसलमान मूर्ख थे जो उन्होंने सुरक्षा की माँग की और हिन्दू उनसे भी बड़े मूर्ख थे जो उन्होंने उस माँग को ठुकरा दिया।" जो भी हो, इसके बाद मुस्लिम सम्प्रदायवाद लगातार बढ़ने लगा।

यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रवादियों की राजनीति और सम्प्रदायवादियों की राजनीति के बीच एक मूल अन्तर था। राष्ट्रवादियों ने राजनीतिक अधिकारों तथा देश की आज़ादी के लिए विदेशी सरकार के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष चलाया। मगर सम्प्रदायवादियों, वे हिन्दू हों या मुसलमान, के लिए यह बात सही नहीं थी। उन्होंने अपनी माँगें राष्ट्रवादियों के सामने रखीं; दूसरी ओर, वे आम तौर से विदेशी सरकार की ओर समर्थन तथा सहायता के लिए निगाह लगाए रखते थे। उन्होंने बार-बार कांग्रेस के ख़िलाफ़ संघर्ष किया और सरकार का साथ दिया।

सर्वदलीय सम्मेलन की कार्यवाहियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण साइमन कमीशन के ख़िलाफ़ जनता का उठ खड़ा होना था। कमीशन के भारत आने पर एक ज़ोरदार विरोध-आंदोलन खड़ा हो गया जिसके रूप में राष्ट्रवादी उत्साह और एकता नयी ऊँचाइयों पर पहुँच गयी।

कमीशन 3 फ़रवरी को बम्बई पहुँचा। उस दिन सारे भारत में हड़ताल का आयोजन किया गया। जहाँ कहीं भी कमीशन गया वहाँ उसका स्वागत् हड़तालों और काले झंडों के प्रदर्शन तथा "साइमन वापस जाओ" के नारे से किया गया। सरकार ने जन-विरोध को ख़त्म करने के लिए बर्बर दमन और पुलिस-हमलों का सहारा लिया।

साइमन कमीशन विरोधी आंदोलन ने तुरन्त व्यापक राजनीतिक संघर्ष को जन्म नहीं दिया क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन के निर्विवाद मगर अघोषित नेता गाँधीजी को अब तक यह विश्वास नहीं हो पाया था कि संघर्ष का समय आ गया है। परन्तु जनउत्साह को लम्बे समय तक नहीं रोके रखा जा सका क्योंकि देश की भावना फिर एक बार संघर्ष करने की हो गयी थी।

पूर्ण स्वराज्य

राष्ट्रीय कांग्रेस ने जल्द ही इस मनोभावना को प्रदर्शित किया। गाँधीजी सक्रिय राजनीति में वापस आ गए और दिसम्बर 1928 में उन्होंने कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में भाग लिया। उन्होंने अब राष्ट्रवादी तत्वों को सहेजना शुरू किया। इस दिशा में पहला क़दम कांग्रेस के जुझारू वाम-पक्ष को संतुष्ट करना था। जवाहरलाल

नेहरू को कांग्रेस के ऐतिहासिक लाहौर अधिवेशन (1929) का अध्यक्ष बना दिया गया। इस घटना का एक नाटकीय पक्ष भी था। राष्ट्रीय आंदोलन के अधिकृत प्रधान के रूप में पुत्र ने पिता (मोतीलाल नेहरू 1928 में कांग्रेस के अध्यक्ष थे) का स्थान लिया, इस प्रकार आधुनिक इतिहास में एक अनुपम पारिवारिक उपलब्धि सामने आयी।

कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन ने नयी, जुझारू भावना को वाणी दी। उसने एक प्रस्ताव पास कर पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया। 31 दिसम्बर 1929 को स्वतंत्रता के नवगृहीत तिरंगे झण्डे को फहराया गया। प्रथम स्वतंत्रता दिवस के रूप में 26 जनवरी 1930

कांग्रेस द्वारा पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास किये जाने के बाद भारतीय जनता हर साल 26 जनवरी को "स्वतंत्रता दिवस" मनाने लगी। चित्र में घुड़सवार पुलिस द्वारा कलकत्ता में 1931 में "स्वतंत्रता दिवस" मनाने के लिए एकत्र लोगों पर हमले को दिखलाया गया है।
(गाँधी स्मारक संग्रहालय समिति, नयी दिल्ली के सौजन्य से)

निश्चित किया गया। इस दिन को हर साल मनाया जाने लगा। हर साल 26 जनवरी को लोग शपथ लेते थे कि ब्रिटिश शासन के "आगे घुटने टेकना मानव और ईश्वर के प्रति अपराध" है। कांग्रेस अधिवेशन ने सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने की भी घोषणा की। किन्तु उसने संघर्ष का कोई कार्यक्रम नहीं बनाया। यह काम महात्मा गाँधी पर छोड़ दिया गया और कांग्रेस संगठन को उनके अधिकार में दे दिया गया। एक बार फिर गाँधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रवादी आंदोलन का मुकाबला सरकार से हुआ। देश में आशा और उल्लास का संचार हुआ। वह स्वतंत्र होने के लिए कृतसंकल्प हो गया।

द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन

गाँधीजी ने अपने प्रसिद्ध डांडी यात्रा के द्वारा 12 मार्च 1930 को द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन आरम्भ किया। अपने 78 चुने हुए अनुयायियों के साथ गाँधीजी ने साबरमती आश्रम से गुजरात के समुद्र तट पर स्थित डांडी गाँव तक की लगभग 200 मीलों की लम्बी यात्रा की। वहाँ गाँधीजी और उनके अनुयायियों ने नमक कानून तोड़कर नमक बनाया। यह कार्यवाही भारतीय जनता द्वारा अंग्रेज़ों द्वारा बनाए गए कानूनों के तहत रहने और इस प्रकार ब्रिटिश शासन के अधीन रहने से इन्कार करने का प्रतीक थी। गाँधी जी ने घोषणा की :

> "भारत में ब्रिटिश शासन ने इस महान् देश का, नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विध्वंस किया है। मैं इस शासन को एक अभिशाप समझता हूँ। मैं सरकार की इस प्रणाली को नष्ट करने का पक्का इरादा रखता हूँ ''राजद्रोह मेरा धर्म बन गया है। हमारी लड़ाई अहिंसक है। हमें किसी व्यक्ति को नही मारना है मगर यह देखना हमारा धर्म है कि इस सरकार रूपी अभिशाप को मिटा दिया जाय।"

आंदोलन तेजी से फैल गया। देश में हर जगह लोगों ने हड़तालों, प्रदर्शनों, और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा कर-बंदी के अभियान में भाग लिया। लाखों भारतीयों ने सत्याग्रह किया। देश के अनेक भागों में किसानों ने भूराजस्व और लगान के भुगतान को रोके रखा। आंदोलन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी व्यापक रूप से औरतों का उसमें भाग लेना। हजारों महिलाओं ने अपने घरों के एकान्त में सीमित अपने जीवन को छोड़ दिया और सत्याग्रह किया। विदेशी वस्त्र या शराब बेचने वाली दूकानों पर धरनों में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। वे जलूसों में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ीं।

आंदोलन भारत के सुदूर उत्तर-पश्चिम कोने में पहुँच गया और उसने बहादुर और तगड़े पठानों को उद्वेलित कर दिया। "सीमान्त गाँधी" के नाम से लोकप्रिय खाँन अब्दुल ग़फ़्फ़ार खाँ के नेतृत्व में पठानों ने खुदाई खिदमतगारों के संगठन की स्थापना की जो लाल कुर्ती के नाम

The Pledge of Independence

AS TAKEN BY THE PEOPLE OF INDIA ON PURNA SWARAJ DAY, JANUARY 26, 1930

We believe that it is the inalienable right of the Indian people, as of any other people, to have freedom and to enjoy the fruits of their toil and have the necessities of life, so that they may have full opportunities of growth. We believe also that if any government deprives a people of these rights and oppresses them, the people have a further right to alter it or to abolish it. The British Government in India has not only deprived the Indian people of their freedom but has based itself on the exploitation of the masses, and has ruined India economically, politically, culturally and spiritually. We believe therefore that India must sever the British connection and attain Purna Swaraj or complete independence.

India has been ruined economically. The revenue derived from our people is out of all proportion to our income. Our average income is seven pice per day, and of the heavy taxes we pay 20% are raised from the land revenue derived from the peasantry and 3% from the salt tax, which falls most heavily on the poor.

Village industries, such as hand spinning, have been destroyed, leaving the peasantry idle for at least four months in the year, and dulling their intellect for want of handicrafts, and nothing has been substituted, as in other countries, for the crafts thus destroyed.

Customs and currency have been so manipulated as to heap further burdens on the peasantry. British manufactured goods constitute the bulk of our imports. Customs duties betray clear partiality for British manufactures, and revenue from them is used not to lessen the burden on the masses but for sustaining a highly extravagant administration. Still more arbitrary has been the manipulation of the exchange ratio which has resulted in millions being drained away from the country.

Politically, India's status has never been so reduced as under the British regime. No reforms have given real political power to the people. The tallest of us have to bend before foreign authority. The rights of free expression of opinion and free association have been denied to us and many of our countrymen are compelled to live in exile abroad and cannot return to their homes. All administrative talent is killed and the masses have to be satisfied with petty village offices and clerkships.

Culturally, the system of education has torn us from our moorings and our training has made us hug the very chains that bind us.

Spiritually, compulsory disarmament has made us unmanly and the presence of an alien army of occupation, employed with deadly effect to crush in us the spirit of resistance, has made us think that we cannot look after ourselves or put up a defence against foreign aggression, or even defend our homes and families from the attacks of thieves, robbers and miscreants.

We hold it to be a crime against man and God to submit any longer to a rule that has caused this fourfold disaster to our country. We recognise, however, that the most effective way of gaining our freedom is not through violence. We will therefore prepare ourselves by withdrawing, so far as we can, all voluntary association from the British Government, and will prepare for civil disobedience, including non-payment of taxes. We are convinced that if we can but withdraw our voluntary help and stop payment of taxes without doing violence, even under provocation, the end of this inhuman rule is assured. We therefore hereby solemnly resolve to carry out the Congress instructions issued from time to time for the purpose of establishing Purna Swaraj.

Printed by K. P. Dar, at the Allahabad Law Journal Press, Allahabad and Published by Sri Prakasa, General Secretary, A. I. C. C., Allahabad

पूर्ण स्वराज्य दिवस, 26 जनवरी 1930 को भारतीय जनता द्वारा लिए गये 'स्वतंत्रता के प्रण' का मूल

से मशहूर हुए। वे अहिंसा तथा स्वतंत्रता-संग्राम के प्रति समर्पित थे। उसी समय पेशावर में एक उल्लेखनीय घटना हुई। गढ़वाली सैनिकों की दो पलटनों ने जनप्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया यद्यपि इसका मतलब था फ़ौजी अदालत में पेश होना तथा जेल की लम्बी सज़ाएँ। इस घटना ने दिखला दिया कि ब्रिटिश शासन के मुख्य उपकरण भारतीय फ़ौज के अन्दर राष्ट्रवाद घुसने लगा था।

इसी प्रकार इस आन्दोलन की गूँज भारत के सुदूर पूर्वी क्षेत्र में भी पहुँची। मणिपुर के लोगों ने भी इसमें बहादुरी के साथ हिस्सा लिया और नागालैंड की एक वीर-बाला रानी गैडिनल्यू ने 13 वर्ष की अल्पायु में ही गाँधीजी और कांग्रेस के आह्वान पर विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठा लिया। युवा रानी को 1932 में गिरफ्तार कर लिया गया और आजीवन कारावास की सज़ा दी गई। रानी गैडिनल्यू ने अपनी युवा अवस्था का बहुमूल्य समय असम की अनेक जेलों की काल कोठरियों में बिताया और उन्हें 1947 में स्वतंत्र भारत की सरकार ने रिहा किया। 1937 में जवाहरलाल नेहरू ने उनके बारे में लिखा था "एक दिन ऐसा आएगा जब भारत भी उन्हें स्नेहपूर्वक स्मरण करेगा।"

राष्ट्रीय संघर्ष के प्रति सरकार का वही पुराना उत्तर था—उसे निर्मम दमन, मर्द-औरतों की निहत्थी भीड़ों पर लाठियों तथा गोलियों की बौछारों के जरिए कुचल देने का प्रयास। गाँधीजी तथा अन्य कांग्रेस नेताओं सहित 90,000 से अधिक सत्याग्रही जेल में बन्द कर दिए गए। कांग्रेस को ग़ैरकानूनी घोषित कर दिया गया। समाचारों की कठोर सेंसर-व्यवस्था के जरिए राष्ट्रवादी प्रेस का गला दबोच दिया गया। सरकारी आंकड़ों के अनुसार पुलिस की गोलियों से 110 से अधिक लोग मारे गए और 300 से ऊपर घायल हुए। ग़ैरसरकारी अनुमानों के अनुसार मरने वालों की संख्या बहुत अधिक थी। इसके अलावा, लाठियों की वर्षा से हजारों आदमियों के सिर फूट गए और हड्डियाँ टूट गयीं। दक्षिण भारत में दमन चक्र बड़ी क्रूरता से चलाया गया। पुलिस ने बहुधा लोगों को इस लिए पीटा कि वे खादी या गाँधी टोपी पहने हुए थे। आंध्र में एल्लोरा नामक जगह पर जनता ने प्रतिरोध किया जिसके फलस्वरूप पुलिस ने गोली चलायी जिसमें कई लोगों की जानें गयीं।

इस बीच ब्रिटिश सरकार ने 1930 में लंदन में प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन किया जिसमें साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर चर्चा करने के लिए भारतीय नेताओं और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया। मगर राष्ट्रीय कांग्रेस ने सम्मेलन का बहिष्कार किया तथा उसकी कार्यवाहियाँ निष्फल हो गयीं। कांग्रेस के बिना भारतीय मामलों से संबंधित कोई सम्मेलन वैसे ही था जैसे राम के बिना रामलीला का प्रदर्शन।

सरकार ने तब कांग्रेस से समझौते के लिए बातचीत करने का प्रयास किया जिससे वह गोलमेज़ सम्मेलन में भाग ले सके। अन्ततः, लॉर्ड इरविन और गाँधीजी ने मार्च 1931 में एक समझौता कर लिया। सरकार उन राजनीतिक बंदियों को रिहा करने के लिए तैयार हो गयी जो आंदोलन के दौरान अहिंसक रहे थे और कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया और द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार हो गयी। अनेक कांग्रेस नेता, विशेषकर युवा, वामपक्षी हिस्से ने गाँधी-इरविन समझौते का विरोध किया क्योंकि सरकार ने कोई भी प्रमुख राष्ट्रवादी माँग नहीं स्वीकार की थी। वह भगत सिंह और उनके दोनों सहयोगियों की फांसी की सज़ा को आजन्म कारावास में बदलने के लिए भी राज़ी नहीं थी। मगर गाँधीजी को विश्वास था कि लॉर्ड इरविन और अंग्रेज भारतीय मांगों पर सच्चे दिल से बात करना चाहते हैं। सत्याग्रह संबंधी उनकी धारणा में विरोधी को हृदय परिवर्तन के लिए हर अवसर देना शामिल था। उन्होंने समझौते की स्वीकृति के लिए कांग्रेस के कराची अधिवेशन को राज़ी कर लिया। कराची अधिवेशन मौलिक अधिकारों और राष्ट्रीय आर्थिक कार्य-क्रम संबंधी प्रस्ताव के लिए भी स्मरणीय है। प्रस्ताव ने जनता को बुनियादी नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की गारंटी दी। उसने महत्त्वपूर्ण उद्योगों और परिवहन के राष्ट्रीयकरण, मजदूरों के लिए बेहतर स्थितियों, कृषि-सुधार और निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की। उसने यह भी आश्वासन दिया कि "अल्प-संख्यकों तथा विभिन्न भाषायी क्षेत्रों की संस्कृति, भाषा और लिपि को संरक्षण प्रदान किया जायेगा।"

गाँधीजी सितम्बर 1931 में द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेने के लिए इंग्लैंड गए। परन्तु उनकी ज़ोरदार

वकालत के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने तुरन्त औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बुनियादी राष्ट्रवादी मांग को स्वीकार नहीं किया। उनके वापस आने पर कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से चालू कर दिया।

नये वायसराय लॉर्ड विलिंग्टन के नेतृत्व में सरकार इस समय कांग्रेस को कुचल देने के लिए पूरी तरह कृत-संकल्प और तैयार थी। वस्तुतः भारत की अफ़सरशाही ने कभी नरमी नहीं बरती थी। गाँधी-इरविन समझौते पर दस्तख़त होने के तुरन्त बाद आंध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी ज़िले में पुलिस ने एक भीड़ पर गोली चलायी जिसमें चार व्यक्ति मरे। गोली इसलिए चलायी गयी कि लोगों ने गाँधीजी की तसवीर लगा रखी थी। गोलमेज सम्मेलन की विफलता के बाद, गाँधीजी तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं को फिर गिरफ़्तार कर लिया तथा कांग्रेस को ग़ैरकानूनी घोषित कर दिया गया। कानूनों की सामान्य कार्यवाही को स्थगित कर दिया गया और प्रशासन को विशेष अध्यादेशों के जरिए चलाया जाने लगा। पुलिस आतंक का नंगा नाच हुआ तथा स्वतंत्रता-सेनानियों पर असंख्य नृशंसताएँ ढायी गयीं। एक लाख से अधिक सत्याग्रहियों को गिरफ़्तार कर लिया गया; हज़ारों लोगों की ज़मीन, मकान और अन्य जायदाद छीन ली गयी। राष्ट्रवादी साहित्य पर प्रतिबंध लगा दिया गया और राष्ट्रवादी समाचारपत्रों पर सेंसर संबंधी पाबंदियाँ लगा दी गयीं।

आख़िरकार सरकारी दमन सफल हो गया क्योंकि उसे साम्प्रदायिक तथा अन्य सवालों पर भारतीय नेताओं के आपसी मतभेदों के कारण मदद मिली। सविनय अवज्ञा आंदोलन धीरे-धीरे क्षीण हो गया और राजनीतिक उत्साह और उल्लास की जगह निराशा और हतोत्साह ने ले ली। कांग्रेस ने अधिकृत तौर पर मई 1933 में आंदोलन को स्थगित कर दिया तथा मई 1934 में वापस ले लिया। गाँधीजी एक बार फिर सक्रिय राजनीति से अलग हो गए। कांग्रेस की सदस्य संख्या घटकर पाँच लाख से भी नीचे चली गयी।

राष्ट्रवादी राजनीति 1935-1939

गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट, 1935

जब कांग्रेस आज़ादी की लड़ाई में जीजान से लगी हुई थी तभी नवम्बर 1932 में तीसरा गोलमेज सम्मेलन लंदन में हुआ जिसमें कांग्रेस के नेताओं ने भाग नहीं लिया। उसमें हुए विचारविमर्शों के परिणामस्वरूप, अन्ततोगत्वा, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट, 1935, पास हुआ। ऐक्ट ने एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना तथा प्रान्तीय स्वायत्तता के आधार पर प्रांतों के लिए सरकार की एक नयी प्रणाली की व्यवस्था की। संघ ब्रिटिश भारत के प्रांतों और देशी राज्यों के यूनियन के आधार पर बनना था। द्विसदनीय संघीय विधानमंडल की व्यवस्था की गयी जिसमें देशी राज्यों को अनुपात से अधिक महत्व देने की व्यवस्था की गयी। इसके अलावा, देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव जनता द्वारा नहीं होना था बल्कि वे शासकों द्वारा सीधे नामज़द किये जाने वाले थे। ब्रिटिश भारत की केवल 14 प्रतिशत जनसंख्या को मतदान करने का अधिकार दिया जाने वाला था। इस विधानमंडल को भी, जिसमें राजाओं का इस्तेमाल राष्ट्रवादी तत्वों का प्रतिरोध करने के लिए करने की व्यवस्था की गयी थी, कोई वास्तविक अधिकार नहीं दिए गए। प्रतिरक्षा और विदेशी मामले उसके अधिकार के बाहर रखे गए जबकि अन्य विषयों पर गवर्नर-जनरल का विशेष नियंत्रण रहा। गवर्नर-जनरल और गवर्नरों की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा होनी थी और उन्हें ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी रहना था। प्रान्तों में स्थानीय अधिकार बढ़ा दिए गए। प्रान्तीय असेम्बलियों के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों द्वारा प्रान्तीय प्रशासन के सभी विभागों का नियंत्रण करने की व्यवस्था की गयी। मगर गवर्नरों को विशेष अधिकार दिए गए। वे विधायी कार्यवाही पर अपना निषेधाधिकार लागू कर सकते थे और स्वयं कानून बना सकते थे। इसके अतिरिक्त सिविल सर्विस और पुलिस पर गवर्नरों का पूर्ण नियंत्रण था। ऐक्ट राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सका क्योंकि राजनीतिक और आर्थिक अधिकार ब्रिटिश सरकार के हाथों में बने रहे। इसका मकसद पहले की तरह ही विदेशी शासन को बनाए रखना था, केवल थोड़े से जनता द्वारा चुने गए मंत्रियों को भारत के ब्रिटिश प्रशासन के ढांचे में शामिल कर देना था। कांग्रेस ने "बिल्कुल निराशाजनक" कहकर ऐक्ट की निंदा की।

ऐक्ट का संघीय भाग कभी लागू नहीं किया गया मगर प्रान्तीय हिस्से को तुरन्त लागू कर दिया गया। ऐक्ट का

घोर विरोधी होने के बावजूद कांग्रेस ने उसके तहत होने वाले चुनावों में खड़े होने का निर्णय किया। कांग्रेस को घोषित लक्ष्य यह दिखलाना था कि जनता के बीच ऐक्ट कितना अप्रिय है। चुनावों ने निर्णायक तौर पर दिखला दिया कि कांग्रेस को भारतीय जनता के भारी बहुमत का समर्थन प्राप्त है। कांग्रेस को अनेक राज्यों में असाधारण सफलता मिली। ग्यारह में से सात प्रान्तों में जुलाई 1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल बने। बाद में, दो अन्य राज्यों में कांग्रेस ने संयुक्त मंत्रिमंडल बनाए। केवल बंगाल और पंजाब में ग़ैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने।

कांग्रेस मंत्रिमंडल

स्पष्टतया कांग्रेस मंत्रिमंडल भारत स्थित ब्रिटिश प्रशासन के मूल साम्राज्यवादी चरित्र को नहीं बदल सके और न ही वे एक आमूल परिवर्तन का युग ला सके। मगर 1935 के ऐक्ट के तहत उन्हें जो शक्तियाँ मिली थीं उनकी सीमाओं के भीतर उन्होंने जनता की दशा सुधारने के लिए कोशिश की। कांग्रेस मंत्रियों ने अपने वेतनों को काफ़ी कम कर 500 रु० प्रति माह पर मुकर्रर किया। उनमें से अधिकतर रेलगाड़ी के तीसरे या दूसरे दरजे में सफ़र करने लगे। उन्होंने ईमानदारी और जनसेवा के नए मानक निर्धारित किए। उन्होंने प्राथमिक, तकनीकी और उच्च शिक्षा तथा जनस्वास्थ्य पर ध्यान दिया। सूदखोरी-विरोधी और काश्तकारी कानून पास कर उन्होंने किसानों की सहायता की। उन्होंने नागरिक स्वतंत्रताओं को प्रोत्साहित किया। राजनीतिक बंदी रिहा कर दिए गए। "पुलिस और गुप्तचर सेवा राज" में ढील दे दी गयी। प्रेस की स्वतंत्रता को बढ़ा दिया गया। ट्रेड यूनियनों ने अपने को अधिक स्वतंत्र महसूस किया और मजदूरों के वेतनों में वृद्धि करवायी। सबसे बड़ी उपलब्धि मनोभावनात्मक थी। लोगों ने ऐसा महसूस किया कि वे मानो विजय तथा स्वराज्य की सांस ले रहे हैं। यह क्या एक महान् उपलब्धि नहीं थी कि जो लोग कल तक जेलों में बन्द थे वे ही सचिवालय में शासन करने लगे ?

1935 और 1939 के बीच की अवधि में कई अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिन्होंने, एक प्रकार से, राष्ट्रवादी आंदोलन और कांग्रेस को नयी दिशा में मोड़ा।

समाजवादी विचारों का विकास

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में कांग्रेस के भीतर और बाहर समाजवादी विचार बड़ी तेजी से पनपे। 1929 में संयुक्त राज्य अमरीका में एक बड़ी मंदी आयी जो धीरे-धीरे शेष संसार में व्याप्त हो गयी। पूँजीवादी देशों में हर जगह उत्पादन तथा विदेश व्यापार में बड़ी तेज़ गिरावट आयी, जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक कष्ट तथा बड़े पैमाने पर बेरोजगारी बढ़ी। एक समय बेरोजगार लोगों की संख्या ब्रिटेन में 30 लाख, जर्मनी में 60 लाख और संयुक्त राज्य अमरीका में 1 करोड़ 20 लाख पर पहुँच गयी। दूसरी ओर, सोवियत संघ में आर्थिक स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत थी। वहाँ पर न केवल कोई मंदी नहीं थी बल्कि 1929-1936 के दौरान प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं का सफल कार्यान्वयन हुआ, जिसके फलस्वरूप सोवियत औद्योगिक उत्पादन में चार गुने से अधिक वृद्धि हुई। इस प्रकार विश्वमंदी ने पूँजीवादी व्यवस्था को बदनाम कर दिया तथा लोगों का ध्यान मार्क्सवाद, समाजवाद और आर्थिक नियोजन की ओर आकर्षित किया। फलतः समाजवादी विचार अधिकाधिक लोगों, विशेषकर नौजवानों, मजदूरों और किसानों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे।

आर्थिक मंदी के कारण भारत के मजदूरों और और किसानों की हालत भी खराब हुई। कृषि जन्य वस्तुओं की कीमतें 1932 के अन्त तक 50 प्रतिशत से भी अधिक गिर गयीं। मालिकों ने मजदूरी घटाने की कोशिश की। सारे देश में किसान भूमि-सुधारों, जमींदारी उन्मूलन, भूराजस्व और लगान में कमी, तथा ऋणग्रस्तता से राहत की माँग करने लगे। कारखानों तथा बागानों में काम करने वाले मजदूर उत्तरोत्तर काम की बेहतर स्थितियों और अपने ट्रेड यूनियन अधिकारों की मान्यता की माँग करने लगे। फलस्वरूप, शहरों में ट्रेड यूनियनों तथा अनेक क्षेत्रों, विशेषकर उत्तर प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, केरल और पंजाब में किसान सभाएँ तेज़ी से पनपीं। किसानों के प्रथम अखिल भारतीय संगठन—अखिल भारतीय किसान सभा—की स्थापना 1936 में हुई।

कांग्रेस के अन्दर वामपक्षी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति 1936 और 1937 में जवाहरलाल नेहरू तथा 1938 और 1939 में सुभाष चन्द्र बोस के अध्यक्ष चुने जाने से हुई। कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन (1936) के अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने कांग्रेस से आग्रह किया कि वह समाजवाद को अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर ले तथा वह

मजदूर वर्ग के नजदीक लाए। उन्होंने महसूस किया कि मुसलमान जनता को उसके प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक नेताओं से मुक्त करने का यही सर्वोत्तम मार्ग है। उन्होंने कहा :

> "मुझे पूरा विश्वास है कि विश्व की समस्याओं तथा भारत की समस्याओं के हल की एकमात्र कुंजी समाजवाद में निहित है और मैं समाजवाद शब्द का प्रयोग एक अस्पष्ट मानवतावादी अर्थ में नहीं बल्कि वैज्ञानिक, आर्थिक अर्थ में करता हूँ... इसके लिए हमारे राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे में बड़े तथा क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे, जमीन और उद्योग में निहित स्वार्थों को खत्म करना होगा तथा भारतीय रियासतों की सामंती और निरंकुश व्यवस्था को समाप्त करना होगा। इसका मतलब है निजी सम्पत्ति को खत्म करना तथा मुनाफे की वर्तमान व्यवस्था की जगह पर सहकारी सेवा के उच्चतर आदर्श को स्थापित करना। इसका मतलब है अन्ततोगत्वा हमारी सहज बुद्धि और आदतों तथा इच्छाओं में परिवर्तन। संक्षेप में, इसका मतलब है, वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था से आमूल रूप से भिन्न एक नयी सभ्यता।"

कांग्रेस के बाहर, समाजवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप पी०सी० जोशी के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी का विकास हुआ तथा आचार्य नरेंद्र देव और जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। गाँधीजी के विरोध के बावजूद 1938 में सुभाष चन्द्र बोस फिर कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिए गए। मगर कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में गाँधीजी और उनके समर्थकों के विरोध से मजबूर होकर बोस को 1939 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्याग पत्र देना पड़ा। तब उन्होंने अपने अनेक वामपंथी अनुयायियों के साथ मिलकर फ़ारवर्ड ब्लॉक की स्थापना की।

कांग्रेस और विश्व मामले

1935-1939 काल की एक प्रधान घटना थी विश्व मामलों में कांग्रेस की बढ़ती हुई दिलचस्पी। कांग्रेस ने 1885 में अपनी स्थापना से लेकर लगातार अफ़्रीका और एशिया में ब्रिटिश हितों को साधने के लिए भारतीय फौज तथा भारतीय संसाधनों के इस्तेमाल का विरोध किया था। उसने धीरे-धीरे साम्राज्यवाद के प्रसार विरोध पर आधारित एक विदेश नीति विकसित कर ली। फ़रवरी 1927 में जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से ब्रुसेल्स में आर्थिक या राजनीतिक साम्राज्यवाद से पीड़ित एशियायी अफ़्रीकी, और लैटिन अमरीकी देशों के क्रांतिकारियों तथा राजनीतिक निर्वासितों द्वारा आयोजित उत्पीड़ित जनगणों की कांग्रेस में भाग लिया। इस कांग्रेस का आयोजन साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनके सामूहिक संघर्ष में तालमेल बिठाने तथा उसकी योजना बनाने के लिए किया गया था। यूरोप के अनेक वामपंथी बुद्धिजीवी और नेता भी इस कांग्रेस में शामिल हुए। कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए, नेहरू ने कहा :

> "हम महसूस करते हैं कि उस संघर्ष में जो आज विभिन्न पराधीन तथा अर्ध पराधीन और उत्पीड़ित जनगण चला रहे हैं बहुत कुछ बातें समान हैं। बहुधा उनके विरोधी एक ही होते हैं यद्यपि वे कभी-कभी विभिन्न वेशों में प्रकट होते हैं और उनको पराधीन बनाने के लिए काम में लाए जाने वाले उपाय भी बहुधा समान होते हैं।"

इस कांग्रेस में साम्रज्यवाद विरोधी लीग (League Against Imperialism) की स्थापना हुई। नेहरू इस लीग की कार्यकारिणी के सदस्य चुने गए। राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने मद्रास अधिवेशन (1927) में सरकार को चेतावनी दी कि अगर ब्रिटेन ने अपने साम्राज्यवादी लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कोई लड़ाई की तो भारत की जनता उसका समर्थन नहीं करेगी।

बीसवीं सदी के चौथे दशक में कांग्रेस ने संसार के हर भाग में साम्राज्यवाद के खिलाफ़ जोरदार आवाज़ उठायी और एशिया तथा अफ़्रीका में राष्ट्रीय आंदोलनों का समर्थन किया। उसने उस समय इटली, जर्मनी और जापान में साम्राज्यवाद तथा नस्लवाद के अत्यन्त उग्र रूप में पनप रहे फासिज़्म की निंदा की। उसने फ़ासिस्ट शक्तियों द्वारा हमले के विरुद्ध लड़ाई में इथियोपिया, स्पेन, चेकोस्लोवाकिया और चीन के लोगों का समर्थन किया। जब 1937 में जापान ने चीन पर हमला कर दिया तब राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर भारतीय जनता से आग्रह किया कि "चीनी जनता के साथ सहानुभूति दर्शाने के लिए वह जापानी वस्तुओं का इस्तेमाल न करे।" और 1938 में चीनी फौज के साथ काम करने के लिए डा० अटल के नेतृत्व में एक मेडिकल मिशन भेजा गया।

राष्ट्रीय कांग्रेस ने पूरी तरह माना कि भारत का भविष्य फासिज़्म और स्वतंत्रता, समाजवाद तथा जनतंत्र की शक्तियों के बीच होने वाले भावी संघर्ष से जुड़ा हुआ

है। विश्व समस्याओं के प्रति बन रहा कांग्रेस का रुख़ और विश्व में कांग्रेस की स्थिति के प्रति जागरूकता लखनऊ कांग्रेस में 1936 में जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिए गए अध्यक्षीय भाषण में प्रतिपादित हुई :

"हमारा संघर्ष अधिक व्यापक स्वतन्त्रता-संघर्ष का हिस्सा भर था, और जो शक्तियाँ हमें प्रेरित कर रही थीं वे ही सारे संसार में करोड़ों लोगों को प्रेरित कर सक्रिय बना रही थीं। पूंजीवाद ने कठिनाइयों के समय फासिज्म का सहारा लिया... वह अपने देशों में उसी तरह का हो गया जैसा उसका साम्राज्यवादी प्रतिरूप पराधीन औपनिवेशिक देशों में जमाने से था। इस प्रकार फ़ासिज्म और साम्राज्यवाद पतनशील पूंजीवाद के ही दो चेहरे हो गए... पश्चिम के समाजवाद और पूर्व के तथा अन्य पराश्रित देशों के उभरते हुए राष्ट्रवाद ने फ़ासिज्म और साम्राज्यवाद के इस गंठजोड़ का विरोध किया।"
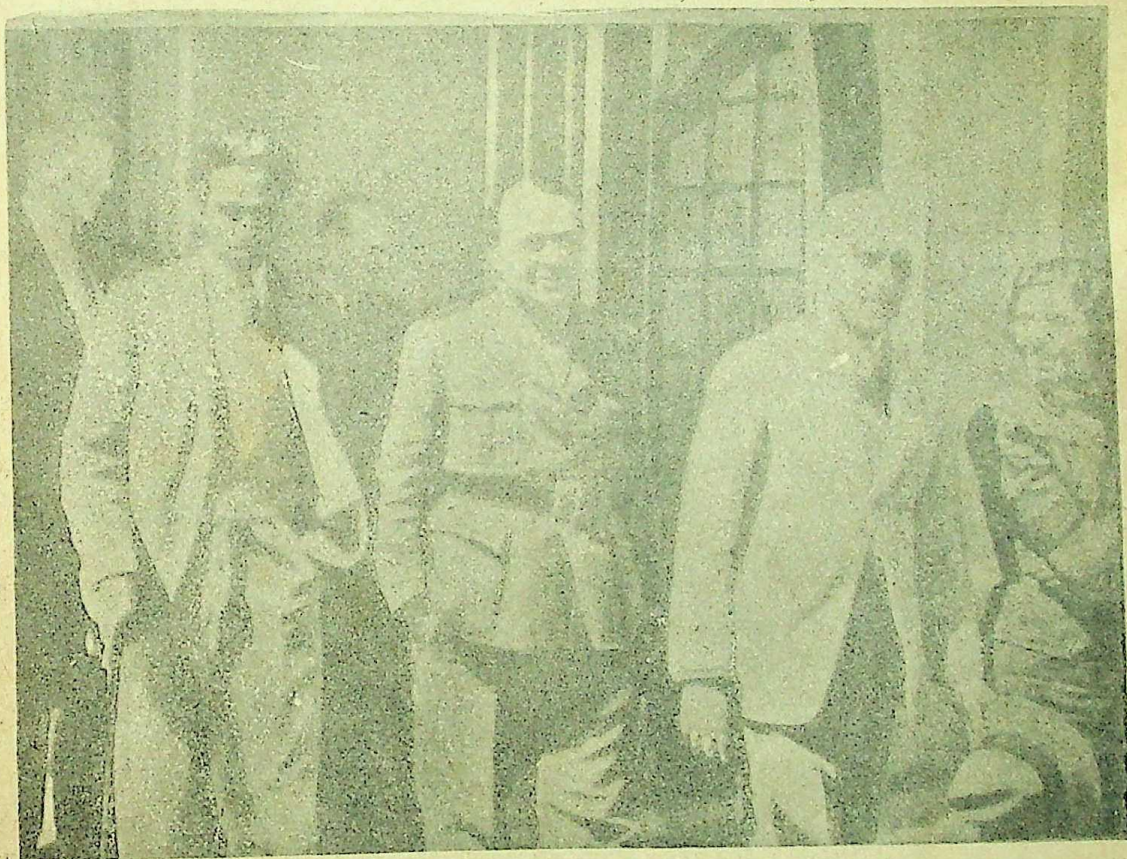
जवाहरलाल नेहरू और वी०के० कृष्णमेनन स्पेन में जनरल लिस्टर के साथ उनके मुख्यालय में
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

साम्राज्यवादी देशों की आपसी लड़ाई में भारत सरकार के किसी भी प्रकार भाग लेने के प्रति कांग्रेस के विरोध पर जोर देते हुए, उन्होंने "संसार की प्रगतिशील शक्तियों को तथा उनको जो स्वतंत्रता और राजनीतिक एवं सामाजिक बंधनों को तोड़ना चाहते हैं" पूरा समर्थन दिया क्योंकि "हम मानते हैं कि हमारा संघर्ष और साम्राज्यवाद और फ़ासिस्ट प्रतिक्रियावाद के खिलाफ़ उनका संघर्ष एक ही है।"

देशी राज्यों की जनता का संघर्ष

इस काल की तीसरी प्रमुख घटना थी : देशी रियासतों में राष्ट्रीय आंदोलन का प्रसार। उनमें से अनेक में व्याप्त आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दशाएँ बड़ी भयंकर थीं। किसान जुल्म का शिकार थे, भूराजस्व तथा कर अत्यधिक और असहनीय थे, शिक्षा अवरुद्ध थी, स्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक सेवाएँ बहुत पिछड़ी हुई स्थिति में थीं, और प्रेस की स्वतंत्रता और अन्य नागरिक अधिकारों का नामों निशान नहीं था। राजस्व का अधिकांश राजाओं के भोगविलास पर खर्च होता था। अनेक राज्यों में कृषिदासता, गुलामी और बेगार-प्रथा फल-फूल रही थी। पूरे भारतीय इतिहास में भ्रष्ट और पतनोन्मुख शासक को कुछ हद तक आन्तरिक विद्रोह और बाहरी हमले की चुनौती ने एक सीमा से बाहर नहीं जाने दिया गया। परन्तु ब्रिटिश राज ने राजाओं को इन खतरों से मुक्त कर दिया और उन्होंने अपनी रियासतों के कुशासन के लिए रास्ता बिल्कुल साफ पाया।

इसके अलावा, ब्रिटिश अधिकारियों ने राजाओं का इस्तेमाल राष्ट्रीय एकता के विकास को रोकने तथा उदीयमान राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतिरोध करने के लिए किया। राजा लोग भी जनविद्रोह से अपने बचाव के लिए ब्रिटिश सत्ता के संरक्षण पर निर्भर हो गये। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख़ अपनाया। 1921 में नरेश मंडल (Chamber of Princes) की स्थापना हुई जिससे राजाओं को ब्रिटिश मार्गदर्शन में मिलकर समान हित के मामलों पर विचार-विमर्श करने में सहायता मिले। गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1935 में प्रस्तावित संघीय ढाँचा इस प्रकार बनाया गया था कि राष्ट्रवाद की शक्तियों पर काबू किया जा सके। ऐसी व्यवस्था की गयी कि राजाओं को उच्च सदन में 40 प्रतिशत तथा निचले सदन में 33 प्रतिशत स्थान मिलें।

अनेक देशी राज्यों की जनता अब जनतांत्रिक अधिकारों और लोकप्रिय सरकारों के लिए आंदोलन चलाने लगी। दिसम्बर 1927 में विभिन्न राज्यों की राजनीतिक गतिविधियों में तालमेल बिठाने के लिए अखिल भारतीय प्रजामंडल (All-India States' Peoples' Conference) की स्थापना की जा चुकी थी। द्वितीय असहयोग आंदोलन ने इन राज्यों के लोगों के दिमाग़ पर गहरा प्रभाव डाला तथा उन्हें राजनीतिक गतिविधि के लिए प्रेरित किया। अनेक राज्यों, विशेषकर राजकोट, जयपुर, कश्मीर, हैदराबाद, और त्रावणकोर, में जनसंघर्ष हुए। राजाओं ने इन संघर्षों का मुकाबला हिंसक दमन के जरिए किया। उनमें से कुछ ने साम्प्रदायिकता का भी सहारा लिया; हैदराबाद के निज़ाम ने घोषणा की कि जनआंदोलन मुसलमान विरोधी है; कश्मीर के महाराजा ने उसे हिन्दू-विरोधी बतलाया; जब कि त्रावनकोर के महाराजा ने दावा किया कि जनआंदोलन के पीछे ईसाई हैं।

राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रजामंडल संघर्ष का समर्थन किया और राजाओं से आग्रह किया कि वे जनतांत्रिक प्रतिनिधि सरकार स्थापित करें और जनता को मौलिक नागरिक अधिकार दें। जब कांग्रेस ने 1938 में स्वतंत्रता के अपने लक्ष्य को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया तब उसने देशी राज्यों की स्वतंत्रता को भी उसमें शामिल किया। अगले साल, त्रिपुरी अधिवेशन में, उसने राज्यों के जन आंदोलनों में अधिक सक्रिय हिस्सा लेने का निर्णय लिया। मानों भारत और देशी राज्यों के राजनीतिक संघर्षों के समान राष्ट्रीय लक्ष्यों पर ज़ोर देने के लिए, जवाहरलाल नेहरु 1939 में अखिल भारतीय प्रजामंडल के अध्यक्ष बन गए। प्रजामंडल आंदोलन ने देशी राज्यों की जनता में राष्ट्रीय चेतना जगायी। उसने सारे भारत में एकता की एक नयी चेतना फैलायी।

साम्प्रदायिकता की बढ़ोत्तरी

चौथी महत्त्वपूर्ण घटना थी साम्प्रदायिकता की बढ़ोत्तरी। एक बार फिर सीमित मताधिकार और पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों के आधार पर आयोजित लेजिस्लेटिव असेम्बलियों के चुनावों ने पृथकतावादी भावनाओं को जन्म दिया। इसके अलावा, कांग्रेस अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित अधिक सीटें नहीं जीत सकी— वह मुसलमानों के लिए आरक्षित 482 सीटों में से केवल 26 ही प्राप्त कर सकी। इन 26 सीटों में से 15 सीटें उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त में मिलीं। यह सही है कि मुस्लिम लीग को भी बहुत सीटें नहीं मिल सकीं। जिन्ना के नेतृत्व में अब मुस्लिम लीग कांग्रेस की कटु विरोधी बन

गयी। उसने यह होहल्ला मचाना शुरू कर दिया कि मुस्लिम अल्पमत को बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय से खतरा पैदा हो गया है। उसने यह अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक सिद्धान्त प्रचारित किया कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्र हैं और इसलिए, वे कभी एक साथ नहीं रह सकते। मुस्लिम लीग ने 1940 में एक प्रस्ताव पास कर देश के विभाजन तथा स्वतंत्रता के बाद पाकिस्तान नामक एक राज्य के निर्माण की माँग रखी।

हिन्दुओं के बीच हिन्दू महासभा जैसी साम्प्रदायिक संस्थाओं के होने से मुस्लिम लीग के प्रचार को बल मिला। हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने मुस्लिम सम्प्रदायवादियों की हाँ में हाँ मिलाने के लिए घोषणा की कि हिन्दू एक अलग राष्ट्र हैं और भारत हिन्दुओं की भूमि है। इस प्रकार उन्होंने द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। उन्होंने अल्पसंख्यकों को उचित सुरक्षाएँ देकर उनके मन से बहु-संख्यकों के आधिपत्य के डर को निकालने की नीति का विरोध किया। एक दृष्टि से हिन्दू सम्प्रदायवाद का काफ़ी कम औचित्य था। हर देश में कभी-न-कभी धार्मिक या भाषायी या राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों ने अपनी कम तादाद के कारण महसूस किया है कि उनके सामाजिक और सांस्कृतिक हितों को धक्का लग सकता है। मगर जब बहुसंख्यक समुदाय ने अपनी कथनी और करनी द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि वे भय आधारहीन हैं तब अल्पसंख्यकों के डर खत्म हो गए। परन्तु इसके विपरीत अगर बहुसंख्यक समुदाय का एक भाग साम्प्रदायिक या संकीर्णतावादी बन जाए और अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ बोलने और काम करने लग जाए तो अल्पसंख्यक अपने को असुरक्षित महसूस करने लगेंगे। ऐसी हालत में अल्पसंख्यकों के साम्प्रदायिकता या वर्गीय नेतृत्व को बल मिलता है। उदाहरण के लिए, इस शताब्दी के चौथे दशक के दौरान मुस्लिम लीग केवल उन्हीं क्षेत्रों में मजबूत थी जहाँ मुसलमान अल्पमत में थे। दूसरी ओर उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत, पंजाब, सिंध, और बंगाल जैसे क्षेत्रों में जहाँ मुसलमानों का बहुमत था और इसलिए वे अपने को अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित समझते थे, मुस्लिम लीग कमजोर थी। दिलचस्प बात यह है कि साम्प्रदायिक गुटों (वे हिन्दुओं के रहे हों या मुसलमानों के) को कांग्रेस के खिलाफ़ परस्पर गंठजोड़ करने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, पंजाब, सिंध, और बंगाल में हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने मुस्लिम लीग और अन्य साम्प्रदायिक गुटों को कांग्रेस-विरोधी मंत्रिमंडल बनाने में सहायता दी। विभिन्न साम्प्रदायिक गुटों की एक समान विशेषता थी सरकार परस्त राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति। यह उल्लेखनीय है कि हिन्दू और मुसलमान राष्ट्रवाद की बात करने वाले किसी भी साम्प्रदायिक गुट और पार्टी ने विदेशी शासन के खिलाफ़ संघर्ष में सक्रिय हिस्सा नहीं लिया। उन्होंने अन्य धर्मों के लोगों और राष्ट्रवादी नेताओं को अपना असली दुश्मन समझा।

साम्प्रदायिक गुट और पार्टियाँ आम जनता की सामाजिक और राजनीतिक माँगों से दूर भागती रहीं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इन माँगों को राष्ट्रवादी आंदोलन ने ही उत्तरोत्तर उठाया। इस दृष्टि से साम्प्रदायिक गुट और पार्टियाँ उच्च वर्ग के हितों का ही अधिकाधिक प्रतिनिधित्व करने लगीं। जवाहरलाल नेहरू ने 1933 में ही लिखा था :

> "आज का प्रमुख संप्रदायवाद राजनीतिक प्रतिक्रिया है और इसलिए हम देखते हैं कि साम्प्रदायिक नेता राजनीतिक और आर्थिक मामलों में अवश्य ही प्रतिक्रियावादी बन जाते हैं। उच्च वर्ग के लोगों के गुट अपने स्वयं के वर्ग हितों को छुपाने के लिए ये आभास देते हैं कि वे धार्मिक अल्पमतों या बहुमतों की साम्प्रदायिक माँगों का समर्थन कर रहे हैं। यदि हिन्दुओं, मुसलमानों और अन्य सम्प्रदायों द्वारा रखी गयी विभिन्न साम्प्रदायिक माँगों की आलोचनात्मक जाँच की जाए तो यह यह पता चलेगा कि जनसमुदाय से उनका कोई संबंध नहीं है।"

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन

जब जर्मन-विस्तार संबंधी हिटलर की योजना के अनुसार नाजी जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया तब सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। इससे पहले हिटलर ने मार्च 1938 में आस्ट्रिया और मार्च 1939 में चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया था। ब्रिटेन और फ्रांस जिन्होंने हिटलर को तुष्ट करने की कोशिश की थी, पोलैंड की सहायता के लिए जाने को मजबूर हो गए थे। भारत सरकार राष्ट्रीय कांग्रेस या केंद्रीय विधानमंडल के निर्वाचित सदस्यों की बिना कोई सलाह लिए तुरन्त लड़ाई में कूद पड़ी।

राष्ट्रीय कांग्रेस की फ़ासिस्ट हमले के शिकार हुए

लोगों से पूरी सहानुभूति थी। वह फ़ासिज्म के खिलाफ संघर्ष में जनतांत्रिक शक्तियों की सहायता करना चाहती थी। मगर, कांग्रेस नेताओं ने पूछा कि एक ग़ुलाम देश के लिए दूसरों को उनके स्वतंत्रता-संग्राम में मदद देना कैसे संभव है। इसलिए उन्होंने माँग की कि युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लेने के पहले भारत को अवश्य स्वतंत्र घोषित किया जाना चाहिए या प्रभावी सत्ता भारतीय हाथों में होनी चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने इस माँग को मानने से इन्कार कर दिया, और कांग्रेस ने अपने मंत्रिमंडलों को त्यागपत्र देने का आदेश दिया। अक्तूबर 1940 में गांधीजी ने कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा सीमित सत्याग्रह का आह्वान किया। सत्याग्रह को सीमित रखा गया जिससे बड़े पैमाने पर उथल-पुथल होने के कारण ब्रिटेन की युद्ध संबंधी तैयारियों में बाधा न पड़े। इस आंदोलन के लक्ष्यों को स्पष्ट करते हुए गाँधीजी ने वायसराय को लिखा :

> "...कांग्रेस नाजीवाद की विजय का उतना ही विरोध करती है जितना एक आम ब्रिटिश नागरिक मगर उनके उद्देश्य को उनके लड़ाई में भाग लेने की सीमा तक नहीं ले जाया जा सकता। और चूंकि आपने और भारत मंत्री ने घोषित किया है कि सारा भारत स्वेच्छा से युद्ध-प्रयासों में सहायता दे रहा है इसलिए यह स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि भारतीय जनता के विशाल बहुमत को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है। भारतीय जनता नाजीवाद तथा उस दोहरे निरंकुशतंत्र में कोई भेद नहीं करती जो भारत के ऊपर शासन करता है।"

विश्व राजनीति में 1941 के दौरान दो प्रमुख परिवर्तन हुए। पश्चिम में पोलैंड, बेल्जियम, हालैंड, नार्वे और फ्रांस तथा अधिकांश पूर्वी यूरोप पर कब्जा कर लेने के बाद नाजी जर्मनी ने 22 जून 1941 को सोवियत संघ पर हमला किया। जापान ने 7 दिसम्बर को पर्ल हार्बर में अमरीकी बेड़े पर हमला किया तथा लड़ाई में जर्मनी और इटली की ओर आ गया। उसने जल्द ही फिलिपीन्स, इंडोचीन, मलाया और बर्मा को रौंद दिया। मार्च 1942 में उसने रंगून पर कब्जा कर लिया। इस तरह लड़ाई हिन्दुस्तान के दरवाजे पर आ गयी।

ब्रिटिश सरकार को अब युद्ध-प्रयास में भारतीयों के सक्रिय सहयोग की घोर आवश्यकता हो गयी। यह सहयोग प्राप्त करने के लिए उसने मार्च 1942 में कैबिनेट मंत्री सर स्टैफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक मिशन भारत भेजा। क्रिप्स पहले लेबर पार्टी का एक उग्रवादी सदस्य तथा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का एक जोरदार समर्थक था। यद्यपि क्रिप्स ने घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश नीति का लक्ष्य "यथासंभव शीघ्र भारत में अपनी सरकार स्थापित करना" था, तथापि उसके तथा कांग्रेस नेताओं के बीच ब्यौरेवार बातचीत असफल हो गयी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को प्रभावी सत्ता के तुरन्त हस्तान्तरण की माँग को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। दूसरी ओर, भारतीय नेता भविष्य के लिए किए गए वादों से ही संतुष्ट नहीं थे जब कि वायसराय के हाथों में निरंकुश शक्तियाँ बनी हुई थीं। वे युद्ध-प्रयास में सहयोग करने के लिए विशेषकर इसलिए उत्सुक थे क्योंकि जापानी फ़ौज से भारतीय भूभाग को खतरा पैदा हो गया था।

क्रिप्स मिशन की विफलता ने भारत की जनता में कटुता भर दी। यद्यपि फ़ासिस्ट विरोधी शक्तियों के साथ उनकी अब भी पूरी सहानुभूति थी, तथापि उन्होंने महसूस किया कि देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति असह्य बन गयी है। अब कांग्रेस ने तय किया कि ऐसे सक्रिय कदम उठाए जायें जिनसे मजबूर होकर अंग्रेज स्वतंत्रता-संबंधी भारतीय माँग को स्वीकार कर ले। अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी की बैठक 8 अगस्त 1942 को बम्बई में हुई। उसने प्रसिद्ध "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास किया तथा इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए गाँधीजी के नेतृत्व में एक अहिंसक जनसंघर्ष शुरू करने का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव में घोषणा की गयी :

> "...भारत में ब्रिटिश शासन की तुरन्त समाप्ति भारत तथा संयुक्त राष्ट्र, दोनों, के लिए...एक अत्यन्त आवश्यक जरूरत है। आधुनिक साम्राज्यवाद की मूल भूमि भारत मूल प्रश्न बन गया है, क्योंकि भारत की स्वतंत्रता की दृष्टि से ही ब्रिटेन तथा संयुक्त राष्ट्र को परखा जाएगा और एशिया एवं अफ्रीका की जनता आशा और उत्साह से भर जाएगी। इस तरह इस देश में ब्रिटिश शासन की समाप्ति एक महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक मुद्दा है जिस पर युद्ध का भविष्य तथा स्वतंत्रता और जनतंत्र की सफलता निर्भर है। स्वतंत्र भारत अपने सभी विशाल संसाधनों को स्वतंत्रता के लिए तथा नाजीवाद, फ़ासिज्म और साम्राज्यवाद के आक्रमण के खिलाफ़ संघर्ष में लगाकर इस सफलता को निश्चित बनायेगा।"

आठ अगस्त की रात में काँग्रेस प्रतिनिधियों को

सम्बोधित करते हुए गांधीजी कहा :

> "इसलिए, मैं तुरन्त स्वतंत्रता चाहता हूँ, अगर हो सके आज ही रात, पौ फटने से पहले···धोखाधड़ी तथा असत्य अकड़कर चल रहा है···आप मेरी बात मानिये तो मैं वायसराय के साथ मंत्रि-मंडलों आदि के लिए सौदा करने नहीं जा रहा। मैं पूर्ण स्वतंत्रता से कम किसी भी चीज से संतुष्ट नहीं हो सकता ··यह है एक मंत्र, बड़ा छोटा सा, जो मैं आपको देता हूँ। इस मंत्र को आप अपने हृदय पर अंकित कर सकते हैं और, आइए, आपकी हर साँस इसको व्यक्त करे। मंत्र है : "करो या मरो"। हम भारत को स्वतंत्र करेंगे या इस प्रयास में मर मिटेंगे, हम अपनी गुलामी को स्थायी बनाया जाता देखने के लिए नहीं जिन्दा रहेंगे।···"

मगर कांग्रेस द्वारा आंदोलन आरम्भ करने के पहले ही सरकार ने ज़ोरदार चोट की। 9 अगस्त की अत्यन्त सुबह गांधीजी तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया तथा कांग्रेस को एक बार फिर ग़ैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

इन गिरफ्तारियों की खबर ने देश को भौंचक्का कर दिया, और हर जगह एक स्वतः स्फूर्त विरोध-आंदोलन शुरू हो गया जिसने लोगों के दबे हुए गुस्से को ज़ाहिर किया। नेताओं और संगठन के अभाव में जनता ने अपनी प्रतिक्रिया जिस रूप में चाहा उस रूप में व्यक्त की। सारे देश में हड़तालें हुईं। कारखाने, स्कूल और कालेज बन्द हो गए। प्रदर्शन हुए जिन पर लाठियों और गोलियों की वर्षा की गयी। बार-बार गोलियाँ चलने तथा दमन के कारण गुस्से में आकर अनेक जगहों में लोगों ने हिंसात्मक कार्रवाइयाँ कीं। उन्होंने ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों—थानों, डाकघरों, रेलवे स्टेशनों आदि पर हमले किए। उन्होंने टेलीग्राफ तथा टेलीफोन के तार काट दिए, रेलवे लाइनें उखाड़ दीं, तथा सरकारी इमारतों को जला दिया। इस दृष्टि से मद्रास और बंगाल सबसे अधिक प्रभावित थे। अनेक स्थानों पर विद्रोहियों ने अनेक शहरों, और गाँवों पर अस्थायी नियंत्रण कायम कर लिया। उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आंध्र, तमिलनाडु और महाराष्ट्र के कई हिस्सों में ब्रिटिश सत्ता लुप्त हो गयी। कुछ क्षेत्रों में क्रांतिकारियों ने "समानान्तर सरकारें" बनायीं। आम तौर से, छात्र मज़दूर और किसान 'विद्रोह' के मुख्य आधार थे जब कि उच्च वर्ग और अफ़सरशाही सरकार के प्रति निष्ठावान् बने रहे।

सरकार ने मई 1942 के आंदोलन को कुचलने का भरपूर प्रयास किया। उसके दमन की कोई सीमा नहीं थी। प्रेस का मुँह पूरी तरह बन्द कर दिया गया। प्रदर्शनकारियों के खिलाफ़ मशीनगनों का इस्तेमाल किया गया और हवाई जहाजों से बम भी गिराए गए। कैदियों को यातनाएँ दी गयीं। पुलिस तथा खुफ़िया विभाग का राज हो गया। सेना ने अनेक शहरों पर नियंत्रण कर लिया। पुलिस और सेना की गोलियों से 10,000 से अधिक लोग मरे। विद्रोही गाँवों को जुर्माने के तौर पर भारी रकमें देनी पड़ीं और गाँव वालों को कोड़े सहने पड़े। भारत में 1857 के विद्रोह के बाद इतना घोर दमन नहीं हुआ था।

आखिरकार सरकार आंदोलन को कुचलने में सफल हो गयी। दरअसल 1942 का विद्रोह थोड़े दिनों ही चला। मगर इसका महत्त्व इस तथ्य में निहित था कि उसने व्यक्त कर दिया कि राष्ट्रवादी भावना देश में काफ़ी ज़बर्दस्त है तथा जनता ने संघर्ष और बलिदान की महान् क्षमता विकसित कर ली है।

1942 के विद्रोह के दमन के बाद भारत में 1945 में युद्ध खत्म होने तक कोई विशेष राजनीतिक गतिविधि नहीं हुई। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतिष्ठित नेता जेलों में थे, और उनकी जगह लेने या देश को नया नेतृत्व देने के लिए कोई नये नेता सामने नहीं आये। 1943 में बंगाल हाल के इतिहास के सबसे भयंकर अकाल की चपेट में आ गया। कुछ ही महीनों में 30 लाख से अधिक लोग भूख से मर गए। जनता में अपार गुस्सा था क्योंकि सरकार चाहती तो इतने लोग नहीं मरते। मगर इस गुस्से को कोई ख़ास राजनीतिक अभिव्यक्ति नहीं हुई।

परन्तु देश की सीमाओं के बाहर राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी अभिव्यक्ति मिली। सहायता के लिए सोवियत संघ जाने के लिए सुभाष चन्द्र बोस मार्च 1941 में छिपकर भाग निकले थे। किन्तु जब जून 1941 में सोवियत संघ मित्रराष्ट्रों के साथ आ गया तब वे जर्मनी चले गए। जापानी सहायता से ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ एक सशस्त्र संघर्ष शुरू करने के लिए फ़रवरी 1943 में वे जापान के लिए रवाना हो गए। भारत की स्वतंत्रता के लिए सैनिक अभियान चलाने के उद्देश्य से उन्होंने सिंगापुर में आज़ाद हिंद फौज की स्थापना की। उन्हें एक पुराने

आतंकवादी क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस से सहायता मिली। सुभाष बोस के आने के पहले ही आजाद हिन्द फौज के संगठन के लिए जनरल मोहन सिंह (जो उस समय ब्रिटिश भारत की सेना में कैप्टेन थे) ने कदम उठाए थे। दक्षिण-पूर्व एशिया में रहने वाले भारतीय तथा मलाया, सिंगापुर और बर्मा में जापानियों के कब्ज़े में आए भारतीय सैनिक और अफ़सर बड़ी तादाद में आजाद हिंद फौज में शामिल हो गए। सुभाष बोस को आजाद हिंद फौज के सैनिक नेताजी के नाम से पुकारते थे। उन्होंने

सुभाष चन्द्र बोस सिंगापुर में भारतीय महिलाओं की एक रैली में
(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

अपने अनुयायियों को 'जय हिंद' के नारे को लड़ाई के नारे के रूप में दिया। बर्मा से भारत की ओर अभियान में आजाद हिंद फौज ने जापानी फौज का साथ दिया। अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करने के लक्ष्य से अनुप्राणित होकर आज़ाद हिंद फौज के सैनिकों और अफ़सरों ने मुक्तिकर्ता के रूप में सुभाष बोस के नेतृत्व में बनी अस्थायी आजाद हिंद सरकार के साथ भारत में घुसने की आशा की।

जापान 1944-45 के दौरान लड़ाई में हार गया। इसके साथ ही आज़ाद हिंद फौज को भी पराजय का सामना करना पड़ा। टोकियो जाते समय सुभाष बोस की विमान-दुर्घटना में मृत्यु हो गयी। यद्यपि उस समय अधिकतर भारतीय राष्ट्रवादियों ने फ़ासिस्ट शक्तियों के सहयोग से स्वतंत्रता प्राप्त करने की उनकी रणनीति की आलोचना की तथापि आज़ाद हिंद फौज का संगठन कर उन्होंने भारतीय जनता और फौज के सामने देश भक्ति का एक प्रेरणादायक उदाहरण रखा। सारे देश ने नेताजी के रूप में उनकी जय-जयकार की।

युद्धोत्तर संघर्ष

यूरोप में अप्रैल 1945 में युद्ध खत्म हो जाने के बाद भारत के स्वतंत्रता संघर्ष ने एक नये चरण में प्रवेश किया। 1942 के विद्रोह तथा आज़ाद हिंद फौज ने भारतीय जनता की वीरता तथा कृतसंकल्प को प्रकट कर दिया था। जेल से राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई के साथ ही लोग एक और संभवतः अन्तिम स्वतंत्रता-संघर्ष की प्रतीक्षा करने लगे।

नये संघर्ष ने आज़ाद हिंद फौज के सैनिकों और अफ़सरों के ऊपर मुकदमा चलाये जाने के खिलाफ़ जोरदार आंदोलन का रूप लिया। सरकार ने दिल्ली के लाल किले में आज़ाद हिंद फौज के तीन अफ़सरों शाहनवाज, गुरदयाल सिंह ढिल्लों, और प्रेम सहगल (जो पहले ब्रिटिश भारत की सेना में अफ़सर थे) पर मुकदमा चलाने का फ़ैसला किया। उन पर अभियोग लगाया गया कि उन्होंने ब्रिटिश राजा के प्रति वफ़ादारी की जो शपथ ली थी उसे तोड़ दिया और इस प्रकार वे 'विश्वासघाती' बन गए। दूसरी ओर जनता ने राष्ट्रीय वीरों के रूप में उनका स्वागत किया। सारे देश में उनकी रिहाई के लिए विशाल जन-प्रदर्शन हुए। सारा देश अब उत्तेजना तथा इस विश्वास से भर गया कि इस बार संघर्ष में विजय होगी। वे इन वीरों को दण्ड दिए जाने से रोकने के लिए कटिबद्ध थे। मगर इस बार ब्रिटिश सरकार भारतीय जनमत की अवहेलना करने की स्थिति में नहीं थी। फौजी अदालत द्वारा आज़ाद हिंद फौज के बंदियों को अपराधी करार दिए जाने के बावजूद सरकार ने उन्हें रिहा कर देना समयोचित समझा।

ब्रिटिश सरकार के रुख में इस परिवर्तन के कई कारण थे।

प्रथम, युद्ध ने विश्व में शक्ति-संतुलन को बदल दिया था। बड़ी शक्तियों के रूप में ब्रिटेन नहीं बल्कि संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ सामने आए। इन दोनों ने भारत की स्वतंत्रता की माँग का समर्थन किया।

द्वितीय, यद्यपि ब्रिटेन युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले पक्ष में था तथापि उसकी आर्थिक और सैनिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी थी। ब्रिटेन को अपने आप को पुनर्प्रतिष्ठित करने में वर्षों लग जाते। इसके अलावा, ब्रिटेन में सरकार बदल गयी। कंजरवेटिव पार्टी की जगह लेबर पार्टी आ गयी, जिसके अनेक सदस्यों ने कांग्रेस की माँगों का समर्थन किया था। ब्रिटिश सैनिक लड़ाई से थक गए थे। छः सालों तक लड़ने और खून बहाने के बाद उनकी इच्छा नहीं थी कि वे भारतीय जनता के स्वतंत्रता संघर्ष को दबाने के लिए अब और अधिक वर्ष घर से दूर भारत में लगायें।

तृतीय, ब्रिटिश भारत की सरकार राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने के लिए अब और अधिक नागरिक प्रशासन तथा सशस्त्र सेनाओं के भारतीय कर्मचारियों पर निर्भर नहीं रह सकती थी। आजाद हिंद फौज ने दिखला दिया था कि देशभक्ति के विचार भारत में ब्रिटिश शासन के मुख्य साधन पेशेवर भारतीय फ़ौज के अन्दर घुस गए हैं। उसी समय फ़रवरी 1946 में भारतीय नौसेना के नाविकों का बम्बई में मशहूर विद्रोह हुआ। नाविकों ने फौज और नौसेना के साथ सात घंटों तक लड़ाई लड़ी और केवल राष्ट्रीय नेताओं के कहने पर आत्मसमर्पण किया। इससे अलावा, भारतीय वायु सेना में व्यापक हड़तालें हुईं। जबलपुर स्थित इंडियन सिगनल कोर ने भी हड़ताल कर दी। ब्रिटिश शासन के दो अन्य प्रमुख उपकरणों, पुलिस और अफ़सरशाही, में भी राष्ट्रवादी रुझानों के लक्षण दिखलायी दे रहे थे। उदाहरण के लिए, बिहार और दिल्ली में पुलिस ने हड़ताल कर दी।

चतुर्थ और सर्वोपरि बात यह थी कि भारतीय जनता का विश्वासपूर्ण और कृतसंकल्प मनोभाव अब तक स्पष्ट हो गया था : वे विदेशी शासन के अपमान को और अधिक सहने के लिए तैयार नहीं थे। वे आज़ादी प्राप्त होने तक दम लेने को नहीं तैयार थे। नौसैनिक विद्रोह और आजाद हिंद फ़ौज के बन्दियों की रिहाई के लिए संघर्ष इसके

आज़ाद हिन्द फ़ौज के बंदियों पर मुकदमे के दौरान उनकी वकालत के लिए आते हुए जवाहरलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू और कैलाश नाथ काटजू

(नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय के सौजन्य से)

सबूत थे। इसके अतिरिक्त, 1945-46 के दौरान सारे देश यहाँ तक कि हैदराबाद, त्रावणकोर, और कश्मीर, जैसे देशी राज्यों, में आंदोलनों, हड़तालों और प्रदर्शनों का तांता लग गया। उदाहरण के लिए, नवम्बर 1945 में आज़ाद हिंद फ़ौज के बंदियों की रिहाई के लिए कलकत्ता की सड़कों पर लाखों लोगों ने प्रदर्शन किया। तीन दिनों तक शहर में दरअसल कोई सरकारी सत्ता नहीं रह गयी थी। फिर, 12 फ़रवरी 1946 को आज़ाद हिंद फ़ौज के एक बंदी अब्दुर रशीद की रिहाई की माँग को लेकर शहर में एक और प्रदर्शन हुआ। बम्बई में 22 फ़रवरी को नौ-सैना के विद्रोही नाविकों की हमदर्दी में सारा जीवन ठप्प हो गया तथा कारख़ानों और दफ़्तरों में पूर्ण हड़ताल हुई। इस जन उभार को दबाने के लिए फ़ौज बुलानी पड़ी। सड़कों पर 48 घंटों के अन्दर 250 से अधिक लोग मारे गए।

सारे देश में व्यापक श्रमिक-अशांति रही। शायद ही ऐसा कोई उद्योग था जिसमें हड़ताल नहीं हुई। जुलाई

1946 में डाक-तार कर्मचारियों ने एक देशव्यापी हड़ताल की। दक्षिण भारत के रेल कर्मचारियों ने अगस्त 1946 में हड़ताल की। इस दौरान किसान-आंदोलन भी अधिक जुझारू हो गए। हैदराबाद, मालाबार, बंगाल, यू० पी०, बिहार, और महाराष्ट्र में ज़मीन के लिए, तथा ऊँचे लगानों के खिलाफ़ संघर्ष हुए, स्कूल-कालेजों के विद्यार्थियों ने हड़तालों और प्रदर्शनों के आयोजन में प्रमुख भूमिका अदा की।

इसलिए, मार्च 1946 में भारतीय नेताओं के साथ भारतीयों को सत्ता-हस्तान्तरण की शर्तों पर बातचीत करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कैबिनेट मिशन भेजा। कैबिनेट मिशन ने दो सीढ़ियों वाली संघीय योजना रखी जिससे आशा की जाती थी कि वह अधिकतम क्षेत्रीय स्वायत्तता के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता भी बनाए रखेगी। प्रान्तों और देशी राज्यों का एक संघ बनाने की बात की गयी जिसमें संघीय केन्द्र केवल प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों, और संचार पर नियंत्रण रखेगा। साथ ही, प्रान्त-विशेष क्षेत्रीय नियन बना सकते थे जिनको पारस्परिक सहमति से वे अपने कुछ अधिकार दे सकते थे। राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। मगर अन्तरिम सरकार संबंधी योजना पर उनके बीच कोई सहमति नहीं हो सकी। अन्तरिम सरकार को स्वतंत्र, संघीय भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा बुलानी थी। जिस कैबिनेट मिशन योजना पर पहले सहमति हो गयी थी, दोनों पक्षों ने उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ कीं। अन्ततः, सितम्बर 1946 में कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक अन्तरिम मंत्रिमंडल बनाया। कुछ हिचकिचाहट के बाद अक्तूबर में मुस्लिम लीग मंत्रिमडल में शामिल हो गयी; मगर उसने संविधान सभा का हिष्कार करने का फ़ैसला किया। ब्रिटिश प्रधान मंत्री क्लीमेंट एटली ने 20 फ़रवरी 1947 को घोषणा की कि अंग्रेज़ जून 1948 तक भारत छोड़ देंगे।

मगर आ रही स्वतंत्रता के उल्लास में अगस्त 1946 के दौरान और उसके बाद बड़े पैमाने पर हुए साम्प्रदायिक दंगों ने ख़लल डाली। नृशंस मारकाट शुरू करने के लिए हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने एक दूसरे को दोषी ठहराया और क्रूरता में एक दूसरे से आगे बढ़ने के लिए उनके बीच होड़ लग गयी। मूल मानवीयता की इस पूर्व उपेक्षा तथा सत्य-अहिंसा को ख़त्म होते देखकर महात्मा गाँधी निराशा में डूब गए। दंगा रोकने के लिए उन्होंने पूर्व बंगाल और बिहार की पदयात्रा की। साम्प्रदायिकता की आग बुझाने के प्रयास में अनेक हिन्दुओं और मुसलमानों ने अपनी जानें गँवायीं। विदेशी सरकार की सहायता से साम्प्रदायिक तत्त्वों ने संप्रदायवाद के बीज बहुत गहरे बोए थे। गाँधीजी तथा अन्य राष्ट्रवादी साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों और कुप्रवृत्तियों के विरुद्ध निष्फल संघर्ष करते रहे।

लॉर्ड मांउटबेटेन मार्च 1947 में वायसराय बन कर भारत आया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं से लम्बे विचार-विमर्श के बाद उसने समझौते की एक योजना रखी जिसके तहत देश स्वतंत्र होता मगर अखण्ड नहीं रह पाता। भारत को विभाजित करने और स्वतंत्र भारत के साथ ही एक नए राज्य, पाकिस्तान, के निर्माण की बात रखी गयी। साम्प्रदायिक दंगों के कारण उत्पन्न बड़े पैमाने पर रक्तपात के ख़तरे से बचने के लिए राष्ट्रवादी नेताओं ने भारत के विभाजन को मान लिया। मगर उन्होंने द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त को नहीं माना। मुस्लिम लीग भारत की जनसंख्या में मुसलमानों का अनुपात देखते हुए एक तिहाई माँगती थी। राष्ट्रवादी नेताओं ने इस माँग को ठुकरा दिया। वे सिर्फ़ उन क्षेत्रों को भारत से अलग करने के लिए तैयार हो गए जहाँ मुस्लिम लीग का प्रभाव काफ़ी अधिक था। उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त और असम के सिलहट ज़िले में जहाँ मुस्लिम लीग का प्रभाव संदिग्ध था, जनमत संग्रह करने की बात मान ली गयी। दूसरे शब्दों में, देश का विभाजन होना था मगर हिन्दू-धर्म और इस्लाम के आधार पर नहीं।

भारतीय राष्ट्रवादियों ने विभाजन को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि भारत में दो राष्ट्र—हिन्दू राष्ट्र और मुस्लिम राष्ट्र—थे बल्कि इसलिए कि हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवाद की पिछले लगभग 70 वर्षों से हो रही ऐतिहासिक बढ़ोत्तरी ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी जिसमें विभाजन का विकल्प था अर्थहीन और बर्बर साम्प्रदायिक दंगों में लाखों निर्दोष लोगों की बड़े पैमाने पर हत्या। अगर ये दंगे देश के किसी एक भाग में ही

सीमित होते तो उनको दबाने के लिए कांग्रेस नेताओं ने कोशिश की होती और विभाजन का कड़ा विरोध किया होता। परन्तु दुर्भाग्यवश भ्रातृघातक दंगे हर जगह हो रहे थे और हिन्दू-मुसलमान दोनों उनमें सक्रिय रूप से फंसे हुए थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि देश पर अब भी विदेशियों का शासन था जिन्होंने दंगों को रोकने के लिए कुछ भी नहीं किया। दूसरी ओर, विदेशी सरकार ने बल्कि अपनी फूट परस्त नीतियों से दंगों को बढ़ावा ही दिया। शायद उन्हें आशा थी कि वे दोनों नवस्वतंत्र राज्यों को एक दूसरे से भिड़ा सकेंगे।*

भारत और पाकिस्तान स्वतंत्र हो जायेंगे, इसकी घोषणा 3 जून 1947 को की गयी। देशी राज्यों को नए राज्यों में से किसी में भी शामिल होने की छूट दे गयी। देशी राज्यों की जनता के आंदोलनों के दबाव और तत्कालीन गृहमंत्री सरदार पटेल की प्रभावशाली कूटनीति के मार्गदर्शन में उनमें से अधिकांश भारत में शामिल हो गए। जूनागढ़ के नवाब, हैदराबाद के निज़ाम और जम्मू-कश्मीर के महाराजा ने इसमें कुछ देर की। जूनागढ़ काठियावाड़ के पास समुद्र तट पर स्थित एक छोटा सा राज्य था। वहाँ की जनता भारत में मिलना चाहती थी परन्तु वहाँ के नवाब ने पाकिस्तान में शामिल होने की घोषणा की। अन्ततोगत्वा, भारतीय सैनिकों ने उस राज्य पर कब्ज़ा कर लिया और जनमत संग्रह कराया गया, जिसका नतीजा भारत के पक्ष में आया। हैदराबाद के निज़ाम ने स्वतंत्र रहने का दावा किया मगर उसके तेलंगाना क्षेत्र में एक आन्तरिक विद्रोह शुरू होने तथा भारतीय सैनिकों के हैदराबाद में प्रवेश करने के बाद वह 1948 में भारत में शामिल होने के लिए मजबूर हो गया। कश्मीर के महाराजा ने भी भारत या पाकिस्तान में शामिल होने के अपने निर्णय में देर की यद्यपि नेशनल कांफ्रेंस के नेतृत्व में वहाँ की जनता भारत में शामिल होना चाहती थी। मगर कश्मीर पर पठानों तथा पाकिस्तान की कच्ची पलटनों के हमले के बाद अक्तूबर 1947 में भारत में शामिल हो गया।

भारत ने 15 अगस्त 1947 को बड़े उल्लास से अपना प्रथम स्वतंत्रता दिवस मनाया। देश भक्तों की पुश्तदर पुश्त के बलिदानों तथा असंख्य शहीदों के रक्त ने फल दिया। उनका सपना अब साकार हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने 14 अगस्त की रात को संविधान सभा को संबोधित करते हुए अपने चिरस्मरणीय भाषण में जनता की भावनाओं को व्यक्त किया। उन्होंने कहा :

> "वर्षों पहले हमने किस्मत के साथ बाज़ी लगाई थी, और अब समय आ गया है कि हम अपनी प्रतिज्ञा को, पूरी तरह न सही, काफी हद तक पूरा करें। मध्यरात्रि में जब सारी दुनिया सो रही होगी, भारत नया जीवन और स्वतंत्रता लेकर जागेगा। एक क्षण, जो इतिहास में विरले ही आता है, ऐसा होता है जब हम पुरातन से नूतन की ओर जाते हैं, जब एक युग समाप्त हो जाता है, और जब किसी राष्ट्र की बहुत दिनों से दबी आत्मा को वाणी मिल जाती है। यह उपयुक्त है कि हम इस पवित्र क्षण में भारत तथा उसकी जनता की सेवा, और उससे भी अधिक बड़े मानवता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने आप को अर्पित करें···आज हम एक दुर्भाग्यपूर्ण अवधि को समाप्त कर रहे हैं और भारत को अपने महत्त्व का फिर एक बार अहसास हो रहा है। आज हम जिस उपलब्धि को मना रहे हैं वह निरन्तर प्रयास की उपलब्धि है जिसके परिणामस्वरूप हम उन प्रतिज्ञाओं को पूरा कर सकें जिन्हें हमने कितनी बार लिया है।"

मगर खुशी की भावना जिसे अपार और असीमित होना चाहिए था, दर्द और उदासी से भरी हुई थी। भारत की एकता का स्वप्न बिखर गया था और भाई-भाई से बिछड़ गया था; सबसे बदतर बात यह थी कि स्वतंत्रता आने के समय भी अकथनीय बर्बरताओं सहित एक साम्प्रदायिक उन्माद भारत और पाकिस्तान, दोनों देशों में हजारों की जानें ले रहा था। अपने पूर्वजों की भूमि को छोड़ने के लिए मजबूर लाखों शरणार्थी दोनों नए राज्यों

---

* सम्प्रदायवाद की चर्चा करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने 1946 में डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया में लिखा था :

"बेशक यह हमारी गलती है और हमें अपनी गलतियों को जरूर भोगना चाहिए। भारत में विघटन पैदा करने में ब्रिटिश अधिकारियों ने जानबूझ कर जो भूमिका अदा की है उसके लिए मैं उन्हें माफ़ नहीं कर सकता। अन्य सब घाव भर जायेंगे मगर यह घाव हमें काफी लम्बे समय तक कष्ट देता रहेगा।"

में आ रहे थे।* राष्ट्रीय विजय के इस क्षण में इस दारुण विपत्ति के प्रतीक थे उदासी में डूबे महात्मा गांधी जिन्होंने भारतीय जनता को सत्य, अहिंसा और प्रेम तथा बहादुरी और पुरुषत्व का संदेश दिया था और जो भारतीय संस्कृति में जो कुछ सर्वोत्कृष्ट था उसके प्रतीक थे। राष्ट्रीय खुशी के समय वे घृणा से विदीर्ण बंगाल में पैदल घूम रहे थे। वे उन लोगों को सांत्वना देना चाहते थे जो तब भी अर्थ-हीन साम्प्रदायिक कत्ल के जरिए आज़ादी की कीमत चुका रहे थे। नारे और समारोह अभी पूरी तरह खत्म भी नहीं हो पाए थे कि 30 जनवरी 1948 को एक हत्यारे—एक घृणा-ग्रसित धर्मांध हिन्दू—ने उस रोशनी को बुझा दिया जो 70 वर्षों से भी अधिक से जलती आ रही थी। इस प्रकार, गांधीजी "उस एकता के लिए शहीद हो गए जिसके प्रति वे सदा निष्ठावान रहे थे।"** एक तरह से स्वतंत्रता प्राप्त कर देश ने पहला ही कदम उठाया : विदेशी शासन की समाप्ति से राष्ट्रीय पुनरुत्थान के रास्ते से केवल मुख्य बाधा ख़त्म हो गयी थी। शताब्दियों का पिछड़ापन, पूर्वाग्रह, विषमता और अज्ञान अब भी देश पर बोझ बना हुआ था और उसको हटाने का काम शुरू ही हुआ था। रवींद्र नाथ ठाकुर ने 1941 में अपनी मृत्यु के तीन महीने पहले लिखा था :

> "भाग्य-चक्र किसी न किसी दिन अंग्रेज़ों को अपना भारतीय साम्राज्य छोड़ने के लिए विवश करेगा। मगर किस प्रकार का भारत वे छोड़कर जाएंगे, कितनी भयंकर ग़रीबी होगी? जब शताब्दियों पुराने प्रशासन का प्रवाह सूख जायेगा तब वे किस तरह की बेकार कीचड़ और गंदगी अपने पीछे छोड़ कर जायेंगे।"

अपनी क्षमता में विश्वास तथा सफलता की अपनी इच्छा को लेकर भारत की जनता ने अपने देश की तसवीर बदलने तथा न्यायपूर्ण और उत्तम समाज के निर्माण के लिए अपना प्रयास आरम्भ किया।

---

* इन महीनों की चर्चा करते हुए नेहरू ने बाद में लिखा :
"डर और घृणा ने हमारे दिमागों को अंधा बना दिया और सभ्यता द्वारा लगाए गए सारे संयम के बाँध बह गए। संत्रास पर संत्रास जमा होता गया, और मानवप्राणियों के पाशविक जंगलीपन को देखते ही हमें रिक्तता ने दबोच लिया। लगा कि सारे प्रकाश बुझ गए; सारे नहीं, क्योंकि कुछ अंधड़-तूफान में भी टिमटिमाते रहे। मृत तथा मरते हुए लोगों को देखकर हम दुखी हुए, हम उन लोगों के लिए भी दुखी हुए जिनकी पीड़ा मृत्यु से भी अधिक थी। हम अपनी सामूहिक माता, भारत, के लिए और भी अधिक दुखी हुए, जिसकी आज़ादी के लिए हम लम्बे अरसे से कठिन परिश्रम करते आ रहे थे।

** गांधीजी ने 1947 में अपने जन्मदिन के मौके पर एक पत्रकार के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि वे अब अधिक जिंदा नहीं रहना चाहते और वे "सर्वशक्तिमान परमात्मा से याचना करेंगे कि वह मुझे जंगली बने आदमी (भले ही वह अपने को मुसलमान कहे या हिन्दू या कुछ और) द्वारा कत्ल का असहाय दर्शक बनने के बजाय 'दुःख की घाटी' से उठा ले।"

अभ्यास

1. प्रथम विश्व युद्ध के दौरान तथा उसके बाद के वर्षों की घटनाओं ने अफ्रीका और एशिया, विशेषकर भारत, में राष्ट्रवाद को किस प्रकार पुनर्जागृत किया ?
2. राजनीतिक नेता के रूप में आरम्भ में गांधीजी का उदय किस प्रकार हुआ ? उनके मूल राजनीतिक विचारों की चर्चा कीजिए।
3. 1919 से 1922 तक असहयोग, और खिलाफ़त आंदोलन के विकास पर प्रकाश डालिए। किस तरह ये दोनों आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में एक नए चरण के रूप में आए ?

4. 1927 से 1929 के बीच के वर्षों में राष्ट्रवादी पुनरुत्थान के विभिन्न पहलू कौन से थे ?
5. कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन (1929) से लेकर 1934 में द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन के वापस लिए जाने तक राष्ट्रवादी आंदोलन का विकास कैसे हुआ ?
6. इस शताब्दी के चौथे दशक में कांग्रेस मंत्रिमंडलों, समाजवादी विचारों के विकास, विश्व मामलों के प्रति कांग्रेस के दृष्टिकोण, देशी राज्यों में राष्ट्रीय आंदोलन, तथा साम्प्रदायिकता की बढ़ोत्तरी की विशेष रूप से चर्चा करते हुए मुख्य राजनीतिक घटनाओं के ऊपर प्रकाश डालिए।
7. अंग्रेजों ने 1945 के बाद किन कारणों से भारत के प्रति अपना रुख़ बदला ?
8. द्वितीय विश्व युद्ध के प्रति राष्ट्रीय कांग्रेस की क्या प्रतिक्रिया हुई ? युद्ध के वर्षों के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति पर प्रकाश डालिए और "भारत छोड़ो प्रस्ताव", 1942 के विद्रोह, और आज़ाद हिन्द फ़ौज के बारे में बतलाइए ।
9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :

   (क) मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार; (ख) रौलट ऐक्ट; (ग) स्वराज्यवादी; (घ) 1925 के बाद क्रांतिकारी आतंकवाद; (च) गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट, 1935; (छ) कैबिनेट मिशन; (ज) गांधीजी और भारत का विभाजन; (झ) भारत संघ के साथ देशी राज्यों का एकीकरण ।